आलवार भक्तों का तमिल-प्रबन्धम्

और

हिन्दी कृष्ण-काव्य

आलवार भक्तों का तमिल-प्रबन्धम्

और

हिन्दी कृष्ण-काव्य

लेखक

डा० मलिक मोहम्मद

एम ए एल-एल बी पी-एच डी,

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड आगरा

प्रथम संस्करण : १९६४
मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक
कमला प्रिण्टिङ्ग प्रेस
डॉ रांगेय राघव मार्ग
आगरा

भारत की राष्ट्रीय एव भावात्मक एकता

के लिए सतत प्रयत्नशील

महापुरुषों

को

सादर समर्पित

'मुझे पुनः मांस-संपुष्ट नश्वर नर-जीवन धारण करने की कामना नहीं है। मुझे चाह नहीं कि असीम सुख-संपत्ति अथवा अप्सरा रमणियों के विलासलास्यों से पूर्ण मादक स्वर्गीय आनन्द प्राप्त करूँ। मैं इसी को धन्य समझूँगा, अगर वेंकट पर्वत की निर्मल निर्झरिणी में एक मीन होने का भाग्य प्राप्त हो। प्रभु के पावन पद कमलों के दर्शनार्थ गीत-रस-लहरी में निमज्जित भ्रमर-समूह के झंकार गुंजित वेंकटगिरि की वाटिका में एक चंपक कुसुम बन जाऊँ।"

—कुलशेखराळ्वार

"मानुष हौं तो वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरौं करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन॥

—रसखान

★

"जिस तरह जहाज का पक्षी फिर-फिर जहाज के खंभे पर ही बसता है, उसी तरह (हे, भगवान्) मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझे अन्यत्र कोई सहारा नहीं है।'

—कुलशेखराळ्वार

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पर आवै।"

—सूरदास

★

"प्रिय वियोग में मेरी हड्डियाँ पिघल गयी हैं। मेरे आँसू-भरे नेत्र कभी बन्द नहीं होते। प्रिय के अभाव में कैसे नींद आए? वियोग-दुःख सागर में गोविन्द नामक नाव के बिना मैं असीम कष्ट भोग रही हूँ।'

—आण्डाळ

"रमैया बिन नींद न आवे।
नींद न आवे विरह सतावे, प्रेम की आँच ढुलावै।
निस दिन जोवां बाट मुरारी कबरो दरसण पावां।
मीरा रे हरि थे मिलियां बिन तरस-तरस जीया जावां॥'

—मीरा

परिचय

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि डा० मलिक मोहम्मद का "१६वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य पर आळ्वारों का प्रभाव" शीर्षक शोध प्रबन्ध परिवर्द्धित और संशोधित रूप में प्रकाशित हो रहा है। डा० मलिक हिन्दी तथा तमिळ के गंभीर विद्वान् हैं तथा संस्कृत आदि अन्य कई भाषाओं का इन्हें अच्छा ज्ञान है। प्राय हिन्दी के शोध-छात्र अपना अध्ययन हिन्दी साहित्य तक ही सीमित रखते हैं जिसके कारण उनके दृष्टिकोण तथा मूल्यांकन में वह व्यापकता नहीं आ पाती जो साहित्य की सार्वभौम सत्ता का प्रधान अंग है। हिन्दी साहित्य का अध्ययन तभी सर्वांगीण हो सकता है जबकि सम्पूर्ण विश्व-साहित्य या कम से कम भारतीय भाषाओं के साहित्य के सन्दर्भ में उसका अनुशीलन तथा मूल्यांकन किया जाय। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य के सम्बन्ध में तो यह व्यापक दृष्टि अनिवार्य है। हिन्दी साहित्य में मध्ययुगीन भक्ति-साधना को लेकर अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु उनमें बहुत कम ऐसे हैं जिनमें सम्पूर्ण मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक तथा संतुलित रूप प्रस्तुत किया गया हो। इसका एक कारण लेखकों का हिन्दीतर भाषाओं के ज्ञान का न होना भी हो सकता है। बात यह है कि हिन्दी के भक्ति-साहित्य का अध्ययन हिन्दीतर भाषाओं विशेषकर दक्षिण की भाषाओं के भक्ति-साहित्य के अध्ययन के बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

सम्पूर्ण मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य का प्रेरणा-स्रोत आळ्वारों का भक्ति-साहित्य ही रहा है। वास्तव में आळ्वारों का तमिळ-प्रबन्धम् ही भक्ति-आन्दोलन को दिशा देने वाला ग्रन्थ है जो 'तमिळ-वेद' के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

डा० मलिक की मातृ-भाषा तमिळ है तथा इन्होंने उत्तर भारत में रहकर हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया है। डा० मलिक की तमिळ में अनेक साहित्यिक कृतियाँ हैं। दोनों भाषाओं पर समान अधिकार होने के कारण डा० मलिक ने अपने विषय से पूरा न्याय किया है। लगभग चार वर्षों के अनवरत अध्ययन के उपरान्त डा० मलिक ने अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया। परीक्षकों ने प्रबन्ध की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है तथा हिन्दी साहित्य में उसे मौलिक देन बताया है। मैं स्वयं भी श्री मलिक जैसे योग्य तथा जिज्ञासु छात्र पर गर्व तथा गौरव अनुभव करता हूँ।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के दो खंड हैं। प्रथम खंड में लेखक ने प्रबन्धम् का सम्यक् परिश्रम लेकर मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रबन्धम् के तत्त्वों का विवेचन किया है। द्वितीय खंड में प्रबन्धम् और १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन द्वारा अनेक मौलिक तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। तमिळ तथा हिन्दी के वैष्णव भक्ति-साहित्यों का तुलनात्मक रूप से विस्तृत और गंभीर अध्ययन इस ग्रन्थ के रूप में ही पहली बार प्रस्तुत किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि भारतीय संस्कृति और साहित्य के विद्यार्थी इसे अत्यन्त उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक पायेंगे और इस ग्रन्थ से हिन्दी तथा तमिळ साहित्यों के दूसरे पक्षों को लेकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए आने के अध्येताओं को निश्चित रूप से प्रेरणा मिलगी।

डा० हरवंशलाल शर्मा
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृत-विभाग
अलीगढ़ विश्वविद्यालय

अलीगढ़
१२-७-१९६४

प्राक्कथन

भारतीय भक्ति आन्दोलन का बहुत ही लम्बा इतिहास है। हिन्दी प्रदेश में यह बहुत ही प्रसिद्ध उक्ति है कि "भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द"। विद्वानों ने हिन्दी प्रदेश के भक्ति आन्दोलन पर जो विस्तार से लिखा है, पर दक्षिण में उत्पन्न होने वाली 'भक्ति' की मूल प्रेरणाओं पर अभी तक विशेष प्रकाश डाला नहीं गया है। भारतीय भक्ति-आन्दोलन में तमिळ-प्रदेश का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तमिळ-प्रदेश के आळवार भक्तों ने ईसा की पाँचवीं शती से आठवीं शती तक भक्ति का जो तीव्र आन्दोलन चलाया था, वह परवर्ती शताब्दियों में एक व्यापक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर समस्त भारतवर्ष में व्याप्त हो गया। यही कारण है कि आळवार रचित 'प्रबन्धम्' सभी 'द्राविड़ ऊपजी' वाले भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ माना जाता है। किन्तु खेद है कि 'प्रबन्धम्' के वास्तविक परिचय एवं महत्त्व के प्रकाश में न आने के कारण भक्ति-आन्दोलन पर लिखने वाले विद्वान् तमिळ-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन तथा उसके प्रवर्तक आळवार भक्तों के विषय में अपेक्षित विवरण दे नहीं सके। अतः उन ग्रन्थों से भक्ति-आन्दोलन का अपूर्ण इतिहास ही उपलब्ध है। भारतीय भक्ति-आन्दोलन में आळवारों के योगदान के वास्तविक महत्त्व को प्रकाश में लाने की बड़ी आवश्यकता रह गयी थी।

जब से प्रस्तुत लेखक ने हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-साहित्य का विशेष अध्ययन किया था तब से लेखक को आळवार भक्तों और हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों की विचार धारा में दीख पड़ने वाले अद्भुत और गहरे साम्य ने दोनों के काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी। श्रद्धेय गुरु डा० हरवंशलाल जी की स्फूर्तिमयी सत्प्रेरणा भी पाकर आळवारों के भक्ति-साहित्य का विस्तृत परिचय हिन्दी जगत् को देने तथा आळवारों के और हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए लेखक प्रवृत्त हुआ। शोध के लिए अपेक्षित निश्चित सीमा को ध्यान में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ में तुलनात्मक अध्ययन के लिए आळवार भक्तों के तथा केवल १६ वीं शती के प्रमुख हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य को ही लिया गया है। केवल १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-काव्य को लेने का दूसरा कारण यह है कि समस्त हिन्दी कृष्ण-भक्ति-साहित्य में "१६वीं शती का कृष्ण भक्ति-काव्य" ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

तुलनात्मक अध्ययन में साधारणतः समकालीन दो भिन्न क्षेत्रों के साहित्यों को लिया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में काल को लेकर नहीं बल्कि विषय-साम्य से प्रेरित होकर आळ्वारों के और १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

भक्ति-आन्दोलन के मूल ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' के भक्ति-तत्वों ने परवर्ती भक्ति-साहित्य को बहुत ही प्रभावित किया था और यही प्रभाव १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य पर अप्रत्यक्ष रूप से (कई शताब्दियों के बीत जाने के कारण) दृष्टिगोचर होता है। सामान्य रूप से परवर्ती भक्ति-साहित्य पर 'प्रबन्धम्' के भक्ति-तत्वों का जो प्रभाव पड़ा है वह अप्रत्यक्ष रूप से १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-काव्य पर भी पड़ा है। लेखक के मूल शोध-ग्रन्थ का शीर्षक "१६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-काव्य पर आळ्वारों का प्रभाव" ही रखा गया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित विषय को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम खण्ड आळ्वार-साहित्य से सम्बन्धित है। द्वितीय खण्ड में आळ्वारों तथा १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य का कई दृष्टियों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ को आठ अध्यायों में विभाजित कर दिया गया है और उसका विषय-क्रम निम्नलिखित प्रकार से रखा गया है।

प्रथम अध्याय में आळ्वारों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य की सामान्य पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है। तमिळ-प्रदेश की भक्ति-परम्परा का परिचय देकर तमिळ प्रदेश में वैष्णव-भक्ति के विकास पर प्रकाश डाला गया है। आळ्वारों के पूर्व तमिळ-साहित्य (संघ-साहित्य) में मिलने वाली वैष्णव भक्ति की एक झाँकी भी प्रस्तुत की गयी है। गोपालकृष्ण और राधा के विकास में तमिळ के योगदान की चर्चा की गयी है। आळ्वारों के समय की धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का परिचय देकर भक्ति-आन्दोलन की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। वैष्णव आळ्वार भक्तों ने तथा शैव भक्त नायनमारों ने मिलकर किस प्रकार जैन और बौद्ध धर्मों को परास्त कर तमिळ-प्रदेश में भक्ति की प्रबल धारा प्रवाहित की थी इसका भी विवरण संक्षेप में दिया गया है। भक्ति-आन्दोलन को आळ्वारों की मौलिक देन पर प्रकाश डालकर यह साबित किया गया है कि उन पर इस्लामी विचार धारा का प्रभाव नहीं पड़ा है। आळ्वारों के पश्चात् उनकी विचार-धारा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने वाले आचार्यों तथा दक्षिण के प्रमुख भक्ति-सम्प्रदायों का परिचय भी दिया गया है। साथ ही साथ १६वीं शताब्दी के हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य को प्रभावित करने वाले उत्तर के सम्प्रदायों का भी परिचय दिया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय में एक प्रकार से भक्ति के क्रमिक विकास का ही संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

"कवि और काव्य" शीर्षक द्वितीय अध्याय में आळवार भक्तों और १६वीं शताब्दी के प्रमुख हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के जीवन-वृत्तों का संक्षिप्त परिचय देकर उनकी कृतियों तथा वर्ण्य विषय के विवरण दिये गये हैं। आळवारों के आविर्भाव-काल इत्यादि के विषय में अनेक मत हैं। जो मत समीचीन और प्रमाण-पुष्ट है उसी को स्वीकार किया गया है। आळवारों से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियाँ तमिळ-प्रदेश में प्रचलित हैं। आळवारों के जीवन-वृत्तों का परिचय देते समय कुछ प्रसिद्ध जन-श्रुतियों का समावेश करना पड़ा है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए १६वीं शती के जिन प्रमुख हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों को लिया गया है, उनमें प्रत्येक सम्प्रदाय के दो-तीन प्रतिनिधि कवि हैं और कुछ सम्प्रदाय मुक्त कवि भी हैं।

तृतीय अध्याय पूर्ण रूप से 'प्रबन्धम्' से सम्बन्धित है। इसमें मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के सामान्य और विशिष्ट तत्वों की चर्चा की गयी है। प्रसंगवश 'प्रबन्धम्' की तुलना श्रीमद्भागवत से करके यह दिखाया गया है कि 'प्रबन्धम्' का रचना-काल 'भागवत' से भी पूर्व का है। प्रबन्धम् के सामान्य तत्वों के अन्तर्गत उन भक्ति-तत्वों की चर्चा है जिन्होंने सामान्य रूप से परवर्ती भक्ति-साहित्य को प्रभावित किया है। विशिष्ट तत्वों के अन्तर्गत परवर्ती कृष्ण भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले तत्वों को लिया गया है।

चतुर्थ अध्याय में आळवारों और १६वीं शताब्दी के हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों की भक्ति-पद्धति का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भक्ति की विभिन्न परिभाषाओं तथा भक्ति के प्रकारों की चर्चा के साथ आळवार-काव्य तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य से नवधा भक्ति के उदाहरण दिये गये हैं। विभिन्न भक्ति-भावों की चर्चा कर दोनों क्षेत्रों के भक्तों की प्रेमा भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय में दोनों क्षेत्रों के कवियों के दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्म, जीव, माया जगत् और मोक्ष सम्बन्धी दोनों क्षेत्रों के कवियों के विचारों में मिलने वाले साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में आलोच्य कवियों के काव्य में उपलब्ध रहस्यात्मक दृष्टिकोण की भी चर्चा है।

षष्ठ अध्याय में दोनों क्षेत्रों के कवियों के काव्य के भाव-पक्ष की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। भाव-पक्ष का सामान्य विवेचन कर आळवारों और आलोच्य कालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य के भाव-पक्ष की आलोचना की गई है। विभिन्न रसों के उदाहरण दोनों क्षेत्रों के काव्यों से दिये गये हैं। वर्णन-वैचित्र्य के अन्तर्गत विशेष रूप से दोनों क्षेत्रों के कवियों की कृतियों में उपलब्ध प्रकृति-चित्रण के विभिन्न रूपों की चर्चा की गयी है।

सप्तम अध्याय दोनों क्षेत्रों के कवियों के काव्य के कला-पक्ष से सम्बन्धित है। कला-पक्ष के अन्तर्गत दोनों के काव्य में उपलब्ध गेयत्व काव्य के विविध रूप, छन्द

योजना भाषा अलंकार-योजना और उक्ति-वैचित्र्य आदि विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि काव्य-कला की कसौटी पर भी दोनों क्षेत्रों के कवियों के काव्य खरे उतरते हैं।

'मूल्यांकन और उपसंहार' शीर्षक अंतिम अध्याय में आळ्वारों भक्तों के तथा १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य का कई दृष्टिकोणों से मूल्यांकन किया गया है। उपसंहार में प्रस्तुत ग्रन्थ के उद्देश्य और उसकी पूर्ति की चर्चा कर दोनों क्षेत्रों के कवियों के काव्य के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भारतवर्ष की भावात्मक एकता पर जो प्रकाश पड़ता है, उसकी ओर भी संकेत किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में ४ परिशिष्ट भी जोड़ दिये गये हैं। प्रथम परिशिष्ट में आळ्वारों के कुछ चुने हुए गीतों का स्वतन्त्र हिन्दी भावानुवाद दिया गया है। इसमें दिये गये अधिकांश आळ्वार-गीत मूल प्रबन्ध में स्थान नहीं पा सके। द्वितीय परिशिष्ट में आळ्वारों की रामभक्ति की चर्चा है। आळ्वार-काव्य में उपलब्ध राम-भक्ति पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय परिशिष्ट में प्रबन्धम् पर लिखित विविध भाष्यों और उनकी भाषा का विवरण दिया गया है। 'प्रबन्धम्' की विचार धारा के प्रचार में इन भाष्यों का विशेष हाथ रहा। अतः इन भाष्यों का विवरण देना उचित समझा गया। चतुर्थ परिशिष्ट में सहायक ग्रन्थों की सूची है।

प्रस्तुत अध्ययन के मूल में मुख्य रूप से दो उद्देश्य रहे हैं। प्रथम उद्देश्य तो यह है कि भारतीय भक्ति-आन्दोलन में आळ्वार भक्तों के महत्वपूर्ण योगदान पर प्रकाश डालना तथा परवर्ती भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्वों का सामान्य विवेचन प्रस्तुत करना। दूसरा उद्देश्य यह रहा है कि आळ्वारों के भक्ति-काव्य की तुलना १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य से कई दृष्टिकोणों से करके दोनों के साम्य और वैषम्य को स्पष्ट किया जाय। परवर्ती भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्वों की विस्तृत चर्चा की गयी है। आळ्वारों के पश्चात् उनसे प्रभावित आचार्यों ने भक्ति-प्रचार किया और आळ्वारों के भक्ति-सम्बन्धी विचारों को न्यूनाधिक रूप में ग्रहण किया। 'प्रबन्धम्' पर अनेक टीकाएँ तमिळ और संस्कृत में हुईं। 'प्रबन्धम्' से प्रभावित अनेक ग्रन्थ संस्कृत और तमिळ में निकले। इस प्रकार परवर्ती काल में 'प्रबन्धम्' की विचार-धारा का पर्याप्त प्रचार हुआ। 'प्रबन्धम्' के भक्ति-तत्वों ने अन्य भाषाओं के भक्ति-साहित्यों को प्रभावित किया। जहाँ तक १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों पर आळ्वारों के प्रभाव का प्रश्न है, लेखक का निवेदन है कि आळ्वारों का प्रभाव १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्तों पर लम्बी परम्परा से आया है क्योंकि दोनों के बीच शताब्दियों का अन्तर है। 'प्रबन्धम्' के जिन भक्ति-तत्वों ने परवर्ती भक्ति-साहित्य को सामान्य रूप से प्रभावित किया है, उन्हीं का प्रभाव १६वीं शती के हिन्दी-कृष्ण भक्ति-काव्य पर भी देखा जा सकता है। परन्तु यह प्रभाव कई शताब्दियों के बीत जाने से अनेक माध्यमों से आया है।

१६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों तक 'प्रबन्धम्' के प्रभाव को पहुँचाने वाले निम्नलिखित माध्यम हो सकते हैं —

१—'प्रबन्धम्' पर लिखित संस्कृत टीका-ग्रन्थ
२—'प्रबन्धम्' से प्रभावित विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्त-ग्रन्थ,
३—'प्रबन्धम्' से प्रभावित श्रीमद्भागवत का वर्तमान रूप तथा
४—आचार्यों के सांप्रदायिक संगठन।

'प्रबन्धम्' के प्रभाव को उत्तर भारत में पहुँचाने वाले विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के आचार्यगण हैं, जिन्होंने भक्ति की भक्ति-धारा को उत्तर में प्रवाहित किया। चूँकि १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने विशेष रूप से भक्ति-सम्प्रदायों के अन्तर्गत रहकर ही काव्य-रचना की है, अतः उन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के प्रभाव का पड़ना स्वाभाविक ही है। लेखक की विनीत मान्यता है कि १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य पर 'प्रबन्धम्' का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव मानना ही होगा। इतना अवश्य है कि यह प्रभाव अनेक माध्यमों से आया है। जो विद्वान् 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' को मानते हैं, उनको यह भी मानना पड़ेगा कि द्राविड़ में उपजने वाली भक्ति' का मूल स्रोत प्रबन्धम्' ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आळवार सम्बन्धी अध्ययन की सामग्री के संकलन में लेखक को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। यह देखकर खेद-मिश्रित आश्चर्य होता है कि तमिळ विद्वानों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण आळवार-साहित्य के प्रति क्यों उपेक्षा दिखायी है। जितना विस्तृत अध्ययन शैव संतों के विषय में तमिळ में हुआ है, उतना आळवारों के साहित्य के विषय में नहीं। तमिळ में आळवार-साहित्य का कोई गम्भीर अध्ययन अभी तक प्रस्तुत नहीं किया गया है। आळवारों के विषय में जो छोटी मोटी पुस्तकें मिलती हैं उनमें आलोचनात्मक दृष्टिकोण का नितान्त अभाव है। आळवारों के प्रबन्धम् पर जो टीकाएँ तमिळ में निकली हैं, उनकी भाषा साधारण तमिळ भाषी के लिए भी बोधगम्य नहीं है। सांप्रदायिक लोग आळवारों को अवतार समझ बैठे हैं और आळवार-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन करने वालों को निरुत्साहित कर देते हैं। ऐसी परिस्थितियों में ग्रन्थ के लेखक को आळवार साहित्य के अध्ययन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। प्रस्तुत लेखक का अध्ययन मूल तमिळ 'प्रबन्धम्' पर ही आधारित है। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य पर तो विद्वानों ने अनेक उत्तम ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं। अतः लेखक को हिन्दी कृष्ण-काव्य सम्बन्धी सामग्री के संकलन में विशेष कठिनाई नहीं हुई।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आळवार सम्बन्धी अध्ययन की सामग्री की प्राप्ति के लिए लेखक को तमिळ-प्रदेश के विभिन्न स्थानों की यात्रा करनी पड़ी है। आळवार भक्तों के जन्म-स्थानों का दर्शन तो लेखक ने किये ही हैं। उन स्थानों में आळवारों के जीवन-वृत्तों से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियों का पता चला है। लेखक ने मद्रास शहर के दो प्रमुख पुस्तकालयों (कन्निमारा पुस्तकालय और मद्रास विश्वविद्यालय का पुस्तकालय) से

आळ्वार विषयक पर्याप्त सामग्री का संकलन किया है। हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के अध्ययन की सामग्री का संकलन विशेष रूप से अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय तथा आगरा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों से किया है।

लेखक को शोध-कार्य-काल में तमिळ के विद्वानों में सर्व श्री रा० पी० सेतुपिळ्ळै, पी० श्री० आचार्य, एम० राधाकृष्ण पिळ्ळै, वेणुगोपाल पिळ्ळै, अण्णंगराचार्य स्वामी पुरुषोत्तम नायडू (मद्रास विश्वविद्यालय के तमिळ विभाग के रीडर) तथा डा० सुब्रह्मण्यम (अध्यक्ष तमिल-विभाग केरल विश्वविद्यालय) से आळ्वार-साहित्य के अध्ययन में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ जिसके लिए वह उनका हृदय से आभारी है। अलीगढ़ में रहकर शोध प्रबन्ध को लिखते समय लेखक को अलीगढ़ मुस्लिम विद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यापकों से प्रधानतः डा० गोवर्धननाथ शुक्ल जी से लेखक को बड़ी सहायता मिली। श्रद्धेय शुक्ल जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना लेखक अपना कर्तव्य समझता है।

श्रद्धेय गुरु डा० हरवंशलाल शर्मा एम० ए० पी-एच० डी० डी० लिट् (आचार्य और अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृत विभाग तथा 'डीन' फैकल्टी आफ् आर्ट्स अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय) की देखरेख और निर्देशन में शोध प्रबन्ध का सारा कार्य सम्पन्न हुआ। वस्तुतः इस कार्य में लेखक को प्रवृत्त करने का श्रेय उन्हीं को है और उन्हीं के बहुमूल्य परामर्श से इस ग्रन्थ को इतना सुव्यवस्थित रूप मिल सका। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये लेखक के पास न उचित शब्द हैं न कोरे शब्दों में आभार प्रकट कर वह उनके अपार स्नेह और सहृदयता का मूल्य कम करना ही चाहता है।

आळ्वारों का तथा उनके साहित्य का विस्तृत परिचय देने वाला कोई भी ग्रन्थ हिन्दी में अभी तक नहीं मिलता है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में आळ्वारों का परिचय कुछ पंक्तियों में देकर ही सन्तोष कर लिया है। कारण यही रहा है कि उन विद्वानों की पहुँच तमिळ भाषा तक नहीं थी। अतः उनके ग्रन्थों में आळ्वारों के विस्तृत परिचय की आशा नहीं की जा सकती। प्रस्तुत लेखक का यह सौभाग्य है कि उसकी मातृ-भाषा तमिळ है। अतः लेखक ने हिन्दी-जगत् को आळ्वार-साहित्य का प्रथम बार विस्तृत परिचय देने का प्रयास किया है। इस प्रकार आळ्वार भक्तों और हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर लेखक ने प्रथम बार तमिळ और हिन्दी साहित्यों की अमूल्य निधियों को एक स्थान पर एकत्र करने का शुभ-संयोग जुटाया है। यह अध्ययन हिन्दी के लिए ही नहीं बल्कि तमिळ के लिए भी नया सिद्ध होगा। जिन दृष्टिकोणों से प्रस्तुत ग्रन्थ में आळ्वार-साहित्य का अध्ययन किया गया है, वह तमिळ के लिए नवीन अवश्य होगा। लेखक को इसका पूर्ण विश्वास है। मौलिक शोध की दृष्टि से तमिळ में भी लेखक के ग्रन्थ का मूल्य हो सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आळ्वार सम्बन्धी जितनी भी सामग्री लेखक ने दी है और आळ्वार-काव्य की तुलना हिन्दी कृष्ण-काव्य से करके जो भी निष्कर्ष निकाले हैं, उनमें लेखक की अपनी मौलिक मान्यताएँ हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के कई

अध्यायों में मौलिक तथ्य देने की सम्पूर्ण चेष्टा की गई है, जिसके फलस्वरूप कई बातों की नवीन उद्भावनाएँ हुई हैं। भक्ति-आन्दोलन के मूल-ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' के विषय में बहुत जानने की हिन्दी भाषी विद्वानों की बलवती जिज्ञासा को तुष्ट करने के लिए भी यह प्रयास सहायक सिद्ध होगा। वास्तव में यह जिज्ञासा ही लेखक की मूल प्रेरणा रही है। लेखक ने दोनों संतों के भक्त-कवियों को निकट लाने का प्रयत्न किया है। हिन्दी और तमिळ के साहित्यों के विभिन्न पक्षों को लेकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए भावी के अध्येताओं को प्रस्तुत अध्ययन से प्रेरणा मिलेगी —लेखक को इसका पूर्ण विश्वास है।

तमिळ हिन्दी संस्कृत और अंग्रेजी के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से लेखक ने सहायता ली है उनमें से बहुतों के नाम पाद-टिप्पणी में दिये गये हैं और अन्य प्रमुख विद्वानों और उनके ग्रन्थों के नाम परिशिष्ट में दिये गये हैं। इस अवसर पर लेखक उन सभी विद्वानों का सादर कृतज्ञतापूर्ण स्मरण करता है जिनके ग्रन्थों से लेखक ने अपने अध्ययन में प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त की है।

लेखक की अपनी अनेक सीमाएँ रही हैं। मूलतः लेखक तमिळ भाषी है। अपने भावों को हिन्दी में अभिव्यक्त करने में उचित शब्द भण्डार का अभाव रहा है। अतः वह अनुभव करता है कि आळ्वार-पदों के हिन्दी-अनुवाद में वह प्रवाह माधुर्य और सरलता आ नहीं सकी जो मूल रचना में है। लेखक ने आळ्वारों के पदों का (शब्दानुवाद नहीं कर) स्वतन्त्र भावानुवाद [illegible] प्रस्तुत किया है। तुलनात्मक अध्ययन में लेखक ने यथासम्भव निष्पक्ष दृष्टिकोण रखा है। किसी साहित्य को छोटा या बड़ा दिखाना उसका उद्देश्य कदापि नहीं है। यह आवश्यक भी नहीं है कि लेखक के निष्कर्ष सर्वमान्य हों। सम्भव है कि इस ग्रन्थ में अनेक त्रुटियाँ भी रह गयी हों। विद्वज्जनों के सत्परामर्शों के लिए लेखक उत्सुक है। अपनी सीमाओं में रहकर लेखक ने भारतवर्ष की दो प्रमुख भाषाओं के भक्ति-साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। अगर यह अध्ययन दोनों भाषाओं के साहित्यों को निकट लाने में कुछ भी सहायता करे तो लेखक के लिए उतना ही पर्याप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में 'विनोद पुस्तक मन्दिर' के संचालक श्री भोलानाथजी ने जो उत्साह दिया उसके लिए लेखक उनका विशेष आभारी है। न चाहते हुए भी मुद्रण की कुछ त्रुटियाँ यत्र-तत्र रह गयी हैं जिनका सुधार अगले संस्करण में अवश्य ही कर दिया जायगा।

अलीगढ़
१२-७-६४

—मलिक मोहम्मद

आळ्वार विषयक पर्याप्त सामग्री का संकलन किया है। हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के अध्ययन की सामग्री का संकलन विशेष रूप से अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय तथा आगरा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों से किया है।

लेखक को शोध-कार्य-काल में तमिळ के विद्वानों में सर्व श्री रा० श्री० देशिकन्, पी० श्री० आचार्य, एम० राधाकृष्ण पिळ्ळै वेणुगोपाल पिळ्ळै अण्णंगराचार्य स्वामी पुरुषोत्तम नायडु (मद्रास विश्वविद्यालय के तमिळ विभाग के रीडर) तथा डा० सुब्रह्मण्यम (अध्यक्ष तमिल-विभाग केरल विश्वविद्यालय) से आळ्वार-साहित्य के अध्ययन में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ जिसके लिए वह उनका हृदय से आभारी है। अलीगढ़ में रहकर शोध-प्रबन्ध को लिखते समय लेखक को अलीगढ़ मुस्लिम विद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यापकों से प्रधानतः डा० गोवर्धननाथ शुक्ल जी से लेखक को बड़ी सहायता मिली। श्रद्धेय शुक्ल जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना लेखक अपना कर्तव्य समझता है।

श्रद्धेय गुरु डा० हरवंशलाल शर्मा एम० ए० पी एच० डी० डी० लिट् (आचार्य और अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृत विभाग तथा 'डीन' फेकल्टी आव् आर्ट्स अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय) की देखरेख और निर्देशन में शोध-प्रबन्ध का सारा कार्य सम्पन्न हुआ। वस्तुतः इस कार्य में लेखक को प्रवृत्त करने का श्रेय उन्हीं को है और उन्हीं के बहुमूल्य परामर्श से इस ग्रन्थ को इतना सुव्यवस्थित रूप मिल सका। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये लेखक के पास न उचित शब्द हैं न कोरे शब्दों में आभार प्रकट कर वह उनके अपार स्नेह और सहृदयता का मूल्य कम करना ही चाहता है।

आळ्वारों का तथा उनके साहित्य का विस्तृत परिचय देने वाला कोई भी ग्रन्थ हिन्दी में अभी तक नहीं निकला है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में आळ्वारों का परिचय कुछ पंक्तियों में देकर ही सन्तोष कर लिया है। कारण यही रहा है कि उन विद्वानों की पहुँच तमिळ भाषा तक नहीं थी। अतः उनके ग्रन्थों में आळ्वारों के विस्तृत परिचय की आशा नहीं की जा सकती। प्रस्तुत लेखक का यह सौभाग्य है कि उसकी मातृ भाषा तमिळ है। अतः लेखक ने हिन्दी-जगत् को आळ्वार-साहित्य का प्रथम बार विस्तृत परिचय देने का प्रयास किया है। इस प्रकार आळ्वार भक्तों और हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर लेखक ने प्रथम बार तमिळ और हिन्दी साहित्यों की अमूल्य निधियों को एक स्थान पर एकत्र करने का शुभ-संयोग जुटाया है। यह अध्ययन हिन्दी के लिए ही नहीं बल्कि तमिळ के लिए भी नया सिद्ध होगा। जिन दृष्टिकोणों से प्रस्तुत ग्रन्थ में आळ्वार-साहित्य का अध्ययन किया गया है, वह तमिळ के लिए नवीन अवश्य होगा। लेखक को इसका पूर्ण विश्वास है। मौलिक शोध की दृष्टि से तमिळ में भी लेखक के ग्रन्थ का मूल्य हो सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आळ्वार सम्बन्धी जितनी भी सामग्री लेखक ने दी है और आळ्वार-काव्य की तुलना हिन्दी कृष्ण-काव्य से करके जो भी निष्कर्ष निकाले हैं, उनमें लेखक की अपनी मौलिक मान्यताएँ हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के कई

अध्यायों में मौलिक तथ्य देने की सम्पूर्ण चेष्टा की गई है, जिसके फलस्वरूप कई बातों की नवीन उद्‌भावनाएँ हुई हैं। भक्ति-आन्दोलन के मूल-ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' के विषय में बहुत जानने की हिन्दी भाषी विद्वानों की बलवती जिज्ञासा को तुष्ट करने के लिए भी यह प्रयास सहायक सिद्ध होगा। वास्तव में यह जिज्ञासा ही लेखक की मूल प्रेरणा रही है। लेखक ने दोनों क्षेत्रों के भक्त-कवियों को निकट लाने का प्रयत्न किया है। हिन्दी और तमिळ के साहित्यों के विभिन्न पक्षों को लेकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए भावी के अध्येताओं को प्रस्तुत अध्ययन से प्रेरणा मिलेगी लेखक को इसका पूर्ण विश्वास है।

तमिळ, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के जिन जिन ग्रन्थों से लेखक ने सहायता ली है, उनमें से बहुतों के नाम पाद-टिप्पणी में दिये गये हैं और अन्य प्रमुख विद्वानों और उनके ग्रन्थों के नाम परिशिष्ट में दिये गये हैं। इस अवसर पर लेखक उन सभी विद्वानों का सादर कृतज्ञतापूर्ण स्मरण करता है जिनके ग्रन्थों से लेखक ने अपने अध्ययन में प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त की है।

लेखक की अपनी अनेक सीमाएँ रही हैं। मूलतः लेखक तमिळ भाषी है। अपने भावों को हिन्दी में अभिव्यक्त करने में उचित शब्द भण्डार का अभाव रहा है। वह यह अनुभव करता है कि आळ्वार-पदों के हिन्दी अनुवाद में वह प्रवाह, माधुर्य और सरसता आ नहीं सकी जो मूल रचना में है। लेखक ने आळ्वारों के पदों का (शब्दानुवाद नहीं कर) स्वतन्त्र भावानुवाद ही प्रस्तुत किया है। तुलनात्मक अध्ययन में लेखक ने यथासम्भव निष्पक्ष दृष्टिकोण रखा है। किसी साहित्य को छोटा या बड़ा दिखाना उसका उद्देश्य कदापि नहीं है। यह आवश्यक भी नहीं है कि लेखक के निष्कर्ष सर्वमान्य हों। सम्भव है कि इस ग्रन्थ में अनेक त्रुटियाँ भी रह गयी हों। विद्वज्जनों के परामर्शों के लिए लेखक उत्सुक है। अपनी सीमाओं में रहकर लेखक ने भारतवर्ष की दो प्रमुख भाषाओं के भक्ति-साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। अगर यह अध्ययन दोनों भाषाओं के साहित्यों को निकट लाने में कुछ भी सहायता करे तो लेखक के लिए उतना ही पर्याप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में 'विनोद पुस्तक मन्दिर' के संचालक श्री भौलानाथजी ने जो उत्साह लिया उसके लिए लेखक उनका विशेष आभारी है। न चाहते हुए भी मुद्रण की कुछ त्रुटियाँ यत्र-तत्र रह गयी हैं, जिनका सुधार अगले संस्करण में अवश्य ही कर दिया जायगा।

अलीगढ़
१२-७-६४

—मलिक मोहम्मद

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	विषय	पृष्ठ

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

भक्ति का विकास और उसमें तमिल का योगदान

हिन्दी साहित्य के स्वर्ण-युग—भक्तिकाल में भक्ति की जो पावन पयस्विनी प्रवहमान हुई उसमें दीर्घकालीन भारतीय जीवन-दर्शन की गहन अनुभूतियों संस्कारों एवं परम्पराओं का सन्निवेश था जिसने कि भारतीय जन-जीवन में एक नवीन चेतना एवं स्फूर्ति का संचार कर उसे रससिक्त कर दिया। विभिन्न युगों के अभेद्य स्तरों के बीच से मन्द-मन्द परन्तु अव्याहत गति से बहती हुई अनेक दिशाओं से उल्टी सीधी बहकर विविध विचार धाराओं को आत्मसात् करती हुई भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियों के अन्तःकरण को तृप्त करती हुई आने वाली भक्ति-सरिता ने भारतीय भक्ति-साहित्य-सागर को इतना लबालब भर दिया कि आज भी उसकी तरल तरंगों में मज्जन और अवगाहन करने से चिर शान्ति प्राप्त होती है।

भक्ति की यह धारा वैदिक युग से ही प्रवाहित मानी जाती है। भक्ति के उद्भव और विकास के विषय में विद्वानों के मत-मतान्तर होने पर भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि भारतीय भक्ति-साधना के क्रमिक विकास में तमिळ भाषा और तमिळ-प्रदेश[1]

---

१ तमिळ-प्रदेश को "द्राविड़" और तमिळ वाणी को "द्राविड़ भाषा" कहने की प्रथा बहुत पुराने काल से चली आ रही है। "द्राविड़" शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का मत है कि यह शब्द संस्कृत का है और "द्रु" (भागना) तथा "विड़" (देश) के संयोग से बना है। आर्यों से पराजित होकर भारत के मूल निवासी उत्तर भारत को छोड़कर दक्षिण की ओर भाग गये थे। अतः उस भाग का नाम द्राविड़ पड़ गया। इस शब्द का दूसरा अर्थ भारत का दक्षिणी कोना भी है। कुछ लोगों का कथन है कि 'तमिळ' शब्द का अपभ्रंश रूप ही द्राविड़ है। "द्राविड़" और "तमिळ" पर्यायवाची शब्द हैं।

"On the other hand 'Tamil' is the original word or name on the analogy of which the word 'Dravida' has been coined by Sanskritists.

—K. Rama Krishnaiya J. S. V. O. I., Vol. 14, Pt. I, p. 9

का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग है। जब उत्तर भारत में वैदिक युग से प्रवाहित [illegible] उपनिषद् आदि से प्रभावित भक्ति-परम्परा विकास को पा रही थी तब तमिळ-प्रदेश में द्रविड़-संस्कृति में परिपोषित एक पृथक भक्ति-परम्परा विकसित हो रही थी। तमिळों की धार्मिक भावना विकास को पाकर ईसा पूर्व अनेक शताब्दियों से एक सुदृढ़ भक्ति-परम्परा का रूप धारण कर चुकी थी जिसके प्रमाण हमें प्राचीन तमिळ साहित्य में मिलते हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों तक आते-आते इन दोनों भक्ति-परम्पराओं का एकीकरण हो गया था और उसकी मिली-जुली धारा में अवगाहन करने वाले यदि कोई भक्त हुए थे तो वे थे—आळ्वार भक्त[1]। आळ्वार भक्तों से पूर्व भी तमिळ में वैष्णव (तिरुमाल)[2]—भक्ति साहित्य के दर्शन होते हैं। चूंकि आळ्वार तमिल प्रदेश के थे इसलिए वैदिक-भक्ति-परम्परा से प्रभावित होने पर भी उनके साहित्य के निर्माण का तमिळ-प्रदेश की पूर्वतः विद्यमान पृथक भक्ति-परम्परा की पृष्ठभूमि में होना स्वाभाविक ही था। आज भारतीय भक्ति-साहित्य में वैष्णव भक्ति का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह बहुत कुछ आळ्वारों की देन है।

आळ्वारों के द्वारा प्रतिपादित वैष्णव-भक्ति का शास्त्रीय विवेचन विभिन्न आचार्यों ने किया और उस भक्ति की धारा उत्तर की ओर प्रवाहित हुई। उस भक्ति की आधार-भूमि पर विभिन्न वैष्णव-आचार्यों ने अपनी-अपनी दार्शनिक विचार-धाराओं का निरूपण किया और विभिन्न सम्प्रदायों का संगठन हुआ। भक्ति-आन्दोलन को जिस जन-आन्दोलन के रूप में छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल (आळ्वार युग) में तमिळ-प्रदेश ने देखा उसी के दर्शन हिन्दी-प्रदेश ने सोलहवीं शताब्दी के आसपास किये। वैष्णव भक्ति के विशाल वृक्ष के विभिन्न सम्प्रदाय रूपी शाखों में खिलने वाले सुन्दर सुमन थे — सोलहवीं सदी के हिन्दी-कृष्ण भक्त-कवि।

भक्ति [illegible] उद्भव और विकास पर तो अनेक विद्वान् लेखकों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। परन्तु किसी भी विद्वान् द्वारा तमिळ-प्रदेश में विकसित पृथक भक्ति-परम्परा की ओर विशेष ध्यान दिया नहीं गया। वास्तव में भारतीय भक्ति-साधना के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालते समय तमिळ-प्रदेश की प्राचीन भक्ति-परम्परा तथा वैदिक भक्ति-परम्परा से उसकी एकता और बाद में विकसित भक्ति-धारा का इतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ता है। अतएव यहाँ वैदिक भक्ति परम्परा एवं तमिळ भक्ति का पृथक-पृथक विवेचन प्रस्तुत कर दोनों की सम्मिलित भक्ति-धारा में अवगाहन करने वाले आळ्वार भक्तों ने भारतीय भक्ति-साधना के

---

१ सामान्यतः इनका काल पाँचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक माना जाता है।

२ तमिळ में 'विष्णु' के लिए 'तिरुमाल' 'मायोन' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। प्राचीन तमिळ-साहित्य तथा आळ्वार-साहित्य में भी विष्णु के लिए "तिरुमाल" शब्द ही अधिक व्यवहृत हुआ है। अतः आळ्वारों के पूर्व तिरुमाल धर्म अर्थात् वैष्णव-धर्म से सम्बन्धित साहित्य का तमिळ में विद्यमान होना सिद्ध होता है।

विकास में जो महत्वपूर्ण योग दिया है, उस पर संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक समझा गया।

वैदिक भक्ति-परम्परा[1]

भारतीय धर्म-साधना का मूल-स्रोत वेदों में पाया जाता है। यद्यपि वेद संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रत्यक्ष रूप से अनुराग सूचक 'भक्ति' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और 'भक्ति' शब्द से साक्षात् उपासना का भी लक्ष्य नहीं कराया गया है, तथापि वेदों में भक्ति का बीज मिल ही जाता है। भक्ति शब्द का इस अर्थ में प्रथम प्रयोग जिसमें कि वह परवर्ती भक्तों में प्रचलित हुआ श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही मिलता है।[2] वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म-काण्डों की प्रधानता होते हुए भी जिस तरह ज्ञान-काण्ड का विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है, उसी तरह ज्ञान के बाद भक्ति की परम्परा का भी संधान ऋचाओं के आधार पर सम्भव है।

विष्णु की उपासना का मूल रूप वैदिक-काल से ही पाया जाता है। आर्य लोग अनेक प्राकृतिक वस्तुओं और घटनाओं में किसी न किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा में यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान भी किया करते थे। वे अपने दैनिक जीवन को आनन्द के साथ व्यतीत करते थे और ऐहिक सुख की प्राप्ति करने के उद्देश्य से देवताओं की स्तुति करते थे और उनसे विनय अथवा प्रार्थना भी करते थे। प्रारम्भ में इन देवताओं में इन्द्र, वरुण, मरुत्, रुद्र आदि प्रमुख थे जो सर्वशक्तिमान सृष्टि के आदि कारण परब्रह्म के ही स्वरूप समझे जाते थे। आगे चलकर विष्णु संहिता-काल में सर्वप्रथम एक साधारण देवता के रूप में ही दीख पड़ते हैं। जिन जिन प्रमुख देवताओं की कल्पना पहले पृथक्-पृथक् रूपों में की जा रही थी वे कालान्तर में केवल एक के ही विविध रूपों में दीख पड़ने लगे और अन्त में उनके विविध नामों का प्रयोग उसी के लिए होने लगा।[3] इस तरह बहुदेववाद के स्थान पर एकदेववाद की स्थापना होने लगी। ऐसे परिवर्तन-काल में विष्णु का महत्व

---

[1] चूंकि अनेक विद्वानों द्वारा वैदिक भक्ति के विकास पर विस्तार से लिखा जा चुका है, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेप में विवरण देना पर्याप्त समझा गया। विस्तृत विवरण के लिए ये ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं :—

"भक्ति का विकास"—डा० मुन्शीराम शर्मा,
"वैष्णव धर्म"—परशुराम चतुर्वेदी आदि।

[2] 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः'
—श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।२३

[3] 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'
—(ऋग्वेद १।१६४।४६) से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

भी बढ़ने लगा। प्रारम्भिक काल के देवताओं में इन्द्र सर्वप्रिय और सर्वश्रेष्ठ थे और विष्णु इन्द्र के सहायक[1] के रूप में ही समझे जाते थे और कहीं-कहीं इन्द्र के समान भी माने जाते थे। धीरे धीरे विष्णु का प्रभाव बढ़ने लगा और वे इन्द्र से भी बड़े समझे जाने लगे। जैसे-जैसे आर्यों का आत्मचिन्तन शुरू होता गया और सूक्ष्म दार्शनिक तत्वों का अनुसंधान करने की परिपाटी विकसित होती गयी वैसे ही वैसे वैदिक धर्म के सुव्यवस्थित साहित्य का सूत्रपात हुआ। ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचना-काल तक विष्णु का प्रभाव इतना बढ़ा कि इन्द्र तथा अन्य देवताओं के अनेक विशेषण विष्णु के लिए प्रयुक्त होने लगे। हरि केशव वासुदेव वृष्णि-पति सुपर्ण वैकुण्ठ आदि नाम जो इन्द्र के लिए प्रयुक्त होते थे विष्णु को मिल गये।[2] साथ ही विष्णु की महत्ता में चमत्कार एवं अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और वे एक सर्वशक्तिमान्, लोक रक्षक सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। वैदिक साहित्य में सृष्टि विकास के देवता के रूप में 'नारायण' का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है। प्रारम्भिक काल में विष्णु और नारायण भिन्न व्यक्ति थे। ब्राह्मण-काल में यह नारायण नाम भी विष्णु के लिए प्रयुक्त होने लगा और उनके गुणों को विष्णु के गुणों में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार विष्णु की उपासना का एक विशाल क्षेत्र तैयार हो गया।

विष्णु की उपासना का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के पश्चात् यह विचार करना है कि उसका वैष्णव धर्म के सुव्यवस्थित रूप में संगठन किस प्रकार हुआ। कदाचित् महाभारत काल तक आते-आते वैष्णव धर्म का एक संगठित रूप प्रकट हुआ जो भागवत या सात्वत-मति कहलाया। इस भागवत धर्म (सात्वत तन्त्र) के मुख्य उपास्य देव वासुदेव-कृष्ण थे।[3] और वे ही उसके प्रवर्तक भी माने गये। जिस तरह विष्णु और नारायण पहले पृथक्-पृथक थे और बाद में एक हो गये, उसी तरह वासुदेव और "कृष्ण" आरम्भ में अलग-अलग थे और कालान्तर में एक ही समझे जाने लगे। बाद में वासुदेव-कृष्ण विष्णु-नारायण के भी पर्यायवाची हो गये।[4] इस प्रकार विष्णु-नारायण वासुदेव कृष्ण के एकीकरण के साथ-साथ वैष्णव धर्म के विकसित रूप का पूर्ण चित्र उपस्थित हुआ। षड् ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण विष्णु ही 'भगवान्' कहलाये और उनकी भक्ति करने वाले 'भागवत' के नाम से प्रसिद्ध हुए। विष्णु भक्तों के उपास्य धर्म के कारण इस धर्म का नाम 'भागवत-धर्म' पड़ा।

---

१ "इन्द्रस्य युज्यः सखा"—ऋग्वेद १।२२।१९

२ वैष्णव धर्म"— श्री परशुराम चतुर्वेदी पृ १४

३ 'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।'

—श्रीमद्भागवत १।२।७

4 Materials for the study of Early History of Vaishnava Sect

—Hema Chandar Ray Chaudhuri p 22.

भागवतों के उपास्य देव वासुदेव-कृष्ण या कृष्ण जिस कुल में पैदा हुए थे उसका नाम था यादव वंश जिसे 'सात्वत वंश' भी कहते थे। इसी यादव अथवा सात्वत कुल के कारण भागवत मत का दूसरा नाम 'सात्वत' हो गया। महाभारत में सात्वत और वासुदेव को एक ही कहा गया है। डा० भाण्डारकर के अनुसार 'सात्वत' शब्द वृष्णि वंशीय के एक उपनाम की तरह व्यवहृत होता था और उसी में वासुदेव संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध हुए तथा सात्वतों का एक पृथक संप्रदाय भी था जिसके अनुसार वे वासुदेव की पूजा उन्हें परमात्मा समझ कर किया करते थे।[1]

भागवत या सात्वत धर्म के उपास्य वासुदेव-कृष्ण कृष्ण और देवकी-पुत्र कृष्ण इनमें क्या सम्बन्ध है, ये अलग-अलग नाम किस प्रकार एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने लगे? यह एक समस्या के रूप में उपस्थित है, जिसका समाधान केवल अनुमान से ही संभव है। वासुदेव-कृष्ण शब्द का दूसरा अंश अर्थात् 'कृष्ण' शब्द ऋग्वेद (मंडल ८) के एक 'सूक्त' के ऋषि का नाम है। ये आंगिरस गोत्र के थे। छान्दोग्य उपनिषद के कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य थे। अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक कृष्ण और उपनिषद के कृष्ण जब दोनों एक ही गोत्र के हैं, तो स्पष्ट है कि 'कृष्ण' उपनिषद के युग तक ऋषि होते आये। आगे वासुदेव और कृष्ण जब एक हो गये तब कृष्ण को भी वृष्णि वंश में मिला लिया गया। घोर आंगिरस के उपदेशों को कृष्ण ने गीता में सुरक्षित कर दिया। इसका प्रमाण यह है कि छान्दोग्य उपनिषद तथा गीता की बहुत सी बातें मिल जाती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देवकी पुत्र कृष्ण ने जो उपदेश अपने गुरु घोर आंगिरस से ग्रहण किये थे उन्हीं के अनुसार वासुदेव कृष्ण ने भी 'गीता' के द्वारा अपने मित्र अर्जुन को उपदेश दिया। इस प्रकार वासुदेव कृष्ण और देवकी-पुत्र कृष्ण आगे चलकर एक मान लिये गये। पहले वे ईश्वर नहीं माने जाते थे। परन्तु सात्वतों ने उन्हें ब्रह्म मान लिया और आगे चलकर वे पुरुषोत्तम स्वीकृत हो गये।

गीता में जिस भागवत धर्म का उपदेश दिया गया है, उसका चरम लक्ष्य एकांतिक भक्ति का निरूपण करना है—'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'[2] यही इस पूर्ण एकान्तिक भक्ति का रहस्य है। यद्यपि गीता में भक्ति के दार्शनिक पक्ष साध्य पक्ष एवं साधना पक्ष का वर्णन मिलता है, तो भी अन्तिम पक्ष अर्थात् साधना अथवा उपासना-पक्ष पर ही अधिक जोर दिया गया है। अतएव यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि भगवद्गीता भक्ति का ही एक प्रधान ग्रन्थ है, जिसमें कृष्णाख्य धर्म द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध एकान्तिक भक्ति का उज्ज्वलतम स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण भक्ति का प्रथम व्यवस्थित रूप गीता में उपलब्ध होता है।

1 Vaishnavism Shaivism and other minor Religious Sects.
—Dr R G Bhandharkar p 12

२ भगवद्गीता, अ० १८।२

मैगस्थनीज के समय तक कृष्ण की पूजा उत्तरी भारत में होने लगी थी। कहा जाता है कि सात्वत लोग दक्षिण भारत में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए गये। 'नासिक' के शिलालेख से स्पष्ट है कि ईसा के पूर्व ही कृष्ण भक्ति का प्रचार दक्षिण की ओर भी गया। राजस्थान के 'घुसुण्डी' के लेख से पश्चिम में इस भक्ति का प्रचार प्रमाणित होता है।[१]

वैष्णव मत का अन्तिम विकसित रूप पाँचरात्र मत में उपलब्ध हुआ। पाँच रात्र मत के उद्‌भव-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। वैष्णव आचार्यों के मतानुसार पाँचरात्र का सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से है। सर्वप्रथम 'पाँचरात्र', शब्द का प्रयोग 'शतपथ ब्राह्मण' में हुआ है। इसमें कहा गया है कि नारायण ने समस्त प्राणियों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के हेतु 'पाँचरात्र-सत्र' किया था। महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' को देखने से यही मालूम पड़ता है कि पाँच रात्र आचार वैदिक आचार पर ही आश्रित है। इस उपाख्यान में कहा गया है कि महर्षि नारद ने भारतवर्ष के उत्तर में स्थित श्वेत द्वीप में पहुँचकर नारायण ऋषि से पाँचरात्र मत के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया और लौटकर इस देश में उसका प्रचार किया। ईश्वर संहिता में वैष्णव सम्प्रदाय को 'एकायन' कहने का यह अर्थ बताया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए यही एक मात्र 'अयन' उपाय अथवा मार्ग किंवा साधन है। पाँचरात्र मत के भी आराध्य 'वासुदेव' हैं। वासुदेव ही परब्रह्म परमात्मा हैं। वे ही सृष्टि के आविष्कर्ता हैं। पाँचरात्र मत में व्यूहवाद का बड़ा महत्त्व है। ये व्यूह हैं—वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। संकर्षणादि वासुदेव के ही रूप हैं और जीव मात्र के प्रतीक हैं। तीनों व्यूहों की उत्पत्ति भगवान् से ही होती है। पाँचरात्र धर्म के साधन-पक्ष और साध्य-पक्ष के निरूपण के लिए अनेक पाँचरात्र संहिताओं का निर्माण हुआ। इनमें १०८ मुख्य हैं। इनमें पौष्कर सात्वत जयाख्य ये तीन अत्यन्त प्रधान हैं। पाँचरात्र संहिताओं में ब्रह्म जीव तथा जगत् के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की गई है।

पाँचरात्र का मुख्य उद्देश्य—भक्ति के साधन-मार्ग का निरूपण करना है। संहिताओं के अनुसार मन्दिर का निर्माण करके उसमें आराध्य-देव का स्थापन करना चाहिए और विधिवत् अर्चना भी उसमें होनी चाहिए। इस दुःखमय संसार से मुक्ति पाने के लिए एक मात्र साधन 'भक्ति' है। भगवान् भक्तवत्सल हैं और उनकी अनुग्रह शक्ति जीवों को इस भवसागर से उबार सकती है। भगवान् की अनुग्रह-शक्ति को

---

१ नोट—स्मरण रहे कि ईसा-पूर्व के किसी भी भागवत-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ में गोपाल-कृष्ण अर्थात् गोपी-जन-वल्लभ कृष्ण की चर्चा नहीं पायी जाती है। गोपाल-कृष्ण का स्वरूप वैदिक भक्ति-परम्परा तथा तमिळ (द्राविड़) भक्ति-परम्परा के मिलन के पश्चात् ही विकसित हुआ जिसका विवरण विस्तार से आगे दिया गया है।

उन्मुक्त करने का सबसे उत्तम उपाय भगवान् की शरणागति है। पाँचरात्रों के लिए शरणागति न केवल एक मानसिक भावना है बल्कि इस भावना का व्यावहारिक जीवन में विधिवत् अनुष्ठान करना भी अनिवार्य है। जब से इस प्रपत्ति मार्ग वाले पाँचरात्र मत का वैष्णव धर्म के साथ एकीकरण हुआ है तब से भक्ति-आन्दोलन में एक नूतन युग का आरम्भ होता है। यह कहा जा सकता है कि तमिळनाड के ही वैष्णव सम्प्रदाय ने सबसे पहले पाँचरात्र-धर्म को अपनाया और भक्ति को लोक धर्म बनाया।[१]

तमिल् की भक्ति-परम्परा (उद्भव और विकास)

तमिळ की एक बड़ी ही प्राचीन भक्ति-परम्परा है। यह कहना कठिन है कि तमिळ जनता में कब से धार्मिक भावना अथवा भक्ति भावना का विकास-स्रोत प्रारम्भ हुआ था। तमिळ के अति प्राचीन ग्रन्थों की अनुपलब्धि के कारण भक्ति के उस प्रारम्भिक काल पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है।

भारतीय धर्म-साधना पर लिखते हुए अपने विशिष्ट ग्रन्थ 'हिन्दू एवं बौद्ध धर्म' में सर चार्ल्स इलियट ने स्पष्ट कहा है कि भारतीय धार्मिक भावना का आदि-स्रोत वह पुरातन द्राविड़ीय सभ्यता है जिसके साथ आर्यों का सम्पर्क एवं समन्वय भारत में आने के पश्चात् स्थापित हुआ। डा० राधाकृष्णन् 'हिन्दू-धर्म' पर लिखते हुए स्पष्ट व्यक्त करते हैं कि भारत में प्रचलित हिन्दू धर्म वस्तुतः प्रागैतिहासिक सिन्धु-सभ्यता का वह विकसित रूप है जो उस काल से आज तक आन्तरिक एवं बाह्य प्रभावों के फलस्वरूप यथायोग्य परिवर्तन एवं परिवर्धन के पश्चात् एक समन्वित रूप में उपस्थित है।

श्री 'दिनकर' अपने ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखते हैं कि— द्रविड़ जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी और भारत की सभ्यता का आरम्भ इसी जाति ने किया था।"[२]

वैष्णव मत में भक्ति की जो प्रधानता है वह मुख्यतः द्रविड़ों की देन है। आर्यों की प्रारम्भिक धर्म-भावना कर्मकाण्ड और यज्ञ तक ही सीमित थी। उनके प्रारम्भिक साहित्य से उनकी भावुकता का तो प्रमाण मिलता ही है किन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता कि वे भक्त भी थे। भक्ति असल में आर्यों के पूर्व ही इस देश में थोड़ी-बहुत विकसित हो चुकी थी और आर्यों का ध्यान उसकी ओर तब गया जब वे कर्म-काण्ड से कुछ थकने से लगे। आगे चलकर जब इस देश में भक्ति की बाढ़ उमड़ी तब उसकी प्रधान धारा भी दक्षिण से आयी।[३]

---

१ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन—डा० हिरण्मय पृ० ११।
२ संस्कृति के चार अध्याय (द्वि० सं०)—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' पृ० ४८।
३ वही, पृ० ७२।

दक्षिण में जिस समाज में भक्ति-भावना का उद्गम माना जाता है, वह तमिळों का समाज था। वह आर्येतर जाति थी और उसके रस्म रिवाज और धार्मिक विश्वास आदि अवैदिक थे। पुरातत्ववेत्ता तथा भूतत्त्व अन्वेषक अपनी गवेषणाओं के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तमिळ प्रदेश की भौगोलिक स्थिति बड़ी प्राचीनता को लिए हुए है।[1] तमिळ संस्कृति बहुत ही प्राचीन है और उसकी धार्मिक भावना भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी स्वयं तमिळ जनता।

भक्ति से सम्बन्धित 'पूजा' तथा 'शिव' शब्द भी मूलतः तमिळ भाषा के ही बताये जाते हैं। 'शिव' शब्द का मूल वस्तुतः तमिळ भाषा का 'शिवप्पु' ( ) है जिसका अर्थ है 'लाल रंग'। (डा० विर्यसन भी इस मत से सहमत हैं।) तमिळ में 'आण्' कहते हैं पुरुष को। माना जाता है कि 'शिवप्पु' और 'आण्' के मिलने से 'शिवप्पन्' अतएव 'शिवम्' बना। यहीं से संस्कृत के 'शिव' शब्द की उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शिव की ईश्वरीय भावना पुरातत्व के आधार पर द्राविड़ीय मानी गयी उसी प्रकार 'शिव' शब्द भी तमिळ से जो द्राविड़ कुल की ही प्रधानतम भाषा है उत्पन्न हुई है। 'पूजा' शब्द दो अक्षरों से बना है—'पू' तथा 'जा'। ये दोनों तमिळ भाषा के विशिष्ट अर्थ-बोधक शब्द हैं। 'पू' शब्द का अर्थ है 'पुष्प' तथा 'जा' अथवा 'चैं' शब्द का अर्थ है 'करना'। 'पू' तथा 'चैं' तमिळ का 'पूचैं' अथवा 'पूजा' शब्द बना। (डा० सुनीतिकुमार चटर्जी इस मत से पूर्णतः सहमत हैं।) 'पूजा' वस्तुतः अपने आराध्य देव पर पुष्प चढ़ाने के कर्म को ही सूचित करता है। 'पूजा' वस्तुतः भक्त-हृदय के उद्गारों की ही अभिव्यक्ति है। अतः 'पूजा' भक्ति का प्रधान साधन है। यह शब्द स्वयं द्राविड़ीय होने के कारण यह मानना असंगत नहीं होगा कि यह पूजा तथा भक्ति की उत्पत्ति ही मूलतः द्रविड़ सभ्यता से हुई है।[2]

प्राचीन तमिळों का धर्म क्या था? वे किन-किन देवताओं की पूजा करते थे? इन बातों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। विद्वानों ने अनेक अनुमान लगाये हैं और उपलब्ध प्राचीन तमिळ ग्रन्थों के आधार पर उस समय के धार्मिक समाज का चित्र खींचा है।

प्रारम्भ में तमिळ लोग भूत-प्रेतों, वृक्षों और नागों की पूजा करते थे। तन्त्र मन्त्र में विश्वास करते थे और पशु-बलि द्वारा अपने देवताओं को तृप्त करने का प्रयत्न करते थे। धीरे-धीरे उनमें संस्कारों का विकास हुआ और संस्कारों में विकास के साथ-साथ उनके धार्मिक विश्वासों में भी परिवर्तन हुए। भूत-प्रेतों की पूजा का

---

१ (अ) *The Stone Age in India* —P. T. S. Iyengar p. 3
(ब) Origin and Spread of Tamils.—V. R. R. Dikshitar p. 1 and Foot note, pp. 55-56

२ 'हिन्दी प्रचार समाचार' (मई १९५६) नामक पत्रिका में 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' लेख डा० धक्कूर राजु नायडु, पृ० ७।

स्थान एक परम शक्तिमान् सर्वेश्वर के प्रति परम विश्वास ने ले लिया। सम्भव है इस विश्वास के मूल में भी किसी अज्ञात परम शक्ति का भय रहा हो। पर ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया भय कम होता गया और उसका स्थान प्रेम एवं भक्ति ने ले लिया। इस तरह (बहुत प्राचीन काल से ही) तमिळ लोगों के हृदय में भगवान् की भावना जाग्रत हुई थी और वे आप ही की युद्ध भावना और क्रूरता को त्यागकर शान्ति की ओर उन्मुख हुए।

'उत्पन्ना द्राविडे साहं'[1] —यह उत्तर भारत में एक सर्वविदित लोकोक्ति है। पर यह दक्षिण के उस भक्ति-आन्दोलन' की ओर संकेत करती है जिसमें प्रकट रूप से आळ्वार और नायनमार' तथा अन्य सन्तों ने अपने-अपने दिव्य अनुभूतिमय गीतों से जनता को मन्त्र-मुग्ध किया था। परन्तु इससे अनेक शताब्दियों के पहले ही तमिळ-साहित्य में उसके प्रारम्भिक काल में भक्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी तथा देवी-देवताओं की उपासना-पद्धतियों का पूर्ण विकास हो चुका था। तमिळ के सहस्त्र वर्षों के महान् इतिहास में यह भक्ति-धारा उत्तरोत्तर पुष्टि पाकर कैसे बड़े प्रवाह के रूप में बहने लगी—इसका थोड़ा-सा परिचय उपलब्ध लिपिबद्ध साहित्य के आधार पर यहाँ देने का प्रयास किया गया है।

तमिळ-साहित्य के इतिहास में ईसा-पूर्व ५०० वर्ष से लेकर ईसा की दूसरी शताब्दी तक का काल संघकाल[2] कहलाता है। तीसरी शताब्दी से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक के काल को संघोत्तर काल अथवा बौद्ध-जैन-काल कहा जाता है। इस काल को भक्ति पूर्व-काल' भी कहते हैं। छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल अर्थात् आळ्वार और नायनमारों का काल 'भक्ति-काल' कहलाता है।

संघ-काल की प्रकृति-पूजा

संघ-काल के अन्तर्गत साधारणतः संघ-पूर्व काल को भी लिया जाता है। संघ-पूर्व काल का एक मात्र ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' उपलब्ध है। यह एक लक्षण ग्रन्थ है। इस लक्षण ग्रन्थ से बहुत पहले ही उसके लक्ष्य-साहित्य के आविर्भाव का पता चल जाता है। स्वयं 'तोलकाप्पियम्' के रचयिता ने स्वीकार किया है कि उन्होंने अपने जो सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, वे पूर्ववर्ती साहित्यकारों द्वारा संकेतित अथवा प्रवर्तित सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं।[3] तोलकाप्पियम् की पूर्वकालीन प्राचीन अवस्था का द्योतक तमिळ साहित्य अब उपलब्ध नहीं। अतः तत्कालीन समाज की भक्ति की कौन

---

१ भागवत माहात्म्य १।४८

२. कई तमिळ विद्वानों का मानना है कि प्राचीन काल में तमिळ-देश में साहित्य सृजन को प्रोत्साहन देने तथा प्रत्येक रचना को साहित्यिक कसौटी पर परखने के लिए तत्कालीन राजाओं के तत्वावधान में एक कवि-परिषद् की स्थापना हुआ करती थी जिसको संघम् की संज्ञा दी जाती थी।

३ Tolkappiam —Porul Puratural, Sutras 77 and 78

कौन-सी धारणाएँ और मान्यताएँ थीं उनका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। परन्तु तोलकाप्पियम् तथा संघ-काल की रचनाओं से तमिळ जनता के विभिन्न देवताओं और उनकी उपासना-पद्धतियों और भक्ति-सम्बन्धी मान्यताओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

संघ-काल के साहित्य से पता चलता है कि प्राचीन तमिळ लोग प्रकृति-सौन्दर्य में रम जाते थे और अत्यन्त स्वच्छ मन से किसी भी जटिल चिन्तन से अस्त-व्यस्त न होकर अपना जीवन बिताते थे। प्रधानतः इस काल की रचनाओं के वर्ण्य विषय दो हैं—प्रेम और वीरता। प्रमाण स्वरूप दो कविता-संग्रह हैं—एट्टुतोकै[1] (आठ विभिन्न कविता-संग्रह) तथा पत्तुपाट्टु (दस वर्ण्य काव्यों का संग्रह)। तमिळ काव्य-शास्त्र के अनुसार कविता में आये काम के योग्य दो ही विषय हैं—एक 'अहम्' (आन्तरिक या मानसिक) तथा दूसरा 'पुरम्' (बाह्य)। भक्ति प्रेम आदि हृदय सम्बन्धी विषय 'अहम्' के अन्तर्गत तथा युद्ध शासन-विधान नीति-शास्त्र आदि 'पुरम्' के अन्तर्गत माने जाते थे। 'पुरम्' में भक्ति की उपासना-पद्धति को स्थान प्राप्त था। प्राकृतिक वातावरण में मग्न एक निश्चित जीवन दर्शाने वाली संघकालीन कविताओं में प्रकृति की असीम शक्तियों तथा अज्ञात विभावनाओं के प्रति जो श्रद्धा भाव या वन्दना भाव देखने को मिलता है उस भाव विशेष को स्वाभाविक धर्म भी कहा जा सकता है। इस काल के साहित्य में वृक्ष वन पहाड़ आदि वस्तुओं में रहने वाले मंगलकारी और अमंगलदायी देवताओं की कल्पनाएँ यत्र-तत्र मिलती हैं। इन देवी-देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए प्रार्थनाएँ होती थीं और बलिदान भी होता था। प्राचीन तमिळ लोग विघ्न-बाधाओं को दूर करने की प्रार्थना कर सूर्य की भी पूजा करते थे। चन्द्र की भी पूजा होती थी जिसे 'पिरै तोऴल' कहते थे।[3] 'परिपाडल' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि भगवान् के जिस रूप की कल्पना मन में की जाती है, भक्त के लिए उनका वही रूप उपास्य अथवा प्रिय हो जाता है।[4] कहने का तात्पर्य यह है कि संघ-काल के साहित्य पर दृष्टि डालते समय उस काल की पूर्व प्रचलित प्रकृति-पूजा-प्रणाली का भी परिचय मिलता है।

तमिलों के विभिन्न देवी-देवता

तोलकाप्पियम्[2] तत्कालीन तमिळों के प्रमुख देवताओं का परिचय देता है।

---

१ 'नद्रिन कुरुन्तोकै पदिट्रुप्पत्तु' परिपाडल कलित्तोकै नेडुन्तोकै अहनानूरु और पुरनानूरु।

२ तिरुमुरुकाट्रुप्पडै पोरुनर-आट्रुप्पडै सिरुपाणाट्रुप्पडै पेरुम्पाणाट्रुप्पडै मुल्लैप्पाट्टु, मदुरैकांची नेडुनलवाडै कुरिंजिप्पाट्टु, पट्टिनप्पालै मलैपडु कडाम।

3 Tolkapplam—Porul, Ahatinai 5 Nachinarkiniyanar's Commentary and Kallitogai Palai Kali, 16

४ परिपाडल ४, ११।५५

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में तमिळ-प्रदेश के जलवायु और अवस्था के अनुसार चार भू भागों में विभाजित होने का उल्लेख है। प्रत्येक भाग को 'तिरणै' कहते थे। इन चारों 'तिरणै' के नाम थे[1]—कुरिंजि (पहाड़ी क्षेत्र) मुल्लै (वन भूमि) मरुतम (उपजाऊ क्षेत्र) नैमदल (समुद्रवर्ती क्षेत्र)। प्रत्येक प्रदेश में प्रत्येक प्रकार के लोग रहते थे जो वहाँ की प्रकृति और अवस्था के अनुसार अपनी अलग सभ्यता विकसित करते थे। इन भू-खण्डों के लिए अलग अलग देवता भी स्वीकार किये गये थे।[2] मुल्लै प्रदेश के अधिदेवता 'मायोन' अर्थात् श्याम रंग वाले 'तिरुमाल' कुरिंजि के देवता 'सेयोन्' अर्थात् गोरे रंग वाले 'मुरुगन' थे। गाँव की निकटवर्ती खेती भूमि मरुतम के अधिपति वर्षा भेजने वाले 'इन्द्र देव' थे। समुद्रवर्ती भाग के देवता 'वरुण देव' माने जाते थे। इन चारों भू भाग के अतिरिक्त 'तोलकाप्पियम्' में एक पाँचवीं भूमि का भी उल्लेख है।[3] यह 'पालै' (मरुभूमि) है और उसकी अधिष्ठात्री देवी कोट्रवै थी। तमिळ विद्वान् श्री कल्याण सुन्दर मुदालियर का कहना है कि तमिळ प्रदेश के पाँच भू भागों में द्राविड़ लोगों की मौलिक कल्पना के अनुसार ही पाँच देवताओं का अस्तित्व धीरे-धीरे साकार हुआ और इन देवताओं के साथ आर्य देवताओं का सम्बन्ध बहुत पीछे से जुड़ गया था। इस प्रकार तोलकाप्पियम्-काल में पाँच प्रमुख देवताओं का परिचय मिलता है। इन देवताओं के अलग-अलग मन्दिर होते थे। इनका भी उल्लेख मिलता है। तमिळ जनता के बीच उपर्युक्त पाँच देवताओं में मायोन (तिरुमाल) मुरुगन और कोट्रवै सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इन्द्र और वरुण को केवल गौण स्थान प्राप्त था। जिसका प्रमाण हमें संघ-साहित्य तथा बाद के शिलालेखों में मिलता है।[4] तोलकाप्पियम् में शिव का विशेष उल्लेख नहीं है।

तोलकाप्पियम्' में वर्णित तमिळ-प्रदेश के देवी-देवताओं और उसके पश्चात् की रचनाओं में वर्णित देवी देवताओं की आराधना स्वरूप इत्यादि को देखने से पता चलता है कि इन दोनों कालों के बीच में (लगभग ईसा से पूर्व तीन शताब्दी और ईसा के अनन्तर दो शताब्दी के काल में) द्रविड़ और आर्य संस्कृतियों का एकीकरण हुआ होगा। क्योंकि तोलकाप्पियम् के बाद की रचनाओं में विशेष रूप से संघ-काल की रचनाओं में वैदिक देवी-देवताओं की आराधना भी देखने को मिलती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृतिक वातावरण मात्र से युक्त यह स्वाभाविक भक्ति क्रमशः वैदिक उपासना-पद्धति से सम्मिलित होकर एक भक्ति-परिपाक के रूप में परिवर्तित हुई। तत्पश्चात् तमिळों के देवता-वर्गों में परिवर्तन हुआ और नये देवता

---

1 Tolkappiam—Poruladhikaram Ahatinai Sutra 5

२ इस प्रकार के भू-विभाजन तथा प्रत्येक विभाग के प्रत्येक अधिदेवता मानने का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है। —कृष्ण यजुर्संहिता, काण्ड पृ० ३ ४

३ तोलकाप्पियम्, पोरुळ, अहतिणै १०।

४ तमिळ मुरुकळिन कीउम्, पृ० ११ १२।

५ पाञ्चरात्र काल निलै—मु० राघव अय्यंगार पृ० २१।

भी उसमें लिए गये। दोनों संस्कृतियों के मिलन के सम्बन्ध में दक्षिण में प्रचलित इतिवृत्तों के अनुसार वैदिक संस्कृति का दक्षिणापथ में आगमन अगस्त्य मुनि के द्वारा हुआ। कहा जाता है कि ये अगस्त्य मुनि दुर्गम विन्ध्य पर्वत को लाँघकर और गहन वनों को पारकर सुदूर दक्षिणापथ में आर्य-संस्कृति का प्रचार करने अपनी मंडली के के साथ आये। तमिळ इतिवृत्त के अनुसार अगस्त्य ऋषि ने तमिळ प्रदेश में आने पर शिवजी से उपदेश पाकर तमिळ भाषा का अध्ययन किया। वे 'पोदियमलै'[1] पर शिष्यों के साथ निवास करने लगे। उन्होंने तमिळ में एक बृहद् व्याकरण भी लिखा था ऐसा कहा जाता है। परन्तु यह व्याकरण 'अगत्तियम्' अब उपलब्ध नहीं है। उन्होंने तमिळ की अभिवृद्धि के लिए तमिळ संघों की स्थापना भी की थी। इनके बारह प्रधान शिष्यों में 'तिरणधूमाग्नि' नामक ऋषि भी थे। कुछ लोग तिरणधूमाग्नि' मुनि को और 'तोलकाप्पियम्' के रचयिता तोलकाप्पियर को एक ही व्यक्ति मानते हैं। परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं। 'तोलकाप्पियर' के काल का अभी तक निर्णय न हो सका। कुछ भी हो इतना निश्चित रूप से कह सकते हैं कि तोलकाप्पियम् के बाद की संघकालीन कृतियों में वैदिक संस्कृति की झलक भी मिलती है। जैसा कि ऊपर कहा गया कि दो संस्कृतियों का मिलन हुआ और दोनों की भक्ति परम्पराओं का भी सम्मिलन हुआ। यह एकीकरण (Fusion) ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी तक पूर्ण हो चुका था जिसका प्रमाण हमें संघोत्तर कालीन रचनाओं में मिलता है। इस परवर्ती काल की रचनाओं में वैदिक देवताओं और उनके अतिरिक्त तमिळ देवताओं और उनकी आराधना-प्रणाली का भी उल्लेख है। कुछ द्रविड़ देवता भी आर्य-देवता मण्डल में लिये गए।

मुल्लै या वन भूमि के लोगों के उपास्य देव 'मायोन' को सबसे अधिक गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त था। इस देवता ने कालान्तर में अन्य भू भागों पर भी अपना प्रभाव डाला। 'मायोन' शब्द का अर्थ है— नील मेघ द्युति युक्त भगवान्। 'तिरुमाल' इनका दूसरा नाम था। व 'आयर' कहलाने वाले ग्वाल लोगों के अधिदेवता थे। 'आयर' लोगों के देवता 'मायोन' ग्राम-देवता थे। इस देवता का एकीकरण वैदिक विष्णु से कालान्तर में हो गया।[2] इस विषय की चर्चा यथास्थान विस्तार से की जायगी।

संघकाल में आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों में सम्मिलित होने पर भी द्रविड़ (तमिळ) देवताओं और आचारणों का विशेषत्व स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है।

---

१ शिलप्पधिकारम् १—१, १४।

२ डा० सुनीति कुमार चटर्जी का विचार है कि आर्यों के ऋग्वैदिक देवता विष्णु भारत में आकर द्रविड़ों के एक आकाश देव से मिल गये जिनका रंग द्रविड़ों के अनुसार नीला अथवा श्याम था। तमिळ भाषा में आकाश को 'विन' भी कहते हैं जिनका 'विष्णु' शब्द से निकट का सम्बन्ध हो सकता है।
—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' संस्कृति के चार अध्याय पृ० ६ से उद्धत।

कुरिंजि या पर्वत भूमि के लोगों के देवता 'सेयोन' अथवा 'मुरुगन' थे। 'मुरुगन' को तमिळ लोगों की विशिष्ट अद्भुत सौन्दर्यमय कल्पना सृष्टि मान सकते हैं। 'मुरुगन' शब्द सुगन्ध दिव्य तेज बालकपन सौन्दर्य युक्त देवता की ओर लक्ष्य करता है। ये लाल वर्ण से चमकने वाला शरीर जिसमें नित नूतन यौवन की सुषमा बसती है, और अनुपम शक्ति युक्त देवता माने जाते हैं। ये प्रेम के देवता भी माने गये हैं। अविवाहित कन्याएँ योग्य वर को पाने के लिए इस देवता की पूजा करती थीं। भाला इनका आयुध है। इनके वीर-स्वरूप के सूचक वज्रायुधन दण्डपाणि वेलन वेलायुधन वेलवन आदि नाम भी तमिल-प्रदेश में प्रचलित हैं। संघम्' साहित्य के पत्तुपाट्टु नामक काव्य-संग्रह में सम्मिलित 'तिरुमुरुगाट्रुप्पडै' नामक काव्य में मुरुगदेव की पूजा प्रणाली उनके छः रमणीय निवास स्थान तथा अन्य महिमाओं का विस्तार से वर्णन है। 'परिपाडल' नामक दूसरे कविता-संग्रह में उपलब्ध पद्यों में आठ मुरुगन की स्तुति में प्रस्तुत किये गये हैं। पहले इनकी पूजा 'कुरवर' नामक पर्वतवासी लोगों के बीच में बड़ी धूम-धाम से हुआ करती थी। 'कुरवर' शिकारी लोग थे। 'मुरुगन' भी शिकारी माने गये हैं। पर्वतवासी अपने प्रिय देवता के सामने मधु-मांस भात आदि चढ़ाकर भैंस बकरे की बलि भी देते थे। इस पूजा का संयोजक पुजारी होता था जिसको पर्वतवासी अपना गुरु मानते थे। पूजा के समय पुजारी रक्त वर्ण 'कांदल' पुष्प माल में पहन कर डमरू हिलाकर गरजने वाले शब्दों में भयंकर ताण्डव नृत्य करता था। 'तोलकाप्पियम्' में इस ताण्डव नृत्य को 'कांदल' कहा गया है। नृत्य के बीच पुजारी आवेश में आकर मुरुगदेव का माध्यम बनकर भविष्यवाणी भी किया करता था। पूजा के समय पहाड़ी नर-नारी भी प्रार्थना गीत गाकर 'कुरवै' नामक नृत्य करते थे। कहा जाता है कि मुरुगदेव भी भक्तों के बीच पर्वत की कन्याओं से हाथ मिलाकर स्वयं आनन्दपूर्वक नाच उठते थे और उनको अभीष्ट वरदान देते थे। लोगों का विश्वास था कि मुरुगन द्राविड़ स्त्री-देवता कोट्रवै के पुत्र थे और युद्ध के अधिदेवता थे। इस प्रकार प्रारम्भ में मुरुगन को केवल पर्वतवासी वन्य नृत्य और पशुबलि आदि से पूजते थे। परन्तु बाद में अन्य वैदिक देवताओं की तरह इनके लिए भी मन्दिर बने और ये वैदिक ढंग से मन्दिरों में आराध्य देव हो गए। इन्हीं को संस्कृत में स्कन्द कार्तिकेय सुब्रह्मण्य आदि नामों से पुकारा जाता है। मुरुगन ये द्राविड़ अथवा तमिळ देवता थे।[1] इनसे सम्बन्धित तमिळ-जनता के बीच में प्रचलित कथाएँ आर्य-लोगों की

---

1 "The paucity however of Murugan temples and worship in North India and even in Central India and the great veneration and reverence shown to this deity in the Tamil land makes it possible that after all *Skanda was a Tamil Deity* and later on perhaps in the centuries before Christ the Murugan Cult developed all over India and mystic legend of Skanda's being son of lord *Siva* himself was skillfully woven by the *Sanskrit Writers* and given an air of plausibility

—V R. R Dikshitar Aryan Path," Vol 23 pp. 72-80.

कथाओं में मिल-जुल गयीं। फिर भी आर्य-सुब्रह्मण्यम् या कार्तिकेय और तमिळ के मुरुगन में थोड़ा बहुत अन्तर रह ही गया। सुब्रह्मण्य के सम्बन्ध में अन्तर यह है कि आर्यों के कार्तिकेय ब्रह्मचारी माने जाते हैं और तमिळों के मुरुगन विवाहित। इनके दो पत्नियाँ थीं जिनके नाम हैं—वल्ली और देवयानी। कहा जाता है कि वल्ली किरातों जाति की थी जिस पर मुग्ध होकर मुरुगदेव ने उससे विवाह कर लिया। तमिळ-प्रदेश में यह कथा बहुत प्रचलित है और इसका आध्यात्मिक अर्थ भी लिया जाता है। मुरुगदेव के मन्दिर अधिकांशतः पर्वतीय प्रदेशों में पाए जाते हैं जो उनके पर्वतीय प्रदेश के देवता होने की ओर संकेत करते हैं।

मरुदम अर्थात् उपजाऊ भूमि के देवता का वर्णन इस प्रकार मिलता है—वह मेघों का अधिपति है। उसका आयुध वज्र है। जब भूमि गरमी से सन्तप्त होती है तब वह मेघों को भेजकर पानी बरसाता है। वह कई अप्सराओं से घिरा रहता है। उसका प्रिय भोज्य पदार्थ पोंगल (एक प्रकार की भात से बनी खिचड़ी) है।' आजकल भी तमिळ-प्रदेश में पोंगल त्योहार (मकर संक्रान्ति) के अवसर पर इस देवता की पूजा होती है। इस देवता का वाहन ऐरावती नामक गौर वर्ण का हाथी है। कहा जाता है कि पुराने समय में इन्द्र के लिए अलग मन्दिर भी विद्यमान थे। 'शिलप्पदिकारम्' में इन्द्र के वज्रायुध के लिए एक अलग मन्दिर होने का भी उल्लेख है।[1] इसी ग्रन्थ में 'इन्द्रविळा' (इन्द्रोत्सव) का भी वर्णन मिलता है जिसको तमिळ-जनता मेघों के स्वामी इन्द्र को अच्छी फसल मिल जाने के कारण (धन्यवाद रूप में) प्रसन्न करने के लिए मनाती थी। इस ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि यह त्योहार २८ दिन तक चलता था और पूर्णिमा के दिन इन्द्र की प्रतिमा के अभिषेक के बाद उसका विसर्जन होता था।

नेयदल अथवा समुद्रवर्ती प्रदेश के देवता 'वरुण' थे। मछुए लोग बड़ी धूम धाम से इन देवता की पूजा करते थे। तिमिंगल मछली का दाँत इस देवता का आयुध था। कहा जाता है कि एक पंडिय राजा ने समुद्र के अधिदेवता वरुण के लिए उत्सव की प्रथा भी चलायी[2] तंजाऊर में इन्द्र और वरुण के लिए भी मन्दिर थे इसका पता शिलालेखों से चलता है।[3] तमिळों के ये इन्द्र और वरुण आर्य देवताओं से भिन्न थे या नहीं यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। हो सकता है कि द्रविड़ों के उपर्युक्त दोनों देवता आर्यों के इन्द्र और वरुण से मिल गये हों। इन दोनों देवताओं का स्थान अन्य देवताओं की अपेक्षा गौण है। जिस प्रकार मुरुगन के मन्दिर आज भी पर्वतीय प्रदेशों में विद्यमान हैं उस प्रकार इन्द्र और वरुण के मन्दिर आज उपजाऊ भूमि और समुद्रवर्ती प्रान्तों में विद्यमान नहीं हैं।

---

१ शिलप्पदिकारम्—काथै ५, १२।

२ पुरम् ६, १०।

3 South Indian Inscriptions, Vol. I. p. 414.

पालै अथवा मरुभूमि की अधिष्ठात्री देवी कोट्रवै थी। यह युद्ध में विजय प्रदान करने वाली मानी गयी है। अतः युद्ध में विजय पाने पर इस देवी को धन्यवाद देने के लिए उसकी पूजा करते थे।[1] इस देवी के उपासक 'मरवर' या 'कल्लर' लोग थे जो आखेट आदि क्रूर कार्यों से अपनी जीविका चलाते थे और इस देवता को प्रसन्न करने के लिए पशुओं तथा मनुष्यों की भी बलि चढ़ाते थे। मदिरा मांस इस देवता के प्रिय भोज्य थे। वास्तव में पालै प्रदेश के लोग जैसे भयंकर और क्रूर स्वभाव के थे उनके देवता भी वैसे ही क्रूर और भयकर थे। शिलप्पधिकारम् में उसको तीन आँखों वाली कहा गया है। उसके पैरों पर पायल होती थी और महिषासुर के सिर पर रखे बताये जाते हैं। 'मणिमेखलै' में उल्लेख मिलता है कि इस देवी के पुजारी 'भैरव' कहलाते थे जो तांत्रिक मंत्रों का उच्चारण कर उसकी पूजा करते थे। वह चिर यौवना बतायी गयी है। उसके अनेक मन्दिर निर्मित थे। कन्याकुमारी के मन्दिर में जिस देवी की मूर्ति है, इस देवी की बतायी जाती है। इसका उल्लेख विदेशी यात्री *प्लिनि ने किया है और 'पेरिप्लस' में भी उल्लेख है।[2]* कहा जाता है कि एक बार मदुरा में इस देवी के मन्दिर के फाटक अपने आप बन्द हो गये। पांड्य राजा ने इसे देवी का प्रकोप समझकर, उसको प्रसन्न करने के लिए दो ग्रामों की आय का महसूल इस देवी की पूजा के लिए शाश्वत रूप में लिखित कर दिया।[3] कोट्रवै अथवा कालिका द्रविड़ लोगों की कल्पना प्रसूत मानी जाती है, यद्यपि बाद में आर्यों की दुर्गा पार्वती आदि देवियों के अंश भी उसमें आ गये।

शिव भी पहाड़ी प्रदेश के देवता माने गये हैं। महेन्द्रगिरि (पश्चिम घाट का एक पर्वत) पर इनका निवास-स्थान था। ये मनुष्यों के जीवन और मरण के स्वामी माने जाते थे। ये सत्य के साक्षात् स्वरूप थे।[4] जो सत्य मार्ग से दूर जाते ये उनको दण्ड देने के लिए उनका सत्यानाश कर देते थे। 'शिव' द्रविड़ लोगों के सबसे प्राचीन देवता माने जाते हैं। इनको पहाड़ी प्रदेश के अधिदेवता 'सेयोन' या 'मुरुगन' का पिता माना गया है। तमिळ पुराणों में लिखा है कि तमिळ भाषा का निर्माण शिवजी ने किया था और बाद में उसके व्यापक प्रचार के लिए अगस्त्य मुनि को तमिळ भाषा का ज्ञान दिया था। प्राचीन तमिळ-संघों के स्थापक 'शिव' और 'मुरुगन' को माना जाता है। कहा जाता है कि संघ-साहित्य के सर्जन में उन्होंने सक्रिय योग दिया था। इस काल के कुछ ऐसे गीत मिलते हैं जो "इरयनार पाट्टु" अथवा 'शिव' द्वारा रचित गीत कहलाते हैं। संघ-साहित्य से पता चलता है कि उस समय शिव से सम्बन्धित

---

१ तोलकाप्पियम्-पोरुल सूत्र ५६।

2. Cultural Heritage of India, Vol. IV (First Edition)
—Skanda Cult in South India V R. R. Dikshitar pp 252 257

३ शिलप्पधिकारम् २३ ११३-१२५

४ परिपाडल ५ ३३

बहुत सी कथाएँ लोक में प्रचलित थीं जिनमें त्रिपुर-दहन कैलाश-पर्वत को उठा
वाले रावण का गर्व भंग, अमृत मंथन के समय हलाहल पान आदि कथाएँ बहु
प्रचलित थीं। परन्तु संघ-साहित्य में शिव की पूजा का अधिक विवरण न मिलने
अनुमान किया जा सकता है कि उस समय शिव-पूजा कम होती थी।[1] बाद में
नायनमारों ने शिव को अपना आराध्य देव मानकर उच्च कोटि के भक्ति-साहित्य
निर्माण कर दिया।

शिव की कल्पना और उनका प्रतीक रूप लिंग-पूजा द्राविड़ लोक-मानस
अपनी भाव भूमियाँ हैं। मोहेनजोदड़ो में प्राप्त शिव लिंगों से इस कथन की पुष्टि होत
है। लिंग-पूजा आर्यों के आगमन के पूर्व ही प्रचलित थी। ऋग्वेद में लिंग-पूजा
खण्डन है जो आर्यों के आने के पूर्व द्राविड़ों के बीच लिंग-पूजा के बहुत प्रचलित ही
की ओर संकेत करता है।[2] जब आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ त
वेदों के 'रुद्र' और द्राविड़ों के 'शिव' में एकता मानी जाने लगी। चूँकि 'शिव' द्राविड़ों
प्रमुख देवता थे इसलिए उनकी अवहेलना के लिए पुराणों में अनेक कथाएँ गढ़ी गयीं।
किन्तु तमिळ 'शिव' और वैदिक 'रुद्र' में कुछ अन्तर भी रह गया। अन्तर यह है कि
जहाँ वैदिक 'रुद्र' बिजली और वर्षा साथ के आँधी और तूफानों के अधिपति थे
तमिळ 'शिव' संहार के देवता होने पर भी मंगलदायी समझे जाते थे। तमिळ 'शिव
प्रेम और कल्याण के देवता माने जाते थे। हो सकता है कि वैदिक रुद्र में द्रविड़ शि
के भी गुण पहले से ही विद्यमान हों।[3]

संघकाल की एक कृति परिपाडल[4] में १२ आदित्य ८ वसु, ११ रुद्र और
सरस्वती आदि वैदिक देवता-मण्डल के देवताओं का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इ
देवताओं की पूजा या कल्पना किस किस प्रकार की होती थी इसका पता नहीं
चलता। ब्रह्मा की पूजा शिव विष्णु की आराधना की तरह अधिक प्रचार को पा नहीं
सकी। दक्षिण में केवल एक मन्दिर तथा उत्तर भारत में पुष्कर तीर्थ में एक मन्
भी विद्यमान है। कामदेव को पूजने की प्रथा अविवाहित कन्याओं के बीच विद्यमा
थी। इसका ध्वज मकर माना गया है। 'शिल्पधिकारम्' में उसे वसन्त-ऋतु का दे
कहा गया है। तत्कालीन समाज में इसके लिए उत्सव भी मनाए गये थे जिन्ह
'विलविळा' कहते थे। ये नव-दम्पतियों से पूजे जाते थे। कामदेव का कोई मन्दि
तमिळ नाडु में अब विद्यमान नहीं है।

---

1 Tamilar Salbhu—Dr Vidhyanandan, p. 127
2. The Dravidian Element in Indian Culture"
—(Dr Gilbert Slater) का तमिळ अनुवाद पृ० ११
३ संस्कृति के चार अध्याय—श्री 'दिनकर' पृ० ५५।
4 Linguistic Survey of India Vol. IV p. 279
५. परिपाडल १, १-८ तथा ७ ४-८।

संघोत्तर काल की रचनाओं से पता चलता कि बलदेव के लिए भी मन्दिर थे। मदुरै जिले के कुछ मन्दिरों में विष्णु सहित बलराम के विग्रह मिलते हैं। 'शिलप्पधिकारम्, मणिमेखलै' तथा पुरनानूरु में बलदेव का उल्लेख है।[1] 'शिलप्पधिकारम्' के अनुसार चोल राजाओं की प्रधान नगरी कावेरी पूम्पट्टिनम् में पञ्चमुख वाले अरुण वर्ण 'शिवोन' (मुरुगन) श्वेत शंख-सा रंग वाले 'बलदेव' नीलमणि जैसे प्रकाश युक्त 'तिरुमाल' 'पुष्पमाला तथा विजयी छत्र सहित इन्द्र देव—इन सभी के लिए अलग अलग मन्दिर थे।

वैदिक देवताओं की तरह अनेक छोटे-मोटे प्राकृतिक तत्व भी देव भावना से पूज्य संघ-साहित्य में मिलते हैं। भूत-प्रेत वायु, सूर्य चन्द्र नगर वृक्ष नदी पहाड़ आदि के स्थानीय देवताओं (Local Gods) के लिए स्थान-स्थान पर पूजा होती थी। अल्प बुद्धि ग्रामीण जनता जिसके लिए सर्वशक्तिमान् परब्रह्म की कल्पना कठिन थी छोटे-मोटे अनेक ग्राम देवताओं में भय के कारण विश्वास रखती थी।[2] मारियम्मा (शीतला) देवी की पूजा होती थी। ऐसी पत्नियों के जो अपने पातिव्रत के लिए प्रसिद्ध हुई थीं तथा ऐसे पुरुषों के जिन्होंने अपार वीरता का प्रदर्शन कर प्राण त्याग भी कर दिया था—सम्मान के लिए शिलाओं ('नडुकल'[3]) की स्थापना होती थी और उन शिलाओं में मृतकों के स्मारक चिह्न तथा लेख भी अंकित कर पूजन-पद्धति चलती थी। शिलप्पधिकारम्" नामक संघोत्तर कालीन महाकाव्य की नायिका 'कण्णकि' ऐसी पत्नी थी जिसने अपने आदर्श पातिव्रत द्वारा पतिहत्या का बदला लिया था। कहा जाता है कि चेंगुट्टुवन नामक चेर राजा 'कण्णकी' के स्मारक बनाने के लिए हिमालय से शिला लेकर आया था और उसने उस शिला में पत्नी-देवी के रूप में मूर्ति बनवाकर उसे एक मन्दिर में स्थापित किया था।

इस प्रारम्भिक काल की एक महत्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि विभिन्न देवताओं के लिए तमिळ-प्रदेश में मन्दिर निर्मित होते थे जहाँ उन देवताओं की पूजादि होती थी। तमिळ-प्रदेश में वर्तमान अनगिनत मन्दिरों को देखने से स्पष्ट होता है मन्दिर-निर्माण बहुत पुराने काल में ही प्रारम्भ हो चुका था और मन्दिरों के निर्माण के साथ-साथ धार्मिक वातावरण का भी सूत्रपात हो चुका था।[4] मन्दिरों का निर्माण और उनकी रक्षा करना राजाओं के कर्तव्यों में से समझा जाता था।[5] ठीक ही तमिळ-प्रदेश को मन्दिरों का देश कहा गया है।

---

1 Annamalai University Journal Vol. 8 pp 213-211—"Palan Thamilar Kadavul Vall padu." Prof. E. S. Varadarajanar
2. Village gods of South India —R. R. Henry Whith head.
3 An Essay on the Origin of Temples in South India. —Dr Venkitaramaya, pp 4-5
4 "Origin of South Indian Temples"—Dr Venkitaramaya.
५. तोलकाप्पियम्—अहत्तिणै, सूत्र ३०, इलंपूरणार की टीका।

ऊपर हमने प्राचीनकाल की तमिळ-प्रदेश की धार्मिक स्थिति का परिचय दिया है। उपर्युक्त विवेचन से पता चलेगा कि आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के सम्मिलन के पूर्वतः घटित होने पर भी तमिळ-प्रदेश की धार्मिक भावना या भक्ति-भावना वैविध्य को लेकर है। द्रविड़ देवताओं और आचारणों का भिन्नत्व सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। प्रारम्भ में विभिन्न देवताओं की भिन्न-भिन्न पूजा-परिपाटियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु इन आचरणों के व्यवहार-पक्ष के साथ-साथ, तत्कालीन साहित्य में उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन का पक्ष भी स्पष्ट दीख पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि तमिळों के प्राकृतिक धर्म सम्बन्धित आचारण उनके उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन से मिश्रता लिए हुए हैं। आस्थामय विश्वास सम्बन्धी व्यावहारिक आचरण और उस धर्म के ऊँचे स्तर के विचार—दोनों के बीच बड़ी गहरी खाई पड़ गयी मालूम पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि संघ-कालीन कवियों ने जीवन की शाश्वत मान्यताओं तथा शिष्टाचार के ऊँचे आदर्शों पर भी स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। संघ-काल की कुछ रचनाओं में कवियों ने उच्च कोटि के भक्त-भाव भी व्यक्त किये हैं। एक सर्वशक्तिमान भगवान् की कल्पना कर उससे भक्तिपूर्ण सम्बन्ध रखने की बात यत्र-तत्र संघ-साहित्य में देखने को मिलती है।

तमिल-प्रदेश में तिरुमाल-धर्म (वैष्णवधर्म) की प्राचीनता

यह पहले लिखा जा चुका है कि संघम्" पूर्वकाल की उपलब्ध रचना "तोलकाप्पियम्' में तमिळ-प्रदेश के पाँच भू-भागों और उनके अधि-देवताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन पाँचों देवताओं (मायोन सेयोन इन्द्र वरुण कोट्रवै) में मायोन या तिरुमाल का स्थान सबसे ऊँचा था। 'तोलकाप्पियम्" के रचयिता ने भी विभिन्न भू-भागों तथा उनके अधि-देवताओं का उल्लेख करते समय सबसे पहले मुल्लै-प्रदेश (वनभूमि) के देवता तिरुमाल का ही नाम लिया है।[1] बाद के प्रसिद्ध कवि सेक्किलार ने भी अपने ग्रन्थ 'पेरियपुराण' के विभिन्न देवताओं में "तिरुमाल' के महत्वपूर्ण स्थान का समर्थन करते हुए उनका वन-भूमि के देवता के रूप में उल्लेख किया है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वन-भूमि (मुल्लै-प्रदेश) में जन्म लेकर तिरुमाल-धर्म धीरे-धीरे अन्य भू भागों में भी फैलने लगा। मुल्लै अथवा वन भूमि में गोचारण के व्यवसाय में संलग्न आयर" कहलाने वाले ग्वाले लोग रहते थे। उनके इष्टदेवता 'मायोन" (बाद के साहित्य में कृष्णन) का पालन-पोषण भी कथाओं के अनुसार आयरकुल में ही हुआ था। "मायोन' शब्द का अर्थ है— श्याम रंग वाला।' कदाचित् इस रंग का सम्बन्ध आयर लोगों' की निवास-भूमि मुल्लै के वन प्रदेशों में आकाश-वीथि में एकत्रित होने वाले मेघों से हो सकता है जिसके रंग में 'आयर" लोग रमे होंगे और अपने इष्ट देवता के वर्ण की कल्पना इस प्रकार की होगी —

१　तोलकाप्पियम्—अहम् सूत्र ५ और १०।

2. Periya Puranam—Thirukurri Putandar Puranam, stanza [illegible]

"तिरुमाल" शब्द भी "मायोन" के लिए प्रयुक्त होता है, जो देवताओं के विशिष्ट स्थान को सूचित करने के लिए व्यवहृत होने लगा था। तोलकाप्पियम् "तिरुमाल" का मानव जाति के रक्षक के रूप में उल्लेख करता है।[1] 'तोलकाप्पियम्" जैसा कि पहले कहा गया है कि एक लक्षण-ग्रन्थ है। उसके रचयिता ने "पुवै निलै" नामक कविता का लक्षण देते समय श्रेष्ठ राजा की तुलना तिरुमाल से कर 'तिरुमाल' की स्तुति बहुत ही प्रशंसात्मक शब्दों में की है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि तोलकाप्पियनार ने ऐसे शब्दों का प्रयोग "तिरुमाल" के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के लिए नहीं किया है। इससे तिरुमाल के महत्व का पता चलता है।

मुल्लै प्रदेश के वासी अपने देवता तिरुमाल की उपासना में विशेष रूप से उसके प्रारम्भिक जीवन की बाल-लीलाओं में बहुत रम जाते थे। आयर कुल की नारियाँ उस दिव्य-पुरुष की रम्य लीलाओं के स्मरण में अपने हृदय को खो देती थीं जिसका बालकपन भी उन्हीं की जन्मभूमि में घटा था। इस देवता के बालकपन से सम्बन्धित अनेकानेक कथाएँ तमिळ जनता की कल्पना के अनुसार जन्म लेने लगीं। 'मायोन" के प्रति उन आयर रमणियों के प्रेम को लक्ष्य करके ही शायद तोलकाप्पियनार ने लिखा है कि इन रमणियों के हृदय में वैसा ही गहरा प्रेम अपने इष्ट देवता के प्रति था जैसा उनको अपने पतियों के प्रति होता था।[2] पता चलता है कि तोलकाप्पियम्-काल (ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी का काल) से ही "तिरुमाल" या "मायोन" की प्रेम कथाएँ जन-मानस को पर्याप्त मात्रा में आकर्षित कर चुकी थीं और संघ-काल में 'तिरुमाल' सम्बन्धी इन कथाओं का खूब प्रचार हुआ।

संघ-साहित्य के प्रति आलवारों का ऋण

इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं कि वैष्णव-भक्त आळ्वारों का काल तमिळ-साहित्य के संघ-काल के पश्चात् ही निश्चित रूप से पड़ता है। क्योंकि आळ्वारों की रचनाओं में संघकाल की साहित्यिक परम्पराओं तथा विचार-धाराओं तक का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। आळ्वारों की रचनाओं की साहित्यिक पृष्ठभूमि संघ-साहित्य में देखने को मिल जाती है। कुछ आळ्वारों ने तो संघ-साहित्य के प्रति अपने आभार को प्रकट भी किया है। यह स्वाभाविक ही है। क्योंकि किसी कवि के काव्य का सम्बन्ध उसके पूर्ववर्ती और समसामयिक युग से बहुत होता है। प्रत्येक कवि अपने युग के प्रभावों से किसी न किसी अंश में प्रभावित होता है और फिर अपनी कृति से अपने युग तथा अपने परवर्ती युग को प्रभावित करता है। इसलिए उस कवि के अध्ययन के लिए उसके पूर्व और समकालीन युग का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में ही उस कवि के काव्य की आलोचना बड़ी सावधानी तथा सहानुभूति से होनी चाहिए।

---

१ तोलकाप्पियम्—पौरुळ सूत्र १० ।
२ वही—पौरुळ ८१–८४ ।

आळवारों की रचनाओं की साहित्यिक पृष्ठभूमि में संघ-साहित्य है। संघ-काल तमिळ साहित्य का स्वर्णयुग है, क्योंकि इस काल में रचे गये तमिळ काव्यों का साहित्यिक महत्व सर्वश्रेष्ठ है। इस काल की रचनाओं में तत्कालीन तमिळ जनता के जीवन-दर्शन और आचार के सम्बन्ध में बहुत से विवरण भरे पड़े हैं। यह कहा जा चुका है कि इसी काल के प्रारम्भ में ही उत्तर से वैदिक संस्कृति का आगमन तमिळ-प्रदेश में हुआ और तमिळ-संस्कृति से उसका सम्मिश्रण हुआ। इस काल की रचनाओं में दोनों संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। धार्मिक-भावना के क्षेत्र में एक ओर तमिळ-संस्कृति से और दूसरी ओर वैदिक-संस्कृति के साथ प्रसूत विचार हैं। इस काल की रचनाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह देखने को मिलती है कि जनता में धार्मिक भावना का उदय पहले से ही हो चुका था। साथ ही उनमें धार्मिक सहिष्णुता भी दीख पड़ती है और धार्मिक संघर्ष का नाम तक नहीं है। परन्तु बाद में यह बात नहीं रह गयी थी।

इस संघ-काल की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस काल में तिरुमाल धर्म अर्थात् वैष्णव धर्म बहुत प्रचार को पा रहा था। और तिरुमाल सम्बन्धी (वैदिक-परम्परा-प्रसूत तथा तमिळ मानस में उत्पन्न) कथाएँ बहुत प्रचलित थीं। स्मरण रहे कि तमिळ-भूमि में "मायोन" या तिरुमाल की कल्पना (पहले से) पृथक रूप से जाग उठी थी। संघकाल के साहित्य से ज्ञात होता है कि वैष्णव धर्म विशेषकर भागवत मत एवं अवतारवाद की प्रतिष्ठा तथा विष्णु-नारायण-वासुदेव कृष्ण और 'तिरुमाल' या 'मायोन' का एकीकरण पूर्ण और पुष्ट हो रहा था। आळवारों ने इस युग के साहित्य से बहुत कुछ लिया। अतः आळवार-पूर्व इस साहित्य में वर्णित वैष्णव भक्ति के रूप पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

संघ-साहित्य में वैष्णव भक्ति

संघ-काल की रचनाएँ तीन संग्रहों में मिलती हैं—

(१) एट्टुतोकै (आठ कविता-संग्रह)
(२) पत्तुप्पाट्टु (दस वर्णन-काव्यों का संग्रह) और
(३) पदिनेण कीळ्क्कणक्कु (अठारह लघु-कविता संग्रह[1])

परिपाडल्

"एट्टुत्तोकै-कृतियों में परिपाडल् सबसे प्राचीन मानी गई है। इसमें तिरुमाल (विष्णु) का वर्णन मिलता है। इसमें तिरुमाल की महत्ता और उनके रूप की तुलना

---

१ 'एट्टुतोकै' और 'पत्तुप्पाट्टु' में सम्मिलित काव्यों के नाम पहले दिये गये हैं। 'पदिनेण कीळ्क्कणक्कु' संग्रह में सम्मिलित काव्य इस प्रकार हैं — तिरुक्कुरळ तिरिकडुकम, नान्मणिक्कडिकै सिरुपंचमूलम नालडियार कार नार्पदु, कळवषि नार्पदु, इनियवै नार्पदु इन्ना नार्पदु, ऐ तिणै पञ्चमीळी मुदुमोळी कांची आदि अठारह लघु काव्य।

पक्ष से की गई है। इसमें "भारतम्" के रचयिता पेरुन्देवनार की एक कविता मंगलाचरण के रूप में संगृहीत है। पेरुन्देवनार ने अहनानूरु पुरनानूरु कुरुन्तोकै ऐंगुरुनूरु आदि कविता-संग्रहों में भी मंगलाचरण लिखे हैं। पेरुन्देवनार ने शैव-वैष्णव भेद से दूर रहकर धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। अन्य कविता-संग्रहों में जहाँ उन्होंने शिव और मुरुगन की स्तुति की है वहाँ उन्होंने नट्रिणै" में तिरुमाल की स्तुति की है।

इस कविता में कवि ने "तिरुमाल" के विश्व रूप के दर्शन कराये हैं। इनका विश्व रूप वर्णन सात पंक्तियों में है। कवि ने समस्त विश्व को तिरुमालमय (विष्णुमय) देखा है। इस पृथ्वी-तल को तिरुमाल के चरणों के रूप में समुद्र को तिरुमाल के वस्त्र के रूप में दिशाओं को करों के रूप में सूर्य-चन्द्र को तिरुमाल के दो नयनों के रूप में कवि ने देखा है। इस प्रकार समस्त विश्व में तिरुमाल की आभा को कवि ने व्याप्त पाया है।[1] कवि के लिए विश्व ही तिरुमाल है तिरुमाल ही विश्व है। "नट्रिणै" की यह मंगलाचरण कविता उस काव्य-मन्दिर के द्वार के रूप में दीख पड़ती है।

"नट्रिणै" में मंगलाचरण के अतिरिक्त १७५ कवियों की ४०० कविताएँ संगृहीत हैं। इन विभिन्न कवियों के नाम ज्ञात नहीं हैं। इन कविताओं की रचनाओं में आठ स्त्रियाँ भी थीं। कपिलर तथा उल्लोचनार नामक दो कवियों की कविताएँ इस संग्रह में सर्वाधिक संख्या में हैं। इसकी एक कविता में किसी एक कवि ने प्रकृति के सौन्दर्य में ही तिरुमाल के दर्शन किये हैं। काले रंगीन पर्वत को और उससे कलकल-निनाद करके बहने वाली निर्मल निर्झरणी को देखकर कवि को तिरुमाल (और उसके भाई बलराम) का स्मरण हो आता है। संघ-कालीन कवियों ने प्रकृति में ही तिरुमाल को देखा है। काया-पुष्प (पुष्प विशेष) में नील गगन में नील लहर वाले समुद्र में कौए के रंग में सर्वत्र कवि को विष्णु की व्याप्ति का परिचय मिलता है। कवि ने समस्त विश्व को विष्णुमय देखा है।[2] नट्रिणै के अध्ययन से पता चलता कि तत्कालीन जनता तिरुमाल (विष्णु) की महत्ता महिमा और तिरुमाल से सम्बन्धित कथाओं से पूर्णतः परिचित थी।

पदिट्रुपत्तु

पदिट्रुपत्तु के रचयिता कार्प्पियट्रु काप्पियनार ने अपने काव्यनायक नार मुडिचेरल नामक चेर राजा को विष्णु भक्त कहा है। इसमें कहा गया है कि उक्त चेर राजा ने उस तिरुमाल (विष्णु) की उपासना में अपनी प्रजा को लगाया था, जिस तिरुमाल ने वाराहवतार लेकर समस्त पृथ्वी की रक्षा भी की। इसमें उल्लेख है कि

---

१ व्यासकृत महाभारत—शांति प अध्याय ३३१ श्लोक २१ २८ में भी विष्णु के विश्व रूप का वर्णन है।

२. तमिऴ्म वळर्क्कुमम—एम॰ राधाकृष्ण पिळ्ळै, पृ॰ ९।

तिरुमाल भक्त शीतल जल में स्नान कर, निराहार व्रत रखकर तिरुमाल के मन्दिर में प्रवेश करते थे और तिरुमाल की महिमा गाकर तुलसी माला धारी तिरुमाल के चरण कमलों पर पुष्पांजलि अर्पित कर आनन्द से नृत्य करते थे। विद्वानों का अभिप्राय है कि इसमें जिस मन्दिर का उल्लेख है वह तिरुअनन्तपुरम् (श्यामनूरपुरी) में स्थित शेषशायी विष्णु का है।[1]

कपिलर नामक प्रसिद्ध कवि ने लिखा है कि चेल्वक्कडुङ्को नामक राजा ने तिरुमाल के प्रति अपनी अपार भक्ति के उपलक्ष्य में उनकी पूजा की व्यवस्था के लिए ओहन्दूर नामक गाँव का राजस्व शाश्वत रूप में दे रखा था। इससे ज्ञात होता है कि तमिळ-प्रदेश के चेर राज्य में तिरुमाल-उपासना बहुत ही प्राचीन काल से प्रचलित थी।

नक्कीर नामक कवि ने 'पुरनाट' की एक कविता में बलराम का वर्णन करते हुए लिखा है कि समुद्र में उत्पन्न धवल रंगीन शंख के समान उनकी देह की कांति है और उनके ध्वज पर ताड़ वृक्ष का चिन्ह अंकित है।[2] आगे कवि ने बलराम के अनुज कण्णन को जिनका तन नीलमणि की आभा से युक्त है और जिनका गरुड़ध्वज महान् विजय का द्योतक है, समस्त विश्व की सारी शक्ति और ख्याति का निधान कहा है।[3]

मारोक्कत्तु नप्पसलैयार नामक कवि ने कण्णन (कृष्ण) की एक ऐसी कथा का उल्लेख किया है जो अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलती। सुर और असुरों के बीच जब युद्ध हुआ तो दिन को भी अन्धकार युक्त बनाने के लिए असुरों ने सूर्य को छिपा दिया। सूर्य का प्रकाश न पाकर सारी पृथ्वी अन्धकार से आच्छादित हो गयी और मनुष्य भयभीत हो गये। उस समय नील वर्ण देह धारी कण्णन ('विष्णु' का तमिळ नाम) ने मनुष्यों के दुःख निवारणार्थ सूर्य को लाकर आकाश में खड़ा कर दिया। इससे ज्ञात होता है कि इस कवि के समय में यह कथा प्रचलित हुई थी।[4] प्रलयकाल में जल प्लावन के समय विष्णु के वट-पत्र पर शयन करने की कथा भी वर्णित है।[5]

परिपाडल

'परिपाडल' में भी विष्णु का वर्णन है। 'पाडल' शब्द से तात्पर्य 'गीत' है। क्योंकि इस संग्रह में संगृहीत कविताएँ उस समय गीत-रूप में गायी जाती थीं। परिपाडल कविता-संग्रह में संगृहीत ७० कविताओं में से तिरुमाल से सम्बन्धित ८ कही गई हैं। परन्तु इस संग्रह की अब उपलब्ध होने वाली २२ कविताओं में से ७ में तिरुमाल (विष्णु) का वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि संघ काल में तिरुमाल उपासना बहुत प्रचार को पा चुकी थी।

---

१ तमिळ्ऩ वैष्णवमुमम—एम० राधाकृष्ण पिल्लै पृ० ५।
२. पुरम्, ५६ ३-४। ३ वही, २७ १ ३।
४ वही, १७४ १-२। ५. वही, १६१ १।

प्रथम कविता में शेषशायी विष्णु का वर्णन है। इसमें कहा गया है कि आदि-शेष छत्र, आसन, शैया, प्रकाशयुक्त दीपक आदि के रूप में तिरुमाल की सेवा में प्रस्तुत है। कवि का कहना है कि नीलवर्ण तन युक्त तिरुमाल के वक्षस्थल को शोभित करने वाली लक्ष्मी देवी मानो सत्यं और सुन्दरम् के समन्वय के रूप में विराजमान है। इस कविता में कवि ने तिरुमाल के विभिन्न आभूषणों की भी चर्चा की है। ये आभूषण क्या हैं प्रकृति की नाना वस्तुएँ ही हैं। अग्नि से घिरा हुआ नीलवर्ण-पर्वत मानो तिरुमाल का पीताम्बर हो। कवि का कहना है कि वेद प्रणेता मुनिगण तथा ज्ञानवान् व्यक्ति भी विष्णु की महिमा के एक अंश को भी जान नहीं सके तो हम व्यक्तियों से उनकी सारी महिमा का वर्णन कैसे हो सकता है। आगे कवि कहता है कि उनकी महिमा का कुछ भी गायन करना चाहें, तो उसके लिए भी उनकी दया चाहिए।

परिपाडल में मिलने वाले तिरुमाल-सम्बन्धी विचार आगे के कवियों द्वारा अपनाये गए मालूम होते हैं। उनमें एक विचार यह है कि जो भगवान् कृपासिन्धु, करुणानिधान है, वह दुष्टों को दण्ड देने में भी हिचकता नहीं है। दुष्टों को सन्मार्ग पर लाने के लिए वह उन्हें कष्ट देता है। भगवान् के इन दोनों गुणों की तुलना शीतल चाँदनी को [illegible] वाले चन्द्र तथा ताप युक्त किरणों को भेजने वाले सूर्य से की गई है।

कवि ने विश्वसृष्टि के कारण ब्रह्मा और संहार-कारक शिव को भी तिरुमाल के अंश माने हैं। कवि का कहना है कि स्वर्ण-कान्ति-युक्त चक्र को अपने हस्त में धारण करने वाले तिरुमाल ही इस विश्व के आदि-कारण हैं, परब्रह्म हैं। उनकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। उनके समान वे ही हैं। चूँकि इस निर्गुण परब्रह्म के विषय में जानना मनुष्यों के लिए बहुत कठिन है, इसलिए भगवान् ने अपने शंख चक्र संयुक्त सगुण-रूप के दर्शन भक्तों के लिए कराए हैं। अन्त में तिरुमाल भगवान् की स्तुति कर उनकी शरण में जाने में ही भक्तों की भलाई बतायी गई है।[1]

परिपाडल में अवतारवाद की झाँकी मिल जाती है। एक कविता में बलिराम अवतार का भी उल्लेख है। ज्ञात होता है कि संघकाल में कण्णन (कृष्ण) की उपासना के समान बलराम की भी उपासना होती थी और उनके लिए अलग मन्दिर भी निर्मित हुए थे। एक अन्य कविता में भी बलराम-वर्णन है। इस कविता के रचयिता कीरन्तैयार ने बलराम के अनुज के रूप में अवतरित विष्णु (कण्णन) का भी वर्णन किया है। पुराणों में विष्णु के चार व्यूहों का वर्णन आता है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। परिपाडल में भी चार व्यूहों का उल्लेख मिलता है। इनमें 'शंखधारी' कहकर वासुदेव व्यूह का, 'कलहुरा वेल्लै' कहकर संकर्षण व्यूह का,

---

१ 'परिपाडल' के इन विचारों का प्रभाव आळ्वारों पर पड़ा है। आळ्वारों के विचारों के बीज भी इसमें देखने को मिलते हैं।

पाम्बण पर्न्दै' कहकर प्रद्युम्न का और 'पैकणमाल' कहकर अनिरुद्ध व्यूह का भी उल्लेख कवि ने किया है।[1] इस कविता के रचयिता कडुवनवेळनार थे। संघकाल में तिरुमाल की विभव-मूर्तियों का उल्लेख करने वाले एकमात्र कवि ये हैं। एक दूसरी कविता में तिरुमाल के वाराहावतार लेकर[2] पृथ्वी की रक्षा करने का नृसिंह अवतार[3] लेकर प्रह्लाद के [illegible] असीम विश्वास का निरूपण करने का वामनावतार[4] लेकर तीनों लोकों को नापने का भी विस्तार से वर्णन है।

परिपाडल के द्वितीय गीत के रचयिता कीरन्दैयार बलराम और तिरुमाल (कण्णन) को एक ही मानते हैं।[5] उन्होंने कण्णन (कृष्ण) को पूर्णावतार के रूप में माना है। कवि का कहना है कि युवकों के लिए नवयुवक और वृद्धों के लिए पूर्ण ज्ञानी महान् वृद्ध के रूप में तिरुमाल दृष्टिगोचर होते हैं।[6] इन सब अवतारों के मूल में तिरुमाल के लोक रक्षक और लोक-रंजक—दोनों रूप ही प्रकट हुए हैं।

नल्लेळुदियार नामक कवि ने तिरुमाल को परब्रह्म के रूप में देखा है। विश्व के कण-कण में तिरुमाल के विश्वदर्शन का उल्लेख किया है।[7] एक गीत में इरुन्दैयूर नामक स्थान में स्थित तिरुमाल-देवालय का उल्लेख है। विद्वानों के अनुसार यह मन्दिर वैगै नदी के तट पर स्थित अळगरकोयिल ही है।[8]

कलित्तोकै

कलित्तोकै में बाल-कृष्ण की विभिन्न-लीलाओं का वर्णन है। कंस के द्वारा भेजे गये केशी नामक घोड़े को मारने की कथा है। कवि चोळन नल्लुरुत्तिरनार ने इस घटना को अपार वीरता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[9] द्रौपदी की करुण पुकार पर उपस्थित होकर उसके सतीत्व की रक्षा कर दुःशासन के गर्व को भंग करने वाले कृष्ण (कण्णन) की महिमा गायी गई है।[10] समस्त विश्व को तीन पदों में नापने की विष्णु की कथा भी है। कलित्तोकै के अध्ययन से विदित होता है कि उस समय तिरुमाल धर्म को राज्याश्रय भी प्राप्त था। इसमें पवित्र जीवन बिताने वाले वैष्णव संन्यासी लोगों का उल्लेख है जो प्रतिदिन पत्थर पर पीटकर धोये हुए काषाय वस्त्र पहना करते थे और जिनका नाम 'अवनर' या 'मुक्कोल भगवर'' विख्यात था। धार्मिक विषयों में इनसे सलाह लेने की परिपाटी भी थी।

संघकालीन कविता-संग्रहों में दूसरा संग्रह 'पत्तुपाट्टु' है, जिसमें १० वर्णन

---

१ 'तिरुक्कोयिल' (Vol. II. Issue 3) 'वैष्णवम्'' लेख—श्री पी श्री आचार्य पृ २१।
२ परिपाडल ४ १०-२१। ३ वही ४ ११ १४। ४ वही, ४-१५ २०।
५ वही २ २०-२१। ६ वही, २ ४१-४६। ७ वही, १ १८ २८।
८ तमिळ्म वैष्णवम्—एम राधाकृष्ण पिल्लै पृ० २६।
९ मुल्लैक्कली, १ १ ७ २१। १० वही १ ८१ १२०।

काव्यों का समावेश है। यह प्रथम संग्रह की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना जाता है। इसमें संगृहीत-कविताओं का काल ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व पड़ता है।

इसमें 'पेरुम्पाणाट्रुप्पडै' के रचयिता ने अपने आश्रयदाता को तिरुमाल वंशोत्पन्न कहा है।[1] इस कविता में कवि ने कांची नगर की प्राचीनता का वर्णन करते समय लिखा है कि कांची उस तरह प्राचीन और महिमा युक्त है, जिस तरह ब्रह्मदेव को धारण करने वाला तिरुमाल की नाभि से उदित कमल। इस कांची नगर के समीप तिरुवेह्का में शेषशायी तिरुमाल के एक मन्दिर होने का भी उल्लेख है।

'मुल्लै-पाट्टु' (अर्थात् 'वन-गीत') के रचयिता नप्पूदनार ने वामनावतार का स्मरण कर तिरुमाल की व्यापकता और श्यामलता की तुलना समुद्र-जल को ग्रहण कर उन्नत तथा ऊँचे आकाश में मँडराने वाले काले मेघों से की है। यह कविता मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता 'मायोन' अथवा 'तिरुमाल' की स्तुति कर प्रारम्भ होती है। महाबली से तीन चरण की भूमि माँगकर तीनों लोकों को नापने वाले तिरुमाल की कथा उस समय बहुत ही लोकप्रिय रही होगी। 'मदुरैक्कांची' में 'ओणं दिवा' का वर्णन है। कहा गया है कि महाबली के मद का दमन करने वाले तिरुमाल की महिमा गाने के लिए मदुरै नगर में 'ओणं' उत्सव प्रतिवर्ष सात दिन तक बड़ी धूम धाम से मनाया जाता था।

संघकाल का तीसरा काव्य संग्रह 'पदिनेण्कीळ्क्कणक्कु' है। वस्तुतः यह अठारह सूक्ति ग्रन्थों का सामूहिक नाम है। विश्वविख्यात महाकवि तिरुवल्लुवर द्वारा रचित 'तिरुक्कुरळ' इनमें प्रमुख है। तिरुवल्लुवर किस धर्म के अनुयायी थे इसका निर्णय अभी तक नहीं किया जा सका है। इस ग्रन्थ में जैन बौद्ध वैष्णव शैव एवं ईसाई विद्वान् अपने-अपने धर्म के विचारों को पाकर यह प्रमाणित करने के निरन्तर प्रयत्न में सदियों से लगे हुए हैं कि तिरुवल्लुवर उनके धर्मावलंबी थे और उन्हीं के धार्मिक सिद्धान्त 'तिरुक्कुरळ' में प्रतिपादित किए गए हैं। यद्यपि इस महान् कवि ने अपने इष्टदेव के रूप में विष्णु या तिरुमाल का नाम स्पष्ट रूप से नहीं लिया है, तो भी उनके भगवान् के श्रेष्ठ गुणों के अनेक वर्णन तिरुमाल को लक्ष्य करके ही किये गए मालूम पड़ते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक विचार इसमें मिल जाते हैं। दो स्थानों में 'अडियळन्दान'[4] (लोक को नापने वाला) तथा 'तामरैक्कण्णन'[5] (कमल दल लोचन 'कण्णन') इन दो प्रयोगों से यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि अपने समय में प्रचलित तिरुमाल तत्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

'पदिनेण्कीळ्क्कणक्कु' में सम्मिलित 'तिरिकडुकम्' नामक काव्य में तिरुमाल की अनेक लीलाओं में से तीन चरण से समस्त विश्व को नापने, कुरुन्द पेड़ के रूप में

---

१ पेरुम्पाणाट्रुप्पडै २९ ३१।

२ वही ४०२-४०४। ३ वही ३७१-३७३।

४ तिरुक्कुरळ दोहा ६१०। ५ वही ११०३।

उपस्थित राक्षस को मारने शकट तोड़ने आदि लीलाओं का वर्णन है। इसके रचयिता नल्लादनार थे। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण से विदित होता है कि ये वैष्णव थे।

'मानमणिक्कडिकै' के रचयिता विळम्बीनागनार भी वैष्णव थे। इसमें मंगला-चरण के दो पद्य हैं जिनमें 'मायोन' अर्थात् कण्णन की स्तुति है। कवि का कहना है कि शरद् 'मायोन' के मुख के समान है। किरण युक्त सूर्य तिरुमाल के चक्र के समान है। सुन्दर कमल के दल उनके नयना के समान हैं। 'पूर्व' के नवीन पुष्प उनके शरीर के रंग के समान हैं।[1] इस प्रकार कवि ने उपमान को उपमेय से भी श्रेष्ठ बताया है (प्रतीप अलंकार)। मंगलाचरण के द्वितीय पद्य में 'कण्णन' (कृष्ण) की अन्य कुछ लीलाओं का उल्लेख है।

'इनियवु नार्पदु'' के रचयिता पूदंचेंदनार थे। इन्होंने भी कृष्ण की अनेक लीलाओं का उल्लेख किया है। विद्वानों के अनुसार ये भी वैष्णव थे।

संघोत्तर काल (तीसरी और चौथी शताब्दी) में पाँच श्रेष्ठ काव्यों का निर्माण हुआ जो 'पंच बृहद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे हैं—शिलप्पधिकारम् मणिमेखलै जीवक चिन्तामणि वळ्यापति और कुण्डलकेशी। इन बृहद काव्यों के अतिरिक्त इस काल में रचित पाँच लघु काव्य भी विख्यात हैं। वे हैं—नीलकेशी चूळामणि यशोधर काव्यम्, नागकुमार काव्यम्, तथा उदयणन कदै। 'शिलप्पधिकारम्' (नूपुर-काव्य) के रचयिता इळंगो यद्यपि बौद्ध मुनि थे तो भी उन्होंने अपने समय के अन्य प्रसिद्ध लोक प्रिय धर्मों के विशेष रूप से तिरुमाल धर्म के विचारों का अच्छा परिचय दिया है। इस काव्य का नायक कोवलन अपनी धर्मपत्नी कण्णकी को मदुरै नगर के बाहर स्थित 'आयर' (ग्वाला) के ग्राम में छोड़ जाता है। मदुरै में जब निरपराध कोवलन की हत्या होती है, तो आयरों के उस ग्राम में अपशकुन दीख पड़ते हैं। इस पर आयर ग्वालिनें अपने इष्टदेव कण्णन (कृष्ण) से अमंगल दूर करने के लिए प्रार्थना कर 'कुरवै' नामक नृत्य करती हैं। यह प्रसंग आयिचियर कुरवै नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में ग्वालिनें गाती हैं — 'मेरु को मथानी और वासुकी सर्प को रस्सी बनाकर, हे कण्णन ! उस दिन तुमने समुद्र का मंथन कर डाला था। मक्खन चाटने से ही हाथ (बाद में) यशोदा की मथानी की रस्सी से बाँधे गये। हे नृसिंह, हे भ्रान्ति रहित ! यह तुम्हारी कैसी माया है ?' 'कुरवै कूत्तु' की कथा उस समय के तमिळ-समाज में सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा मालूम पड़ती है, जिसमें कण्णन (कृष्ण) ने बलराम और नप्पिन्नै ('राधा' का तमिळ नाम) के साथ 'कुरवै' नामक नृत्य किया था। कवि ने इस प्रसङ्ग के बहाने ग्वालिनों के मुख से 'कुरवै' नृत्य करते समय कण्णन की विभिन्न बाल-लीलाओं का गायन कराया है।

---

1 शिवज्योति (Vol. III. Issue 4) 'तिरुमाल वळिपाडु'' लेख
—श्री पी० श्री आचार्य।

'शिलप्पधिकारम्' से ज्ञात होता है कि उस समय तिरुवेंकटम्, तिरुप्पति, तिरुमालिरुंचोलै आदि स्थानों में 'तिरुमाल' के मन्दिर वर्तमान थे और इन मन्दिरों में तिरुमाल की उपासना प्रणाली भी थी। कावेरिप्पूंपट्टिनम में स्थित मन्दिरों की सूची देते समय कवि बलराम और कण्णन (कृष्ण) के अलग अलग मन्दिर होने का भी उल्लेख करता है।[1] इस काव्य के अन्त में एक जगह कहा गया है कि राजा चेरन चेंगुट्टुवन वीर-पत्नी कण्णगी की प्रतिमा बनाने के निमित्त शिला लेने के लिये हिमगिरि गए। जाते समय 'आडकमाडकम्' नामक स्थान में स्थित विष्णु मन्दिर के उन्होंने दर्शन किए।

पंचवृहद्-काव्यों में दूसरा महान् काव्य है— 'मणिमेखलै'। इसके रचयिता सीत्तलै चात्तनार (मस्तक-व्रणी चात्तनार) थे। इस ग्रन्थ के प्रणयन से उनका उद्देश्य यद्यपि बौद्ध-धर्म के विचारों का प्रतिपादन ही था, तो भी उन्होंने वैष्णव धर्म के श्रेष्ठ विचारों की ओर भी प्रसंगवश संकेत किया है। इस काव्य में कण्णन (कृष्ण) की अनेक कथाओं का भी वर्णन आता है। कण्णन द्वारा नप्पिन्नै तथा बलराम सहित किये गए कुरवै नृत्य का भी उल्लेख कवि ने किया है।[2]

'चूडामणि' नामक जैन-काव्य में उसके कथा-नायक से सम्बन्धित [illegible] कथाएँ 'कण्णन' से सम्बन्धित कथाओं से मिलती-जुलती हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि चूँकि इस काल में तिरुमाल धर्म अधिक प्रचार को पा रहा था और जनता ने तिरुमाल के विभिन्न अवतारों की कथाओं को बड़े चाव से स्वीकार किया था इसलिए इस काल के जैन बौद्ध-काव्य में भी उन कथाओं का रूपान्तर से समावेश यत्र-तत्र हुआ है।

तिरुमाल के कण्णन (कृष्ण) अवतार की भाँति राम-अवतार की कथाएँ भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थीं। इसके प्रमाण संघ-साहित्य में मिल जाते हैं। यद्यपि तमिऴ में सम्पूर्ण 'रामायण' की कथा को लेकर महाकाव्य रचने वाले 'कवि चक्रवर्ती' के नाम से प्रसिद्ध कम्बन (११वीं शती) थे तो भी कुछ विद्वानों का मत है कि उससे पूर्व (कदाचित् संघकाल में ही) 'वेण्बा' छन्द में लिखित एक रामायण-काव्य भी विद्यमान था।[3] प्रोफेसर एस० वैयापुरि पिळ्ळै का कथन है—'बहुत ही प्राचीन काल में इन रामायण-कथाओं का प्रचार समस्त तमिऴ-प्रदेश में हो चुका था। 'पुरनानूरु' तथा 'अहनानूरु' नामक संघकालीन कृतियों में जिनकी रचना ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुई थी रामायण की कथाओं का उल्लेख है। इसके पश्चात् 'वेण्बा छन्द' में रचित एक सम्पूर्ण रामायण का भी प्रणयन हुआ था। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तिरुमाल' के रामावतार की कथाएँ बहुत प्राचीन काल से ही तमिऴ जनता

---

१ शिलप्पधिकारम् १७१ १७२।

२ मणिमेखलै १९, ५५ ६६।

३ 'कंबन कण्ड तमिऴकम्'—स्वामी चिदंबरनार, पृ० २०।

को प्रभावित करती आयी है। तमिळ-प्रदेश में उत्पन्न तत्सम्बन्धी कथाएँ भी मूल-कथा में ली गयी थीं।"[1]

अहनानूरु' और 'नेडुन्तोकै' नामक संग्रहों में 'रामायण' की कुछ कथाएँ मिलती हैं। इसमें एक जगह कहा गया है कि रावण से युद्ध कर सीता को लिवा लाने के निमित्त जब राम पाण्ड्यदेश के दक्षिण कोने में एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे अपने दूसरे सहयोगियों के साथ विचार-विनिमय में रत थे तब उस वृक्ष पर निवास करने वाले अनेक पक्षी कलरव में रत थे। इस कारण कुछ समय के लिए सभा के कार्यक्रम को चालू करने में प्रतिरोध हो गया। उन पक्षियों के शान्त हो जाने पर वे पुनः विचार में प्रवृत्त हुए[2] (यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण में नहीं है)।

पुरनानूरु' की एक कविता में रामायण के एक प्रसंग की ओर संकेत है। एक बार एक कवि को एक राजा ने पुरस्कार स्वरूप बहुत से मूल्यवान् आभूषण दिये। चूँकि कवि को यह मालूम नहीं था कि किस आभरण को कहाँ पहनना चाहिए, इसलिए उस कवि की तुलना उन वानरों से की गई जो रावण-द्वारा अपहृत सीता के हाथ से फेंके गये आभूषणों को लेकर इस भ्रम में पड़े हुए थे कि उन्हें कहाँ पहनना चाहिए।[3]

एट्टुत्तोकै' काव्य-संग्रह में सम्मिलित 'परिपाडल' में एक जगह कहा गया है कि तिरुप्परंकुंड्रम् नामक स्थान में स्थित तिरुमाल-मन्दिर के चित्र-मण्डप में अहिल्या शाप विमोचन का चित्र अंकित किया गया था और मन्दिर में आने वाले भक्त उसके दर्शन कर उसकी अत्यन्त प्रशंसा करते थे।

सिलप्पधिकारम्' नामक काव्य-ग्रन्थ के 'आयच्चियर' कुरवै' प्रसंग में यद्यपि 'कण्णन (कृष्णावतार) की लीलाओं का विस्तार से वर्णन है, तथापि कवि ने रामावतार की ओर भी संकेत किया है। कवि का कहना है कि उस कान से क्या प्रयोजन है जिसने तिरुमाल के रामावतार की कथा न सुनी हो। आगे कवि कहता है कि तिरुमाल के चरण जिन्होंने तीन लोकों को नापा था वे ही रामावतार में वन-यात्रा के समय पीड़ित होकर श्रमित हो गये।[4]

मणिमेखलै' में रामावतार की कुछ कथाएँ मिलती हैं। इसमें रावण के अन्यायपूर्ण कृत्य के लिए उसे दण्ड देने के निमित्त लंका में पहुँचने के लिए रामेश्वरम में सेतु बनाते समय वानरों द्वारा बड़े-बड़े पत्थरों को लेकर आने का वर्णन है।[5] एक अन्य जगह राम की जीत और रावण की पराजय का भी उल्लेख है।[6]

---

१ कम्बन काव्यम्'—प्रो० एस वैयापुरि पिल्लै पृ १५२ १५३।
२ अहनानूरु, ७०।   ३ पुरनानूरु, ३७८।
४ सिलप्पधिकारम् (मदुरैकाण्डम्)—आयच्चियर कुरवै ३५।
५ मणिमेखलै, १७-१०-४।   ६ वही, ५३ ५४।

उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह है कि संघ-काल में ही (ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में अथवा उससे कुछ पूर्व ही तमिळ-प्रदेश में तिरुमाल (विष्णु) के विभिन्न अवतारों की कथाएँ प्रचार पा चुकी थीं, साथ ही संघ-साहित्य में हमें आळवार-साहित्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि देखने को मिल जाती है।

मन्दिरों में 'तिरुमाल' की उपासना

तमिळ-प्रदेश के मन्दिरों का इतिहास बहुत ही प्राचीन है।[1] इन मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियाँ रहती थीं और निश्चित प्रणाली के अनुसार उनकी उपासना भी होती थी। यद्यपि प्रारम्भ में तिरुमाल मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता के रूप में ही माने गये थे, तो भी संघ-काल में उनका प्रभाव अन्य भू-भागों पर भी पड़ा। उनके मन्दिरों में तिरुवरंगम्, तिरुपति, तिरुमालिरुञ्चोलै, तिरुवेहा आदि स्थानों में स्थित तिरुमाल-मन्दिरों का उल्लेख संघ-साहित्य में कई जगह मिलता है।[2]

तिरुवरंगम (श्रीरंगम) के मन्दिर के अर्चावतार तिरुमाल का वर्णन "शिलप्पधिकारम्" में इस प्रकार मिलता है: "शेषनाग पर शयन करने वाले नील वर्ण युक्त तिरुमाल स्वर्ण-पर्वत को आच्छादित करने वाले नील मेघों के समान हैं।"[3] इस रचना में तिरुवेंकट के मन्दिर में विराजमान अर्चावतार तिरुमाल का वर्णन इस प्रकार मिलता है: "इस मन्दिर के तिरुमाल के कर-कमल भय उत्पन्न करने वाले चक्र तथा श्वेत रंगीन शंख को धारण किये हुए हैं।"[4]

'परिपाडल' में तिरुमालिरुञ्चोलै के मन्दिर में विराजमान कमल-दल-लोचन और श्याम-वर्ण-देहधारी उस तिरुमाल के अर्चावतार-रूप का वर्णन मिलता है जो मानव-मात्र के दुःखों का हरण करता है।[5] "पेरुम्पाणाट्रुप्पडै" नामक रचना में काँचीपुरम् के समीप तिरुवेहा नामक स्थान में स्थित तिरुमाल-मन्दिर का उल्लेख मिलता है।[6] ऐसा ज्ञात होता है कि संघकाल में बलराम और नप्पिन्नै सहित "कण्णन" के विग्रह की पूजा होती थी। इस प्रकार के मन्दिर पुहार और मदुरै में थे।[7] उनको 'वेळ्ळैनगर कोट्टम' कहते थे। "परिपाडल" की पन्द्रहवीं कविता से ज्ञात होता है कि बलराम सहित "कण्णन" की मूर्तियाँ स्थित थीं। कण्णन" और बलराम को एक साथ मानने की परिपाटी में बाद में परिवर्तन आ गया और केवल कण्णन की मूर्तियाँ स्थापित होने लगीं।

---

1. Origin of South Indian Temple'—Dr Venkataramanaya.
2. आळ्वार भक्तों ने इन विभिन्न तिरुमाल-मन्दिरों में विराजमान "तिरुमाल" के 'अर्चावतार' रूपों का वर्णन अपने काव्य में किया है।
3. सिलप्पधिकारम् ११ ४१ ५० ।
4. वही ११ ४१ ५३ ।
5. परिपाडल, १२ ।
6. पेरुम्पाणाट्रुप्पडै ३७३ ३७४ ।
7. सिलप्पधिकारम्, ५, १७१ १७२ ।

संघकाल के उत्तरार्द्ध (संघोत्तर-काल में भी) में तमिळ प्रदेश के मन्दिरों में संस्कृत आगमों द्वारा निर्धारित विधियों के अनुसार उपासना होने लगी थी। 'सिलप्प दिकारम्'' और 'परिपाडल' से ज्ञात होता है कि उन मन्दिरों में पांचरात्र और वैखानस आगमों की विधियों के अनुसार पूजादि होती थी। तिरुमाल-मन्दिर के प्रांगण में खड़े स्तम्भ म गरुडांकित ध्वज शोभित था। 'मणिमेखलै' में एक स्थान में "कडलवण्णन पुराणम्" का उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान हो सकता है कि 'कडलवण्णन पुराणम्" का उल्लेख 'विष्णु-पुराण" के लिए ही हुआ है और 'विष्णु पुराण" उस समय विद्यमान था। 'परिपाडल' में विभिन्न स्थलों में स्थित तिरुमाल मन्दिरों तथा उनमें वर्तमान तिरुमाल के अर्चावतार स्वरूप का वर्णन मिलता है। इनमें तिरुमाल के किसी न किसी अवतार की कल्पना अवश्य थी।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि यद्यपि आरम्भ में तमिळ-भूमि में मायोन या तिरुमाल की कल्पना मुल्लै प्रदेश के अधिदेवता के रूप में पृथक से थी तो भी संघ-काल में उत्तर से आने वाली वैदिक-भक्ति-परम्परा से प्रभावित होकर, तिरुमाल-धर्म तमिळ-प्रदेश में बहुत अधिक प्रचार को पाने लगा। तिरुमाल के अनेकानेक मन्दिर उस काल में तमिळ-प्रदेश के नाना भागों में निर्मित थे जिनमें तिरुमाल की उपासना होती थी। संघ-साहित्य इसके प्रमाण प्रस्तुत करता है कि तिरुमाल से सम्बन्धित तमिळ-लोक-मानस से उत्पन्न कथाएँ वैदिक-परम्परा-प्रसूत विष्णु के विभिन्न अवतारों की कथाओं से मिलकर जनता को आकर्षित करने लगीं थीं। इस प्रकार संघ-काल में तिरुमाल-धर्म (वैष्णव धर्म) तमिळ-प्रदेश में एक प्रधान धर्म हो गया था।

गोपालकृष्ण और राधा के विकास में तमिळ की देन

महाभारत में कृष्ण एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ क्षत्रिय योद्धा के रूप में दर्शाये गये हैं। वे पाण्डवों का सन्धि-सन्देश ले जाने वाले शान्ति-दूत हैं। उनके ज्ञान विज्ञान और प्रखर बुद्धि की प्रभा से समस्त लोक आलोकित है। महाभारत में श्रीकृष्ण के शौर्य-वीर्य का पूर्ण दिग्दर्शन है। महाभारत की समाप्ति पर वे कुशल नियोजक के रूप में राजसूय यज्ञ में लगे दिखाई पड़ते हैं। अन्त में हमारे सामने उनका यह रूप ही आता है जो एक दूरदर्शितापूर्ण विचारक का माना जाता है। उनकी महत्ता के दो कारण बताये गये हैं (१) सभा पर्व में कहा गया है कि वे अपने प्रखर ज्ञान और श्रेष्ठतम बल के कारण ही अनन्य गौरव के पात्र हैं (२) गीता में कर्मयोग की प्रधानता की स्थापना करने वाले एक कर्मनिष्ठ व्यक्ति और उपदेशक के रूप में ही कृष्ण दीख पड़ते हैं।

पहले हम बता चुके (वैदिक-भक्ति-परम्परा का परिचय देते समय) हैं कि जब सात्वतों में वासुदेव की पूजा प्रधान हो गयी तो महाभारत के युग में वासुदेव और नारायण को एक ही समझा जाने लगा। यहाँ तक आकर वासुदेव कृष्ण विष्णु और

नारायण एक हो चुके थे। पर उस समय तक गोपालकृष्ण का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार के किसी देवता का नाम न तो महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में आता है और न पातंजल महाभाष्य में।

परन्तु श्रीमद्भागवत जैसे बाद के ग्रन्थों में कृष्ण का जो रूप विशेष रूप से मिलता है वह गोपाल कृष्ण का है। परवर्ती साहित्य में मिलने वाला बाल-कृष्ण-रूप महाभारत के कूटनीतिज्ञ और गीता के उपदेशक कृष्ण के रूप से बिल्कुल भिन्न है। श्रीमद्भागवत के आधार पर परवर्ती साहित्य-ग्रन्थों में कृष्ण का रूप प्रेमाभक्ति के आलम्बन के रूप में एवं गोप-गोपियों के सर्वस्व राधा-वल्लभ नटनागर एवं गोपाल कृष्ण ही अधिक ग्राह्य हुए। आश्चर्य की बात है कि महाभारत के उपदेशक कृष्ण श्रीमद्भागवत में गोपाल कृष्ण के रूप में कितने भिन्न जान पड़ते हैं?

डा० भाण्डारकर का कहना है कि ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी तक के किसी भी भागवत धर्म सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थ में गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं है है और न उनका कोई परिचय ही उपलब्ध होता है। इसके विरुद्ध ईसा के अनन्तर आने वाली शताब्दियों की ऐसी सामग्रियाँ गोपाल कृष्ण की अनेक कथाओं से भरी पड़ी हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि उक्त दोनों समयों के बीच में कोई न कोई नवीन बात अवश्य हुई होगी।

ईसा के पूर्व के किसी संस्कृत-ग्रन्थ में गोपाल कृष्ण का वर्णन न मिलना और ईसा के पश्चात् के ग्रन्थों में गोपाल कृष्ण की लीलाओं का विस्तार से विवरण प्राप्त होना विद्वानों के बीच अनेक भ्रान्तियों एवं कल्पनाओं को जन्म देता आया है। पाश्चात्य विद्वान् जो हर चीज का सम्बन्ध योरप से मानने वाले हैं, बालकृष्ण की लीला सम्बन्धी कथाओं को ईसा मसीह की जीवन-कथा से प्रभावित मान बैठे हैं। डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण भाग में आबाद हो गया था। इन ईसाइयों की भक्ति भावना का पूरा-पूरा प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ा और क्राइस्ट से क्रिस्टो और फिर कृष्ण उनका उपास्य बन गया। वैष्णवों की दास्य भक्ति प्रसाद पूतना-स्तन्य पान आदि को ग्रियर्सन महोदय ईसाइयत की देन बताते हैं। उनका कहना है कि पूतना बाइबिल की 'वर्जिन' है। प्रसाद सकफीस्ट है—इत्यादि। इस प्रकार वे ईसा के पश्चात् बालकृष्ण की कथाओं का जन्म सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।[1] वेबर[2] और केनडी[3] का भी कथन है कि बालकृष्ण की कथा ईसा मसीह की कथा का भारतीय रूप है।

---

१ "जे० आर० ए० एस०" (१९०७ ई०) में 'हिन्दुओं पर नेस्टोरियन ईसाइयों का ऋण" शीर्षक लेख।

२ "इण्डियन एण्टीक्वेरी" (जिल्द ३-४) में 'कृष्ण जन्माष्टमी' वाला लेख।

३ "जे० आर० ए० एस०" (१९०७ ई०) में 'कृष्ण ईसाइयत और गूजर' लेख।

कुछ भारतीय विद्वान् 'गोपाल कृष्ण' के रूप का अस्तित्व प्रारम्भ से सिद्ध करने के उद्देश्य से केवल 'गोपाल' शब्द का आधार लेकर गोपाल कृष्ण को प्राचीन ग्रन्थों में ढूंढते हैं और यह बताने की चेष्टा करते हैं कि गोपाल कृष्ण का रूप पहले से ही बीज रूप में विद्यमान था। वे कृष्ण के 'गोविन्द' नाम का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से जोड़ते हैं। 'गोविन्द' एक पुराना नाम है और उसका उल्लेख श्रीमद्भागवत और महाभारत—दोनों में हुआ है। परन्तु महाभारत में 'गोविन्द' शब्द का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से नहीं लगाया गया है। आदि पर्व में गोविन्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि भगवान् का नाम 'गोविन्द' इसलिए है कि उन्होंने 'वाराहवतार' में 'गो' अर्थात् पृथ्वी की रक्षा की थी। शान्ति-पर्व में भी इसी प्रकार की व्याख्या की गई है। डा० भाण्डारकर ने गोविन्द की उत्पत्ति गोविन्द से बताई है, जो ऋग्वेद में इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में हमें ऐसे मंत्र[1] अवश्य मिलते हैं जिनमें गो वृष्णि राधा, व्रज गोप रोहिणी और अर्जुन आदि नाम आये हैं। परन्तु गोपाल कृष्ण से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।[2]

बालकृष्ण के आविर्भाव के विषय में भाण्डारकर आदि कुछ विद्वानों का मत है कि बालकृष्ण की कथा सीरिया से चलकर आयी हुई घुमक्कड़ आभीर जाति के बाल-देवता की कथा है। आभीरों के बाल-देवता श्रीकृष्ण की कथा का सबसे पुराना उल्लेख हरिवंश पुराण में पाया जाता है। भाण्डारकर ने इस ग्रन्थ का काल तीसरी शताब्दी के अनन्तर माना है; क्योंकि उसमें 'दीनार' शब्द (लैटिन Denarious) का उल्लेख है।[3] भाण्डारकर के अनुसार आभीर ही सम्भवतः बाल-देवता की जन्म-कथा और पूजा अपने साथ ले आये। कुछ कथाएँ तो उनके द्वारा लायी गयी थीं और कुछ उनके भारत आने के बाद विकसित हुईं। भाण्डारकर आगे लिखते हैं कि यह सम्भव है कि वे अपने साथ क्राइस्ट नाम भी ले आये हों और सम्भवतः यही नाम वासुदेव-कृष्ण के साथ भारतवर्ष में बाल-देवता के एकीकरण का कारण हुआ हो।

महाभारत के 'मौसल पर्व' अध्याय ७ में आभीरों के सम्बन्ध में एक कथा आती है जिसके अनुसार अर्जुन वृष्णि वंश के समाप्त हो जाने पर उस वंश की स्त्रियों को जब द्वारका से कुरुक्षेत्र ले जा रहे थे तो आभीरों ने उनके ऊपर आक्रमण कर

---

१ (अ) ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै । यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥ —ऋग्वेद १।१५४।६
(ब) दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठन् ।—ऋग्वेद १।३२।११
(स) तमेतदाधारय कृष्णासु रोहिणीषु ।—ऋग्वेद ८।९३।१३

२ सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंश लाल शर्मा पृ० १२५

3 *Vaishnavism, Saivism and other Minor Religious Sects.*
—Dr R. G Bhandarkar p 37

दिया। आभीर लुटेरे और म्लेच्छ बताये गये हैं जो पंचनद देश में रहते थे। विष्णु पुराण में आभीरों को कोंकण और सौराष्ट्र के निवासी बताया गया है। पहले तो आभीर चरवाहे थे फिर वे पंजाब से मथुरा सौराष्ट्र और काठियावाड़ तक फैल गये। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वान् अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के द्वारा अब यह सिद्ध कर चुके हैं कि आभीर जाति कहीं बाहर से नहीं आयी थी और ईसा के पूर्व भी यह जाति भारतवर्ष में विद्यमान थी। गोपाल कृष्ण तथा बालकृष्ण वाली कथाओं का समावेश वासुदेव के साथ इन आभीरों द्वारा किया गया।

परन्तु प्रस्तुत लेखक को गोपाल कृष्ण की कथाओं की उत्पत्ति के विषय में वस्तुस्थिति ऊपर दिये गये विद्वानों के विभिन्न अनुमानों से भिन्न मालूम पड़ती है। तमिळ साहित्य के लब्धपूर्व काल की रचना तोलकाप्पियम (ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी) और संघ-काल की रचनाओं में (ईसा की दूसरी शताब्दी तक) तमिळ-प्रदेश के पाँच भिन्न भू भागों और उनके अधिदेवताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। मुल्लै प्रदेश (वन-भूमि) में गोचारण के व्यवसाय में संलग्न 'आयर' कहलाने वाले ग्वाला लोग रहते थे और उनके देवता मायोन' थे। संघ-साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे 'मायोन' 'आयर' लोगों के बाल-देवता थे। उस समय इस बाल-देवता से सम्बन्धित अनेकानेक कथाएं जनता के बीच में प्रचलित थीं जिनका वर्णन संघ साहित्य में मिलता है। यह भी ज्ञात होता है कि उस समय आयर' कहलाने वाले लोग अपने बाल-देवता की लीला वाली कथाओं का अभिनय नाटकादि में करते थे। 'आयर' लोगों के बीच में ऐसे अनेक नृत्यों की परिपाटी थी, जो उनके अनुसार उनके बाल-देवताओं ने अपने बाल्य-जीवन में किये थे।

हम ऊपर कह आये हैं कि ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व ही आर्यों का दक्षिण में अर्थात् प्राचीन तमिळ-प्रदेश में आगमन हुआ। महाभारत द्वारा प्रचारित भागवत धर्म का भी दक्षिण की ओर गमन हुआ। नासिक में प्राप्त 'नानाघाट' के शिलालेख से स्पष्ट है कि ईसा से पूर्व ही भागवत धर्म दक्षिण में पहुँचा। कृष्णा जिले के 'घाड़ना' नामक शिलालेख से भी यही प्रकट होता है।[1] अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा के पूर्व तथा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में तमिळ-प्रदेश में वैदिक संस्कृति से भिन्न एक तमिळ-संस्कृति विद्यमान थी और उनका समाज काफी सभ्य था। ईसा-पूर्व की शताब्दियों में उत्तर से आने वाली वैदिक संस्कृति और तमिळ-प्रदेश की द्राविड़ संस्कृतियों में मिलन हुआ। उत्तर से आने वाले अपने साथ वेद उपनिषद्, रामायण महाभारत और गीता के विचारों को लेते आये। (स्मरण रहे कि उनके वासुदेव-कृष्ण में बालकृष्ण का रूप नहीं था।) यह मान्य बात है कि जब दो संस्कृतियों में मिलन होता है तब बहुत-सी बातों में समन्वय और आदान-प्रदान होना

1 *Early History of the Vaishnava Sect* —Hemachandra Ray Choudhari, p 108

स्वाभाविक है। परिणामस्वरूप तमिळ-प्रदेश के (वैदिक परम्परा से भिन्न) देवताओं और अनेक वैदिक देवताओं में एकीकरण हो गया। तमिळ-प्रदेश के मायोन मुरुगन कोट्रवै, शिवन आदि देवताओं को वैदिक देवताओं से मिला लिया गया। मुल्लै-प्रदेश के देवता 'मायोन (जो बाल-देवता थे) का वैदिक देवता विष्णु से बहुत कुछ साम्य था। इसलिए मायोन और विष्णु-कृष्ण का एकीकरण उचित और स्वाभाविक था। यहाँ पर स्पष्ट कह देना आवश्यक है कि उत्तर से आने वाले लोगों के देवता महाभारत और गीता के वासुदेव-कृष्ण का ही जिसमें गोपाल-कृष्ण का अंश नहीं था तमिळ-प्रदेश के 'मायोन' (बाल-देवता) से हुआ। दूसरे शब्दों में तमिळ-प्रदेश के आयर' कहलाने वाले ग्वाला लोगों के इष्टदेवता 'मायोन' का एकीकरण 'महाभारत' के कृष्ण से हुआ क्योंकि दोनों में अनेक बातों में साम्य था।

यह कहा जा चुका है कि मुल्लै-प्रदेश में आयर' लोगों के बीच मायोन' के बाल्य-जीवन से सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्रचलित थीं। महाभारत के कृष्ण का आयर' लोगों के बाल-देवता से एकीकरण होने पर 'मायोन' की बाल-लीला सम्बन्धी बहुत सी कथाएँ महाभारत के कृष्ण की कथाओं से मिल गयीं और उसी प्रकार महाभारत के कृष्ण की कथाएँ 'मायोन' की कथाओं से मिल गयीं।[1] इस घटना के पश्चात्‌ की तमिळ-रचनाओं में 'मायोन' के विषय में महाभारत आदि की कथाओं का प्रचुर मात्रा में प्राप्त होना भी उक्त स्थिति को पुष्ट करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों संस्कृतियों के मिलन के बाद ही वर्तमान कृष्ण के रूप की स्थापना हुई। ऐसा लगता है कि वर्तमान कृष्ण के जीवन का उत्तरार्द्ध महाभारत के कृष्ण का है और पूर्वार्द्ध बहुत अंश में तमिळ के देवता 'मायोन का है।[2] दोनों संस्कृतियों के सम्मिलन के फलस्वरूप दोनों के देवताओं में होने वाले एकीकरण से तमिळ के 'मायोन' में महाभारत के वासुदेव कृष्ण का अंश आ मिला और महाभारत के कृष्ण के साथ 'मायोन' का बाल-रूप जुड़ गया। तमिळ-साहित्य में 'मायोन' के स्थान पर ईसा के पश्चात्‌ की कृतियों में 'कण्णन' शब्द का प्रयोग होना भी इसी स्थिति को पुष्ट करता

---

१ प्रसिद्ध तमिळ विद्वान्‌ एम० राघव अय्यंगार का मत है कि आज तमिळ-प्रदेश में प्रचलित महाभारत और भागवत की कथाएं स्पष्ट रूप से बहुत बाद की हैं। तमिळ-भूमि में उत्पन्न कण्णन-कथाएं जिनका विवरण प्राचीन तमिळ-साहित्य में मिलता है, तमिळ-प्रदेश में आज प्रचलित महाभारत और भागवत की कृष्ण-कथाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं—"आराय्‌चि तोकुदि"।

—एम० राघव अय्यंगार, पृ० ४४।

२ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी कथन है कि "यह बात सर्वसम्मत है कि कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है।"

—सूर साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ ११ सं० १९५६।

है। प्रस्तुत लेखक का विचार है कि 'कण्णन' शब्द तमिळ में 'कृष्ण' (कन्हैया) से आया होगा। कृष्ण का रंग श्याम वर्ण बताया गया है। तमिळ का 'मायोन' शब्द काले अथवा नीले रंग को सूचित करता है।[1] आर्य लोग तमिळों (द्रविड़ों) को काले रंग वाले कहते थे। अतः तमिळों के देवता 'मायोन' के रंग को कृष्ण द्वारा अपनाना भी कृष्ण-मायोन के एकीकरण को पुष्ट करता है।[2]

लेखक की समझ में विद्वानों ने 'आभीर' जाति का जो उल्लेख किया है, वास्तव में वह तमिळ प्रदेश की 'आयर' जाति थी। 'आयर' ग्वाले होते थे। पुराणों में उन्हीं को 'आभीर' कहा गया है। आज 'अहीर' शब्द 'आभीर' शब्द के ही बिगड़े हुए रूप में मिलता है। 'अहीर' शब्द ग्वालों के लिए ही प्रयुक्त होता है। कौतूहल का विषय है कि 'आयर' शब्द आज भी ग्वालों के लिए ही प्रयुक्त होता है। तमिळ में 'आ' का अर्थ है 'गाय'। यह साम्य भी ध्यान देने योग्य है।

कृष्ण के बाल-जीवन से सम्बन्धित अनेकानेक कथाओं की जन्म-भूमि तमिळ प्रदेश है। कृष्ण की बाल-लीलाओं से सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथाएँ जो ईसा के अनन्तर के संस्कृत ग्रन्थों में मिलती हैं वे पहले से ही तमिळ प्रदेश में प्रचलित थीं भले ही वे कुछ भिन्न रूप में हों। ऐसी कथाएँ भी कृष्ण के सम्बन्ध में आज भी तमिळ-प्रदेश में प्रचलित हैं जो संस्कृत-साहित्य में कहीं भी देखने को नहीं मिलतीं। (उनका विवरण आगे दिया जायगा।)

राधा का विकास

संस्कृत साहित्य में गोपाल कृष्ण की प्रधान प्रेयसी राधा का वर्णन बहुत बाद में मिलता है। महाभारत, हरिवंश पुराण, ब्रह्म पुराण, विष्णु पुराण आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में राधा का उल्लेख नहीं है। भास के नाटकों में जहाँ कृष्ण की चर्चा है, वहाँ राधा का नाम नहीं आता। सभी प्राचीन ग्रन्थों में कृष्ण की प्रेम लीलाओं का वर्णन है, गोपियों का वर्णन है परन्तु राधा का कहीं उल्लेख नहीं है। सबसे पहले

---

१ यह भी द्रष्टव्य है —

"डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि आर्यों के सूर्यवाचक देवता *विष्णु, भारत में आकर द्राविड़ों के एक आकाश-देव से मिल गये जिनका रंग* द्राविड़ों के अनुसार आकाश के ही सदृश नीला अथवा श्याम था। तमिळ भाषा में आकाश को 'विण्' भी कहते हैं जिसका 'विष्णु' शब्द से निकट सम्बन्ध हो सकता है।"

—संस्कृति के चार अध्याय श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' पृ० ६०

२. "आर्यों ने द्राविड़ों से ही कृष्ण (कण्णन) सम्बन्धी कथाओं का परिचय प्राप्त किया होगा।"

—Dr S Vidhyanandan "*Tamilar Sabbu*" p. 128 (Ceylon University 1954)

हाल की 'गाहा सतसई' में राधा का उल्लेख मिलता है। हाल (सातवाहन) ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करता था और उसने अपने समय में सामान्य लोक में प्रचलित प्राकृत गाथाओं का संकलन कराया था। ये गाथाएँ गोप-गोपियों की प्रेम-लीलाओं पर लिखी गई थीं। परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि गाथाओं का वर्तमान रूप छठी शताब्दी का है, और राधा का नाम इनमें छठी शताब्दी में आया। वैसे चौथी शताब्दी और उसके पश्चात् कुछ शिलालेखों में कृष्णलीला के अंकन मिलते हैं, जिनमें एक विशेष गोपी को कृष्ण के साथ उत्कीर्ण किया गया है। मन्दसौर के प्रसिद्ध स्तम्भों में भी यह अंकन मिलता है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है कि पाँचवीं शताब्दी के लगभग राधा का स्वरूप निर्धारित हो गया था और कृष्ण लीला में राधा को पूरा महत्त्व दिया जाने लगा था। ८ वीं सदी में 'वेणी संहार नाटक (भट्ट नारायण कृत) लिखा गया। उसमें प्रारम्भ में नान्दी पाठ में राधा का प्रथम बार कृष्ण की प्रियतमा के रूप में निश्चित रूप से उल्लेख मिलता है।

भागवत पुराण में कृष्ण की एक विशिष्ट गोपी की चर्चा है।[1] किन्तु उस गोपी का नाम राधा है इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी एक विशेष गोपी का महत्त्व बढ़ रहा था लेकिन उसका नाम राधा बाद में पड़ा। परवर्ती संस्कृत-साहित्य में तो राधा का प्रचुर उल्लेख है। और उसके बाद तो जयदेव और उमापति के बाद विद्यापति चण्डीदास और सूरदास का काव्य राधापरक है ही।

राधा के आविर्भाव के विषय में डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं— जिस प्रकार वासुदेव और द्वारकावासी कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति से उठकर परम-दैवत के आसन पर पहुँचे हैं, राधा में इस प्रकार के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का कोई लक्षण नहीं पाया जाता। गोपियों में तो यह है ही नहीं फिर मजे की बात यह है भागवत हरिवंश पुराण और विष्णु पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थ जो गोपाल-कृष्ण की कथाओं से रस हैं उनमें भी राधा का नामोल्लेख नहीं पाया जाता। यह भी देखा जाता है कि राधा की भक्ति का नया स्वरूप दक्षिण से आता है। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर दो तरह के अनुमान किये जा सकते हैं—(१) राधा आभीर जाति की प्रम-देवी रही होगी जिसका सम्बन्ध बाल-कृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में केवल बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा। इसलिए आर्य ग्रन्थों में *राधा का नामोल्लेख नहीं है। पीछे से जब बालकृष्ण की प्रधानता हो गई होगी* तो इस बालक-देवता की सारी बातें अहीरों से ली गई होंगी। इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगी। (२) दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि राधा इसी देश की किसी आर्य-पूर्व जाति की प्रेम-देवी रही होगी। बाद में आर्यों में

---

१ अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दो प्रीतोयामनयद्रहः ॥ १० ३० २८।

इनकी प्रधानता हो गई होगी और कृष्ण के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा।'[1]

प्राचीन तमिळ साहित्य में उपलब्ध 'मायोन' अथवा 'कण्णन् (कृष्ण) से सम्बन्धित कथाओं को देखने से पता चलेगा कि डा० साहब का उपर्युक्त अनुमान सत्य की कोटि में आता है। तमिळ में 'मायोन' से सम्बन्धित कथाओं में 'कण्णन' (कृष्ण) के साथ उसकी प्रधान प्रेमिका 'नप्पिन्नै' का भी वैसा वर्णन मिलता है जैसा बाद के संस्कृत-साहित्य में कृष्ण और राधा का। तमिळ में जहाँ कहीं भी 'कण्णन' का वर्णन मिलता है, वहाँ अवश्य नप्पिन्नै का उल्लेख मिलता है। उनकी प्रेम-लीलाओं की कथाएँ प्रारम्भ से ही जनता के बीच में प्रचलित थीं। जब दो संस्कृतियों में (वैदिक और तमिळ) सम्मिलन हुआ और मायोन' की बाल-लीलाओं से वासुदेव-कृष्ण से साथ मिलने पर गोपाल कृष्ण का रूप स्थिर हुआ तब 'मायोन' की प्रेमिका नप्पिन्नै और उन दोनों की प्रेम-क्रीड़ाओं का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक स्त्री की कल्पना हुई होगी और उसका नाम बाद में राधा पड़ा होगा। कृष्ण और 'राधा की जो प्रेम लीलाओं की कथाएँ बाद के संस्कृत ग्रन्थों में मिलती हैं, वही कण्णन और 'नप्पिन्नै की कथाओं के रूप में प्राचीन तमिळ साहित्य में और बाद में आळ्वार-साहित्य में मिलती हैं। केवल व्यक्तियों के नाम में अन्तर है। व्यक्तित्व बहुत कुछ समान है। कुछ लोग 'राधा' शब्द को लेकर राधा का अस्तित्व वेद तक में ढूँढते हैं और अनेक कल्पनाएँ कर बैठे हैं।[2] नाम से व्यक्तित्व का विकास ही अधिक महत्व पूर्ण है। जहाँ तक 'राधा' के व्यक्तित्व से सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि राधा के विकास में तमिळ के 'मायोन' अथवा 'कण्णन की प्रियतमा "नप्पिन्नै का सम्बन्ध अवश्य था। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि चूँकि तमिळ में 'राधा शब्द नहीं मिलता इसलिए राधा का सम्बन्ध "नप्पिन्नै से कैसे बैठ सकता है? इसके उत्तर में यह कहना पर्याप्त है कि जिस प्रकार तमिळ में कृष्ण के लिए अन्य शब्द मात्र

---

१ सूर साहित्य (संशोधित संस्करण)—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ११ १७

२ कुछ लोगों की धारणा है कि 'आराधिता' शब्द से राधा की उत्पत्ति हुई। जो आराधना करती है, वही राधा है। बृहद् संहिता में 'राधा' शब्द की उत्पत्ति इसी प्रकार की गयी है (बृहद् संहिता, द्वितीय पद, अ० ४१ श्लोक, पृ० १०४)। ऋग्वेद में 'राधा' शब्द धन को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद १।१२२।१२)। अथर्ववेद (१०।७) में जहाँ 'राधो विशाखे' आता है वहाँ 'राधा शब्द अमरकोष के अनुसार नक्षत्र को सूचित करता है।

व्यक्ति के नाम के रूप में 'राधा' शब्द का प्रयोग बाद में ही मिलता है। सोमदेव कृत यशस्तिलक' (७, २६) की वनकीर्ति वाली कथा में 'राधा' नाम से एक स्त्री आती है। १ वीं शताब्दी के पूर्व की प्रसिद्ध महायान-पुस्तक 'ललित विस्तार' में 'राधा' नाम से एक स्त्री का उल्लेख है।

भी प्रचलित है, उसी प्रकार उस समय 'नप्पिन्नै' शब्द आज की 'राधा' के लिए प्रयुक्त था।[1] 'शिलप्पधिकारम्' (ईसा की दूसरी शताब्दी) में उल्लेख मिलता है कि कृष्ण-मन्दिरों में कृष्ण और नप्पिन्नै की युगल मूर्ति विद्यमान रहती थी।[2]

सभी विद्वान् यह मानते हैं कि आज राधा और गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसके विकास में पुराणों का बड़ा हाथ है। राधा और कृष्ण की कथाएँ पुराणों में ही अधिक वर्णित हैं। 'पुराण' शब्द का अर्थ है 'पुराना'। इसलिए पुराण-ग्रन्थों से मतलब उन ग्रन्थों से है जिनमें प्राचीन आख्यायिकाएँ संगृहीत हों।[3] जो बातें और कथाएँ लोक में बहुत प्रचलित और प्रसारित होती हैं वे ही पुराणों में रचयिता की कल्पना का भी सहारा लेकर स्थान पाती हैं। तत्कालीन लोक में प्रसिद्ध धर्मों और प्रथाओं का वर्णन पुराणों में हुआ है। ये पुराण विभिन्न कालों की रचनाएँ हैं। पुराणों की श्लोक-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि इसलिए होती गई है। इनका संकलन भी विभिन्न कालों में हुआ। जो लोक-विश्वास और लोक-कथाएँ और परम्पराएँ बहुत प्रचार को पाती हैं, उनको पुराणों में समय-समय पर स्थान अवश्य मिला है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में यहाँ तक कहा गया है कि जनता में जो रीति रिवाज हैं, उसको वेद-वाक्य से भी अधिक मान्यता देनी चाहिए।[4] अतः अनेक पुराणों में मिलने वाली कथाओं का स्रोत लोक-कथाओं में ही देखने को मिलता है, जो स्वयं किसी न किसी प्रथा अथवा धर्म पर आधारित होता है।[5]

उपलब्ध पुराणों में एक-दो को छोड़कर बहुत से पुराणों की रचना ईसा के पश्चात् हुई है। ब्रह्मवैवर्त पुराण को तो कुछ विद्वान् सोलहवीं शती की रचना मानते हैं, जिसमें राधाकृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं अथवा शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन है। इन पुराणों में वर्णित कथाओं को देखने से ऐसा लगता है कि बहुत से पुराणों की रचना दक्षिण में हुई है, और दक्षिण में विशेषकर तमिळ-प्रदेश की प्रथाओं लोक-कथाओं

1 "We venture to conjecture that Nappinnai is the Tamil name of Radha"—V R. R. Dikshitar "Krishna in Early Tamil Literature" in "*Indian Culture*" Vol. IV (1937 38) p. 269

२ शिलप्पधिकारम् ४ १७। १०२

३ हिन्दी साहित्य की भूमिका (सं० छठा)—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ११६।

४ तथा पि कुलधर्मं लोकस्य समवीक्षितम्।
लौकिको व्यवहारोऽपि वेदेभ्यो बलवत्तया॥

—ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण-जन्म खण्ड ११३।४२

5 "The Brahma Vaivarta Purana reads more like a treatises on erotics than a religious scripture and it frequently refers to the authority of popular customs as of greater validity than Vedas."—*Vishnuite Myths and Legends* Dr Banikanta Kakati (Gauhati University), p 77

आदि का परिवर्तित चित्र इसमें मिल जाता है। गोपाल कृष्ण और राधा की लीलाओं से सम्बन्धित जो कथाएँ इसमें हैं, उनका स्रोत ई० पू० अथवा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में तमिळ समाज में प्रचलित कथाओं में दीख पड़ता है जिसके प्रमाण उस समय के तमिळ-साहित्य में मिलते हैं। कण्णन् और नप्पिन्नै (कृष्ण और राधा) से सम्बन्धित ऐसी कथाएँ भी आज तमिळ-प्रदेश में प्रचलित हैं जो पुराणों में नहीं मिलतीं। (इनका विवरण आगे दिया जायगा)

राधा-कृष्ण सम्बन्धी कथाओं की जन्म-भूमि दक्षिण (तमिळ प्रदेश) को मानने का एक और प्रमाण यह है कि इन कथाओं का भी समावेश दक्षिण में उपलब्ध महाभारत के संस्करणों तक में मिल जाता है।[1] श्रीमद्भागवत जिसको विद्वान् समस्त हिन्दी-कृष्ण-काव्य का आधार-स्तम्भ मानते हैं अनेक विद्वानों के अनुसार ८ वीं शताब्दी के बाद की रचना है।[2] इसमें वर्णित गोपाल कृष्ण की कथाएँ तमिळ समाज में प्रचलित कण्णन सम्बन्धी कथाओं से बहुत मिलती-जुलती हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि श्रीमद्भागवत की रचना दक्षिण में हुई थी। विद्वानों का मत है कि श्रीमद् भागवत की रचना दक्षिण के मलाबार प्रदेश (तमिळ नाडु का पश्चिम भाग) में हुई थी, क्योंकि उसमें वर्णित वृक्ष पुष्प आदि वृन्दावन में नहीं मिलते बल्कि मलाबार में मिलते हैं।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में जो कथाएँ तमिळ-लोक में प्रचलित थीं वे ही कथाएँ कुछ परिवर्तन के साथ पुराणों में देखने को मिलती हैं। बाद में वैष्णव-सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुकूल इन पुराणों में घटा-बढ़ी की और उनमें वर्णित बातों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की।

प्रस्तुत लेखक गोपाल कृष्ण और राधा के व्यक्तित्व के विकास में तमिळ की देन के आधार के रूप में प्राचीन तमिळ साहित्य में मिलने वाले जिन विवरणों तथा कथाओं को मानने के लिए बाध्य होता है, उनमें प्रमुख कुछ का परिचय नीचे दिया जाता है —

प्राचीन तमिळ साहित्य में 'मायोन' (कृष्ण) के विषय में इस प्रकार का वर्णन मिलता है— 'मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता "मायोन" का रंग श्याम' है।[4] वह आयर कहलाने वाले ग्वालों का अधिपति था। उसकी सम्पत्ति गोधन थी। वह

---

1 The Southern recension of the Mahabharata contains many interpolations ..." —Dr R. G Bhandarkar : *Vaishnavism, Saivism, etc.*, (foot note) p 50.

2. Among the puranas, the Bhagawata was composed some where in South India about the beginning of the 10th Century" —Prof K. A Nilakanta Sastri *History of South India* (2nd Edition) p 332.

३ (अ) हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

(आ) सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा पृ० १४०।

४ मुल्लैप्पाट्टु १०–११।

वन-भूमि में गायों को चराने जाता था और वह गीत गाया करता था। और 'कुळल्' (बाँसुरी) बजाता था। तमिळ की वनभूमि में बाँस की कमी नहीं थी अतः उससे अच्छी बाँसुरियाँ बनायी जाती थीं। वह बाँसुरी बजाकर न केवल पशुओं को ही आकर्षित करता था बल्कि ग्वालिनों को भी। प्रेम-क्रीड़ाओं के लिए वन-भूमि में बहुत सुविधाएँ होती थी। क्योंकि उस प्रदेश के वासी केवल गोचारण करते थे और उनके पास इन क्रीड़ाओं के लिए अवकाश था। 'मायोन' की रुचि गीत के साथ नृत्यों में भी थी। वह ग्वाल रमणियों के साथ नृत्य भी करता था।

कण्णन की पत्नियों में 'नप्पिन्नै' का तमिळ-कृतियों में विशेष उल्लेख है। वह कण्णन की प्रधान प्रेमिका थी और 'आयर' कुलोत्पन्ना थी। उसे कुछ कृतियों में 'पिन्नै' अथवा नीळा कहा गया है। बाद के ग्रन्थों में जहाँ कण्णन को विष्णु का अवतार माना जाता है, वहाँ नप्पिन्नै को लक्ष्मी का अवतार माना जाता है। कण्णन ने नप्पिन्नै को तत्कालीन तमिळ प्रथा के आधार पर प्राप्त किया था। इस प्रथा के अनुसार पहले कुमारी कन्याएँ अपनी इच्छा से वीर युवकों को पति के रूप में स्वयं वरण करती थीं। इसे 'एरुतळुवुतल' अथवा 'वृष वशीकरण' कहते हैं।[1] यह वीरता की परीक्षा के लिए प्रथा थी। एक घेरे के अन्दर कुछ बलवान् साँडों को बन्द कर दिया जाता था। फिर बाजे बजाकर तथा दूसरे उपायों से उन्हें भड़काया जाता था। फिर साँडों को शिघ्रता से बाहर आने दिया जाता था। रास्ते में वीर युवक रहते थे। उनका काम था अपने बाहुबल से साँडों को वश में लाना। जो इस काम को पूरा कर लेते थे वे वीर समझे जाते थे और उन्हीं के गले में कुमारियाँ वरमाला डालकर अपने लिए वर चुन लेती थीं। प्राचीन तमिळ कृतियों में और बाद के आळ्वार-साहित्य में अनेक स्थलों में इस कथा का वर्णन है कि बलवान् भुजाओं के बल पर श्रीकृष्ण (कण्णन) ने सात वृषभों को वश में कर कन्या-शुल्क के रूप में माँग जाता नप्पिन्नै को प्रिया के रूप में प्राप्त किया था।[2]

---

1 यह प्रथा आज भी तमिळ-प्रदेश के गाँवों में किसी रूप में प्रचलित बतायी जाती है— "It seemed in a way a test for a man to be fit husband for a lady The rearing of bulls and letting them loose with some prize for the captor have become a regular social and popular amusement which persists even to this day in the Tamil Districts."—V R. R. Dikshitar *"Indian Culture"* Vol. IV pp 270—271

2 भागवत पुराण में ऐसा ही प्रसंग आया है कि कोसल देश के राजा नग्नजित् ने अपनी कन्या नाग्नजिती का विवाह सात गो-वृषों को वश में करने वाले के साथ निश्चय किया था। कृष्ण ने वैसा ही करके नाग्नजिती के साथ विवाह किया। देखो—तस्यसत्याभवत् कन्या देवी नाग्नजिती नृप।

नतांशेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्तगोवृषान्॥

—भागवत पुराण, १०।५८। ३२ ३३

प्राचीन तमिळ-साहित्य में ऐसे अनेक नृत्यों का वर्णन मिलता है जो कण्णन और नप्पिन्नै द्वारा किये गये बताए गए हैं। कण्णन और नप्पिन्नै की लीलाओं में उनके नृत्यों का उल्लेख है। उस-साहित्य से मालूम होता है कि ये कथाएँ तत्कालीन समाज में बहुत प्रचलित थीं और उनका अभिनय 'रास-चरित' नाटक के रूप में होता था।[1] 'शिलप्पधिकारम्' के 'आयचियर कुरवै' प्रसंग में इसी प्रकार के नृत्यों का वर्णन है, जिनका अभिनय 'आयर कुल' में होता था। इन नृत्यों में प्रमुख 'कुरवै कूत्तु' है। 'शिलप्पधिकारम्' में 'कुरवै कूत्तु' के सम्बन्ध में कहा गया है कि सात गो-ग्वालिनें एक दूसरे का हाथ पकड़ कर नाचती थीं।[2] उनके अनुसार विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए उनके इष्ट देवता कण्णन से प्रार्थना करते समय उस नृत्य का करना आवश्यक था। उनके बीच यह प्रसिद्ध था कि कण्णन ने एक बार अपने अग्रज बलराम और प्रेयसी नप्पिन्नै को लेकर यह नाच नाचा था। 'मणिमेखलै' में भी इस 'कुरवै कूत्तु' का उल्लेख है।—(मणिमेखलै, १६ ६२ ६६)

कण्णन से सम्बन्धित एक दूसरे नृत्य का नाम 'कुड कूत्तु' है जिसमें 'आयर-कुल' के नर-नारी भाग लेते थे। यह कलश को सिर पर रखकर किया जाने वाला नृत्य है यह नृत्य बहुत प्रचलित था।[3] 'शिलप्पधिकारम्' में कण्णन द्वारा किये ११ प्रकार के नृत्यों का विवरण मिलता है। कहा गया है कि 'कुडक्कूत्तु' का नृत्य कण्णन ने अनिरुद्ध को कैद करने वाले बाणासुर का वध कर लौट आते समय सोनगर (शोणितपुर) की गली में किया था। कण्णन (कृष्ण) से सम्बन्धित दो और नृत्य—'अल्लीयाडल' और 'मल्लाडल' हैं। 'मणिमेखलै' में कण्णन द्वारा किये गये 'पेडु' नामक नृत्य का भी वर्णन है।—(मणिमेखलै ३ १२१ १२२)

कहने का तात्पर्य यह है कि कण्णन से सम्बन्धित तथा कण्णन-नप्पिन्नै (कृष्ण-राधा) की प्रेम-लीलाओं से सम्बन्धित कथाएँ प्रचुर मात्रा में प्राचीन तमिळ-कृतियों में में मिलती हैं जिनका समावेश बाद में आळ्वार भक्तों की रचनाओं में भी हुआ है।

---

1 'Sentamil' —M Raghawa Iyengar., Vol 8 pp. 171 172.

२ इसका साम्य भागवत पुराण (१० ३३) में वर्णित रास-लीला से ही जाता है। हरिवंश पुराण (२ १८) में भी रास लीला का वर्णन है। डा० वनिकान्त शास्त्री ने अपने ग्रन्थ "बिलुप्त मेथड एण्ड मैनर्स" (पृ० ४१ से ६२) में रास-लीला की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि अनेक स्थानीय (Local Customs) प्रथाओं का मिश्रित रूप ही रास-लीला में मिलता है। रास-लीला की उत्पत्ति के लिए सहायक जिन प्रथाओं का डा० शास्त्री ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है वे सभी प्रथाएँ प्राचीन तमिळ-समाज में प्रचलित थीं। अतः प्राचीन तमिळ-साहित्य में कण्णन तथा ग्वालिनों के नृत्य इत्यादि का जो विवरण मिलता है, उनका रासलीला से सम्बन्ध सिद्ध होता है।

3 Tamil Literature and History—V R. R Dikshitar p. 293

भक्ति-आन्दोलन का उदय और तमिल-प्रदेश की तत्कालीन परिस्थितियाँ

तमिळ साहित्य के इतिहास में सामान्यतया छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल भक्ति-काल के नाम से प्रसिद्ध है। इसी काल में ही प्रसिद्ध वैष्णव-भक्त कवि आळ्वार और शैव-भक्त कवि नायनमार हुए थे। इस काल में तमिळ में जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह पूर्णतः भक्ति-साहित्य है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस युग में भक्ति-विषय को छोड़कर और कोई विषय कवियों के लिए रह ही नहीं गया था। भारत की विविध आधुनिक भाषाओं के साहित्यों के इतिहासों को देखने से पता चलेगा कि तमिळ को छोड़कर किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में दसवीं शताब्दी के पूर्व भक्ति-साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था। अधिकांश भारतीय भाषाओं में तो पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग ही भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ है। तमिळ-साहित्य के विषय में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का साहित्य भक्ति-भावना से परिपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि नवीं शताब्दी के पश्चात् तमिळ में भक्ति-साहित्य का सृजन ही नहीं हुआ हो। वैसे तो तमिळ में भक्ति की धारा आरम्भ से ही बही है और नवों शताब्दी के उपरान्त भी भक्ति-प्रधान कृतियों का सर्जन हुआ और यही क्यों आज भी हो रहा है। छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल को भक्ति-काल कहने का अर्थ यही है कि इस काल के साहित्य में भक्ति-भाव को जो प्रमुख स्थान मिला—वह बाद के साहित्य में प्रमुख नहीं रहा बल्कि गौण रहा।

यह तो मान्य बात है कि किसी भी युग का सम्बन्ध उसके पूर्व युग से अवश्य होता है, क्योंकि उस युग की प्रवृत्तियों की मूल प्रेरणा उसके पूर्ववर्ती युग से ही मिलती है। तमिळ-प्रदेश में छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में जो भक्ति-आन्दोलन अपने चरमोत्कर्ष रूप में दीख पड़ता है, उसके बीज तो छठी शताब्दी के पहिले ही मिल जाते हैं। संघकाल (ईसा से दो शताब्दी पूर्व से ईसा की दूसरी शताब्दी तक) की कृतियों का परिचय देते समय यह दिखाया जा चुका है कि तमिळ प्रदेश में धार्मिक-भावना का उदय पहले से ही हो चुका था और विविध धर्म (विभिन्न देवताओं को लेकर) पनप रहे थे। तिरुमाल (विष्णु) और शिव की पूजा विशेष रूप से होती थी और अन्य देवताओं की पूजा भी होती थी। परन्तु इस साहित्य में कहीं भी यह देखने को नहीं मिलता कि अपने धर्म या देवता को महत्त्व देने और उसका प्रचार करने की दृष्टि से कवि ने एक पक्ष को लेकर अपने विचारों को प्रकट किया हो। इस समय का कवि उच्च और व्यापक धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देता है, जहाँ वह अपने इष्ट देवता का वर्णन करता है, वहीं अपने प्रदेश (तमिळ-प्रदेश) के अन्य देवताओं के विषय में भी कहना नहीं भूलता। इस युग के कवि के लिए काव्य के वर्ण्य विषय दो ही थे—प्रेम और वीरता। कवि ने जन-मनोरंजनार्थ ही काव्य का सर्जन किया और उसने कहीं-कहीं प्रसंगवश धर्म का नाम लिया है। उसकी दृष्टि

धर्म के नाम पर किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए काव्य की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु ईसा की तीसरी चौथी और पाँचवीं शताब्दी में बात कुछ दूसरी थी। तमिळ-साहित्य के इतिहास में इस काल को संघोत्तर काल कहा जाता है। संघ-काल की समाप्ति दूसरी शताब्दी तक माननी चाहिए। इसके पश्चात् तमिळ में जो साहित्य मिलता है, वह प्रायः जैन और बौद्ध मुनियों द्वारा रचित है। अतः इस भक्ति पूर्व-काल को संघोत्तर काल अथवा बौद्ध-जैन-काल कहा जाता है। इस काल में जैनों और बौद्धों ने अनेक महाकाव्यों की रचना की। प्रारम्भ में तो उनका उद्देश्य केवल साहित्य-सर्जन ही रहा। परन्तु धीरे धीरे धर्म-प्रचार का उद्देश्य प्रबल होता गया तो उन्होंने धार्मिक प्रचारार्थ ही साहित्य का सर्जन करना शुरू कर दिया। और भक्तिकाल के आरम्भ में तो शैव और वैष्णव-धर्मों का खण्डन मात्र उनका उद्देश्य रहा।

वैसे तो जैनों और बौद्धों का आगमन तमिळ-प्रदेश में इस काल से पहले ही हो चुका था। ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में बौद्ध और जैन मत तमिळ-नाडु में फैल चुके थे। जैन-पाठावलियों में प्राप्त इतिवृत्त के अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में जैनों में आपस में फूट हुई और जैनों के दो दल हो गये। एक दल जिन्हें दिगम्बर कहा जाता था, के नेता भद्रबाहु थे। भद्रबाहु पहले मगध में रहे। लेकिन जब वहाँ १२ वर्ष का अकाल हुआ तो वे मगध को छोड़कर दक्षिण की ओर आये और आखिर श्रवणबेलगोला (मैसूर) में आकर रहने लगे।[1] संघ-साहित्य में जैनों के तमिळ प्रदेश में बस जाने के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण है। मणिमेखलै में अनेक विहारों का वर्णन मिलने से पता चलता है कि उससे पूर्व ही बौद्ध-जैन मतों का प्रचार शुरू हो चुका था।

सम्राट् अशोक के समय में दक्षिण में बौद्ध-धर्म का प्रचार विशेष रूप से हुआ। प्रारम्भ में तमिळ-प्रदेश में बौद्ध-धर्म का कुछ विरोध हुआ, ऐसा दीख पड़ता है। ईस्वी पूर्व २०६ के बाद अशोक ने अनेक प्रचारकों को बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ सुदूर दक्षिण में भेजा।[2] पहले बौद्ध भिक्षुओं ने तमिळ प्रदेश में ताम्रपर्णी नदी के किनारे 'कोर्कै' नामक स्थान में अपने मत का प्रचार जोर से किया। बौद्ध-धर्म का प्रचार तमिळ-प्रदेश के इतिहास में विकास-स्तम्भ (Mile-stone) माना जाना चाहिए।[3] अशोक के शिलालेखों में तमिळ के चेर चोल और पाण्ड्य राजाओं का उल्लेख मिलता है।[4] उत्तर में शक्तिशाली राज्य होने के कारण उसके प्रभाव से दक्षिण में बौद्ध और जैन मतों का प्रचार होने लगा। बौद्धों और जैनों ने अनेक विहारों की स्थापना तमिळ प्रदेश में की और अपने सिद्धान्तों का प्रचार साधारण जनता के बीच में शुरू

---

1 *Some Contributions of South India to Indian Culture*
—Dr S. Krishnaswamy Iyengar p. 234
2. *The Pegent of Indian History*—Sen p 1
3 *Oxford History of India*—V A Smith p. 75
4 *Tamil Nad through Ages*—A. M Paramasivanandam p. 37

भक्ति-आन्दोलन का उदय और तमिल-प्रदेश की तत्कालीन परिस्थितियाँ

तमिऴ साहित्य के इतिहास में सामान्यतया छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल भक्ति-काल के नाम से प्रसिद्ध है। इसी काल में ही प्रसिद्ध वैष्णव-भक्त-कवि आऴ्वार और शैव भक्त कवि नायनमार हुए थे। इस काल में तमिऴ में जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह पूर्णतः भक्ति-साहित्य है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस युग में भक्ति-विषय को छोड़कर और कोई विषय कवियों के लिए रह ही नहीं गया था। भारत की विभिन्न आधुनिक भाषाओं के साहित्यों के इतिहासों को देखने से पता चलता कि तमिऴ को छोड़कर किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में दसवीं शताब्दी के पूर्व भक्ति-साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था। अधिकांश भारतीय भाषाओं में तो पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग ही भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ है। तमिऴ-साहित्य के विषय में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का साहित्य भक्ति-भावना से परिपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि नवीं शताब्दी के पश्चात् तमिऴ में भक्ति-साहित्य का सृजन ही नहीं हुआ हो। वैसे तो तमिऴ में भक्ति की धारा आरम्भ से ही बही है और नवीं शताब्दी के उपरान्त भी भक्ति-प्रधान कृतियों का सर्जन हुआ और यही क्यों आज भी हो रहा है। छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल को भक्ति-काल कहने का अर्थ यही है कि इस काल के साहित्य में भक्ति-भाव को जो प्रमुख स्थान मिला—वह बाद के साहित्य में प्रमुख नहीं रहा बल्कि गौण रहा।

यह तो मान्य बात है कि किसी भी युग का सम्बन्ध उसके पूर्व युग से अवश्य होता है, क्योंकि उस युग की प्रवृत्तियों की मूल परम्परा उसके पूर्ववर्ती युग से ही मिलती है। तमिऴ-प्रदेश में छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में जो भक्ति-आन्दोलन अपने चरमोत्कर्ष रूप में दीख पड़ता है उसके बीज तो छठी शताब्दी के पहिले ही मिल जाते हैं। संघकाल (ईसा से दो शताब्दी पूर्व से ईसा की दूसरी शताब्दी तक) की कृतियों का परिचय देते समय यह बताया जा चुका है कि तमिऴ-प्रदेश में धार्मिक-भावना का उदय पहले से ही हो चुका था और विभिन्न धर्म (विभिन्न देवताओं को लेकर) पनप रहे थे। तिरुमाल (विष्णु) और शिव की पूजा विशेष रूप से होती थी और अन्य देवताओं की पूजा भी होती थी। परन्तु इस साहित्य में कहीं भी यह देखने को नहीं मिलता कि अपने धर्म या देवता को महत्व देने और उसका प्रचार करने की दृष्टि से कवि ने एक पक्ष को लेकर अपने विचारों को प्रकट किया हो। इस समय का कवि उच्च और व्यापक धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देता है। जहाँ वह अपने इष्ट देवता का वर्णन करता है, वहाँ अपने प्रदेश (तमिऴ-प्रदेश) के अन्य देवताओं के विषय में भी कहना नहीं भूलता। इस युग के कवि के लिए काव्य के वर्ण्य विषय दो ही थे—प्रेम और वीरता। कवि ने जन-मनोरंजनार्थ ही काव्य का सर्जन किया और उसने कहीं-कहीं प्रसंगवश धर्म का नाम लिया है। उसकी दृष्टि में

धर्म के नाम पर किसी विशेष प्रयोजन के लिए काव्य की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु ईसा की तीसरी, चौथी और पाँचवीं शताब्दी में बात कुछ दूसरी थी। तमिळ-साहित्य के इतिहास में इस काल को संघोत्तर काल कहा जाता है। संघ-काल की समाप्ति दूसरी शताब्दी तक माननी चाहिए। इसके पश्चात् तमिळ में जो साहित्य मिलता है, वह प्रायः जैन और बौद्ध मुनियों द्वारा रचित है। अतः इस भक्ति पूर्व-काल को संघोत्तर काल अथवा बौद्ध-जैन-काल कहा जाता है। इस काल में जैनों और बौद्धों ने अनेक महाकाव्यों की रचना की। प्रारम्भ में तो उनका उद्देश्य केवल साहित्य-सर्जन ही रहा। परन्तु धीरे धीरे धर्म-प्रचार का उद्देश्य प्रबल होता गया तो उन्होंने धार्मिक प्रचारार्थ ही साहित्य का सर्जन करना शुरू कर दिया। और भक्तिकाल के आरम्भ में तो शैव और वैष्णव-धर्मों का खण्डन मात्र उनका उद्देश्य रहा।

वैसे तो जैनों और बौद्धों का आगमन तमिळ प्रदेश में इस काल से पहले ही हो चुका था। ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में बौद्ध और जैन मत तमिळ-नाडु में फैल चुके थे। जैन-पाठावलियों में प्राप्त इतिवृत्त के अनुसार सम्राट चन्द्रगुप्त के शासनकाल में जैनों में आपस में फूट हुई और जैनों के दो दल हो गये। एक दल जिन्हें दिगम्बर कहा जाता था के नेता भद्रबाहु थे। भद्रबाहु पहले मगध में रहे। लेकिन जब वहाँ १२ वर्ष का अकाल हुआ तो वे मगध को छोड़कर दक्षिण की ओर आये और आखिर श्रवणबेलगोला (मैसूर) में आकर रहने लगे।[1] संघ-साहित्य में जैनों के तमिळ-प्रदेश में बस जाने के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण हैं। 'मणिमेखलै' में अनेक विहारों का वर्णन मिलने से पता चलता है कि उससे पूर्व ही बौद्ध-जैन मतों का प्रचार शुरू हो चुका था।

सम्राट् अशोक के समय में दक्षिण में बौद्ध-धर्म का प्रचार विशेष रूप से हुआ। प्रारम्भ में तमिळ-प्रदेश में बौद्ध-धर्म का कुछ विरोध हुआ ऐसा दीख पड़ता है। ईस्वी पूर्व २०१ के बाद अशोक ने अनेक प्रचारकों को बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ सुदूर दक्षिण में भेजा।[2] पहले बौद्ध भिक्षुओं ने तमिळ प्रदेश में ताम्रपर्णी नदी के किनारे कोर्कै नामक स्थान में अपने मत का प्रचार जोर से किया। बौद्ध-धर्म का प्रचार तमिळ-प्रदेश के इतिहास में विकास-स्तम्भ (Mile-stone) माना जाना चाहिए।[3] अशोक के शिलालेखों में तमिळ के चेर चोल और पांड्य राजाओं का उल्लेख मिलता है।[4] उत्तर में शक्तिशाली राज्य होने के कारण उसके प्रभाव से दक्षिण में बौद्ध और जैन मतों का प्रचार होने लगा। बौद्धों और जैनों ने अनेक विहारों की स्थापना तमिळ-प्रदेश में की और अपने सिद्धान्तों का प्रचार साधारण जनता के बीच में शुरू

1 *Some Contributions of South India to Indian Culture*
—Dr S Krishnaswamy Iyengar p. 234
2 *The Pegent of Indian History*—Sen p 1
3 *Oxford History of India.*—V A Smith p 75
4 *Tamil Nad through Ages*—A. M Paramasivanandam, p 37

किया। तमिळ राजा धार्मिक मामलों में काफी उदार थे और उन्होंने सभी धर्मों को समान रूप से बढ़ने की सुविधा दी थी। बौद्ध और जैन प्रचारक संस्कृत के बड़े विद्वान् थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों का संस्कृत और पाली में प्रणयन किया। उन्होंने एक और महत्वपूर्ण बात यह की कि साधारण जनता को जो तमिळ भाषा बोलती थी आकर्षित करने के लिए तमिळ भाषा में साहित्य-रचना प्रारम्भ कर दी।[1] उन्होंने बड़े परिश्रम से तमिळ भाषा की पूर्व-साहित्यिक परम्पराओं को सीखा और कुछ ही समय में तमिळ-साहित्य पर उनका आधिपत्य हो गया। उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण उनके द्वारा हुआ परन्तु उसके मूल में भी अपने अपने विचारों का प्रचार ही था। फिर भी यह कहना अन्याय होगा कि उनके द्वारा रचे साहित्य में साहित्य-सौष्ठव की कमी थी। संघकाल की फुटकर रचनाओं की अपेक्षा उनके द्वारा महाकाव्यों की रचना मुख्य रूप से हुई। इन कवियों के ग्रन्थ मुख्यतया नीति-प्रधान हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं की कथा के साथ अपने धार्मिक विचारों विश्वासों नियमों रूढ़ियों आदि का अच्छा सम्मिश्रण किया है जिनकी सहायता से उस समय के सामाजिक और धार्मिक जीवन का भी अच्छा ज्ञान होता है। इनमें यत्र-तत्र कुछ कवियों ने रामायण महाभारत आदि के कुछ छोटे-मोटे पात्रों का भी वर्णन किया परन्तु इन्होंने सभी वैदिक महाकाव्यों की कथावस्तुओं को मूल रूप में न लेकर अपने धर्म के अनुकूल ही बना लिया।

बौद्धों की अपेक्षा जैनों का ही अधिक प्रभाव तमिळ-साहित्य और संस्कृति पर पड़ा। तमिळनाडु के सांस्कृतिक विकास में जैनों का योग महत्वपूर्ण है।[2] कहा जाता है कि वज्रनन्दी की अध्यक्षता में ईस्वी सन् ४७० में मदुरै में 'द्रमिल संघ' के नाम से एक संस्था की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य तमिळ में साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन देना था।[3] जैन मतावलम्बियों ने तमिळनाडु में जगह-जगह में विहारों और मूर्तियों का निर्माण करके वास्तु-शिल्प और मूर्ति-कला की उन्नति में योग दिया। संस्कृत और प्राकृत के अनेक ग्रन्थों के विषयों का तमिळ-प्रतिरूप जैन कवियों ने प्रस्तुत किया। इनके द्वारा संस्कृत और प्राकृत के शब्द भी तमिळ में आ गये। जैन मत के उदात्त तत्त्वों

---

1 "The Jains more than any other Sect have their writings and especially in their exceptionally comprehensive narrative literature, never addressed themselves exclusively to the learned classes, but made an appeal to the other strata of the people also" — *History of Indian Literature* Winternitz Vol II p. 475

2 'They have played a notable part in the civilization of South India where early literary development of the Kanarese and Tamil languages was due in a great measure to the labours of the Jain-Monks." — *Ancient India* Prof E. J Rapson p. 66.

3 *Administration and Social Life under the Pallavas* — Dr Meenakshi p 227

भी जनता में प्रचार हुआ। धीरे-धीरे जैनों ने राज्याश्रय को भी प्राप्त कर लिया।

तमिळ-प्रदेश में ईसा की तीसरी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक पल्लव वंशीय राजाओं का शासन हुआ। इन पल्लव राजाओं के शासन-काल को तीन भागों में विभाजित किया जाता है। प्रारम्भिक काल (२५०-३५०) के पल्लव राजाओं का विवरण प्राकृत शिलालेखों में मिलता है। मध्यकाल (३५०-५७५) के पल्लवों का विवरण संस्कृत में लिखे शिलालेखों से उपलब्ध होता है। अन्तिम काल (५७५-९००) के पल्लव राजाओं का विवरण ग्रन्थ-लिपि और तमिळ-लिपि में लिखे शिलालेखों से स्पष्ट होता है। जिसे तमिळ साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल कहा जाता है वह अंत पल्लव-राजाओं के अन्तिम काल में पड़ता है। वास्तव में यही काल ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसी काल में तमिळ-प्रदेश में जिस भक्ति-आन्दोलन के दर्शन किये थे उसमें उन पल्लव-राजाओं का भी बड़ा हाथ था। उस काल के पल्लव-वंशीय राजाओं का प्रमुख केन्द्र कांचीपुरम था।[1] मध्यकाल के पल्लव तो संस्कृत के प्रेमी थे इसलिए उस काल में उनके द्वारा तमिळ को विशेष आश्रय नहीं मिला। लेकिन अंतिम काल के पल्लव शासक तमिळ में साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन देते रहे। जैन मतावलम्बियों ने प्रारम्भ में अनेक पल्लव राजाओं को प्रभावित किया और राज्याश्रय प्राप्त किया। जब उनको राज्याश्रय प्राप्त हुआ था वे धर्म प्रचार में तीव्रता दिखाने लगे और अत्याचार का कांड भी यहीं से प्रारम्भ हुआ।

भक्ति-आन्दोलन की आवश्यकता

तमिळ जनता ने जो धार्मिक मामलों में स्वभाव से ही उदार थी प्रारम्भ में इन बौद्ध-जैन धर्मों का विरोध नहीं किया। इन धर्मों के विचारों में कुछ ऐसी बातें भी थीं जिन्होंने तमिळ जनता को आकर्षित किया। इनके उदात्त भावों का जनता ने स्वागत किया। जैनों और बौद्धों ने प्रारम्भ में अनेक विहारों की स्थापना कर जन हितार्थ कई कार्य किये। साधारण जनता जिसको समाज में विशेष महत्व प्राप्त नहीं था इन मतावलम्बियों का आश्रय पाकर प्रसन्न हुई। कुछ लोग जो अनवरत लड़ाइयों से थक चुके थे वे इन विहारों में जाकर शान्ति पाने लगे। यहाँ तक कि प्रसिद्ध चेर राजा चेंगुट्टुवन के अनुज इळंगो अडिकळ बौद्ध बनकर विहार में रहने लगे। तमिळ-बौद्ध अपने धर्म के प्रचार के लिए चीन और जावा भी गये थे।[2] 'मणिमेकलै' और 'शिलप्पधिकारम्' के रचना-काल में बौद्धों को समाज में आदर प्राप्त था। परन्तु बौद्धों ने इसका दुरुपयोग किया। आगे चलकर बौद्ध मतावलम्बियों ने समस्त तमिळ जनता को बौद्ध धर्म में लाने की चेष्टा की और पर-धर्मों का खण्डन भी शुरू कर दिया।

---

१ देखिए विस्तृत विवरण के लिए—*'The Pallavas of Kanchi.*
—K. Gopalan (Madras University)

2. "Development of Tamil Religious Thought"
—Swami Vipulananda : *'Tamil Culture"* (1956), pp 251 266

कालान्तर में उसमें दुराचार ने प्रवेश कर लिया। बौद्ध-धर्म में ब्रह्मचर्य और भिक्षु जीवन पर बहुत जोर दिया गया था। तमिळ जनता के लिए जो परम्परा से गार्हस्थ्य जीवन के उच्च भावों को लेती आयी थी बौद्धों का यह भिक्षु-जीवन अपनी परम्परा के विरुद्ध था। मठों में अप्राकृतिक जीवन में बहुत सी बुराइयाँ बहुत भारी परिमाण में घुस आयीं। बौद्ध-धर्म में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं था। बौद्ध धर्मावलम्बी परवर्ती काल में अपने सिद्धान्त-पक्ष पर अधिक जोर देने लगे। अतः उनके विचार तमिळ-जनता के परम्परागत धार्मिक विश्वास और भक्ति-भाव के विरुद्ध सिद्ध हुए।

जैनों ने राज्याश्रय पाकर अनेक मंदिरों का निर्माण किया। इन मन्दिरों में वन तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ रहती थीं। तमिळनाडु में अनेक स्थानों में इनके मन्दिरों की स्थापना हुई और बहुत अधिक मात्रा में तमिळ साहित्य-सर्जन कर अपने धार्मिक विचारों का प्रचार किया। साहित्य-रचना में धर्म प्रचार ही प्रधान उद्देश्य रहा। जैनों में दिगम्बर कहलाने वाले ही तमिळ-प्रदेश में अधिक रहे। ये बिना वस्त्र पहने नग्न रहते थे। कभी स्नान नहीं करते थे और गन्दे रहते और कठुव्रतानुष्ठान करते थे। इनका तन्त्र मन्त्र में भी विश्वास था। कालान्तर में राज्याश्रय का दुरुपयोग कर इन लोगों ने भी विपक्षी धर्मों (शैवों और वैष्णवों) के सन्तों को कष्ट देना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि धर्म-परिवर्तन कराने के लिए अत्याचार का सहारा लेने लगे। यहाँ तक कि अपने विरोधियों की हत्या तक कर डालते थे। अहिंसा करुणा आदि जो जैनमत के मूल तत्त्व थे इन सिद्धान्तों के विरुद्ध व्यापार में प्रवृत्त हो गए।

इसी युग में पाशुपत कापालिक और कालामुख कहलाने वाले लोगों की धर्म साधनाओं के प्रचार का परिचय भी मिलता है, जिसका भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तकों ने बड़ा खण्डन किया है। वास्तव में ये लोग मूलतः तमिळ-प्रदेश के नहीं थे। ये बाहर से आये थे और इनके आचरण बहुत ही विचित्र थे। पाशुपतों के भी विश्वास और आचार विचार विचित्र प्रकार के थे। ये अपने को 'मयेश्वुरर' कहते थे। ये शरीर पर भस्म लगाते थे। शिव को परब्रह्म मानते थे। लिंग अथवा शिव की मूर्ति की पूजा करते थे। कुछ लोग शरीर पर भस्म लगाकर नंगे घूमते थे। विरक्त जीवन बिताकर और तप के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में विश्वास रखते थे और उसकी चेष्टा में रत रहते थे। इनमें कुछ 'शिवगण' कहलाने वाली शक्तियों में विश्वास रखते थे और उनको सन्तुष्ट करने के लिए नर-बलि तक देते थे और मृत मनुष्यों के माँस का नैवेद्य लगाते थे।[1] कापालिक कहलाने वाले भैरवों की पूजा करते हैं। खोपड़ियों की माला बनाकर गले में डाले फिरते थे। नर-बलि और पशु-बलि की भी इनमें परिपाटी थी। बलि में दिये गये माँस और मधु का सेवन करते थे। स्त्रियों को 'आदि शक्ति' मानकर उनकी पूजा करते थे। इनमें शक्ति-पूजा की प्रथा थी। इनमें स्त्री-कापालिक (कापालिन) भी थीं। इस प्रकार के लोगों ने जनता के बीच भक्ति-भाव का नहीं बल्कि भय का

1 *Gangas of Talakad*—M. V. K. Rao, p. 189

ही प्रश्रय कराया। इन लोगों की खिल्ली उड़ाने के लिए ही महेन्द्र वर्म पल्लव प्रथम ने (६०० ६१०) 'मत्त-विलास-प्रहसन' की रचना की। इस संस्कृत प्रहसन से तत्कालीन पतित धार्मिक स्थिति का चित्र प्राप्त हो जाता है। इसमें कापालिकों और बौद्धों की हँसी उड़ायी गयी है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि महेन्द्र वर्म पल्लव प्रथम के समय तक बौद्धों और कापालिक कहलाने वालों का आचरण-पक्ष बहुत ही गिरा हुआ था। इस प्रहसन में जैनों का उल्लेख न होना यह सूचित करता है कि महेन्द्र वर्म उस समय जैनों के पंजे में था। बाद में वह अप्पर नामक शैव-संत से प्रभावित होकर शैव बन गया।

अब यह भी देखने की आवश्यकता है कि भक्ति-काल के प्रारम्भ में शैव और वैष्णव धर्मों की क्या दशा थी। यह पहले कहा जा चुका है कि वैदिक धर्म का दक्षिण में प्रवेश ईसा की कुछ शताब्दियों के पूर्व ही हो गया था। द्राविड़ और वैदिक संस्कृतियों का मिलन हुआ जिसके फलस्वरूप अनेक द्रविड़ (तमिळ) देवताओं का एकीकरण वैदिक देवताओं में हो गया। तमिळ तिरुमाल का विष्णु से एकीकरण हुआ और शिव का रुद्र से। पुराणों में तमिळ देवता 'मुरुगन' को शिव का पुत्र बताया गया और 'कोट्रवै' को दुर्गा या पार्वती कहा गया। हम यह मान सकते हैं कि ईसा की चौथी शताब्दी के पहले ही यह एकीकरण पूरा हो चुका था। इस समय वेद और वेदांगों में प्रवीण ब्राह्मण लोगों का उत्तर से आगमन होता रहा और वैदिक विचारों का भी प्रचार हुआ। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में जब उत्तर में गुप्त वंशीय राजाओं का शासन हुआ तब वैदिक धर्म को पुनः आश्रय मिला। यह युग उत्तर भारत के इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाता है। उत्तर में इस युग में बौद्ध और जैन धर्म का लगभग ह्रास हो चुका था और शैव और वैष्णव सम्प्रदाय पनप रहे थे। महाभारत रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थों का पुनः संपादन हुआ षट् दर्शन व्यवस्थित हुए। पाँच रात्र शवागम और तंत्र-साहित्य का सर्जन हुआ। इस समय उत्तर से वैदिक धर्मावलंबी ब्राह्मणों का तमिळ-प्रदेश में पहले की अपेक्षा अधिक संख्या में आगमन हुआ।[1]

हम यह ऊपर देख चुके हैं कि चौथी और पाँचवीं शताब्दी में तमिळ प्रदेश में बौद्धों और जैनों का बोलबाला था। साधारण जनता पर उनका प्रभाव था। तमिळ साहित्य पर उनका आधिपत्य था। वैदिक धर्मावलंबी (दोनों संस्कृतियों के एकीकरण के पश्चात् भी) ब्राह्मण लोग 'घटिकाएँ' बनाकर अलग रहते थे जहाँ वेद और उपनिषद् आदि के अध्ययन और यज्ञ इत्यादि में वे लगे रहते थे। साधारण जनता से उनका कोई भी संपर्क न था। कांचीपुरम की 'घटिका' बहुत ही प्रसिद्ध थी। वहाँ वेद-वेदांगों का विशेष अध्ययन होता था। कहा जाता है कि कदम्ब वंश के संस्थापक मयूरसिंह

1 *The Coming of Brahmanism to the South of India.*
—A Govindacharya J R. A S., 1912.

कांचीपुरम् में संस्कृत अध्ययन के लिए आया था। इतिहासकारों के अनुसार उसका काल ३४५ ३६० ई० है।[1] तालगुण्ड शासनपत्रों से पता चलता है कि मयूरशर्मा जो पहले से वेदों का बड़ा ज्ञानी था उच्च अध्ययन प्राप्त करने के लिए ही कांचीपुरम् आया था। अत यह ज्ञात होता है कि इन 'घटिकाओं' में वैदिक साहित्य के अध्ययन और अध्या पन और यज्ञ इत्यादि का प्रबन्ध होता था। इन घटिकाओं का साधारण जन केन्द्रों से अलग रहना यही सूचित करता है कि उससे साधारण जनता का कोई सम्बन्ध नहीं था। यह भी ज्ञात होता है कि 'घटिकाओं' में केवल ब्राह्मणों का ही प्रवेश था और उनमें होने वाले यज्ञादि में भाग लेने का अधिकार ब्राह्मणेतर लोगों को नहीं था। वेदादि में पारंगत लोगों को पुरोहित अथवा 'मरैयवर' कहा जाता था। तमिळ-महाकाव्य 'सिलप्पधिकारम्' में कहा गया है कि उसके कथा नायक कोवलन और नायिका कण्णकी का विवाह वैदिक नियमों के अनुसार ही सम्पन्न हुआ था।[2] चूँकि वैदिक धर्मावलम्बियों ने अपने धर्म तथा वेद को केवल ब्राह्मण लोगों तक ही सीमित रखा इसलिए साधारण जनता से उनका कोई सम्पर्क नहीं रहा। यही कारण है कि साधारण जनता के बीच में ईसा की तीसरी और चौथी और पाँचवीं शताब्दियों में बौद्ध और जैन धर्म पनप सके।

प्रारम्भ में तो बौद्ध जैन शैव वैष्णव आदि सभी मत आपस में बिना किसी संघर्ष के समानान्तर रूप से चलते रहे। किन्तु बाद में एक ओर बौद्धों और जैनों ने राज्याश्रय का दुरुपयोग कर शैव और वैष्णव धर्मों पर प्रहार करना शुरू कर दिया। दूसरी ओर बौद्धों और जैनों ने जन-साधारण को अपने पंथ में रखा था और वैदिक धर्म का जन-साधारण से सम्बन्ध घटता गया। पाँचवीं और छठी शताब्दी तक आकर बौद्धों और जैनों का आचरण पक्ष जब गिरने लगा तो एक ऐसा वातावरण तमिळ-प्रदेश में उत्पन्न हुआ जिसमें बौद्धों और जैनों के आचार-विचारों से तंग होने वाली जनता को एक ऐसा मार्ग दिखाने के लिए जिसमें सब समान रूप से आत्म शांति प्राप्त कर सकें और आचरण का पक्ष भी ऊँचा रह सके और वैदिक धर्म को जो अब तक यज्ञादि कठिन नियमों को पकड़े आया है, सरल बनाकर मुक्ति के साधनों को सुलभ और सर्व-साधारण को प्राप्य बनाने के लिए हिन्दू-धर्म में सुधारकों की आवश्यकता हुई। युग की इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए ही वैष्णव भक्त-कवि आळ्वार और शैव भक्ति-कवि नायनमार अवतरित हुए। बौद्ध और जैन नास्तिक धर्मों की तुलना में उन्होंने भगवान् की सत्ता उदारता और दयाद्रता का प्रचार किया। छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में इन वैष्णव आळ्वारों और शैव

---

1 *The Kadamba Kula*.—Mordas, p 14
2. *History of Tamil Language and Literature*—Prof S. Vaiyapuri. Pillai p. 100
3 *Tamilnad through Ages*—A. M Paramasivanandam p 58

नायनमारों ने भक्ति की जो सरिता प्रवाहित की उसकी तरल तरंगों में तमिळ-प्रदेश की समस्त जनता मज्जन और अवगाहन कर शांति प्राप्त कर सकी।

आऴ्वार और नायनमार

वैष्णव आऴ्वारों और शैव नायनमारों ने सबसे बड़ी बात यह की कि उन्होंने जनता की भाषा तमिळ के माध्यम से वेद इत्यादि का सार ग्रहण कर अपने विचारों को प्रकट किया और भक्ति को सुलभ बनाकर सर्व साधारण के लिए ग्राह्य बनाया।[1] इन वैष्णव और शैव भक्तों के विचार में अनेक बातों में समानता थी। इन दोनों का उद्देश्य मुख्यतः एक ही था। वह यह था कि नास्तिक विचारों का सामना करना और आस्तिक विचारों का प्रतिपादन कर जनता में वास्तविक भक्ति-भावना का जागरण कराना। इसके लिए दोनों ने तमिळ में ऐसे साहित्य का निर्माण किया जो उच्च कोटि की भक्तिभावना से ओत-प्रोत है। उन्होंने अपनी भक्ति-प्रधान रचनाओं में संघकालीन तमिळ साहित्य की सभी साहित्यिक परम्पराओं को अपनाया। संघ साहित्य के दो वर्ण्य विषय—प्रेम और युद्ध थे। साहित्यिक परम्पराओं को अपनाकर, आऴ्वार और नायनमारों ने, संघ-साहित्य में जिस लौकिक प्रेम और उसकी दशाओं का विस्तृत वर्णन किया है उसको अलौकिक प्रेम को (भगवान् और भक्त के बीच) प्रकट करने का माध्यम बनाया। प्रो॰ आर॰ एस॰ देशिकन् ने लिखा है

"The bellicose and warring element in man cannot be effaced, nor can the instinct of love be wiped out. They must find a new out-let and have to be sublimated. With the Alvars and Nayanmars, the war without has become war within and human love has been transformed into divine."[2]

यहीं से मधुर भक्ति-काव्य का उद्गम मानना चाहिए। इन आऴ्वार और नायनमार

---

1 "The transformation of the ritualistic Brahmanism into the much more widely acceptable Hinduism of Modern times is due to the increasing element of the theistic element into the religious system of the day. In this new development South India played an important part. It probably borrowed the elements of Bhakti from the rising schools of Vaishnavism and Saivism in North and gave a realistic development by infusing into it features characteristic perhaps of Tamil-land and its literary development, making there by experience fall in line with life itself......Bhakti which transformed Brahmanism into Hinduism may therefore be regarded as an important contribution of South India."—*Some Contributions of South India to Indian Culture* —Dr S. Krishnaswamy Iyengar (preface), pp. xiii-xiv

2. "*Tamil Literature down the Ages*"—All India Writers Conference, Madras, 1955 Souvenir pp. 20-21

भक्तों के गीतों में हृदय की रागात्मिका वृत्ति से प्रेरित मानव मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले भाव थे जिसके प्रवाह में सारा समाज परिप्लावित हो गया।

आळ्वारों और नायनमारों ने तमिळ भाषा के द्वारा ही अपने विचारों को जन-साधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। तमिळ भाषा के प्रति दोनों का प्रेम अपार था। शैव कवि ज्ञान सम्बन्धर अपने को 'तमिळ ज्ञान संबंधर' कहने में गौरव प्राप्त करते थे। इसी प्रकार भूतताळ्वार ने अपने को महान् तमिळन् कहा है। हृदय को द्रवित करने वाली भक्ति भावना को प्रकट करने के लिए तमिळ भाषा में पर्याप्त सुविधा थी। दोनों ने गेयपद शैली को अपनाया और वे जगह-जगह अपने गीतों को गाकर जनता को मंत्र-मुग्ध कर देते थे। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वस्तुतः वैष्णव और शैव भक्तों के गीतों में विचार एवं भाव की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल विष्णु और शिव को पृथक-पृथक प्रधानता दी गई है। इतना अवश्य है कि आळ्वार भक्तों की पदावली में स्पष्ट रूप से अवतारवाद का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए कहा गया है कि भक्तों का कष्ट दूर करने के लिए विष्णु को बार-बार अवतार ग्रहण करना पड़ता है। गीता में आया है :—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"[१]

आळ्वार इस कथन में विश्वास रखते थे। परन्तु शिव-भक्त इस प्रकार नहीं करते। (फिर भी बाद के शिव-भक्त शैवाचार्यों को शिवजी के अवतार-रूप में मानने लगे।[२]) दोनों भक्तों ने भगवान् को प्रेम स्नेह और करुणा की मूर्ति बतायी। भगवान् से भय का नहीं बल्कि प्रेम का सम्बन्ध स्थिर किया गया। कर्मकाण्ड को छोड़कर भगवान् के नाम-स्मरण तक से भगवदनुग्रह की प्राप्ति सम्भव बतायी। प्रपत्ति अथवा शरणागति तत्व पर जोर देकर दोनों ने भक्ति-भाव को सबके लिए सुलभ बताया। भक्ति किसी जाति-विशेष की सम्पत्ति न होकर सब की सम्पत्ति है। इसमें स्त्री-पुरुष अथवा वर्ण-भेद का कोई स्थान नहीं। भगवान् के सम्मुख सब समान हैं।

जब आळ्वारों और नायनमारों ने अपने इन श्रेष्ठ विचारों का जनता में प्रचार किया तो जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों ने जिनको प्रारम्भ में राज्याश्रय प्राप्त था *शैव और वैष्णव संतों को कष्ट देना शुरू किया। कहा जाता है कि महेन्द्र वर्म* पल्लव प्रथम ने जो पहले जैन था शैव संत-कवि अप्पार को जैनों के चंगुल में पड़कर बहुत सताया। परन्तु अप्पार ने जैनों के तंत्र-मंत्र तथा योग आदि को झूठा दिखाकर

---

१ गीता—अध्याय ४ श्लोक ७।

2. *Devotional Literature in Tamil.*" (Dr R P Sethu Pillai Commemoration Volume)—Dr V A. Devasenapathy pp 115-117

भक्ति-मार्ग को श्रेष्ठ सिद्ध किया तो महेन्द्र वर्मा जैन-धर्म को त्यागकर शैव-धर्म में आ गया। भक्ति-काल के प्रारम्भ में धर्म-परिवर्तन एक साधारण-सी बात थी। धीरे धीरे जो राज्याश्रय पहले बौद्धों और जैनों को प्राप्त था वह शैवों और वैष्णवों को प्राप्त होने लगा। यद्यपि इन आळवारों और नायनमारों का मूल उद्देश्य जनता में भक्ति-भाव को जगाना तथा नैतिक स्तर को ऊपर उठाना था तो भी जब उन्हें अपने उद्देश्य में जैनों और बौद्धों द्वारा बाधा पहुँचते देखकर उन्हें बौद्धों और जैनों का और उनके कुकृत्यों का भी खण्डन करना पड़ा। नायनमारों ने अपनी रचनाओं में खुलकर बौद्धों और जैनों का खण्डन किया है और उनके निन्दनीय कार्यों की हँसी उड़ायी है। शैव संत ज्ञान सम्बन्धर ने तो अपने पदिकों के हर दसवें पद में बौद्ध और जैनों का खण्डन किया है। उससे जैनों और बौद्धों की पतित स्थिति का परिचय मिलता है। दूसरे शैव संत सुन्दरर ने लिखा है 'बौद्ध और जैन अहिंसा का प्रचार करके भी हिंसा के द्वारा ही धर्म-प्रचार करते हैं। तपस्या का बहाना करके वे अपनी तोंद के दास बने फिरते हैं। खा-खाकर सुस्त और मुटिल बन गये हैं।[1] जन-सेवा इनका लक्ष्य नहीं है। वे सर्वत्र अपने आहार की ही चिन्ता रखते हैं। वे अज्ञान में पड़े हुए हैं। उनका मन काला है। जैन नग्न रहते हैं। गन्दे रहते हैं। जैन खड़े होकर खाते हैं। मांस खाते रहने से उनके शरीर से बदबू आती रहती है।[2] (बौद्ध प्रारम्भ में पशु-वध के विरोध में थे। पर बाद में मांस खाने में उन्होंने आपत्ति नहीं उठायी) वे शिव की निन्दा करते हैं जिसका फल उन्हें अवश्य भोगना पड़ेगा।[3] आळवारों में प्रथम कुछ आळवारों ने जैन और बौद्धों का विशेष खण्डन नहीं किया है। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में जैनों और बौद्धों ने उन्हें अधिक कष्ट नहीं पहुँचाया हो। परन्तु बाद में आने वाले कुछ आळवारों ने जैनों और बौद्धों का खूब खण्डन किया है। तिरुमळिशै आळवार और तिरुमंगै आळवार ने तत्कालीन बौद्धों और जैनों के कुकृत्यों और दुर्बल विचारों की ओर संकेत किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि सातवीं और आठवीं शताब्दी में धार्मिक संघर्ष उग्र रूप को प्राप्त कर चुका था। शैवों और वैष्णवों ने मिलकर जैन और बौद्धों का बड़ा विरोध किया। इससे तमिळ-प्रदेश में जैन और बौद्ध धर्मों की नींव हिलने लगी और नवीं शताब्दी तक आते-आते इन दोनों नास्तिक धर्मों की शक्ति क्षीण हो गयी। ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री जो पल्लव नरसिंह वर्मा के समय में कांचीपुरम् में आया (ईस्वी सन् ६४० के आस-पास) था। उसने लिखा है कि कांचीपुरम् में बौद्ध विहारों के अतिरिक्त अनेक शिव मन्दिर भी थे। उसने यह भी लिखा है कि कितने बौद्ध विहार जीर्णावस्था में थे।[4] अतः अनुमान किया जा सकता

१ तेवारम् ३९ : ९—सुन्दरर।
२ वही ३३ : ६, ७९ : ६ आदि।
३ वही २१ : ६।
4 *Tamilnad through Ages*—A M Paramasivanandam, p. 70

है कि सातवीं शताब्दी से ही बौद्ध और जैनों की शक्ति क्षीण होने लगी थी। शैव और वैष्णव धर्म और पनपते जा रहे थे। अन्त में बौद्ध और जैन धर्मों को तमिळ-भूमि में पराजित होना पड़ा। उन्हें परास्त करने का पूरा-पूरा श्रेय आळ्वारों और नायनमारों को देना चाहिए।[1]

भक्ति-काल के उत्तरार्द्ध में शैव और वैष्णव धर्मों को अनेक राजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ। अनेक राजाओं ने इन शैव और वैष्णव धर्मों को प्रोत्साहन देने के लिए अनेकानेक मन्दिरों के निर्माण कराए। महेन्द्र वर्म पल्लव प्रथम ने शैव-धर्म को ग्रहण करने के पश्चात् मन्दिर-निर्माण में अपना ध्यान दिया। उसके समय में विभिन्न कलाओं की भी उन्नति हुई। महेन्द्र वर्म पल्लव को तमिळ प्रदेश के धार्मिक आन्दोलन के इतिहास में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसके समय में गुहा-मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें पल्लवपुरम्, मामन्डूर, सियामंगलम आदि के मन्दिर मुख्य हैं। उसने साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन दिया जिस कारण अधिकाधिक भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ। नृत्य, मूर्ति सभी कलाओं की उन्नति इस समय हुई। कई दृष्टियों से महेन्द्रवर्म का समय महत्वपूर्ण है। महेन्द्र वर्म के पुत्र नरसिंह वर्म के समय में भक्ति-आन्दोलन को और भी प्रोत्साहन मिला। उसने अनेक गुहा-मन्दिरों का निर्माण कराया। महामल्लपुरम् महाबलीपुरम्) के प्रसिद्ध गुहा-मन्दिरों का निर्माण नरसिंह वर्म के द्वारा ही हुआ जो पल्लव-भवन-निर्माण-कला के अमर चिह्न बनकर आज भी विद्यमान हैं।

अनेक पांड्य राजाओं ने भी शैव-मन्दिर निर्मित किये। इस युग की महत्वपूर्ण बात यह है कि मन्दिरों के निर्माण होने से और मन्दिरों में भगवान् के दर्शनार्थ भक्तों के आने से एक भक्तिमय वातावरण उत्पन्न हुआ। मन्दिरों के निर्माण के साथ-साथ उनसे सम्बन्ध रखने वाले धार्मिक उत्सवों का भी प्रबन्ध किया गया। इस युग में आळ्वारों और नायनमारों के भक्ति-रस-सिक्त गीतों को गाकर भक्त आत्म-विभोर हो जाते थे।[2] भक्ति की आवाज इस युग की सबसे ऊँची आवाज थी। अगर डा० ग्रियर्सन महाशय को इस युग के तमिळ-भक्ति-साहित्य का परिचय मिला होता तो

1 "The hymn singers of Tamil land were the creators of that powerful religious feeling which swept Buddhism and Jainism out of their country"—*Influence of Islam on Indian Culture* Dr Tarachand, p. 95

2. Large concourses of people went from place to place chanting their way visiting temples old and newly built and offering worship. In front of the deity they poured out their hearts in fervent recitation of songs composed by their leaders (Alvars and Nayanmars) and such joint recitation necessitated a kind of simple chorus music in which any one could join" —*History of Tamil Language and Literature* Prof S Vaiyapuri Pillai, p. 102.

उत्तर भारत की भक्ति धारा के विषय में आश्चर्यचकित होकर उन्हें शायद ही यह कहना पड़ता— कोई भी व्यक्ति जिसे पन्द्रहवीं शताब्दी तथा बाद की शताब्दियों के साहित्य का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ है, उस भारी व्यवधान (Gap) को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता, जो प्राचीन और नूतन धार्मिक भावनाओं में दृष्टिगोचर होता है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी व्यापक और विशाल है, क्योंकि उसका प्रभाव आज भी विद्यमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं अपितु भावावेश का विषय हो गया था।'

अपने युग को आळ्वारों की देन

तमिळ-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन में वैष्णव आळ्वारों का जो महत्त्वपूर्ण योगदान है, उसे सभी विद्वान निर्विवाद रूप से मानते हैं। स्मरण रहे कि ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य ने वैष्णव भक्ति तथा भागवत-धर्म के प्रचार में महान् योग दिया। लेकिन उत्तर भारत के इतिहास के इस स्वर्ण युग के समाप्त होते ही, हर्षवर्द्धन जैसे प्रतापी उत्तर भारतीय सम्राटों द्वारा भागवत धर्म उपेक्षित होने के कारण निर्बल हो चला और क्रमश निर्बल होता गया। परन्तु वैष्णव भक्ति के सूखते हुए वृक्ष को फिर से जीवन दान करके तमिळ-प्रदेश के आळ्वारों ने ही पनपाया। बाद में उस विशाल वृक्ष की शीतल छाया में समस्त भारतवर्ष की वैष्णव जनता शांति पा सकी।

यद्यपि तमिळ-प्रदेश में भक्ति-आन्दोलन छठी शताब्दी से ही स्पष्ट रूप से ठोस पड़ता है तो भी उसके पहले ही प्रथम तीन आळ्वार जन्म ले चुके थे। वैष्णव भक्ति की परम्परा जिसके दर्शन हम संघ-साहित्य में भी कर चुके हैं, तमिळ-प्रदेश में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी देखने को मिलती है। उस परम्परा में आने वाले थे ये आळ्वार भक्त। अत यह कहना असंगत है कि आळ्वारों के पश्चात् ही तमिळ-प्रदेश में वैष्णव भक्ति का उदय हुआ है। तमिळ विद्वान् श्री पी० श्री आचार्य ने ठीक ही संघ-काल को (दूसरी शताब्दी तक का काल) भक्ति-आन्दोलन का उषा काल और आळ्वारों के आविर्भाव-काल को भक्ति आन्दोलन का 'सूर्योदय' कहा है।[1]

(आळ्वारों और उनकी रचनाओं का परिचय द्वितीय अध्याय में विस्तार से दिया गया है। उन्होंने अपने युग को जो महत्त्वपूर्ण देन दी है, यहाँ केवल उस पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।)

आळ्वार संख्या में बारह थे और वे चौथी पाँचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी के बीच विभिन्न कालों में आविर्भूत हुए। फिर भी उनकी विचारधारा प्राय एक सी

---

१ 'दिव्य प्रबन्ध सारम्' (प्रथम संस्करण)—श्री पी० श्री० आचार्य, पृ० १६।

थी। भक्ति-आन्दोलन के उदय-काल में तमिळ-प्रदेश की जो धार्मिक राजनीतिक और सामाजिक स्थिति थी उसी ने आळ्वारों को जन्म दिया। वैदिक भक्ति जो यज्ञादि द्वारा और कठिन परिश्रम से ईश्वर अथवा मोक्षप्राप्ति को मानती थी केवल कुछ ही लोगों के लिए साध्य थी। जनसाधारण को उसमें कोई अधिकार नहीं था। आळ्वारों के सामने जो संस्कृत और तमिळ—दोनों के विद्वान् थे दो परम्पराएँ थीं। जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है, संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध वेद, उपनिषद् और गीता के विचारों का उन्होंने पूरा-पूरा उपयोग किया। जनता की भाषा तमिळ में उन विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने उसकी सभी-साहित्यिक परम्पराओं को अपनाया। जैन और बौद्ध तमिळ भाषा पर अधिकार कर अपने नास्तिक विचारों और अप्राकृतिक नियमों से जनता को कुमार्ग पर ले जा रहे थे तब वैदिक भक्ति के स्वरूप को सुधार कर युग की माँग के अनुसार उसमें परिवर्तन लाने की आवश्यकता थी जिससे कि वह सबके लिए सुलभ और आकर्षक हो सके। आळ्वारों ने सब सबसे पहले यही कार्य किया।[1] इसी में आळ्वारों की मौलिकता है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है कि आज वैष्णव धर्म का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उसको यह रूप देने का पूरा पूरा श्रेय आळ्वारों को है। आळ्वारों ने भक्ति को यदि यह रूप नहीं दिया होता तो आज वैष्णव भक्ति का स्वरूप कुछ भिन्न ही होता इसमें सन्देह नहीं।[2]

आळ्वारों की विचार-धारा वेद और गीता से प्रभावित दीख पड़ती है। प्रथम तीन आळ्वारों (पोयगै आळ्वार, भूतत्ताळ्वार और पेयाळ्वार) ने अपनी रचनाओं में वैदिक विचारों को अधिक व्यक्त किया है, जिससे उनके वेदों के पाण्डित्य का पता चलता है। चौथे आळ्वार (तिरुमळिशै आळ्वार) ने ऐसे विचारों को व्यक्त किया है जो पांचरात्र मत से प्रभावित दीख पड़ते हैं। नम्माळ्वार की रचनाओं में तो वेद और गीता के विचार भरे पड़े हैं। इसी कारण से उनकी रचना तिरुवायमोळि को 'तमिळ वेद' कहा जाता है और उनको 'वेदम् तमिळ् चेय्दवन्' अर्थात् 'वेद को तमिळ में प्रस्तुत करने वाला' कहा गया है। गीता में मुक्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं—ज्ञान कर्म और भक्ति। आळ्वारों ने कर्म और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित की है। भगवान् की सेवा किसी भी रूप में की जा सकती है। आळ्वारों के

---

1 "Alvars are the first people who gave a new shape to Bhakti School, making simple, designed not for serving the purpose of worship by the elite, but subserve the similar ends for the quite ordinary folk. —*History of Tirupati* Vol. I Dr S. Krishna swamy Aiyengar pp 73-74

2. "It seems fairly certain that the Alvars were the earliest devotees who moved forward in the direction of such emotional transformation."—*A History of Indian Philosophy* (2nd Edition) —Dr S. N. Das Gupta, Vol. III p. 82.

अनुसार विष्णु भगवान् ही ऐसे हैं जो भक्तों की पुकार सुनकर उन्हें अपनी शरण में लेते हैं और उनको मुक्त कर सकते हैं। जहाँ मुक्ति के अन्य साधन साधारण लोगों के लिए कठिन हैं वहाँ भगवान् की सेवा युक्त भक्ति सरल होकर भी भगवान् की कृपा को प्राप्त कर सकती है। भगवान् के नाम का स्मरण मात्र करना पर्याप्त है। एक निष्ठा से भगवत्सेवा में लीन रहना भक्ति का श्रेष्ठ रूप है। चाहे भगवान् की सेवा किसी भी रूप में हो मुक्ति निश्चित है। यह मुक्ति भगवान् की सेवा करने के अनिवार्य फल के रूप में नहीं, बल्कि वह भक्त की सेवा से प्रसन्न होने पर भगवान् के अनुग्रह के रूप में होती है। वैष्णव मत में इसे प्रपत्ति अथवा शरणागति कहते हैं। भगवान् की शरण में अपने को पूर्ण रूप से समर्पित करने से भगवान् के अनुग्रह का उदय हो सकता है। आळ्वारों की रचनाओं में आरम्भ से अन्त तक इस प्रकार के विचार भरे पड़े हैं जो गीता द्वारा प्रतिपादित हैं। आळ्वारों ने अन्य सभी मार्गों से भक्ति-मार्ग को श्रेष्ठ बताकर शरणागति-तत्व पर अधिक जोर दिया है।[1] आळ्वारों के अनुसार भगवान् को संतुष्ट करने के लिए यज्ञ या पशु-बलि व्यर्थ है। आळ्वारों की रचनाओं में अहिंसा के उपदेश भरे मिलते हैं।

आळ्वार सगुणोपासक थे। ऐसे भगवान् जो सर्वसाधारण की कल्पना में आ सकें, उन्हीं के गुणों का वर्णन आळ्वारों ने किया है। आळ्वार युग में तो तमिळ-प्रदेश में जितने भी मन्दिर थे जिनमें स्थित भगवन्मूर्तियों के दर्शन करने और सामूहिक रूप (Congregational) में प्रार्थना भजनादि करके आत्म विभोर हो जाते थे। आळ्वारों ने भी स्वयं विभिन्न वैष्णव मन्दिरों की यात्रा कर उनमें स्थित भगवान् के सगुण रूपों (अर्चावतार रूप) की स्तुति में अनेक पद गाये हैं। मन्दिरों में जाकर भगवान् के दर्शन करना भगवान् की सेवा में उपस्थित होना भजनादि करना भगवान् के अनुग्रह पर विश्वास रखना आदि बातें तत्कालीन युग को आळ्वार की देन है। इस प्रकार भक्तों को सर्वदा भगवद् चिन्तन में तल्लीन रहने की प्रेरणा देकर आळ्वारों ने अपने युग में भक्तिमय धार्मिक वातावरण की सृष्टि की। यह सबसे बड़ी बात है।

कुछ विचारकों का मत है कि तमिळ-प्रदेश में भक्ति-आन्दोलन का जो रूप स्थिर हुआ उसका श्रेय बौद्ध और जैन धर्म को है। डा० ताराचन्द ने अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर आळ्वारों और नायनमारों पर बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव का बतलाते हुए लिखा है —

---

1 Much that is actually taught in Geeta is scattered through and through the works of Alvars who mention in unmistakable terms the three fold paths of Salvation by Karma, Jnana and Bhakti But Alvars come to the conclusion that though they are recognised means, in the last resort is to depend entirely on the Grace of God.

—*History of Tirupati*, Vol. I Dr S. K. Iyengar p 123

आळ्वार ने अपने गुरु नम्माळ्वार को ईश्वर सदृश माना था और उनकी सेवा में अपने समस्त जीवन को अर्पित कर दिया था। इस प्रकार आळ्वारों की विचार-धारा और इस्लामी विचार धारा में अनेक बातों में समानता दीख पड़ना केवल संयोग की बात है और डा. ताराचन्द के अनुसार यह मानना कि इस्लामी विचार-धारा से प्रभावित होकर आळ्वारो ने अपनी रचनाओं से इनी-गिनी बातों का प्रचार किया असगत होगा। हो सकता है कि दसवीं शताब्दी के पश्चात् आने वाले आचार्य कुछ अंश में इस्लामी भक्ति-पद्धति से प्रभावित हुए हों।

आळ्वार सुधारक ही नहीं बल्कि उच्चकोटि के कवि भी थे। भक्ति की व्याख्या के लिए उन्होंने तमिळ की सभी साहित्यिक परम्पराओं को अपनाया था। उनके मधुर गीतों के संग्रह "दिव्य प्रबन्धम्" को पाकर तमिळ का भक्ति साहित्य धन्य है। उनके मेय पदों में हृत्तंत्री को झंकृत करने वाली शक्ति है। कठोर से कठोर हृदय को भी द्रवित करने का सामर्थ्य है। भक्तिरससिन्धु में डुबो देने वाला सरस संगीत है। उनके गीतों को गा गाकर कितने ही भक्त आत्म-विभोर हो जाते थे और उन्मादावस्था तक पहुँच जाते थे। आळ्वारों ने न जाने कितने प्रकार से भगवान् से भक्त के सम्बन्ध की कल्पना की है। जिसे परवर्ती साहित्य में नवधा भक्ति कहा गया है, वह आळ्वार साहित्य में कूट-कूट कर भरी पड़ी है। आळ्वारों ने वात्सल्य, सख्य, दास्य और कान्ता भाव से भक्ति का विवेचन किया है।[1] आळ्वार भक्ति-भावना को स्त्री-पुरुष के मधुर सम्बन्ध के रूप में मानते थे। आध्यात्मिक भावों का इन्द्रिय सुलभ प्रकाशन और उनके लिए आन्तरिक प्रेरणा भी तभी संभव है जबकि उन्हें प्रतीकों के साधन द्वारा उनको अनुभव गम्य कर दिया जाय। आळ्वारों ने अपने गीतों में प्रतीको द्वारा प्राप्त ऐन्द्रिय अनुभवों को अपने आत्मानन्द का आधार बनाया था। आळ्वारों के पदों में उच्च कोटि के रहस्यवादी विचार भी देखने को मिलते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आळ्वारो ने परवर्ती समाज को बहुत ही प्रभावित किया होगा। आळ्वारों की विचार-धारा से प्रभावित होकर अनेक आचार्यों ने उसका शास्त्रीय विवेचन शुरू कर दिया। श्री रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैतवादी विचार-धारा का निर्माण तो आळ्वार-साहित्य की पृष्ठभूमि पर ही हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। आळ्वारों ने भक्ति का जो दीपक जलाया था वह उनके समय के बाद भी शताब्दियों तक जलता रहा। आळ्वारों की भक्ति की रस-धारा विभिन्न आचार्यों

1　"Nammalvar puts himself in all kinds of attitudes known to Literature, for expressing high emotion. We may therefore conclude that Nammalvar exemplifies par excellence the methods of personal devotion to the deity with a view ultimately to the attainment of that realisation which is the goal of Mysticism of the School of Bhakti."—*History of Tirupati* : Dr S. Krishnaswamy Aiyengar Vol I., pp. 154-155

द्वारा उत्तर की ओर लायी गयी। इसी को लक्ष्य करते हुए, भक्ति की जन्म-भूमि दक्षिण को मानकर ही भागवतकार ने संकेत किया है—

"उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डिताङ्गका।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥"[1]

अन्त में भारतीय भक्ति-आन्दोलन में आळ्वारों और उनकी रचना "प्रबन्धम्" का जो स्थान है उसे स्पष्ट करने के लिए कवि 'दिनकर' के निम्नलिखित विचारों को यहाँ उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं—

"गीता और भागवत तथा गीता और रामानुज के बीच की कड़ी यह आळ्वार संत हैं। भक्ति का दर्शन आळ्वारों के तमिळ-प्रबन्धों से आया है और कदाचित्, भागवत भी उसी प्रबन्धम् से प्रेरित है।[2] प्रबन्धम् में आळ्वारों के पद मूल रूप में रखे गये थे। पीछे वैष्णव विद्वानों ने उन पर टीकाएँ भी लिखीं। इस प्रकार "प्रबन्धम्" भक्ति-आन्दोलन का आदि ग्रन्थ बन गया।

"अभी तक भागवत पुराण ही भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ समझा जाता है। किन्तु हमारा अनुमान है कि इस आन्दोलन का मूल ग्रन्थ भागवत नहीं 'प्रबन्धम्' है। यह इस कारण कि यद्यपि भागवत और प्रबन्धम्—ये दोनों ग्रन्थ एक ही समय में लिखे गये, फिर भी प्रबन्धम् की बहुत सी कविताएँ दूसरी-तीसरी सदी से प्रचलित चली आ रही हैं। साथ ही यह भी विचारणीय है कि "प्रबन्धम्" की कविताएँ जनता की भक्ति-साधना की सीधी अभिव्यक्ति हैं। किन्तु भागवत की रचना पांडित्य के स्तर पर की गयी है। 'प्रबन्धम्' भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ क्यों माना जाय? इसका संकेत भी भागवत ही देता है, क्योंकि उसका भी मत है कि भक्ति का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था।"[3]

---

१ श्रीमद्भागवत माहात्म्य—अध्याय १ श्लोक ४८, ४९, ५०।

2. "...... Hindus are by no means in accord as to its (Bhagvat Purana's) age or authorship but as ALBERUNI mentions it, it can have been hardly written after 900 A. D and must be due to a community of singers in the Tamil Country "—*Encyclopedia* Britanica, Part 12, 4th Edition. p 162.

३ संस्कृति के चार अध्याय (द्वितीय संस्करण)—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ० २६६।

आलवारों की भक्ति का शास्त्रीय विवेचन और आचाय-युग

आळ्वारों ने ईसा की छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक तमिळ-प्रदेश में भक्ति की जो पावन गंगा बहायी थी वह बाद की शताब्दियों में भी प्रवहमान रही। आळ्वार भावुक भक्त कवि थे। उनका काम केवल भक्ति-भावना के समाधिमय क्षणों में अपने मानस में उत्पन्न होने वाले उद्गारों को सुन्दर पदावली में व्यक्त करना था। कहने का तात्पर्य यह है कि आळ्वारो के भक्ति-प्रधान गीतों में प्रेम और श्रद्धा की भावनाओं का अतिरेक था और हृदय-पक्ष की प्रधानता थी जो साधारण भावुक मानव-हृदय को अनायास ही आकर्षित कर लेती थी।

आळ्वार भक्तों की परम्परा में उनके पश्चात् कुछ ऐसे विद्वान् हुए जिन्होंने आळ्वारों की भक्ति-भावना के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करने का प्रयत्न किया। वे जन-भाषा तमिळ के अतिरिक्त संस्कृत के भी बड़े विद्वान् थे। उनका कार्य विचार तथा शास्त्रार्थ द्वारा विरोधी-पक्ष का निराकरण और अपने मत एवं सिद्धान्तों का निरूपण था। ऐसे विद्वानों की परम्परा चली तो वे 'आचार्य' कहलाये। इसी कारण आळ्वार-युग' के बाद का काल 'आचार्य-युग' कहलाता है। ये आचार्य आळ्वारों के भक्ति-रस से प्रभावित अवश्य थे किन्तु इन में पांडित्य का भी बल था। वे स्वामी शंकराचार्य द्वारा उठाये गये अनेक प्रश्नों का पूरा समाधान कर देना भी अपना कर्तव्य समझते थे। इसलिए उन्होंने आळ्वारों के द्वारा प्रतिपादित भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हुए वैष्णव धर्म के आधारभूत दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन भी किया। एक ओर इन आचार्यों ने वैष्णव-सन्त आळ्वारों की भाव-प्रवण भक्ति की वाणी का संकलन और संपादन किया और विधिवत् मन्दिरों में उनके अध्ययन, अध्यापन और गायन का प्रबन्ध किया। दूसरी ओर उन्होंने तर्कपूर्ण शैली में संस्कृत के माध्यम से 'प्रस्थान त्रयी' पर अपने भाष्य लिखे और शंकर के मायावाद का खंडन किया।

चूंकि आळ्वार भक्तों के पश्चात् उनकी परम्परा में आने वाले आचार्यों ने शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में ही अपने भक्ति-प्रधान संप्रदायों का प्रचार कर संगठित रूप से भक्ति-आन्दोलन चलाया, अतः यहाँ आचार्य शंकर के विषय में कुछ कहना आवश्यक-सा प्रतीत होता है।

भारतीय संस्कृति के विकास के इतिहास में भी शंकराचार्य का अवतार एक युग परिवर्तनकारी घटना के रूप में माना जाता है। शंकर का आविर्भाव आठवीं शताब्दी के आस-पास[1] तमिळ-प्रदेश के पश्चिमी भाग में जो मलाबार कहलाता है,

---

1 शंकर के आविर्भाव-काल के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। सी० एन० कृष्णस्वामी अय्यर ने "Shankar and his times" (*The Three Great Acharyas*, Natisan & Co Madras) आप्टे ने "*Age of Shanker*" तथा आनन्दगिरि ने 'शंकर विजय' में उनके जीवन और समय पर प्रकाश डाला है। उनका जन्म सं० ८४५ तथा निधन सं० ८७७ माना जाता है।

आलवाय नदी के तट पर स्थित 'कालडी' नामक स्थान में एक नंबूरी ब्राह्मण परिवार में हुआ। शंकर युगीन आध्यात्मिक-जीवन बहुत ही अस्त-व्यस्त था। जैन बौद्ध आदि वेद विरोधी थे। उनमें प्रारम्भ में जो नैतिक स्वस्थता थी वह समाप्त हो चुकी थी। सारा देश अनेक प्रकार के धार्मिक संप्रदायों में विभक्त था। शक्तिशाली बौद्धमत की छत्रछाया में पनपने वाले वज्रयान सहजयान जैसे वाममार्गी सम्प्रदायों के साधन-मार्ग लोक जीवन को विकृत आचरणों से आदर्श भ्रष्टकर विकृत उपासना-मार्गों की ओर ले जा रहा था। परम्परागत दोषों से जर्जर होकर वैदिक धर्म प्रभावहीन हो चुका था। इस समय अलौकिक प्रतिभा-संपन्न शंकर ने एक ओर ज्ञान प्रधान औपनिषदिक धर्म की पुनः स्थापना की और दूसरी ओर वेद विरोधी विचार धारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्कमूलक आवेश को रोककर प्रबल आध्यात्मिक-दर्शन का प्रतिपादन किया। बौद्ध और जैन धर्मों के मूल सिद्धान्तों की संगति अद्भुत तर्क-शैली के द्वारा उन्होंने वैदिक धर्म में सिद्ध की और अपनी दिव्य प्रतिभा से चतुर्दिक प्रचलित बौद्ध एवं जैन मत का खंडन कर अपने सिद्धान्तों की स्थापना की। जाति-पाँति की संकीर्ण परिधि को हटाकर तथा परम्परागत दोषों को दूर कर समाज को एक नवीन दिव्यलोक दिखाया। उन्होंने वैदिक धर्म की रक्षा के लिए समस्त भारत में मठ बनवाये और श्रुति-स्मृति विहित वैदिक धर्म का पुनः स्थापन करके निवृत्ति-मार्ग के वैदिक संन्यास-धर्म को पुनर्जन्म दिया। उनके विचारों का प्रभाव भारत के सभी प्रान्तों पर पड़ा है और उनकी विचार-तरंगों के तीव्र-प्रवाह में अन्य सभी छोटे-मोटे मत-मतान्तर विलीन से हो गये।

शंकर का कथन था कि श्रुति कथित सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं है केवल उनकी व्याख्या में अन्तर है। वैदिक धर्म के इन्होंने दो स्वाभाविक विभाग 'ज्ञान और 'आचरण' बताये। प्रथम विभाग में उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय कर उसका सम्बन्ध जीव और प्रकृति से बताया और दूसरे आचरण-पक्ष में मनुष्य के आचरणों का निर्देश किया। शंकर का दार्शनिक सिद्धान्त 'अद्वैतवाद' कहलाता है। उनके अनुसार समस्त संसार असत्य है। केवल एक शुद्ध परब्रह्म ही सत्य है।[1] केवल भ्रम अथवा माया से भेद की प्रतीति होती है। वस्तुतः जीवात्मा परमात्मा का स्वरूप है। माया मानवीय दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करती है जो मिथ्या है। शंकर माया की वास्तविकता तनिक भी नहीं मानते और उनकी दृष्टि में वह केवल अविद्या है जो अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही विलीन हो जाती है। शंकर ने 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों की तर्कसम्मत व्याख्या करके ऐसे युक्तिसंगत धर्म-दर्शन का प्रचार किया जिसने जनता को अन्तर्मुख करके सत्य ज्ञान का साक्षात्कार कराया।

पर लोकमान्य तिलक शंकर का समय उक्त तिथि से एक शताब्दी पूर्व मानते हैं। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि वे नवीं शती के पहले ही आविर्भूत हुए थे।

१ 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'

आळवारों की भक्ति का शास्त्रीय विवेचन और आचार्य-युग

आळवारों ने ईसा की छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक तमिळ-प्रदेश में भक्ति की जो पावन गंगा बहायी थी यह बाद की शताब्दियों में भी प्रवहमान रही। आळवार भावुक भक्त कवि थे। उनका काम केवल भक्ति-भावना के समाधिमय क्षणों में अपने मानस में उत्पन्न होने वाले उद्गारों को सुन्दर पदावली में व्यक्त करना था। कहने का तात्पर्य यह है कि आळवारों के भक्ति-प्रधान गीतों में प्रेम और श्रद्धा की भावनाओं का अतिरेक था और हृदय-पक्ष की प्रधानता थी, जो साधारण भावुक मानव-हृदय को अनायास ही आकर्षित कर लेती थी।

आळवार भक्तों की परम्परा में उनके पश्चात् कुछ ऐसे विद्वान् हुए जिन्होंने आळवरों की भक्ति-भावना के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करने का प्रयत्न किया। ये जन-भाषा तमिळ के अतिरिक्त संस्कृत के भी बड़े विद्वान् थे। उनका कार्य विवाद तथा शास्त्रार्थ द्वारा विरोधी-पक्ष का निराकरण और अपने मत एवं सिद्धान्तों का निरूपण था। ऐसे विद्वानों की परम्परा चली तो वे 'आचार्य' कहलाये। इसी कारण 'आळवार-युग' के बाद का काल 'आचार्य-युग' कहलाता है। ये आचार्य आळ्वारों के भक्ति-रस से प्रभावित अवश्य थे किन्तु इन में पांडित्य का भी बल था। वे स्वामी शंकराचार्य द्वारा उठाये गये अनेक प्रश्नों का पूरा समाधान कर देना भी अपना कर्तव्य समझा करते थे। इसलिए उन्होंने आळवारों के द्वारा प्रतिपादित भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हुए वैष्णव धर्म के आधारभूत दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन भी किया। एक ओर इन आचार्यों ने वैष्णव-सन्त आळवारों की भाव-प्रवण भक्ति की वाणी का संकलन और संपादन किया और विविध मन्दिरों में उनके अध्ययन, अध्यापन और गायन का प्रबन्ध किया। दूसरी ओर उन्होंने तर्कपूर्ण शैली में संस्कृत के माध्यम से 'प्रस्थान त्रयी' पर अपने भाष्य लिखे और शंकर के मायावाद का खंडन किया।

चूंकि आळवार भक्तों के पश्चात् उनकी परम्परा में आने वाले आचार्यों ने शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में ही अपने भक्ति-प्रधान संप्रदायों का प्रचार कर संगठित रूप से भक्ति-आन्दोलन चलाया, अतः यहाँ आचार्य शंकर के विषय में कुछ कहना आवश्यक-सा प्रतीत होता है।

भारतीय संस्कृति के विकास के इतिहास में श्री शंकराचार्य का अवतार एक युग परिवर्तनकारी घटना के रूप में माना जाता है। शंकर का आविर्भाव आठवीं शताब्दी के आस-पास[1] तमिळ-प्रदेश के पश्चिमी भाग में जो मलाबार कहलाता है,

---

१ शंकर के प्रादुर्भाव-काल के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। सी० एन कृष्णस्वामी अय्यर ने "Shankar and his times" (*The Three Great Acharyas, Natism & Co Madras*) माध्याचार्य ने "*Age of Shankar*" तथा आनन्दगिरि ने 'शंकर विजय' में उनके जीवन और समय पर प्रकाश डाला है। उनका जन्म सं० ८४५ तथा निधन सं० ८७७ माना जाता है।

मालवाम नदी के तट पर स्थित 'कालडी' नामक स्थान में एक नंबूद्री ब्राह्मण परिवार में हुआ। शंकर युगीन आध्यात्मिक-जीवन बहुत ही अस्त-व्यस्त था। जैन बौद्ध आदि वेद विरोधी थे। उनमें प्रारम्भ में जो मौलिक स्वस्थता थी वह समाप्त हो चुकी थी। सारा देश अनेक प्रकार के धार्मिक संप्रदायों में विभक्त था। शक्तिशाली बौद्धमत की छत्रछाया में पनपने वाले वज्रयान सहजयान जैसे वाममार्गी सम्प्रदायों के साधन-मार्ग लोक जीवन को विकृत आचरणों से आदर्श भ्रष्टकर विकृत उपासना-मार्गों की ओर ले जा रहा था। परम्परागत दोषों से जर्जर होकर वैदिक धर्म प्रभावहीन हो चुका था। इस समय अलौकिक प्रतिभा-संपन्न शंकर ने एक ओर ज्ञान प्रधान औपनिषदिक धर्म की पुनः स्थापना की और दूसरी ओर वेद विरोधी विचार-धारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्कमूलक आवेग को रोककर प्रबल आध्यात्मिक-दर्शन का प्रतिपादन किया। बौद्ध और जैन धर्मों के मूल सिद्धान्तों की संगति अद्भुत तर्क-शैली के द्वारा उन्होंने वैदिक धर्म में सिद्ध की और अपनी दिव्य प्रतिभा से चतुर्दिक प्रचलित बौद्ध एवं जैन मत का खंडन कर अपने सिद्धान्तों की स्थापना की। जाति-पाँति की संकीर्ण परिधि को हटाकर तथा परम्परागत दोषों को दूर कर समाज को एक नवीन दिव्यलोक दिखाया। उन्होंने वैदिक धर्म की रक्षा के लिए समस्त भारत में मठ बनवाये और श्रुति-स्मृति विहित वैदिक धर्म का पुनः स्थापन करके निवृत्ति-मार्ग के वैदिक संन्यास-धर्म को पुनर्जन्म दिया। उनके विचारों का प्रभाव भारत के सभी प्रान्तों पर पड़ा है और उनकी विचार-तरंगों के तीव्र-प्रवाह में अन्य सभी छोटे-मोटे मत-मतान्तर विलीन से हो गये।

शंकर का कथन था कि श्रुति कथित सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं है केवल उनकी व्याख्या में अन्तर है। वैदिक धर्म के उन्होंने दो स्वाभाविक विभाग 'ज्ञान' और 'आचरण' बताये। प्रथम विभाग में उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय कर उसका सम्बन्ध जीव और प्रकृति से लगाया और दूसरे आचरण-पक्ष में मनुष्य के आचरणों का निर्देश किया। शंकर का दार्शनिक सिद्धान्त 'अद्वैतवाद' कहलाता है। उनके अनुसार समस्त संसार असत्य है। केवल एक शुद्ध परब्रह्म ही सत्य है।[1] केवल भ्रम अथवा माया से भेद की प्रतीति होती है। वस्तुतः जीवात्मा परमात्मा का स्वरूप है। माया मानवीय दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करती है जो मिथ्या है। शंकर माया की वास्तविकता तनिक भी नहीं मानते और उनकी दृष्टि में वह केवल *अविद्या है जो* अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही विलीन हो जाती है। शंकर ने 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों की तर्कसम्मत व्याख्या करके ऐसे युक्तिसंगत धर्म-दर्शन का प्रचार किया जिसने जनता को अन्तर्मुख करके सत्य ज्ञान का साक्षात्कार कराया।

पर लोकमान्य तिलक शंकर का समय उक्त तिथि से एक शताब्दी पूर्व मानते हैं। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि वे नवीं शती के पहले ही [illegible] हुए थे।

१ "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"

शंकर ने उपनिषदों के आध्यात्मिक तत्वों के आधार पर अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्तों को स्थिर किया और घोषित किया कि शुद्ध बुद्धमिश्र मुक्त परमात्मा के अतिरिक्त जगत् में कोई परमार्थ सत् वस्तु नहीं है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" महावाक्य से उन्होंने ब्रह्म को निर्विशेष निर्गुण निराकार बताया। उनका कहना है कि श्रुतियों में कहीं कहीं सगुण ब्रह्म का वर्णन किया गया है वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना के हेतु ही है। उनके अनुसार ब्रह्म का वास्तविक रूप निर्गुण है।

शंकर का आचरण-पक्ष भी महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार स्मृति-ग्रन्थों में निरूपित आचार-व्यवहार अपना विशेष महत्व रखते हैं, जिनके बिना न तो शुद्धि ही सम्भव है और न ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता ही। शांकर सिद्धान्त के आचरण-पक्ष के अनुसार कर्म करना भी अनिवार्य है। परन्तु अन्त में कर्म को त्याग कर संन्यास लेना आवश्यक है। क्योंकि सब वासनाओं और कर्मों को त्यागे बिना ब्रह्म ज्ञान असंभव है। यही शांकर सिद्धान्त में 'निवृत्ति-मार्ग' कहलाता है। इसी को संन्यास निष्ठा या ज्ञान-निष्ठा भी कहा जाता है। शंकर ने उपनिषदों ब्रह्म-सूत्रों और गीता को ज्ञान और कर्म का समुच्चय करने वाली कृतियाँ मानकर अपने सिद्धान्त के दोनों पक्षों की संगति उनसे लगायी। उन्होंने 'प्रस्थानत्रयी' पर अपना नया भाष्य लिखा। अपने अद्वैत मत के तर्क-संगत विचारों का प्रचार कन्याकुमारी से हिमालय तक किया। वेदान्त की दुन्दुभि बजाते हुए बौद्धों के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। संक्षेप में अपनी प्रखर प्रतिभा विद्वत्ता और असाधारण संगठन-शक्ति के बल पर, वैदिक धर्म पर जो विपत्ति आ पड़ी थी उसे दूर कर सके।

इसमें सन्देह नहीं कि शांकर मत के प्रभाव से समस्त देश के आध्यात्मिक जीवन में एक नवीन शक्ति का उन्मेष हुआ और वाममार्गीय तथा अन्य वेद विरोधी मतों का का गतिरोध हुआ। किन्तु उपासना के क्षेत्र में शंकर का अद्वैतवाद भारतीय जन-मानस को छू तक नहीं सका। इसका कारण स्पष्ट है। शंकर ने ब्रह्म की अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पहुँचा दिया था कि सामान्य व्यक्ति ने उसे अपनी बुद्धि से ग्रहण करने में अपने को असमर्थ पाया। दूसरी ओर संन्यास को आवश्यक बताकर उन्होंने समाज-धर्म की उपेक्षा कर दी। फलतः साधारण व्यक्ति का भावुक हृदय शंकर के अद्वैत सिद्धान्त से कोई भावनामय सम्बन्ध नहीं स्थिर कर सका।

दिखाया जा चुका है कि ईसा की छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में तमिळ-प्रदेश में आळ्वार और नायन्मारों ने हृदय पक्ष प्रधान भक्ति की रस धारा प्रवाहित की थी जिसमें सारा समाज बह गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि आळ्वारों और नायन्मारों की प्रेममूलक भक्ति-भावना की पावन सरिता बुद्धि-पक्ष प्रधान शंकराचार्य के मायावादी प्रखर तर्कों को भेदकर पहाड़ी निर्झरिणी की भाँति अबाध गति से प्रवहमान हुई। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि शंकर के अद्वैत सिद्धान्त का प्रभाव भारत के दार्शनिक चिन्तन के समस्त क्षेत्र पर पड़ा था। अतः आळ्वारों

और आळवारों की परम्परा में आने वाले तमिळ-प्रदेश के भक्तों को इस बात की बड़ी आवश्यकता प्रतीत हुई कि तमिळ सन्तों की प्रेम भक्ति प्रधान विचार-धारा को सुरक्षित रखना शंकर के तर्क-प्रधान मायावाद का खण्डन किये बिना कठिन है। क्योंकि शंकर के मायावाद का खण्डन दार्शनिक दृष्टि से करने के उद्देश्य से आळवारों की भक्ति-भावना के लिए निश्चित दार्शनिक पृष्ठभूमि तयार की। उन्होंने आळवारों के 'तमिळ वेद' का भली भाँति अध्ययन कर संस्कृत शास्त्रों से संगति बैठाने का प्रयत्न किया। ये आचार्य 'उभय वेदान्ती' कहलाये। इन आचार्यों ने दर्शन के क्षेत्र में शंकर के प्रभाव को मिटाने के लिए तर्कपूर्ण शैली में संस्कृत साहित्य का विपुल सर्जन किया और अपने विचारों का प्रचार करने के लिए देश के प्रधान क्षेत्रों में भ्रमण कर विद्वानों से शास्त्रार्थ किया। इन आचार्यों के उद्देश्यों के मूल में तीन बातें थीं। वे हैं—(१) वैदिक धर्म का महत्व-स्थापन (२) अवैदिक संप्रदायों का पूर्ण बहिष्कार, और (३) आळवारों के द्वारा प्रतिपादित शरणागति वाली भक्ति का प्रचार।

नाथमुनि

यह भूलना नहीं चाहिये कि वैष्णव-आचार्यों की जो परम्परा नवीं शताब्दी के बाद चली, उसका मूल-स्रोत तमिळ-प्रदेश के आळवारों की परम्परा में ही पाया जाता है। आळवारों के बाद आने वाले आचार्यों में सर्वप्रथम श्री नाथमुनि माने जाते हैं। ये नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे।[1] इनका जन्म 'वीरनारायणपुरम्' नामक स्थान में हुआ था। इनके जीवन का अधिकांश समय श्रीरंगम् में बीता। कुछ लोग मानते हैं कि इनके पूर्वज कदाचित् उत्तरी भारत के किसी प्रदेश से आये थे और वे भागवत धर्मावलम्बी रह चुके थे। नाथमुनि संस्कृत तथा तमिळ के बड़े विद्वान् थे। इन्होंने बड़े परिश्रम से आळवार भक्तों के प्रचलित गीतों का संग्रह किया और संपादन किया जो 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि नम्माळवार के पदों को प्राप्त करने के लिए नाथमुनि आळवार के जन्म-स्थान 'तिरुनगरी' में जब गये[2] तब नम्माळवार ने इन्हें स्वप्न में अपने सभी पद सुनाये। अतः गुरुपरम्परा ग्रन्थों और 'दिव्यसूरि चरित' के अनुसार नम्माळवार से नाथमुनि का गुरु-शिष्य-सम्बन्ध था।[3] लेकिन नाथमुनि ने नम्माळवार की शिष्य-परम्परा में आने वाले पराङ्कुश मुनि का ही शिष्यत्व ग्रहण किया था और तमिळ-वेद का महत्व उन्हीं से समझा था। इन्होंने ही श्रीरंगम् के मन्दिर में आळवार

---

1 "Nathmuni His life and times"—R. Ramanucharya, M. A., *Journal of Annamalai University*, Vol. 9 June, 1940

2 *History of Sri Vaisnavas*—T A. Gopinatha Rao p 8

3 *History of Indian Philosophy*—Dr S. N Das Gupta, Vol III (2nd Edition) p 94.

के गीतों का ब्राह्मण-मण्डली में अध्ययन और अध्यापन का प्रबन्ध किया। आळ्वारों के गीत वैष्णव मन्दिरों में गाये गये और उनको 'तमिळ-वेद' की संज्ञा दी गयी।[1] यह भी प्रसिद्ध है कि नाथमुनि ने आळ्वारों के पदों को वेदों के समान एक निश्चित गीत पद्धति में गाये जाने की योजना की और श्रीरंगम में उनके गायकों की नियुक्ति की। ये गायक 'अरैयर' कहलाते थे।[2]

नाथमुनि ने भक्ति का द्वार सब के लिए खोल रखा था। इन्होंने कर्म एवं भक्ति लोक तथा वेद—दोनों में सामंजस्य स्थापित कर भक्ति-मार्ग का विश्व शूद्र स्त्री पुरुष सबके लिए उन्मुक्त कर दिया। इनके अनेक शिष्य हुए, जिन्होंने भक्ति-मार्ग का प्रचार किया। इनके प्रधान शिष्य ११ थे जिनमें पुण्डरीकाक्ष कुरुकनाथ और श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ प्रमुख थे। स्वयं नाथमुनि ने उत्तरी भारत के मथुरा द्वारिका पुरी बद्रीनाथ आदि प्रमुख स्थानों में भ्रमण कर आळ्वारों के भक्ति-सिद्धान्तों का प्रचार किया था।

विशिष्टाद्वैतवाद का सिद्धान्त यद्यपि श्रीरामानुज द्वारा प्रतिपादित समझा जाता है, तो भी वास्तव में उस सिद्धान्त की नींव नाथमुनि ने ही डाली थी। प्रसिद्ध आचार्य श्री वेदान्त-देशिक ने नाथमुनि को ही श्री सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में माना है।[3]

यद्यपि नाथमुनि तमिळ के बड़े पण्डित थे तो भी उनकी कोई स्वतन्त्र रचना तमिळ में अब उपलब्ध नहीं है। केवल नम्माळ्वार पेरियाळ्वार की स्तुति में गाये गये कुछ स्वतन्त्र पद ही मिलते हैं। परन्तु संस्कृत में इनकी लिखी तीन पुस्तकों का उल्लेख मिलता है—'न्याय तत्त्व' 'पुरुष निर्णय' और 'योग-रहस्य'। 'योग रहस्य' का उल्लेख मिलता है। 'न्याय-तत्त्व' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्त का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इसमें उस मत के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रारम्भिक विवेचन है।[4]

नाथमुनि के पश्चात् पुण्डरीकाक्ष (उय्यक्कोंडार) एवं राममिश्र (मणक्काल नम्बी) नाम के दो आचार्य हुए। राममिश्र ब्राह्मण थे और पुण्डरीकाक्ष के शिष्य थे। राममिश्र के भी चार शिष्य थे। राममिश्र श्रीरंगम् में रहते हुए भक्ति-मार्ग का प्रचार किया करते थे। राममिश्र के बाद आने वाले एक प्रसिद्ध आचार्य यामुनाचार्य थे। इनका

---

१ प्रपन्नामृत—श्लोक १०६ १०७।

2. *The Hymns of Alvars*—J S M. Hooper p 27

३ हर्षोत्सहगुरव भावानुमिति विषये नाथवस्यामुनीय
  व्यासमेवासवैये पियहनि विरहीति नास्तिकस्यप्रहृतम् ।
  नाथोपज्ञं प्रवृत्तं बहुभिरुपचितं यामुनेय प्रबन्धैः
  त्रातं सम्यग्यतीन्द्रैरिदमखिलतमः कर्शनं दर्शनं नः ॥
  —तत्त्वमुक्ता कलाप श्री वेदान्त देशिक श्लोक १११

४ न्याय परिशुद्धि—श्री वेदान्त देशिकाचार्य पृ १३।

तमिळ-नाम 'आळवंदार' है। आळवन्दार नाथमुनि के पौत्र थे। तोपाटिम करते समय मथुरा में यमुना नदी में स्नान कर नाथमुनि इतने प्रसन्न हुए थे कि उसके उपलक्ष्य में अपने पुत्र का नाम 'यामुन' रख दिया। यामुनाचार्य का जन्म सन् ९१८ ई० में और निधन १०३८ में माना जाता है।[1] इन्होंने राममिश्र से वेदों की शिक्षा प्राप्त की और वे एक सफल तार्किक बन गये। नाथमुनि के समान आम्नाय निष्णात विद्वान् थे। इन्होंने एक राजा के पुरोहित को शास्त्रार्थ में परास्त किया और राजा से पुरस्कार स्वरूप उसके राज्य का एक हिस्सा प्राप्त किया। फिर वे ठाट-बाट का जीवन बिताने लगे। राममिश्र ने जब देखा कि यामुन अपने राजसी वैभव में ही दिन-रात बिताते रहे, तब उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ और उन्होंने 'यामुन' को किसी तरह समझा-बुझाकर उनमें अध्यात्म-विद्या की अभिरुचि उत्पन्न की और उन्हें भक्ति-शास्त्र का उपदेश देकर अपना शिष्य बनाया।

यामुनाचार्य ने नाथमुनि के शिष्य कुरुकनाथ से अष्टांग-योग की शिक्षा भी प्राप्त की। राममिश्र के गोलोक-वास के अनन्तर यामुनाचार्य (आळवन्दार) ही श्रीरंगम् के आचार्य-पीठ पर आसीन हुए। उनके अनेक शिष्य थे जिनमें २१ प्रधान थे। उनके शिष्यों में सभी वर्णों के लोग थे। इन्होंने चोळ राजा और उसकी पत्नी को वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित किया। यामुनाचार्य नम्माळ्वार की रचनाओं के बड़े प्रेमी थे, जिनमें सुरक्षित उच्चकोटि के भावों को लोगों को सुनाते थे। इन्होंने सभी आळ्वारों के काव्यों के प्रचार, प्रसार और अध्यापन के अतिरिक्त नवीन ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। इनके छौ ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। वे हैं—(१) स्तोत्र रत्नम्, (२) चतुःश्लोकी, (३) सिद्धि त्रय, (४) आगम-प्रामाण्य (५) गीतार्थ संग्रह, और (६) महापुरुष निर्णय।

यामुनाचार्य ने श्री रामानुज के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हें अपने उत्तराधिकारी के रूप में चुन लिया था। "प्रपन्नामृत" में कहा गया है कि यामुनाचार्य अपने अन्तिम समय में श्री रामानुज से मिलना चाहते थे। अतः उन्होंने श्री रामानुज को अपने पास बुलाया। परन्तु श्री रामानुज के उनके पास पहुँचने से पहले ही उन्होंने इहलोक-लीला समाप्त कर दी। अतः श्री रामानुज यामुनाचार्य के मृत शरीर के ही दर्शन कर सके। रामानुज ने (जैसा कि कहा जाता है) देखा कि आचार्य के हाथ की तीन उँगलियाँ मुड़ी हुई हैं और उनके संकेत का अर्थ उन्होंने समझ लिया कि यामुनाचार्य उनके द्वारा तीन कार्य करवाना चाहते थे—ब्रह्म-सूत्र तथा विष्णु-सहस्र-नाम पर भाष्य और आळ्वारों के दिव्य 'प्रबन्धों' की विस्तृत टीका। रामानुज ने आचार्य की तीनों इच्छाओं की पूर्ति करने की प्रतिज्ञा की।

श्री रामानुजाचार्य

यद्यपि नाथमुनि यामुनाचार्य जैसे आचार्यों द्वारा श्री वैष्णव मत की रूपरेखा

---

1 *History of Indian Philosophy*—Dr S. N. Das Gupta, Vol. III., (2nd Edition), p. 97

तैयार हो गई थी तथापि उसे सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने और उसका देश व्यापी प्रचार करने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य (तमिळ-नाम—इळैय पेरुमाळ) को ही है। श्री रामानुज का जन्म सन् १०१६ में मद्रास के समीप तेरुम्बूर नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था में यादव प्रकाश' नामक एक अद्वैती विद्वान् के यहाँ वेदान्त का अध्ययन किया। इस समय वे काँचीपुरम में रहते थे। अद्वैतवाद के विषय में अपने गुरु से मत-भेद हो जाने से उन्हें वहाँ से हटाना पड़ा। फिर रामानुज ने श्रीरंगम् जाकर आळ्वारों के प्रबन्धों का भली भाँति अध्ययन किया और श्रीवैष्णव मत को अपनाया। उसके पश्चात् वे यामुनाचार्य के शिष्य हुए और श्रीसम्प्रदाय की स्थापना की। यामुनाचार्य के वैकुण्ठवास के पश्चात्, अपनी असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता के कारण वैष्णव मत की गद्दी के उत्तराधिकारी बने। नाथमुनि की तरह श्री रामानुज ने भी उत्तरी भारत के प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। श्री रामानुज ने अपने भक्ति-विषयक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत में अनेक ग्रन्थों और भाष्यों का प्रणयन किया।

रामानुज के अनुसार चित जीव भोक्ता है और अचित जगत् भोग्य है। परमेश्वर इन दोनों का अन्तर्यामी है। तीनों नित्य हैं। किन्तु प्रथम दो स्वतः स्वतन्त्र होते हुए भी ईश्वर के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। श्री रामानुज भी ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को मानते हैं, लेकिन उनके अनुसार उपयुक्त तीनों गुणों से विशिष्ट रहने के कारण विशिष्टाद्वैत है। रामानुज किसी भी पदार्थ को निर्गुण नहीं मानते। संसार के सभी पदार्थ गुण विशिष्ट हैं। ईश्वर सदा सगुण है।

शंकर के अद्वैत मत में ब्रह्म और जीव की एकता मानी गयी है। जीव ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म के समान ही मुक्त और स्वप्रकाश है। परन्तु रामानुज के अनुसार जीव न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, नित्य मुक्त ही। वे जीव को शेष और भगवान् को शेषी मानते हैं। दोनों में देह-देही अथवा स्फुलिंग और अग्नि का सम्बन्ध है। ईश्वर जीव का नियामक है और जीव की मुक्ति ईश्वर पर अवलम्बित है। शंकर के अनुसार जीव के बन्धन का कारण अविद्या है और अविद्या का नाश ज्ञान से होता है, क्रिया से नहीं। किन्तु रामानुज मुक्ति को उपासना द्वारा ही सम्भव मानते हैं। शंकर के अनुसार केवल ज्ञान ही मुक्ति के लिए पर्याप्त साधन है। परन्तु रामानुज भक्ति को मुक्ति का एक मात्र साधन मानते हैं।

भगवान् की कृपा ही उनकी प्राप्ति का उपाय है। प्रपत्ति या शरणागति इस कृपा के लिये साधन है। गुरु भी एक साधन है। विशिष्टाद्वैत मत में भक्ति अन्तिम सोपान है, जिस पर चढ़कर जीव प्रभु को प्राप्त करता है। भक्ति के पूर्व ज्ञान-योग और उससे भी पूर्व कर्म-योग की स्थिति है। कर्म द्वारा हृदय शुद्ध होता है और वह ज्ञान-योग की ओर ले जाता है। ज्ञानयोग से प्रकृति का अनुभव होता है और उस अनुभव से जीव अपने को प्रकृति से पृथक् समझने लगता है। जीव का आत्मज्ञान ही उसे भगवद्भक्ति की ओर आकर्षित करता है। भक्ति योग में अष्टांग-योग की

साधना भी सम्मिलित है। भक्ति-योग की प्राप्ति के लिए रामानुज ने सात साधनों का वर्णन किया है—(१) पवित्र अन्न के द्वारा शरीर की शुद्धि (२) सदाचार (३) अनवरत अभ्यास, (४) पंच महायज्ञों का संपादन (५) सत्य, दया, दान अहिंसा आदि का पालन (६) आशावादिता और (७) अहंकार का त्याग। इन साधनों द्वारा भक्ति-भावना सिद्ध होती है।[1]

श्री रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति-मार्ग की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष—दोनों का सुन्दर सामंजस्य है। हृदय-पक्ष आळ्वारों की देन है और बुद्धि-पक्ष का समावेश शास्त्र-ग्रन्थों में प्रतिपादित शास्त्रीय भक्ति से हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रामानुज के भक्ति-विषयक सिद्धान्तों पर आळ्वारों की विचार-धारा का गहरा प्रभाव पड़ा है— 'प्रपत्ति' तो आळ्वारों की शरणागति को रामानुज द्वारा दिया हुआ पारिभाषिक नाम है। आळ्वारों में भक्ति के जो लक्षण थे, उन्हें अन्य भक्तों के लिए भी निर्दिष्ट करने को रामानुज ने 'प्रपत्ति' नामक शब्द निकाला। यह भी ध्यान देने की बात है कि स्त्रियों के साथ शूद्रों को भी वैष्णव धर्म में दीक्षित होने का अधिकार, सब से पहले रामानुज ने ही प्रदान किया। इसका कारण था कि आळ्वारों में अनेक शूद्र वंश के थे और शूद्र कुलोत्पन्न होने पर भी जनता उन्हें पूज रही थी।"[2] सारांश यह है कि श्रीवैष्णव संप्रदाय का भक्ति-तत्त्व तात्त्विक दृष्टि से गीता पांचरात्र संहिताओं पर आधारित होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से आळ्वारों के प्रबन्धों पर आधारित है।

१४ वीं शती के लगभग 'प्रपत्ति' को लेकर श्रीवैष्णवों में दो दल हो गये। वेदान्त देशिक (वेंकटनाथ) तथा उनके पक्ष वालों ने भक्ति को मुक्ति का एक मात्र साधन नहीं मानकर ज्ञान का अनुष्ठान भी आवश्यक बताया। मणवाळ्मामुनि (श्री लोकाचार्य) और उनके अनुयायियों ने प्रपत्ति को ही एक मात्र मार्ग बताया और उस पर विशेष जोर दिया। प्रथम दल वाले 'वडकलै' कहलाये और दूसरे विचार वाले 'तेन्कलै' नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री ए० गोविन्दाचार्य ने 'वडकलै' और 'तेन्कलै' के १८ सिद्धान्तगत भेद बताये हैं।[3] 'प्रपत्ति' के विषय में दोनों में जो मत-भेद है उसे स्पष्ट करने के लिए क्रमशः कपि-किशोर और मार्जार किशोर का उदाहरण दिया जाता है। कपि किशोर अपनी माँ के पेट से चिपका रहता है और मार्जार किशोर बिना कुछ प्रयास किये ही अपनी माँ से रक्षित होता है। 'वडकलै'' के अनुयायियों को संस्कृत से विशेष प्रेम है और ये संस्कृत के शास्त्र-ग्रन्थों के आधार पर भक्ति का उपदेश देते हैं। पर 'तेन्कलै' पक्ष वाले आळ्वारों के 'दिव्य प्रबन्धों' से विशेष श्रद्धा-भाव

१ भक्ति का विकास—डा० मुंशीराम शर्मा पृ० १६२।

२ संस्कृति के चार अध्याय (द्वितीय संस्करण)—श्री रामधारी सिंह दिनकर, पृ० २६८।

3 *Journal of Royal Asiatic Society* 1910., p 1103—Article by A Govindacharya.

रखते हैं और 'दिव्य प्रबन्धों' को अपनी भक्ति-साधना का प्रधान आधार मानते हैं।[1] 'तेन्कलै' दल के लोग अपेक्षाकृत उदार दृष्टि के हैं और उनमें आपस में ऊँच-नीच का भेद भाव नहीं है। उनमें नीच-जाति के लोग भी सम्मिलित हैं। "वडकलै" लोगों को जाति का गर्व छू गया है। स्मरण रहे कि रामानन्द ने जो रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत के अनुयायी थे तेन्कलै' पक्ष के सिद्धान्तों को ही अपनाया और उनका प्रचार हिन्दी-भाषी क्षेत्र में किया।

श्री रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति-मार्ग के परिनिष्ठित स्वरूप की स्थापना सब से पहले रामानुजाचार्य ने ही की है और भक्ति के इस स्वरूप ने उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतया प्रभावित किया।[2]

यह सर्व विदित ही है कि हिन्दी प्रदेश में चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में जितने वैष्णव मतावलम्बी आचार्य और संत हुए, सबने शंकर के मायावाद का तीव्र विरोध किया और विशुद्ध भक्ति के किसी न किसी पक्ष का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार रामानुज ने अपने सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत रखकर इस विषय में शंकर के अद्वैत मत के साथ किसी न किसी प्रकार समझौता स्थापित किया, उसी प्रकार उत्तर के आचार्यों और भक्तों ने सगुणोपासक होते हुए भी अद्वैत के अन्तिम रूप को शुद्धाद्वैत द्वैताद्वैत आदि भिन्न-भिन्न नामों से अपनाया।[3]

मध्वाचार्य और उनका सम्प्रदाय

श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत के पश्चात् आचार्य शंकर के मायावाद के विरोध में निकलने वाला दक्षिण भारत का दूसरा प्रमुख मत द्वैतमत है।[4] इसके प्रतिष्ठापक श्री मध्वाचार्य थे। भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से श्री मध्वाचार्य द्वारा स्थापित द्वैतमत की बड़ी महत्ता है। श्री मध्वाचार्य ने न केवल शंकर के अद्वैतवाद का तीव्र विरोध किया बल्कि भक्ति की पूरी प्रतिष्ठा के लिये श्री रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत को भी अस्वीकार कर दिया और द्वैतमत की स्थापना की। इस कारण दक्षिण के आचार्यों में श्री मध्वाचार्य का एक विशिष्ट स्थान है। श्री मध्व का

---

१ श्री लोकाचार्य ने 'श्री वचन भूषण' नामक ग्रन्थ में प्रपत्ति-मार्ग का विशद् शास्त्रीय विवेचन किया है।

२ सूर और उनका साहित्य (द्वितीय संस्करण)—डा० हरवंशलाल शर्मा पृ० ६०।

३ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय पृ २६।

4. "The work of Sri Madhavacharya is but a continuation of that of Sri Ramanuja and his school"—"*Sri Ramanuja and Sri Madhva*" Srinivasa Rao Murdi, (Vedanta Kesari, Vol. 29 pp. 151 52)

जन्म सन् ११९७ में कर्नाटक के 'उडुपि' नामक स्थान में हुआ।[1] इनका पहला नाम आनन्दतीर्थ था और वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा पाकर उन्होंने दक्षिण और उत्तरी भारत के सभी प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। तत्पश्चात् उडुपि लौट आये और अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए ग्रन्थ रचना में प्रवृत्त हुए। उन्होंने 'प्रस्थान त्रयी' पर अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे और कुल मिलाकर ३७ ग्रन्थ रच डाले।

माध्व मत के अनुसार परमात्मा विष्णु हैं जो अनन्त गुण सम्पूर्ण हैं। सृष्टि स्थिति, संहार नियम आवरण बोधन बन्धन तथा मोक्ष—इन आठों कार्यों पर केवल परमात्मा का ही अधिकार है। ज्ञान आनन्द आदि कल्याण गुण ही उनके शरीर हैं। विष्णु परमात्मा स्वतन्त्र और अद्वितीय हैं। परमात्मा में अनेक रूप धारण करने की शक्ति है जो जीव में नहीं है। उसके मूल रूप तथा अवतरित रूप में कोई भेद नहीं है। "मत्स्य कूर्मादि स्वरूपों से कर चरणादि अवयवों से ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान् अत्यन्त अभिन्न हैं अतएव भगवान् और उनके अवतारों में भेद-दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।"[2]

लक्ष्मी परमात्म भिन्ना तन्मात्राधीन लक्ष्मी" नामक उक्ति के अनुसार परमात्मा से भिन्न होकर भी उसके अधीन रहती है। वह विष्णु (परमात्मा) की माया रूपिणी शक्ति है। वह भी नित्य मुक्त अप्राकृत अक्षर, दिव्य और व्यापक है। परमात्मा के इंगितानुसार उसके कार्य-विधान का सम्पादन करती है। लक्ष्मी ही मुक्त और अमुक्त—सबको उनकी योग्यता के अनुसार सृष्टि के समय आनन्द प्रदान करती है। भगवान् लक्ष्मी में रती भाव रखते हैं।

माध्वमत के अनुसार जगत् सत्य है, जीव भगवान् के किंकर हैं। जीवों की संख्या अनन्त मानी गयी है। जीव तीन श्रेणियों में आते हैं—(१) मुक्ति योग्य (२) नित्य संसारी और (३) तमोयोग्य। तीनों प्रकार के जीवों की मुक्ति का रूप भी अलग-अलग है। "मुक्तिर्नैज सुखानु भूति" अर्थात् वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मध्वाचार्य ने कर्मक्षय उत्क्रान्ति लय अर्चिरादिमार्ग और भोग नामक मुक्ति के चार प्रकार माने हैं। भोग-मुक्ति के भी सालोक्य सामीप्य सारूप्य और सायुज्य नामक चार प्रकार हैं।

मध्वाचार्य के अनुसार उपासना के दो रूप हैं—(१) शास्त्रानुशीलन, और (२) ध्यान। कुछ साधक शास्त्रानुशीलन से अपरोक्ष ज्ञान पाते हैं और दूसरे भगवान् के अखंड स्मरण में लीन रहकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। शास्त्राभ्यास से अज्ञान का आवरण हट जाता है और वास्तविक ज्ञान का बोध होता है। यह ज्ञान परमात्मा के

---

१ मध्वाचार्य के जीवन-काल के विषय में विद्वानों में मत भेद है। देखिए—
The Date of Madhvacharya"—B N Krishna Murti, Annamalai University Journal Vol III (1934). p 245

२ भारतीय दर्शन—श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६१।

ही अधीन है। अपरोक्ष ज्ञान के मिलने पर ही परम भक्ति प्राप्त हो सकती है, जो भगवान् की कृपा पर निर्भर है। माध्वमत में मुक्ति का सर्वोत्तम साधन 'अमला भक्ति' है। यह दोष रहित निर्मल भक्ति है। यह भक्ति अनन्य और अहेतुकी होनी चाहिए। मध्वाचार्य ने पांचरात्र के तत्वों को विशेष महत्ता नहीं दी। उन्होंने भागवत-पुराण के साधन-मार्ग को ही अपनाया। माध्वमत में राम, कृष्ण आदि सभी अवतारों की उपासना का विधान तो है, परन्तु राधाकृष्ण का उल्लेख नहीं मिलता।

मध्वाचार्य का द्वैतमत भारतीय धर्म-साधना में अपना अलग महत्व रखता है। मध्व ने मायावाद का खण्डन किया, जिससे भक्ति-पथ निष्कंटक हुआ। उन्होंने श्री शंकर और श्री रामानुज की तरह अपने मत में मठों की स्थापना करके सन्यासियों का संगठन किया। उनके पश्चात् उनके शिष्य पद्मनाभाचार्य महाप्रख्यात हुए और फिर सम्प्रदाय में क्रमशः अन्य आचार्यगण हुए। दक्षिण भारत में ही नहीं बल्कि उत्तरी भारत में भी माध्वमत का प्रचार हुआ। इस मत के अनुयायी अब विशेषकर कर्नाटक (मसूर) प्रान्त में और कुछ उत्तर भारत में वृन्दावन आदि स्थानों में पाये जाते हैं।

आळ्वार भक्तों की विचार-धारा और श्री मध्वाचार्य की विचार-धारा में में अनेक बातों में साम्य देखा जा सकता है। आळ्वार तो श्री मध्वाचार्य से कुछ शताब्दियों के पहले ही भक्ति-सम्बन्धी अपने विचारों का प्रचार कर चुके थे। चूंकि मध्वाचार्य भी दक्षिण के ही थे और उनके समय तक आळ्वारों के विचारों का काफी प्रचार हो चुका था, अतः बहुत सम्भव है कि श्री मध्वाचार्य की विचार-धारा भी उनसे प्रभावित हो। दोनों विचार धाराओं के साम्य को स्पष्ट करने के लिये एक स्वतन्त्र अध्ययन अपेक्षित है।

निम्बार्काचार्य और उनका सम्प्रदाय

सनक सम्प्रदाय अथवा निम्बार्क-सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री निम्बार्क आचार्य थे। श्री निम्बार्क के समय का अभी तक निर्णय हो नहीं सका। डा० भांडारकर के अनुसार उनका निधन सन् ११६२ में हुआ था। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि वे श्री रामानुजाचार्य के बाद में आविर्भूत हुए। वे तैलुगु ब्राह्मण थे। इनका जन्म कर्नाटक प्रान्त के अन्तर्गत बल्लारी नामक जिले के 'निम्बापुर नगर में हुआ था। इनके कई नाम मिलते हैं—निम्बार्काचार्य, निम्बादित्य निम्बभास्कर और नियमानंदा चार्य आदि। यद्यपि ये कर्नाटक में अवतरित हुए थे तो भी इनके जीवन का अधिकतर समय वृन्दावन में ही बीता। सम्प्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि निम्बार्काचार्य श्री विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार हैं।

श्री निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित मत द्वैताद्वैत अथवा 'भेदाभेद' कहलाता है। यह भी शंकर के मायावाद के विरोध में खड़ा हुआ था। इन्होंने अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे—(१) वेदान्त पारिजात-सौरभ और

(२) सिद्धान्त रत्न। प्रथम ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्रों' पर संक्षिप्त भाष्य के रूप में है। द्वितीय ग्रन्थ का दूसरा नाम "दशश्लोकी" है।

निम्बार्क-मत के अनुसार जीव जगत् और ईश्वर यद्यपि भिन्न भिन्न हैं तो भी जीव तथा जगत् का व्यापार एवं अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित है। जीवात्मा अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। जीवात्मा अणुरूप है, विभिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् है, अनन्त विशिष्ट और ज्ञानी है। यह जीवात्मा अनादि-माया से बद्ध रहता है और तीन गुणों से संयुक्त रहता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है।

इस मत के अनुसार ब्रह्म अद्वैत, अविभक्त और सदा निर्विकार है। वह सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सब गुणों का आश्रय भी है। यद्यपि ब्रह्म निर्विकार है तो भी माया के कारण उसका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपों में अनुभूत होता है। ब्रह्म में ऐसी शक्ति है कि वह अपने को अविकृत एवं अविभक्त रखते हुए नाना रूपात्मक पदार्थों में प्रकट करके आनन्द का उपभोग कर सकता है। जीव और ईश्वर का सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान तथा अंश और अंशी का है। नारायण, भगवान्, कृष्ण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम आदि परमात्मा के ही विविध नाम हैं। ब्रह्म के चार रूप माने गये हैं—'पर अमूर्त' अर्थात् परम अक्षरत्व 'अपर अमूर्त' अर्थात् सर्वस्रष्टा और 'अपर मूर्त' अर्थात् जीव रूप है। इन्हीं कारणों से ही यह मत भेदाभेद या द्वैताद्वैत कहलाता है।

निम्बार्क-मत की साधना रूपिणी भक्ति श्री रामानुज के भी सम्प्रदाय के भक्ति-योग से साम्य रखती है। इस मत में भी प्रपत्ति अथवा शरणागति तत्त्व पर विशेष जोर दिया गया है। जीव प्रपत्ति द्वारा ही भगवान् के अनुग्रह का अधिकारी होता है। भगवत्कृपा से आत्मा के अन्दर भक्तिभाव का आविर्भाव होता है जिससे भगवान् के साक्षात्कार की सिद्धि होती है। जीव का जब तक शरीर से सम्बन्ध है तब तक भगवद् भावोत्पत्ति सम्भव नहीं है अतः जीवन्मुक्ति की दशा भी सम्भव नहीं है।[1] श्री निम्बार्क के अनुसार भक्ति किसी भी भाव से की जा सकती है, साधक के लिए किसी विशेष भाव को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। नवधा भक्ति के अभ्यास से भगवान् के प्रति प्रेम अथवा रति मिलती है। प्रेम भक्ति इस सम्प्रदाय में पाँच भावों से पूर्ण कही गई है—शान्त दास्य, सख्य वात्सल्य और उज्ज्वल। श्री निम्बार्क कृत 'वेदान्त-पारिजात" की "सिद्धान्त रत्नांजलि" टीका में इन पाँचों रसों का सुन्दर परिचय दिया गया है। यद्यपि प्रथम चारों भक्ति-भावों के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई गई है तो भी अन्तिम भाव—माधुर्य या "उज्ज्वल भाव" को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस सम्प्रदाय में परम उपास्य-देव श्रीकृष्ण हैं जिनके चरणारविन्दों को छोड़कर भक्तों के लिए और कोई गति नहीं है। ब्रह्मा शिव

---

१ 'वेदान्त रत्न-मञ्जूषा"—दशश्लोकी के [illegible] श्लोक पर टीका।

आदि भी उनकी वन्दना करते हैं। भक्तों की इच्छा से वे कृष्ण भक्तों के ध्यान के योग्य आकार धारण करते हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य और अप्रमेय है। श्रीकृष्ण केवल स्मरण मात्र से अविद्या पर्यन्त समस्त अनर्थों के हरने वाले हैं। अतः वे हरि कहलाते हैं।

निम्बार्क संप्रदाय के भक्ति-मार्ग की एक विशेषता—राधा की उपासना है। इस सम्प्रदाय में उपास्य-देव श्रीकृष्णचन्द्र हैं जो अपनी प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपी स्वरूपा शक्तियों से परिवेष्टित रहते हैं। राधा के स्वरूप का विवेचन इस संप्रदाय के अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों में किया गया है। निम्बार्क ने भी राधा को 'अनुरूप-सौभगा' माना है अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। श्रीकृष्णचन्द्र जिस तरह सर्वेश्वर हैं उसी तरह राधा भी सर्वेश्वरी हैं। राधिका वृषभानु की कन्या हैं जो कृष्ण के वामांग में सुशोभित हैं, हजारों सखियों से परिसेवित हैं और सब कामनाओं का पूर्ण करने वाली हैं। निम्बार्क ने राधा को स्वकीया और विवाहिता माना है। परन्तु यह अवतार-लीला के विषय में ही सत्य है, नित्य लीला में तो स्वकीया और परकीया में भेद नहीं रहता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जहाँ तक निम्बार्क सम्प्रदाय की भक्ति-साधना का शरणागति अथवा प्रपत्ति से सम्बन्ध है, वह भी रामानुज की भक्ति से मिलती जुलती है। किन्तु उसमें एक अन्तर दीख पड़ता है। जहाँ रामानुजाचार्य ने भक्ति भाव को उपनिषदों में विहित उपासना की कोटि तक पहुँचा दिया और उसके मौलिक रूप को बदल दिया वहाँ श्री निम्बार्क ने भक्ति के सहज मूल भाव को सुरक्षित करने की चेष्टा की है। रामानुजाचार्य और निम्बार्काचार्य के सिद्धान्तों में एक और अन्तर यह है कि जहाँ रामानुज ने भक्ति को नारायण-लक्ष्मी भू और लीला तक ही सीमित रखा—वहाँ निम्बार्क ने कृष्ण और सखियों द्वारा परिवेष्टित राधा को प्रधानता दी है। निम्बार्क संप्रदाय में प्रेम-लक्षण रागात्मिका परा भक्ति ही भक्ति-साधना का चरम लक्ष्य है। कह सकते हैं कि उत्तरी भारत में राधा-कृष्ण-भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन करने का पूर्ण श्रेय श्री निम्बार्काचार्य को ही मिलना चाहिए।

श्री निम्बार्काचार्य की विचार-धारा आळ्वारों की विचार-धारा के बहुत निकट है। भक्ति और प्रपत्ति के विषय में तो दोनों में बहुत साम्य है। श्री निम्बार्क के समय तक आळ्वारों के भक्ति-सम्बन्धी विचार समस्त दक्षिण भारत में प्रचार पा चुके थे कुछ रामानुज-सम्प्रदाय के माध्यम से और कुछ आळ्वारों के ग्रन्थों से। श्री निम्बार्काचार्य भी दक्षिण के ही थे। अतः बहुत संभव है कि आळ्वारों की विचार-धारा ने उन्हें प्रभावित किया हो। आळ्वारों की तथा श्री निम्बार्क की विचार-धाराओं में दीख पड़ने वाले साम्य को स्पष्ट करने के लिए एक स्वतन्त्र अध्ययन ही अपेक्षित है।

विष्णुस्वामी और उनका संप्रदाय

रामानुजाचार्य मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य के साथ दक्षिण के वैष्णव आचार्यों में श्री विष्णुस्वामी का नाम भी उल्लेखनीय है, जो रुद्र-संप्रदाय के प्रवर्तक

माने जाते हैं। लेकिन खेद की बात है कि अभी तक विष्णुस्वामी के ऐतिहासिक अस्तित्व का न तो सम्यक् परिचय प्राप्त हो सका है और न उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विश्लेषण और विवेचन ही हुआ है। विष्णुस्वामी के व्यक्तित्व उनके समय उनके मत एवं सम्प्रदाय के विषय में मत-भेद देखकर कभी-कभी एक से अधिक विष्णुस्वामियों की भी कल्पना की जाती है। इस प्रकार अब चार विष्णुस्वामियों का उल्लेख किया जाता है। एक विष्णुस्वामी तमिळ-प्रदेश के पाण्ड्य राजा के राजगुरु देवेश्वर भट्ट के पुत्र थे जिन्होंने सर्वप्रथम वेदान्त सूत्रों पर 'सर्वज्ञ सूक्त" नामक भाष्य लिखा था। इनका पूर्व-नाम देवतनु भी बताया जाता है। दूसरे विष्णुस्वामी कांचीपुरम निवासी राजगोपाल विष्णुस्वामी थे जिन्होंने कांचीनगर में श्री वरदराज की मूर्ति की स्थापना की। इनके विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने द्वारिका में रणछोड़जी तथा सप्त-नगरियों में से अन्य छः नगरियों में विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित कीं। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीकृष्ण कर्णामृत" के रचयिता लीलाशुक बिल्वमंगल को इन्हीं का शिष्य बताया जाता है। एक तीसरे विष्णुस्वामी का उल्लेख मिलता है जो वल्लभ-संप्रदाय के लोगों के विश्वास के अनुसार वल्लभाचार्य की गुरु परम्परा के एक प्राचीन आचार्य थे।[1] डा० दीनदयालु गुप्त ने "भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऐनाल्स" में प्रकाशित एक लेख के आधार पर यह बताया है कि माधवाचार्य और सायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर थे जिनका दूसरा नाम विष्णुस्वामी था।[2]

डा० भांडारकर ने विष्णुस्वामी का समय १३ वीं शताब्दी में माना है।[3] प्रो० भट्ट ने कुछ प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि विष्णुस्वामी १०वीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान थे।[4] किन्तु फिर भी पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में विष्णुस्वामी के विषय में निश्चित रूप से यह बताना कठिन है कि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य विष्णुस्वामी का आविर्भाव कब हुआ और कहाँ हुआ। एक जनश्रुति यह भी है कि महाराष्ट्र में प्रचार पाने वाला भागवत-धर्म जो कि आगे चलकर 'वारकरी सम्प्रदाय" के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसके अनुयायी ज्ञानदेव तथा नामदेव आदि भक्त थे, वस्तुतः विष्णुस्वामी मत का रूपान्तर ही था। इस सम्बन्ध में नाभादास के निम्नलिखित प्रसिद्ध छप्पय का उल्लेख किया जाता है :—

---

१ प्रो० भट्ट भी वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी की शिष्य-परम्परा में नहीं मानते। उन्होंने लिखा है—" The connection between Vishnuswami and Vallabhacharya cannot therefore be accepted as historically and philosophically correct."—Prof G H Bhatt, (8th Oriental Conference, Mysore.)

२ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (भाग १) पृ० ५२।

3 *Vaishnavism, Saivism and Other Minor Religious Sects* p 77

4. *"Vaishnavism and Vallabhacharya."* (7th All India Oriental Conference, Baroda)—Prof. G H. Bhatt, p 449

नाम तिलोचन शिष्य सुरसरि सहस उजागर ।
गिरा गंप—उद्गारि काव्य रचना प्रेमाकर ॥
आचारज हरिदास अतुलबल आनन्द दायन ।
तिहि मारग बल्लभ विदित पृथु पाधित परायन ॥
नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़ मन बच क्रम हरिचरन रति ।
विष्णुस्वामि सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गम्भीर मति ॥

—छप्पय ४

परन्तु इसमें सत्यांश कितना है यह कहा नहीं जा सकता । एक अन्य जनश्रु
है, जिसके अनुसार विष्णुस्वामी तमिळ-प्रदेश के ब्राह्मण थे और कावेरी नदी के किन
पर रहते थे । इसी कारण उनको कावेरा विष्णुस्वामी भी कहा जाता है ।[1] कहते
कि ये वेद-वेदांतों का अध्ययन कर आचार्य बने । भगवान् के साक्षात् दर्शन का सौभा
इन्हें प्राप्त हुआ और इन्हें ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान तथा भक्ति-मार्ग की अनुभूति
थी । कहा जाता है कि विष्णुस्वामी ने बहुत समय तक भक्ति-मार्ग का प्रचार कि
था और वे भक्ति को मुक्ति से अधिक महत्व देते थे । उन्होंने वेद उपनिषद्, स्मृ
वेदांत योग आदि समस्त ज्ञान-साहित्य के सार-रूप में भक्ति को ही माना ।

विष्णुस्वामी के लिखे अनेक ग्रन्थों के नाम बताये जाते हैं । परन्तु अभी त
उनकी लिखी बतायी जाने वाली पुस्तकों में से केवल 'सर्वज्ञ सूक्त' ही एक ऐसी रच
है, जो प्रामाणिक ठहरती है । इस ग्रन्थ से विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय के दार्शनि
सिद्धान्तों और भक्ति-पद्धति का परिचय मिलता है । श्रीधर ने अपनी टीकाओं में
ग्रन्थ का उल्लेख इस प्रकार किया है, जिससे स्पष्ट होता है यह विष्णुस्वामी की
रचना है । "सर्वज्ञ सूक्त' पर लिखित श्रीधर की टीका के आधार पर विष्णुस्वा
सम्प्रदाय के वास्तविक स्वरूप का भली भाँति स्पष्टीकरण हुआ है । विष्णुस्वामी
अनुसार 'ईश्वर' सच्चिदानन्द स्वरूप है और वे अपनी "ह्लादिनी संवित् शक्ति'
द्वारा आश्लिष्ट' हैं । 'माया ईश्वर के अधीन है । विष्णुस्वामी के इस ईश्वर को स
चित्, नित्य निजाचिन्त्य एवं पूर्णानन्दमय विग्रह वाले नृसिंह भी कहा गया है । विष्
स्वामी के इष्टदेव इस प्रकार, नृसिंहावतार भगवान् जान पड़ते हैं ।[2] जीव विष्णुस्वा
के अनुसार, स्वाविद्यासंवृत' अर्थात् अपनी अविद्या द्वारा आच्छादित है और विद्ध हु
है । वह 'संक्लेशनिकराकर' अर्थात् क्लेशों का आगार—स्वरूप है । वह स्वयं आन
प्राप्त करने का अधिकारी है और स्वयं दुख भी भोगा करता है । अतः ईश्वर औ
जीव में परस्पर भेद है । कुछ अंशों में विष्णुस्वामी का दार्शनिक मत माध्वमत
मिलता-जुलता दीख पड़ता है ।

---

1 Prof Kane's *History of Darma Sutra*, Vol. I p 271
२ वल्लभ धर्म—श्री परशुराम चतुर्वेदी पृ० ६४-६५ ।

हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों को प्रभावित करने वाले उत्तर भारत के भक्ति-सम्प्रदाय

पिछले पृष्ठों में शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में दक्षिण में उत्पन्न चार दार्शनिक सम्प्रदायों और उनकी भक्ति-पद्धतियों का संक्षेप में परिचय दिया गया। यह भी दिखाया जा चुका है कि उक्त चार सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों ने तथा उनके अनुयायी अन्य वैष्णव आचार्यों ने वैष्णव भक्ति और तात्त्विक सिद्धान्तवाद की स्थापना कर शंकर के मायावाद और विवर्तवाद का खण्डन किया। इन लोगों ने अपने मत का मंडन और विपक्षी मत का खंडन करने के लिये प्राचीन ग्रन्थों पर भाष्य लिखने के साथ-साथ अनेक नवीन ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। यद्यपि इनकी दार्शनिक विचार धाराओं में थोड़ी-बहुत भिन्नता थी तो भी सब का उद्देश्य—भक्ति-मार्ग को प्रशस्त करना ही था। इन सम्प्रदायों के अनुयायी-भक्तों के द्वारा भक्ति का प्रचार दक्षिण में ही नहीं बल्कि उत्तरी भारत में भी हुआ। इन वैष्णव-आचार्यों के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर ईसा की १४ वीं शताब्दी से लेकर १६ वीं शताब्दी के अंत तक उत्तर भारत में कुछ अन्य वैष्णव-सम्प्रदाय भी पनपे जिनके द्वारा वैष्णव भक्ति का व्यापक प्रचार समस्त उत्तरी भारत में हुआ। अपनी मधुर भावनापूर्ण चित्त-मनोज्ञ तत्व-राशि के कारण उस समय राम भक्ति की अपेक्षा कृष्ण भक्ति का स्वर अधिक ऊँचा हो उठा था। इसका श्रेय कृष्ण भक्ति के प्रचारक भावुक वैष्णव आचार्यों को है। मध्यकाल में रामानन्द के उपरान्त राम भक्ति का प्रचारक कोई उतना समर्थ वैष्णव आचार्य नहीं हुआ। इसके विपरीत कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में श्री वल्लभाचार्य श्री चैतन्य आदि आचार्यों ने अभूतपूर्व कार्य किया। इस काल में उपास्य-देव कृष्ण के भिन्न-भिन्न रूप को लेकर पनपने वाले सम्प्रदायों में निम्नलिखित चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं —

१—वल्लभ-सम्प्रदाय
२—चैतन्य-सम्प्रदाय
३—राधावल्लभ-सम्प्रदाय और
४—हरिदासी सम्प्रदाय या सखी-सम्प्रदाय।

कृष्णोपासना को पहले ही श्री मध्व श्री विष्णुस्वामी श्री निम्बार्क आदि आचार्यों ने अपनाया था। किन्तु उनके उपास्य-देव कृष्ण के रूपों में अन्तर था। मध्वाचार्य के कृष्ण स्वयं विष्णु थे जो सर्वगुण सम्पन्न परमात्मा थे। विष्णुस्वामी ने कृष्ण के गोपाल रूप को स्वीकार किया था। निम्बार्क ने अपनी उपासना में राधा-तत्त्व का भी समावेश कर राधा कृष्ण के युगल रूप को अपनाया था। मध्वाचार्य की कृष्णोपासना और विष्णुस्वामी की गोपालोपासना में मनोवेग के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। अतएव आगे चलकर इसी कृष्णोपासना को अपना कर श्री वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत के भक्ति-आन्दोलन को एक नई दिशा में मोड़ दिया। यद्यपि इन दोनों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का न्यूनाधिक रूप से अनुसरण

किया था तो भी अपने-अपने मत विशेष के कारण अपनी पूजा-पद्धति और भजन-कीर्तनों के द्वारा कृष्णोपासना को व्यापक रूप देते हुए वैष्णव धर्म को जन-समाज के अत्यन्त निकट पहुँचाने का प्रयत्न किया। इन दोनों ने अपने राधावल्लभ अथवा गोपी वल्लभ कृष्ण की उपासना द्वारा वैष्णव धर्म में नूतन शक्ति का संचार किया और समस्त उत्तरी भारत की जनता पर अपने असाधारण व्यक्तित्व की छाप डाली।

जिस समय व्रजभूमि में श्री चैतन्य और श्री वल्लभ मत के भक्तों ने अपने-अपने साधना-भाव का प्रचार प्रारम्भ किया लगभग उसी समय राधा-कृष्ण की युगल उपासना का एक दूसरा भक्ति-प्रधान सम्प्रदाय प्रचलित हुआ जो 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी समय एक अन्य सम्प्रदाय का भी उदय हुआ जिसमें राधाकृष्ण की युगल-उपासना का सखी भाव से प्रचार था। इस सम्प्रदाय का नाम 'सखी सम्प्रदाय' पड़ा। उपर्युक्त चार सम्प्रदायों के अन्तर्गत भक्त-कवियों द्वारा हिन्दी में कृष्ण-भक्ति के विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। इन चार प्रमुख सम्प्रदायों और उनकी भक्ति-पद्धतियों का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है। यथा —

१ वल्लभाचार्य और उनका सम्प्रदाय

महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सन् १४७८ ई० में हुआ। इनके जीवन-चरित का विस्तृत परिचय 'वल्लभ दिग्विजय' में मिलता है। श्री वल्लभ लक्ष्मण भट्ट नामक तैलंग ब्राह्मण के पुत्र थे जो आन्ध्र प्रदेश के कांकरवाड़ नामक स्थान के निवासी थे। श्री वल्लभ की माता का नाम इल्लमागारू था। श्री लक्ष्मण भट्ट अधिकतर काशी में ही रहा करते थे। अतः वल्लभ के समस्त संस्कार, शिक्षा-दीक्षा पठन-पाठन काशी में ही हुए थे। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य जी ने १० वर्ष की आयु में ही वेद वेदांग, दर्शन तथा पुराणों का अध्ययन कर लिया था और वे काशी में प्रसिद्ध हो गये। अपने पिता के निधन के पश्चात् उन्होंने अनेक प्रधान तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ करके मायावाद का खण्डन और शुद्धाद्वैत भक्ति का प्रचार किया। तीर्थाटन में वे दक्षिण की ओर भी गये थे। इस यात्रा में उन्होंने दक्षिण के वैष्णव-आचार्यों के सिद्धान्तों का सम्यक अध्ययन किया। यह प्रसिद्ध है कि कर्नाटक के विजय नगर साम्राज्य की राजधानी में वल्लभ ने माध्व मतावलम्बी आचार्य व्यासराय के सभापतित्व में आयोजित सभा में शास्त्रार्थ किया था और युक्ति-युक्त तर्कों से उस सभा में उपस्थित नास्तिकों के उठाये गये प्रश्नों का समाधान कर उन्हें परास्त किया था और आचार्य की पदवी प्राप्त की। इस विजय पर प्रसन्न होकर राजा कृष्णदेव राय ने श्री वल्लभाचार्य जी का 'कनकाभिषेक' कर स्वागत किया।

भारतवर्ष के प्रधान तीर्थों में भ्रमण करने के उपरान्त आचार्य ने कभी वृन्दावन कभी मथुरा और कभी काशी में रहकर अपने भक्ति सिद्धान्तों का प्रचार किया। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य जी की प्रथम व्रज-यात्रा के समय गोवर्धन की

गिरिराज पहाड़ी पर एक भगवद् स्वरूप का प्राकट्य हुआ था, 'देवदमन' नाम से जिसकी चर्चा ब्रजवासी लोग अनन्य श्रद्धा और भक्ति के साथ करते थे। और अपनी दूसरी यात्रा में जब वे पुनः गोवर्धन पहुँचे तो ब्रजवासियों ने उनको उक्त स्वरूप के दर्शन कराये। वल्लभाचार्य ने उस स्वरूप का नाम "श्रीनाथ जी" या "गोवर्धननाथ" रखा। उन्हीं प्रेरणा से उन्होंने श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया और भगवान् की सेवा-विधि स्थिर की। अन्त में एक बार वे काशी गये और वहीं रहते हुए सन् १५३० में उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के हेतु अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों का भी निर्माण किया था और "वल्लभ दिग्विजय" के अनुसार उनके ८४ ग्रन्थ कहे जाते हैं। परन्तु अभी तक केवल छोटे-बड़े ३० ग्रन्थ ही उपलब्ध हुए हैं, जो वल्लभ-संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं। उनके लिखे १६ लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थ 'षोडश-ग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रन्थों में प्रमुख हैं—ब्रह्मसूत्र पर लिखा हुआ 'अणु भाष्य', पूर्व मीमांसा भाष्य, तत्त्वदीप निबन्ध, भागवत की व्याख्या-सुबोधिनी आदि।

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। "शुद्धाद्वैत मार्तण्ड" में 'शुद्ध' का अर्थ 'माया सम्बन्ध रहित' किया गया है। वल्लभाचार्य ने शंकर के 'अद्वैत' से भिन्नता दिखाने के लिए ही 'अद्वैत' के साथ 'शुद्ध' शब्द जोड़ दिया। शंकर ने अद्वैत में माया-शबलित-ब्रह्म को जगत् का कारण माना। पर वल्लभ ने माया से असंपृक्त नितांत शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण माना है।[1] वल्लभाचार्य का यह शुद्धाद्वैतवाद 'ब्रह्मवाद' या 'अविकृत परिणामवाद' नाम से भी प्रसिद्ध है।

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म सत्, चित और आनन्द स्वरूप है। वह व्यापक है और सर्वशक्तिमान है। वह स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है और गुणों से वर्जित है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म के सगुण और निर्गुण—दोनों रूप नित्य हैं। जो ब्रह्म अणोरणीयान् है वह महतो महीयान् भी है। पर ब्रह्म एक होकर भी अनेक है और स्वतन्त्र होकर भी भक्तों के अधीन है। ब्रह्म के तीन प्रकार माने गये हैं—(१) आधि दैविक ब्रह्म, (२) आध्यात्मिक अर्थात् अक्षर ब्रह्म और (३) आधि भौतिक अर्थात् जगत् रूपी परब्रह्म।

जगत् सत्य है क्योंकि लीलामायक भगवान् स्वयं जगत् के रूप में फैला हुआ है। ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य। जब कारण सत्य है तो कार्य भी सत्य है। वल्लभ ने जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध को लपेटे गये वस्त्र से समझाया है। जिस प्रकार वस्त्र को फैलाने पर भ्रम नहीं रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म जगत् के रूप में फैला है और प्रलय काल में वही जगत् सिमटकर 'कारण' ब्रह्म के रूप में सूक्ष्म रूप में हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म का आविर्भाव जगत् के रूप में होता है और तिरोभाव की अवस्था

---

१ माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारण रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम्॥
—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड २८

परिचय के लिए ज्ञान प्राप्त करता है। इसके पश्चात् प्रेमा-भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इसकी तीन भूमियाँ हैं—(१) प्रेम, (२) आसक्ति और (३) व्यसन। व्यसन प्रेम की परिपुष्ट दशा है। जो भक्त इस दशा तक पहुँच पाता है वह चारों मुक्तियों का तिरस्कार कर देता है। उसके भीतर, बाहर, सर्वत्र सब भगवान् दिखाई पड़ते हैं। पुष्टि मार्गीय भक्ति में ईश्वर के प्रति सुदृढ़ और उत्कट प्रेम की आवश्यकता है। इस प्रेम के उत्कर्ष के लिए भगवान् से बिछुड़ने का ताप और उनसे मिलन की उत्कट अभिलाषा तथा विह्वलता का होना आवश्यक है। इस प्रेम के बिना अविद्या का नाश नहीं हो सकता। अविद्या विद्या से नष्ट होती है और भक्ति विद्या का एक पर्व है। परन्तु यह भक्ति भी भगवान् के अनुग्रह पर ही सम्भव है। भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सभी कार्यों का नियामक है।

श्री वल्लभ ने भक्त को भगवान् की सेवा तीन प्रकार से करने का आदेश दिया है —तनुजा वित्तजा और मानसी। भगवान् के निमित्त ही अपने शरीर और उसके व्यापारों का एक-निष्ठा से अर्पण 'तनुजा सेवा' है। अपने धन और सम्पत्ति से और मन के द्वारा भगवान् की सेवा करना क्रमशः 'वित्तजा' और 'मानसी' कहलाती है। मानसी सेवा श्रेयस्कर बतायी गयी है। श्री वल्लभ ने तो भगवान् को सर्वभाव से भजनीय माना है तथा प्रत्येक स्थिति में कृष्ण की शरण लेकर उसे ही अपना रक्षक समझकर भक्त को सदा उसी पर विश्वास रखने को कहा है। चाहे फल-प्राप्ति में विलम्ब हो जाए। किन्तु भक्त को इसके विषय में तनिक भी चिन्ता नहीं कर केवल यही समझना चाहिए कि वह भगवान् का सेवक है। पुष्टिमार्गीय भक्ति की विशेषता है कि श्री कृष्ण की शरण में गये बिना मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। जिस प्रकार गीता में 'सर्व धर्मान् परित्यज्य शरणं व्रज' कहा गया है, उसी प्रकार वल्लभ मत में कहा गया है —

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्री कृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥

—नवरत्न श्लोक ६

श्री वल्लभ मत का मन्त्र है 'श्री कृष्णः शरणं मम'। कहने की आवश्यकता नहीं कि शरणागति और अनन्य भक्ति ही वल्लभ-सम्प्रदाय का चरम लक्ष्य है।

श्री वल्लभाचार्य ने भगवत्प्रेम को प्राप्त करने के लिए भागवत् में प्रतिपादित नवधा भक्ति की सराहना करते हुए 'सुबोधिनी' टीका में उसके साधन-क्रम को अपनाने *का आदेश दिया है। किन्तु इन समस्त साधनों में आत्म निवेदन या आत्म-समर्पण* को अत्यन्त महत्त्व देते हुए 'अंतःकरण प्रबोध' नामक ग्रन्थ में उन्होंने 'तव समर्पित भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव' नामक उक्ति द्वारा भक्त का आत्मा सहित पूर्ण रूपेण कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण करने का आदेश दिया है। जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है— पुष्टि-मार्ग में आने के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि लोक और वेद—दोनों के प्रलोभन से दूर हो जाए इन फलों की आकांक्षा छोड़ दे,

जो मोक्ष को अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कार्यों के सम्पादन द्वारा नहीं यही है। यह तभी हो सकता है जब कि साधक अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दे। इस समर्पण से इस मार्ग का आरम्भ होता है और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला-सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अन्त।[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि वल्लभाचार्य ने प्रवृत्ति-मार्ग को ही निवृत्ति-मार्ग से श्रेष्ठ माना था। वे गृहस्थ थे। उनके गोपीनाथ एवं विट्ठलनाथ नामक दो पुत्र भी हुए। श्री वल्लभ जी का देहान्त होने पर श्री विट्ठलनाथ उनकी गद्दी पर बैठे। श्री विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय के प्रचार के लिये अनेक प्रयत्न किये।

पुष्टि मार्ग के अन्तर्गत अनेक भक्त-कवियों ने हिन्दी में कृष्ण भक्ति के विपुल साहित्य का निर्माण किया। 'अष्टछाप' पुष्टि-मार्ग की महत्वपूर्ण देन है जिसके कवियों ने श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं को लेकर भजन-कीर्तन रचकर हिन्दी के भक्ति-साहित्य के भण्डार को भर दिया। उनके द्वारा उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन में नयी स्फूर्ति का संचार हुआ।

२ चैतन्य महाप्रभु और गौडीय सम्प्रदाय

समस्त उत्तरी भारत को विशेषतः बंगाल को भक्ति-रस से आप्लावित करने का श्रेय महाप्रभु चैतन्य को है। आप भक्ति रस की सजीव मूर्ति थे और थे—उनके मधुर भाव का ज्वलन्तमान प्रतीक। चैतन्य महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के समकालीन थे। श्री चैतन्य का जन्म सन् १४८५ में बंगाल के नदिया (शान्तिपुर) नामक स्थान में हुआ। इनका जन्म का नाम विश्वम्भर था, बाद में ये अपने अनुयायियों द्वारा कृष्ण-चैतन्य कहे जाने लगे। बहुत गौर वर्ण के होने के कारण इनका नाम गौरांग भी पड़ा। अपनी १८ वर्ष की अवस्था में विवाह करके अपनी पत्नी लक्ष्मी के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे। इस समय इनका मुख्य कार्य गम्भीर अध्ययन और अध्यापन था। इन्होंने समस्त शास्त्रों में विशेषकर तर्कशास्त्र में निपुणता प्राप्त की। इनकी प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया। अतः दूसरा विवाह कर एक समय पितरों की श्राद्ध क्रिया करने गया-धाम पधारे। वहाँ ईश्वरपुरी नामक एक प्रसिद्ध वैष्णव से उन्होंने भेंट की। कहा जाता है कि चैतन्य देव ईश्वरपुरी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए और वहीं संन्यास लेने का संकल्प लेकर लौटने पर घर-बार त्याग दिया। इनमें बहुत परिवर्तन आ गया। इनके विचार बदल गये। इन्होंने कर्मकाण्ड की कड़ी आलोचना की। मोक्ष के लिए हरिनाम-स्मरण और कीर्तन को एक मात्र साधन बतलाकर इन्होंने वर्णव्यवस्था को व्यर्थ बतलाया। इनकी इस नवीन विचार-धारा के समर्थक और इनके सहयोगी इनके शिष्य नित्यानन्द थे जिन्हें ये भाई के समान मानते थे। ये पहर भर में कीर्तन भजन करते थे और प्रेम में मस्त होकर गाया करते थे। इनकी आँखों से अश्रु की अविरल धारा बहा करती थी।

---

१ सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०१, १०२।

चैतन्य देव ने भारतवर्ष के प्रमुख तीर्थों में भ्रमण किया। वे दक्षिण भारत में, विशेषकर तमिळ-प्रदेश के वैष्णव क्षेत्रों में भी गये।[1] बहुत सम्भव है कि तमिळ-प्रदेश की अपनी यात्रा में वे भावुक भक्त-कवि आळ्वारों की रचनाओं से परिचित और प्रभावित हुए हों। श्री टी० एन० गांगुली ने लिखा है कि चैतन्य नम्माळ्वार के जन्म स्थान 'आळ्वार तिरुनगरी' में जाकर उनके पद-संग्रहों की हस्तलिखित प्रतियाँ अपने साथ ले गये।[2] फिर वे पुरी आदि प्रसिद्ध स्थानों में कई वर्षों तक भ्रमण करते हुए अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। यह प्रसिद्ध है कि श्री चैतन्य अपने अन्तिम दिनों में कृष्ण की भक्ति में इस प्रकार भावावेश में आते थे कि वे मूर्छित हो जाते थे। इनका गोलोक-गमन सन् १५३३ में हुआ।

श्री चैतन्य के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने अन्य आचार्यों की भाँति अपने संप्रदाय को व्यवस्थित रूप देने का प्रयास नहीं किया और न उन्होंने 'प्रस्थान त्रयी'' पर कोई भाष्य ही प्रस्तुत किया। वे प्रेममय कृष्ण की मधुर-भाव की भक्ति में इस तरह भाव-मस्त रहते थे कि अपने मत के तात्त्विक स्पष्टीकरण के लिए किसी ग्रन्थ की रचना करना उनके लिये संभव ही नहीं था। उनके रचित केवल अष्ट श्लोक ही उपलब्ध हैं। इसी कारण उनके सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित रूप उनके अनुयायी पंडितों द्वारा आगे चलकर प्रस्तुत किया गया।

जिस समय चैतन्य का आविर्भाव हुआ था उस समय बंगाल में विष्णु भक्ति का बहुत कम प्रचार था और काली-पूजा और शाक्तों की प्रबलता थी। उस परिस्थिति की प्रतिक्रिया चैतन्य पर गहरी पड़ी थी। इसके अलावा जिस वातावरण में चैतन्य का पिछला जीवन व्यतीत हुआ उस पर निम्बार्क विल्वमंगल, जयदेव चंडीदास और विद्यापति जैसे भक्तों और कवियों का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा था। इन सब के सम्मिश्रण से चैतन्य के ऊपर प्रेममय कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ शृङ्गारिक भक्ति का रंग चढ़ गया था। भगवान् का नाम संकीर्तन चैतन्य का अत्यन्त लोक-प्रिय साधन था, जिसके द्वारा जन-साधारण को अपने आन्दोलन के प्रति आकृष्ट करने में वे सफल हुए। फलतः इनके शिष्यों की एक बड़ी मंडली संगठित हुई जिनमें प्रधानतः नित्यानन्द और अद्वैताचार्य नाम के दो महात्मा थे। वे दोनों अद्वैत भक्त ही नहीं बल्कि प्रगाढ़ शास्त्र-वेत्ता भी थे। वैष्णव धर्म को लोक-प्रिय बनाने के हेतु नित्यानन्द ने तो सब के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। चैतन्य की अन्य शिष्य परम्परा में ६ भक्तों का विशिष्ट स्थान है जो "षट् गोस्वामी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गोस्वामियों ने

---

1 "He visited all the shrines of Tamil Country and also Conjeepuram, Sri Rangam Madura, Siyali, Kumba Konam, and Tanjore."—"Sri Chaitanya Maha-prabhu"—Tritavda Bhikshu : *Bhakti Pradipa Tirtha*, p 79

2. *'The Life of Sri Gouranga"*—Sri. D N. Ganguli, p. 45

(भगवत् विषयम्, पृ० ४१ से उद्धृत)

वृन्दावन को चैतन्य मत के प्रचार का केन्द्र बनाया। वृन्दावन में रहते हुए चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने के हेतु इन गोस्वामियों ने महत्व पूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनके तीन के नाम उल्लेखनीय हैं। वे हैं—रूप गोस्वामी श्री सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी। रूप गोस्वामी के लिखे "भक्ति-रसामृत सिन्धु' 'उज्ज्वल नील मणि'' और "लघु भागवतामृत भक्ति का शास्त्रीय विवेचन करने वाले अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। सनातन गोस्वामी के श्रीमद् भागवत दशम स्कन्ध की टीका' तथा "बृहद्भागवतामृत'' और जीव गोस्वामी के 'षट्सन्दर्भ'' तथा 'गोपाल चम्पू'' आदि भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

चैतन्य मत "अचिन्त्य भेदाभेद" कहलाता है। कुछ लोग चैतन्य-संप्रदाय को माध्व-संप्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं। इस सम्बन्ध में डा० सुशील कुमार डे ने अपने "वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल ग्रन्थ में बड़ी निष्पक्ष दृष्टि से तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार माध्व-संप्रदाय और चैतन्य-संप्रदाय में दार्शनिक धरातल पर एकता नहीं है।[1] यह स्वीकार करना पड़ेगा कि माध्व मत की शाखा होने पर भी चैतन्य मत का दार्शनिक दृष्टिकोण सर्वथा स्वतन्त्र है। माध्व की मूल दृष्टि द्वैत की है। लेकिन चैतन्य मत 'अचिन्त्य भेदाभेद' है। चैतन्य मत में परम तत्व स्वयं श्रीकृष्ण हैं। यह तत्व सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त शक्ति से पूर्ण है तथा अनादि है। शक्ति और शक्तिमान में न तो परस्पर भेद है और न अभेद ही। इन दोनों का सम्बन्ध तर्कों के द्वारा अचिन्त्य है। अतः यह सिद्धान्त अचिन्त्य भेदाभेद की संज्ञा से अभिहित है। इस सम्बन्ध में रूप गोस्वामी ने अपने "लघु भागवतामृत" में लिखा है—

> एकत्वं च पृथक्त्वं च तथांशत्वमुतांशिता।
> तस्मिन्नेकत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानंतशक्तितः ॥ १।६०॥

श्री रूप गोस्वामी का कहना है—'श्रीकृष्ण में अनन्त गुण हैं, वे असंख्य अप्राकृत गुणशाली और अपरिमित शक्ति से सम्पन्न हैं और पूर्णानन्द घन उनका विग्रह है। जो ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष और अमूर्त कहा गया है वह सूर्य-तुल्य श्रीकृष्ण के प्रकाश-तुल्य है।'[2]

श्रीकृष्ण की अनन्त शक्ति जब प्रकट है तब उसे भगवान् कहते हैं, अन्यथा वह ब्रह्म कहलाता है। जब उसकी शक्ति कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट होती है तब वह परमात्मा कहलाता है। ब्रह्म विशुद्ध ज्ञान का विषय है। परमात्मा योग का लक्ष्य है। परन्तु भगवान् का साक्षात्कार भक्ति से ही संभव है। परब्रह्म के तीन रूप माने गये हैं—(१) स्वयं रूप (२) तदेकात्मक रूप और (३) आवेश रूप। इन तीनों रूपों में कृष्ण

---

1 *Vaishnava Faith and Movement in Bengal*—Dr S. R. De, pp 19-20

२ "लघु भागवतामृत' —श्लोक ६० पृ० १२४, १२५।

ही स्वयं रूप है। उनके भी तीन रूप हैं—१ द्वारका रूप २ मथुरा रूप और ३ व्रजलीला रूप। ये तीनों रूप उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। तत्त्वात्मक रूप में वे अपनी अभिव्यक्ति दो रूप में करते हैं—१ विलास रूप में और २ स्वांश रूप में। जो रूप लीला विशेष के लिए प्रकट होता है वह विलास रूप है। जब भगवान् अपने स्वयं रूप से अपनी थोड़ी शक्ति का प्रकाश करते हैं तब उनका वह अंश शक्ति स्वांश रूप होता है। जब वे कुछ कलाओं के साथ विशिष्ट जीवों में प्रकट होते हैं, तब उनका 'आवेश' रूप कहलाता है। भगवान् के अवतार भी तीन प्रकार के हैं—

१ - पुरुषावतार २—गुणावतार, और ३—लीलावतार।

परब्रह्म का आदि अवतार-पुरुषावतार है जिसे 'वासुदेव' कहते हैं। पुरुषावतार वासुदेव के तीन भेद हैं—संकर्षण अनिरुद्ध और प्रद्युम्न। प्रकृति के तीन गुण—सत्, रज तम—के अधिष्ठाता तीन गुणावतार हैं। वे हैं—विष्णु, ब्रह्म और रुद्र। नारद सनकादि भगवान् के अंशावतार हैं और रामचन्द्र बुद्ध कल्कि आदि लीलावतार हैं।

अनन्त शक्ति सम्पन्न भगवान् कृष्ण की शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं—अन्तरंग शक्ति बहिरंग शक्ति और तटस्थ शक्ति। भगवान् की अन्तरंग शक्ति स्वरूप शक्ति है जो सत्, चित् तथा आनन्द युक्त है। बहिरंग शक्ति माया कहलाती है जिससे जड़-प्रकृति का उद्भव होता है। माया भी दो प्रकार की है—द्रव्य माया और गुण-माया। अन्तरंग और बहिरंग—दोनों शक्तियों के बीच की तटस्थ शक्ति से जीव का सम्बन्ध है। अन्तरंग शक्ति के भी तीन रूप हैं—संधिनी संवित् और ह्लादिनी। संधिनी शक्ति के बल पर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं। ह्लादिनी शक्ति के रूप में भगवान् स्वयं आनन्द स्वरूप हैं और दूसरों को आनन्द देने वाले हैं।

भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति है। जीव को भक्ति भगवान् की कृपा से ही मिलती है। भक्ति दो प्रकार है—वैधी तथा रागानुगा। वैधी भक्ति भगवान् के ऐश्वर्य का मार्ग है। इस भक्ति के अनुगामी जीव भगवान् के मथुरा द्वारिका धाम में प्रवेश पाते हैं। रागानुगा-भक्ति का मार्ग माधुर्य-मार्ग है। चैतन्य सम्प्रदाय का प्रसिद्ध भक्ति-ग्रन्थ 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में वैधी और रागानुगा भक्ति के शास्त्र पर बड़े विस्तार से लिखा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण की भावमयी लोकलीला चार भावों से सम्बन्ध रखती है—सख्य वात्सल्य दास्य तथा माधुर्य। इन्हीं चार भावों से कृष्ण चैतन्य सम्प्रदाय म प्रेम-भक्ति होती है। इन भावों में सब से अधिक उत्कर्ष माधुर्य भाव का है, क्योंकि इस प्रेम के अन्तर्गत अन्य प्रेम भावों का भी समावेश है। प्रेम और आनन्द की शक्ति-स्वरूपा गोपियों में राधा महाभाव-स्वरूपा है।

मधुर भाव की रति तीन प्रकार की मानी जाती है—१—साधारण रति २—समंजसा रति और ३—समर्था रति। साधारण रति का उदाहरण 'कुब्जा' है। समंजसा रति का दृष्टान्त रुक्मिणी जाम्बवती हैं। समर्था रति के उदाहरण व्रज की गोपियाँ हैं। इस भाव को धारण कर भक्त भगवान् से प्रेम और उनकी सेवा उनके आनन्द के लिए करते हैं। इस भक्ति-भाव की साधना में किसी प्रकार के विधि नियम

। शास्त्र मर्यादा का ध्यान नहीं होता। यही भाव अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचकर 'महाभाव' या 'राधा-भाव' के रूप में परिणत होता है।

चैतन्य मत में रस-साधना ही प्रधान साधना है। स्वयं श्रीकृष्ण चैतन्य भगवान् कृष्ण के प्रेम में इस तरह तन्मय हो जाते थे कि सारी सुधबुध खोकर उन्मत्त हो चीखने-चिल्लाने भी लग जाते थे। यही भक्ति 'राधा भाव' की कहलाती थी अर्थात् वे स्वयं राधा स्वरूप होकर कृष्ण के प्रेम में 'महाभाव' का अनुभव करते थे। इसी कारण लोग चैतन्य को राधा के अवतार के रूप में मानते थे। चैतन्य सम्प्रदाय की मधुर-भक्ति वल्लभ-सम्प्रदाय की मधुरा भक्ति से साम्य रखती है।

अन्य वैष्णव मतों की तरह चैतन्य-संप्रदाय में भी सत्संग नाम महिमा भगवान् की लीला का कीर्तन भजन वृन्दावन वास भागवत-श्रवण गुरु-सेवा तुलसी-पूजन आदि भक्ति के विभिन्न साधनों पर जोर दिया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चैतन्य मत में भगवद् भक्ति का द्वार समाज की सभी श्रेणियों के लोगों के लिए खुला है। इस कारण उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन में भी चैतन्य देव का महत्वपूर्ण योगदान है। इस संप्रदाय के अन्तर्गत अनेक भक्त-कवियों ने हिन्दी में विशिष्ट कृष्ण भक्ति-साहित्य का निर्माण किया और हिन्दी-भक्ति-साहित्य को समृद्ध किया है।

३ राधावल्लभीय संप्रदाय

ब्रजभूमि में चैतन्य और वल्लभ-संप्रदायों के भक्तों ने अपने साधना-मार्ग का प्रचार प्रारम्भ किया था। सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राधा-कृष्ण की युगल-उपासना को लेकर एक अन्य सम्प्रदाय ब्रजभूमि में प्रचलित हुआ जो 'राधावल्लभीय संप्रदाय' कहलाया। इस संप्रदाय के प्रवर्तक श्री हितहरिवंश थे। श्री हितहरिवंश के विषय में यह कहा जाता है कि वे प्रारम्भ में माध्व मतावलम्बी थे और बाद में उन्होंने निम्बार्क स्वामी की साधना पद्धति का अनुकरण कर अपना अलग भक्ति-सम्प्रदाय चलाया। श्री हितहरिवंश जी ने वृन्दावन में एक मन्दिर बनवाकर उसमें राधावल्लभ जी की मूर्ति भी स्थापित की। लगभग सन् १५३४ ई० में उक्त मन्दिर के प्रथम पट-महोत्सव के समय हितहरिवंश जी ने अपनी कृष्ण-भक्ति-पद्धति का सम्यक् प्रचार प्रारम्भ किया। उन्होंने अन्य आचार्यों की तरह अपने संप्रदाय के लिए न किसी दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया न कर्म और ज्ञान के साधना की आवश्यकता ही बताई। उन्होंने राधा और कृष्ण की प्रेम और आनन्द-लीला के ध्यान और मनन में तथा युगल-मूर्ति की पूजा में परमानन्द प्राप्ति का साधन घोषित किया। उन्होंने कृष्ण से राधा की पूजा और भक्ति को अधिक महत्वपूर्ण बताया।

स्मरण रहे कि राधावल्लभीय सम्प्रदाय एक साधना-मार्ग था, तात्विक सिद्धांत की दृष्टि से वेदान्त के भिन्न भिन्न वादों के अन्तर्गत आने वाला कोई 'वाद' नहीं था। हितहरिवंश के समकालीन भक्त नाभादास जी ने अपने भक्तमाल में राधावल्लभीय संप्रदाय की कृष्णोपासना पर प्रकाश डाला है। उनका छप्पय इस प्रकार है—

"श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है।
श्री राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पती तहाँ की करत खवासी।
सरवस महा प्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।
श्री व्यास सुवन पथ अनुसरे सोई भले पहिचानि है।
श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है।"—छप्पय ६०

राधावल्लभीय संप्रदाय को कुछ लोग निम्बार्क मत की वृन्दावनी शाखा मानते हैं और कुछ लोग चैतन्य मत का। परन्तु डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपने ग्रन्थ "राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य" में यह सिद्ध किया है कि यह संप्रदाय अपनी साधना पद्धति विचार भावना सेवा-पूजा आदि में किसी संप्रदाय का अनुगत नहीं है।[1] वास्तव में गोस्वामी जी ने विभिन्न संप्रदायों की पद्धतियों का मान कर अपनी स्वतन्त्र प्रणाली से इस सम्प्रदाय की स्थापना की। उन्होंने विधि निषेध के बाह्याचार को एकदम मिथ्याडम्बर और उपेक्षणीय बताया। उन्होंने अपनी वाणी से माधुर्य भाव की प्रेम-लक्षणा भक्ति का अनोखा स्वरूप प्रकट किया। उन्होंने प्रेम सिद्धान्त की स्थापना में वैदिक मर्यादा का आश्रय नहीं लिया और नैसर्गिक रूप से प्रवाहित होने वाले प्रेम को लोक या शास्त्र की सीमाओं में बाँधना अनुचित बताया। श्री हितहरिवंश जी के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं— राधा सुधानिधि' और 'हित चौरासी"। इन ग्रन्थों में राधाकृष्ण की रूप-माधुरी और सेवा-माधुरी का कवित्वमय वर्णन है।

राधावल्लभीय संप्रदाय का मूल आधार राधा-प्रेम है। इसके भीतर ही साधक का साधन और साध्य निहित रहता है। आस्वादन करने पर यह प्रेम ही 'रस' कहलाता है। इसमें राधाकृष्ण प्रेम को निष्काम प्रेम की संज्ञा दी गयी है। इसमें राधा की आराधना के बिना कृष्ण की आराधना का निषेध है। इसमें राधा के बिना कृष्ण की कल्पना ही नहीं है। श्री हितहरिवंश ने राधा को परकीया भाव से पृथक रखा और राधिका जी को इष्टदेवी के रूप में मानने का उपदेश दिया। उनके अनुसार राधा की सत्ता स्वकीया-परकीया के रूप में न होकर स्वतन्त्र रूप से है। श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—"हरिवंश जी इस प्रकार न अवतार श्रीकृष्ण को अपना इष्ट मानते हैं और न युगल किशोर नन्दनन्दन तथा श्री वृषभानु सुता को। वे नित्य विहारिणी श्री राधा को ही अपना इष्ट मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है कि राधा स्वतन्त्र पराशक्तिरूपा है। वह महाप्रभु रूपा है। वही सेव्या-आराध्या है।"[2]

इस संप्रदाय के अनुयायियों ने वियोग भावना को न अपनाकर केवल शृंगार की संयोग-लीलाओं को ही अपनाया है। इस संप्रदाय में राधाकृष्ण की कुंज-लीला

---

१ राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य पृ० २३।
२ भागवत सम्प्रदाय—श्री बलदेव उपाध्याय पृ० ४४०।

…मनन से जो आनन्द प्राप्त होता है उसे 'परम रस माधुरी-भाव' कहा गया है। …धा और कृष्ण का मिलन नित्य वृन्दावन में सम्पन्न होने वाली नित्य-लीला है। …हाँ वियोग को कोई स्थान नहीं है। 'हरिवंशी' संप्रदाय वस्तुतः 'रस संप्रदाय' है। …समें प्रेम मूर्ति श्री राधा और कृष्ण के नित्य मिलन के अवसर पर साधक तन्मय …व से उनकी सेवाओं में लगा रहता है।

सम्प्रदाय-प्रवर्तक श्री हितहरिवंश स्वयं श्रेष्ठ कवि थे और उनके पश्चात् इस …प्रदाय के अन्तर्गत अनेक भक्त-कवि हुए जिन्होंने अनेक भक्ति-प्रधान ग्रन्थों की रचना …की। इस सम्प्रदाय के कुछ भक्त-कवियों ने ब्रजभाषा में विपुल भक्ति-साहित्य का …र्जन किया है।

' हरिदासी अथवा सखी सम्प्रदाय

सोलहवीं शती में राधा-कृष्ण की युगल-उपासना को लेकर एक और सम्प्रदाय …चलित हुआ जो 'सखी सम्प्रदाय' कहलाया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी थे जिनके नाम पर उक्त भक्ति-सम्प्रदाय को 'हरिदासी सम्प्रदाय' भी कहा जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह मत निम्बार्क-सम्प्रदाय की ही एक शाखा है। श्री स्वामी हरिदास जी प्रारम्भ में निम्बार्क मत के अनुयायी थे और बाद में उन्होंने गोपी भाव को भगवत्प्राप्ति का एक मात्र साधन मानकर अपनी साधना पद्धति की प्रतिष्ठा की। श्री हरिदास जी ने आरम्भिक काल में अपने सम्प्रदाय को वेदान्त के किसी वाद का अथवा अन्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए माध्यम नहीं बनाया था। उनका एक मात्र उद्देश्य राधाकृष्ण की युगल-उपासना का सखी-भाव से प्रचार करना था। बताया जाता है कि वृन्दावन में श्री स्वामी जी के समय में ही बिहारी जी का मन्दिर बनवाया गया था।

स्वामी जी के समकालीन भक्त नाभादास ने उनकी भक्ति-पद्धति का परिचय देते हुए लिखा है—

"आसधीर उद्योत कर 'रसिक' छाप हरिदास की।
जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंज बिहारी॥
अवलोकत रहै केलि सखी सुख को अधिकारी।
गान कला गन्धर्व स्याम स्यामा कों तोषे॥

नाभादास जी के कथन से यह विदित होता है कि स्वामी जी गानकला में निष्णात थे और अपने सुमधुर भजनों द्वारा श्यामा-श्याम की स्तुति किया करते थे। स्वामी जी की रची हुई 'केलिमाल' नामक पदावली विख्यात है जिसमें अन्तरंग के मधुरतम भावों की सुन्दर व्यंजना हुई है।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने सखी सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय से पृथक् माना है। वे लिखते हैं—"कहा जाता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अनुसरण करके भी स्वामी हरिदास जी ने अपना सम्प्रदाय चलाया। किन्तु सखी-सम्प्रदाय की

तमिल् के कृष्ण-भक्त-कवि आलवार

तमिल में 'आऴ्वार' शब्द अब साधारणतया उन द्वादश वैष्णव भक्तों के लिए प्रयुक्त होता है जिनके पद 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं। 'प्रबन्धम्' में कहीं भी 'आऴ्वार' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल एक स्थान[1] पर यह शब्द आया है, परन्तु वैष्णव भक्त के अर्थ में नहीं। नम्माऴ्वार की रचनाओं में 'वैष्णव भक्त' के लिए 'अडियार' अथवा 'तमर' शब्द ही मिलता है।[2] वस्तुतः 'आऴ्वार' शब्द उन भक्त कवियों के जीवन-काल के पश्चात् ही प्रयोग में आया। इसका प्रथम प्रयोग श्री रामानुजाचार्य के समय में श्री पिळ्ळान द्वारा 'प्रबन्धम्' पर लिखी गई टीका में मिलता है।

'आऴ्वार' शब्द का एक अर्थ 'मग्न होना' है। इस अर्थ में यह शब्द किसी भी ऐसे सन्त महात्मा के लिए प्रयुक्त हो सकता है, जिसने आध्यात्मिक ज्ञान रूपी सागर में गोता लगाया हो।[3] कुछ शिलालेखों से पता चलता है कि प्रारम्भ में यह शब्द केवल वैष्णव भक्तों के लिए न होकर, शैव,[4] जैन-भक्तों तथा भगवान् बुद्ध[5] के लिए प्रयुक्त होता था। 'आऴ्वार' शब्द का एक दूसरा अर्थ 'शासन करने वाला' भी है (आऴ्दल = शासन करना)। अतः 'आऴ्वार' शब्द से आशय उस व्यक्ति से है जो

१ नान्मुखन तिरुवन्तादि, पद संख्या १४।

२ तिरुवायमोऴि, ३।२।९।

3 "The word Alvar' has peculiar significance of its own. It means one who has sunk into the depths of his existence or one who is lost in a rapturous devotion to the Lord. It is a word quite descriptive of all god-intoxicated men."

—*Grains of Gold* R. S. Desikan, p 6.

4 *South Indian Inscriptions*, Vol. III p. 102.

५. नीलकेशी, मोक्कला ८२ टीका।

तमिल के कृष्ण-भक्त-कवि आऴ्वार

तमिल में 'आऴ्वार' शब्द अब साधारणतया उन बारह वैष्णव भक्तों के लिए प्रयुक्त होता है जिनके पद 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं। प्रबन्धम् में कहीं भी 'आऴ्वार' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल एक स्थान[1] पर यह शब्द आया है परन्तु वैष्णव भक्त के अर्थ में नहीं। नम्माऴ्वार की रचनाओं में वैष्णव भक्त के लिए 'अडियार' अथवा 'तगवर' शब्द ही मिलता है।[2] वस्तुतः 'आऴ्वार' शब्द उन भक्त कवियों के जीवन-काल के पश्चात् ही प्रयोग में आया। इसका प्रथम प्रयोग श्री रामानुजाचार्य के समय में श्री पिळ्ळान द्वारा 'प्रबन्धम्' पर लिखी गई टीका में मिलता है।

'आऴ्वार' शब्द का एक अर्थ 'मग्न होना' है। इस अर्थ में यह शब्द किसी भी ऐसे सन्त महात्मा के लिए प्रयुक्त हो सकता है, जिसने आध्यात्मिक ज्ञान के सागर में गोता लगाया हो।[3] कुछ शिलालेखों से पता चलता है कि प्राचीन काल में यह शब्द केवल वैष्णव भक्तों के लिए न होकर, शैव,[4] जैन आदि अन्य भक्तों के लिए प्रयुक्त होता था। 'आऴ्वार' शब्द का एक दूसरा अर्थ 'शासन करने वाला' भी है (आळ्दल = शासन करना)। अतः 'आऴ्वार' शब्द से [illegible] है जो

१ नान्मुगन तिरुवन्तादि, पद संख्या १४।

२ तिरुवायमोऴि ५।२।६।

3 "The word 'Alvar' has peculiar significance of its own. It means one who has sunk into the depths of his [illegible] or one who is lost in a rapturous devotion to the Lord. It is a word quite descriptive of all god-intoxicated men.

—*Grains of Gold* [illegible] p. 6.

4. *South Indian Inscriptions*, Vol. III p 102.

५. नीलकेशी, मोक्षकला, ८२ टीका।

तमिळ नाम		संस्कृत नाम	
१	पोयगै आळ्वार	१	सरोयोगी
२	भूतत्ताळ्वार	२	भूतयोगी
३	पेयाळ्वार	३	महयोगी या भ्रांत योगी
४	तिरुमळिसई आळ्वार	४	भक्तिसार
५	नम्माळ्वार	५	शठकोप
६	मधुरकवि आळ्वार	६	मधुर कवि
७	कुलशेखराळ्वार	७	कुलशेखर
८	पेरियाळ्वार	८	विष्णुचित्त
९	आंडाळ	९	गोदा
१०	तोंडरडिपोडी आळ्वार	१०	भक्तांघ्रिरेणु
११	तिरुप्पाण आळ्वार	११	योगीवाहन
१२	तिरुमंगै आळ्वार	१२	परकाल

इस क्रम के आधार पर प्रथम चार को प्राचीन बाद के पाँच को मध्य तथा शेष तीन को अन्तिम काल के मानने की परिपाटी भी चली आती है। ये सभी आळ्वार तमिळ-भाषी थे और इनकी रचनाओं में इनके तमिळ नाम ही मिलते हैं। अतः वे तमिळ-प्रदेश में अपने तमिळ-नामों से ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

'नालायिर दिव्य-प्रबन्धम्'

आळ्वारों की रचनाएँ उनके जीवन-काल में संगृहीत नहीं हुई थीं। इनकी रचनाओं के जो नाम आज मिलते हैं, वे आळ्वारों के अपने दिये हुए नहीं मालूम पड़ते। इनके पद शताब्दियों तक केवल मौखिक रूप में जीवित रहे। इसलिए सम्भव है कि बहुत से पद नष्ट हो गये हों। नवीं शताब्दी के अन्त में श्री नाथमुनि ने बड़े परिश्रम से इन पदों का संकलन किया और पद-शैली विषय अथवा छन्द के आधार पर अलग-अलग नाम दिये। आळ्वारों की रचनाओं के संग्रह का नाम तभी से 'दिव्य प्रबन्धम्' अथवा 'अरुळिचेयल' अर्थात् 'अनुग्रहपूर्ण दान' पड़ा। श्री रामानुजाचार्य के समय में उनके एक शिष्य श्रीरंगमवासी अमुदन ने गुरु रामानुजाचार्य की स्तुति में तमिळ भाषा में एक सौ पद रचे थे जिनको भी 'रामानुज नूट्रन्दादि' के नाम से 'दिव्य-प्रबन्धम्' में समाविष्ट किया गया है। इस पूरे संग्रह के पदों की संख्या ४००० के लगभग है। अतः सुविधा के लिए इस पद-संग्रह को 'नालायिर दिव्य-प्रबन्धम्' अर्थात् चार सहस्र पावन पद की संज्ञा दी गई है।

अब आळ्वारों के जीवन-वृत्त पर संक्षेप में प्रकाश डालकर उनकी रचनाओं और उनके वर्ण्य-विषय का परिचय दिया जाता है।

पोयगै आळवार (सरोयोगी)

आळवार भक्तों की परम्परा में प्रथम तीन आळवारों को 'मुदलाळवार' कहा जाता है। इन तीनों में भी पोयगै आळवार को 'आदि कवि' कहते हैं।[१] इनका जीवन-वृत्त तिमिराच्छिन्न है। कहा जाता है कि इनका जन्म तमिळ-प्रदेश में काँचीपुरम के उत्तर भाग में स्थित 'तिरुवेहा' के एक तालाब में कमल पुष्प पर हुआ था। इनको विष्णु के शंख का अवतार भी माना जाता है। इनका जन्म तालाब के फूल से होने के कारण इनका नाम 'पोयगै' (तालाब) आळवार पड़ा। 'गुरु परम्परा' ग्रन्थों के अनुसार इनका जन्म ४२० ई० पू० में हुआ था। परन्तु आधुनिक विद्वानों को यह मान्य नहीं है।

'पोयगै' के नाम से एक दूसरे कवि का भी पता चला है जो तमिळ साहित्य के 'संघकाल' (दूसरी और तीसरी शताब्दियाँ) में जीवित थे। इस कवि की रचना 'कळवळि' है जो हाल में प्रकाशित हुई है। 'याप्पिरुंगल विरुत्ति' नामक तमिळ-पिंगल व्याकरण ग्रन्थ में 'अन्तादि' छन्द के उदाहरण के लिए जो पद दिये गए हैं, वे पोयगै आळवार के ही हैं। इस ग्रन्थ में 'आर्य रचना' के उदाहरण के अन्तर्गत पोयगै आळवार के कुछ छन्दों में से त्रुटियाँ दिखाई गई हैं। डा० कृष्णस्वामी अय्यंगार[२] जैसे कुछ विद्वान् कवि पोयगै और पोयगै आळवार को एक ही व्यक्ति मानकर इनका समय दूसरी शताब्दी में निश्चित करते हैं। प्रो० ई० एस० वरदराज अय्यर[३] के मतानुसार इनका समय छठी शती के प्रारम्भ मानना चाहिए। सामान्य रूप से इनका समय चौथी या पाँचवीं शताब्दी माना जा सकता है।

पोयगै आळवार के जीवन की घटनाओं का पता नहीं चलता। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इनके स्वभाव चरित्र आदि के विषय में कुछ जाना जा सकता है। पोयगै आळवार बचपन से ही विष्णु के अनन्य उपासक थे। एक पद में उन्होंने लिखा है कि इनके प्रारम्भिक जीवन का वातावरण भक्तिमय था। अतः अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने बचपन में विष्णु-कथाएँ सुनी होंगी और इनका मन गोपाल कृष्ण की लीलाओं में रमा होगा। पोयगै आळवार के समकालीन काँचीपुरम के राजा भी वैष्णव भक्त थे।[४] और एक पद में इन्होंने लिखा है— 'मेरा मुँह केवल उस चक्रधारी विष्णु की ही स्तुति करेगा। मेरे कान केवल उन्हीं की गुण-गाथाओं को सुनेंगे।

१ द्राविड़ मुनिवरकळ—एम० राधाकृष्ण पिळ्ळै, पृ० ४।
2. *Early History of Vaishnavism in South India* pp. 72-73
3. *A History of Tamil Literature*—Prof E. S. Varadaraja Iyer, p. 254.
४ मुदल एळ्ळिय जोती तिरुवडि—श्री पी० श्री आचार्य पृ० १७।

को सुनेंगे। मेरे हाथ केवल उन्हीं को नमस्कार करेंगे और किसी को नहीं।"[1] इससे पोयगै आळ्वार के उत्कृष्ट वैष्णव भक्त होने का पता चलता है। इन्हें योग इत्यादि का भी विशेष ज्ञान था।[2] पंचेन्द्रियों को वश में कर सर्वदा भगवान् के ध्यान में रहने वाले भक्तों की इन्होंने स्तुति की है। एक पद[3] में इन्होंने लिखा है कि मैं किसी पराई वस्तु की कामना नहीं करूँगा। दुष्टों की संगति में नहीं आऊँगा और साधु सन्तों की सेवा में ही सर्वदा रहूँगा।

ये श्रेष्ठ ज्ञानी थे। वेद-उपनिषदों का भी इन्हें विशेष ज्ञान था। घूम-घूमकर वैष्णव भक्ति का प्रचार करते थे और स्थायी रूप से एक स्थान में न रहे। इन्होंने दूसरे धर्मों का खण्डन नहीं किया है और इसमें धार्मिक सहिष्णुता की भावना दीख पड़ती है जो कि अन्य कुछ आळ्वारों में नहीं। इनका जीवन बहुत ही सादा था और भक्ति करना ही इनके जीवन का एक मात्र ध्येय था। नम्माळ्वार और तिरुमंगै आळ्वार जैसे परवर्ती आळ्वारों ने इनकी भक्ति-भावना की बड़ी स्तुति की है।

रचनाएँ

पोयगै आळ्वार के एक-सौ पद 'मुदल तिरुवंतादि' के नाम से मिलते हैं। ये अन्तादि' छन्द में रचित हैं और 'दिव्य प्रबन्धम्' के 'इयंपा' विभाग में संगृहीत हैं। ये स्फुट पद हैं। इनमें कोई कथा वर्णित नहीं है। पद मुख्यतः भक्ति उपदेश आदि से सम्बन्धित हैं। इन्होंने अपने एक पद में भक्ति की सबसे सरल मार्ग बताया है—"भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका रूप है। जिस नाम को चाहते हैं, वही उसका नाम है। भक्त जिस ढङ्ग से भी उपासना करें, उसी ढङ्ग से चक्रधर विष्णु उनका उपास्य बन जाता है।"[4]

कुछ पदों में विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख है और भगवद् मुख लीला इत्यादि का वर्णन है। कवि का मन विशेष रूप से कृष्ण की बाल-लीलाओं में रमा है। तिरुवरंगम्, तिरुवेंकटम् आदि तमिळ प्रदेश के विष्णु-स्थलों में विराजमान विष्णु के अर्चावतार-रूपों की भी स्तुति है।

भूतत्ताळ्वार (भूतयोगी)

भूतत्ताळ्वार का जन्म "गुरुपरम्परा" ग्रन्थों के अनुसार "तिरुक्कडल मल्लै" (वर्तमान महाबलीपुरम) में माधवी पुष्प पर हुआ था। इनकी रचना में भी इनके जन्म-स्थान "मामल्लै" का उल्लेख मिलता है। इन्हें विष्णु की गदा का अवतार माना

---

१ मुदल तिरुवंतादि पद ११।
२ मुदर एडुम कोली तिरुपदु—श्री पी० श्री आचार्य पृ० १६।
३ मुदल तिरुवंतादि, पद ६४।
४ वही, पद १४।

जाता है। इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। ये पोयगै आळ्वार के समकालीन माने जाते हैं। सामान्यतः इनको चौथी या पाँचवीं शती में जीवित मान सकते हैं। श्री राघव अय्यंगार ने इनका जीवन-काल पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध में माना है।[1]

कहा जाता है कि ये बाल्यावस्था से ही सन्त, पवित्र, निष्कलंक ज्ञान के अपूर्व भण्डार और श्रेष्ठ भगवद् अनुरागी थे। इनकी रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इन्होंने वेद उपनिषदों को अवश्य पढ़ा था। ये भी पोयगै आळ्वार की तरह घूम-घूमकर भगवद् भक्ति का प्रचार करते थे और लोगों को उपदेश देते थे। एक स्थान पर स्थायी रूप से न रहे। कहा जाता है कि ये सिद्ध-महात्मा थे। इनका जीवन अत्यन्त सादा था और इन्होंने अपना सारा जीवन भगवद् भजन में बिताया। नम्माळ्वार ने इनकी बड़ी स्तुति की है। भूतत्ताळ्वार ने अपने एक पद में तमिळ भाषा के प्रति अपने अपार प्रेम का परिचय दिया है। 'भूत' का अर्थ पंचभूत संचालित जीवन है और भूतत्ताळ्वार का विश्वास था कि अपना भौतिक अस्तित्व भगवान् पर ही पूर्णतया आधारित है।

रचनाएँ

भूतत्ताळ्वार के सौ पद 'तिरुवंतादि' छन्द में रचित मिलते हैं और 'इरंडाम तिरुवंतादि' के नाम से 'प्रबन्धम्' के 'इयर्पा' विभाग में संगृहीत हैं। ये स्फुट पद हैं। इनमें किसी कथा का निर्वाह नहीं है। कवि के समाधिमय क्षणों में मानस से निकले हुए अनुभूतिपूर्ण उद्गार भावमयी भाषा में अभिव्यक्त हुए हैं। भगवद् गुण भक्ति की महिमा, शरणागति आदि वर्ण्य-विषय हैं। कवि ने विष्णु के अनेक अवतारों का स्मरण किया है। कृष्ण की बाल-लीलाओं की ओर भी संकेत है। अनेक वैष्णव मन्दिरों की स्तुति की गई है। पर्वतीय-क्षेत्रों का वर्णन करते समय प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है।

रहस्यवाद की सुन्दर झलक कहीं-कहीं दीख पड़ती है। इनकी रचना का प्रथम पद बहुत प्रसिद्ध है—'प्रेम के दिये में अभिलाषा का घी डाल, स्निग्ध हृदय की बाती लगाकर, स्नेह द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान का दीप जलाया।'[2]

पेयाळ्वार (महायोगी या भ्रान्त योगी)

कहा जाता है कि पेयाळ्वार वर्तमान मद्रास नगर के अन्तर्गत 'मैलापुर' नामक स्थान में किसी कुएँ के पास कमल पुष्प से प्रगट हुए। चूँकि इन आळ्वारों के जन्म

---

१ आळ्वारगळ कालनिलै—प्रो० एम० राघव अय्यंगार, पृ० ९९।

२ इरंडाम तिरुवंतादि, पद १।

परिवार इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं इसलिए इनकी दैवी उत्पत्ति की कल्पना जन-मानस ने की होगी। मद्रास में पेयाळ्वार के नाम से एक मन्दिर भी है। श्री सम्प्रदाय वाले इन्हें विष्णु के खड्ग का अवतार मानते हैं। कहते हैं कि भगवद् भक्ति के परमावेश में प्रविष्ट होकर ये रोते, हँसते, गाते नाचते और चिल्लाते थे। अतः लोगों ने इन्हें पागल समझकर इनका नाम 'पेयाळ्वार' रख दिया था।

इनका जीवन-काल भी विवाद का विषय रहा है। साधारणतया इनको पोयगै आळ्वार और भूतत्ताळ्वार का समकालीन माना जाता है। ये परम वैष्णव-भक्त थे और जीवन भर वैष्णव भक्ति का प्रचार करते रहे। ये एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहते थे और सदा भ्रमण कर लोगों को उपदेश देकर उनके अज्ञान-अन्धकार को दूर करते थे। इनका जीवन अत्यन्त सादा था और धन कीर्ति आदि का मोह किंचित् भी नहीं था।

पोयगै आळ्वार भूतत्ताळ्वार और पेयाळ्वार—इन तीनों को 'मुदिलवर' भी कहते हैं। साम्प्रदायिक मतानुसार ये तीनों अयोनिज थे और भगवान् द्वारा भक्ति-प्रचार के लिए भेजे गये थे और इनका जन्म एक ही महीने में हुआ था। इस प्रकार इन्हें समकालीन ठहराने का प्रयत्न किया गया है। ये तीनों आळ्वार पूर्वपरिचित नहीं थे। इनके एक-दूसरे से परिचित होने के सम्बन्ध में एक घटना बहुत ही प्रसिद्ध है। एक दिन पोयगै आळ्वार भक्ति-प्रचार करते हुए 'तिरुक्कोवलूर' नामक स्थान में आ पहुँचे। शाम हो गयी थी। भारी वर्षा होने लगी और अन्धेरा भी छा गया था। भीगते भीगते पोयगै आळ्वार आये और वर्षा से अपने को बचाने के लिए और रात गुजारने के लिए स्थान ढूँढने लगे। आखिर उन्हें एक छोटी सी कुटिया के बरामदे में सोने के लिए जगह मिल गयी और वे विश्राम करने लगे। थोड़ी देर के बाद एक दूसरा व्यक्ति वहाँ आ पहुँचा और उसने पोयगै आळ्वार से अपने लिए जगह माँगी। यह व्यक्ति भूतत्ताळ्वार थे। पोयगै आळ्वार ने यह कहकर कि यहाँ एक आदमी लेट सकता है, दो बैठ सकते हैं भूतत्ताळ्वार को भी बैठने की जगह दी और दोनों आध्यात्मिक चर्चा करते रहे। इतने में वहाँ एक तीसरे आदमी का भी आना हुआ जिसने भी वर्षा से अपने को बचाने के लिए उन दोनों से थोड़ी जगह माँगी। ये पेयाळ्वार थे जो कहीं से वहाँ आ पहुँचे। पोयगै और भूतत्ताळ्वार ने यह कहकर कि यहाँ एक आदमी लेट सकता है दो बैठ सकते हैं तीन खड़े हो सकते हैं, पेयाळ्वार को भी जगह दी। अब तीनों खड़े होकर भगवद् गुणगान करने लगे कि अचानक उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों उनके बीच में कोई अन्य व्यक्ति भी उपस्थित हुआ है। वे तीनों भक्त अपने मध्य साक्षात् भगवान् को पाकर प्रसन्न हुए। भगवान् ने उनसे कोई वर माँगने को कहा। बस अन्धे को आँख के अलावा और क्या चाहिए? तीनों भक्तों ने भगवान् से यही प्रार्थना की कि हम सर्वदा आपका ही गुणगान करते रहें और आप ही का स्मरण हमें सर्वदा रहे, आप यही वरदान दे दें। कहते हैं कि उस समय दिव्यालोक सा वहाँ छा गया। उस समय तीनों आळ्वार आनन्दावेश में थे और उनके मुँह से कविता

फूट निकली। तीनों ने सौ-सौ पद गाये। इस घटना की पुष्टि पोयगै आळ्वार के एक पद[1] से होती है। इस घटना में आळ्वारों के सिद्धान्तों का मूल है। इससे इनकी विशाल-हृदयता का परिचय मिलता है।

कहा जाता है, पेयाळ्वार ने ही तिरुमळिसै आळ्वार को जो पहले कट्टर शैव भक्त थे, शास्त्रीय वाद-विवाद में परास्त किया और उनको परम वैष्णव भक्त बना दिया। इस सम्बन्ध में एक कथा भी प्रसिद्ध है। इससे ज्ञात होता है कि पेयाळ्वार बड़े ज्ञानी थे।

रचनाएँ

पेयाळ्वार के सौ पद 'मूण्ड्राम तिरुवन्तादि' के नाम से 'प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं। ये 'तिरुवन्तादि' छन्द-विशेष में रचित स्फुट पद हैं। किसी कथा का आधार नहीं लिया गया है। इनमें भक्त-हृदय के वे उद्गार अभिव्यक्त हुए हैं जो कठोर से कठोर हृदय को भी द्रवित करने वाले हैं। भगवद् गुण, भक्ति की महिमा, शरणागति आदि के विषय वर्णित हैं। इनसे कवि के वेद, उपनिषद्, गीता आदि के ज्ञान का परिचय मिलता है। एक पद में कवि ने कहा है— 'वह ईश्वर है पृथ्वी, आकाश, आठों दिशाओं तक वैसा सर्वत्र अन्तर्निहित है। पर आश्चर्य यह है कि उसका निवास है मेरे हृदय में।'[1] इन्होंने भक्ति को सबसे सरल मार्ग बताया है। विष्णु के विभिन्न अवतारों का भी उल्लेख है। कृष्ण की बाल-लीलाओं की ओर संकेत है। कहीं-कहीं प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है।

तिरुमळिसै आळ्वार (भक्तिसार)

तिरुमळिसै आळ्वार का जन्म काँचीपुरम के पास स्थित 'तिरुमळिसै' (महीसपुर) नामक ग्राम में हुआ था। सम्प्रदाय में इनको विष्णु के चक्र का अवतार माना जाता है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है, जिसके अनुसार ये भार्गव मुनि तथा कनकांगी नामक अप्सरा के संयोग से उत्पन्न हुए थे और माता के परित्याग कर देने पर 'तिरुवाळन' नाम के एक व्याध ने उस नवजात शिशु का पालन-पोषण किया था। इनके समय का निर्णय करना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि ये पल्लव-राजाओं के शासन-काल में ही जीवित थे। श्री राघव अय्यंगार इनका जीवन-काल छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में मानते हैं। तिरुमळिसै के कुछ पदों में स्वचरित सम्बन्धी कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं। एक जगह इन्होंने अपने को निम्न-जाति का बताया है।

कहा जाता है कि बाल्यावस्था में ये कभी किसी स्त्री का स्तन-पान नहीं करते थे। अतः एक वृद्ध पुरुष यह समझकर कि यह कोई असाधारण बालक है इन्हें गाय का दूध पिलाने लगा और आळ्वार के दुग्ध-पान करने के पश्चात् पात्र में शेष बचने

---

१ मुदल तिरुवन्तादि, पद ८६।

वाले दूध को यह वृद्ध पीता था और अपनी पत्नी को भी पिलाता था। कुछ दिनों के पश्चात् इस वृद्ध पुरुष को एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'कणिकण्णन' रखा गया। आगे चलकर कणिकण्णन' तिरुमळिसई का प्रधान शिष्य बन गया।

यह प्रसिद्ध है कि तिरुमळिसई प्रारम्भ में कट्टर शैव थे और इनका नाम शिववाक्य'[1] था। इन्होंने शैव धर्म पर कुछ ग्रन्थ भी रचे थे और शैव-धर्म का प्रचार किया था।[2] पेयाळ्वार और इनमें शास्त्रीय वाद-विवाद हुआ था और अन्त में शिव वाक्य पराजित होकर पेयाळ्वार के शिष्य बन गये और अपना नाम तिरुमळिसई' रखा था। तत्पश्चात् ये शैव जैन और बौद्ध धर्मों के कट्टर विरोधी बन गये और वैष्णव धर्म के पक्के समर्थक हो गये। इनकी रचनाओं में अन्य धर्मों का खण्डन मिलता है। एक स्थान पर इन्होंने लिखा है— 'श्रमण या जैन मूर्ख हैं, बौद्ध भ्रम-जाल में पड़े हैं, शैव निर्दोष अज्ञानी हैं। विष्णु की पूजा नहीं करने वाले निम्न श्रेणी के हैं।[3]" इससे इनके कट्टर वैष्णव-भक्त होने का पता चलता है।

तिरुमळिसई के पदों को देखने से विदित होता है कि इन्होंने महाभारत रामायण, विष्णु पुराण आदि ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया था। ये संस्कृत और तमिळ के बड़े विद्वान् थे। अनुमान किया जा सकता है कि पेयाळ्वार के सम्पर्क में आने के पहले तिरुमळिसई ने जैन बौद्ध आचार्यों के यहाँ रहकर विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया होगा। तभी इन्होंने स्वयं अपने को इन शास्त्रों में विद्वान् कहा है। इनको सांख्य न्याय वैशेषिक पतंजलि के योग-दर्शन का भी ज्ञान था। इनकी रचनाओं में भी वैष्णव संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल स्रोत देखने को मिलता है। इनकी रचना में ही प्रथम बार आळ्वार-साहित्य में पाँचरात्र धर्म के व्यूहवाद का वर्णन मिलता है।[4]

तिरुमळिसई सिद्ध-योगी थे। इनकी योग-शक्ति के सम्बन्ध में कई किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि चूँकि तिरुमळिसई शैव-धर्म को छोड़कर वैष्णव बन गये थे, इसलिए शिवजी ने विष्णु की उपासना में लीन आळ्वार की परीक्षा लेनी चाही। शिव जी ने स्वयं प्रकट होकर तिरुमळिसई से वर माँगने को कहा। तिरुमळिसई ने यद्यपि कुछ माँगना नहीं चाहा तो भी शिवजी के बार-बार आग्रह करने पर उनसे पूछा कि आप मुझे मोक्ष दिला सकते हैं और मेरी आयु को बढ़ा सकते हैं? शिवजी ने इन दोनों कार्यों में अपने को असमर्थ बताकर और कुछ माँगने को कहा। इस पर

---

१ आळ्वारकळ कालनिलै—श्री एम० राघव अय्यंगार, पृ १६।

2. "Bhaktisara" Sri Salla—"*Vedant Kesari*" Vol 31 p. 189

३ नानमुखन तिरुवन्तादि, पद ६।

4 *Journal of Indian History* Madras, Vol., 21 (1942) p. 83
—Dr K. C. Varadachari.

रुमळिसई हँस पड़े। शिवजी इसको अपनी अवहेलना समझकर क्रुद्ध हुए और उन्होंने रुमळिसई को भस्म कर देना चाहा। परन्तु तिरुमळिसई की दृढ़ भक्ति-भावना और ोग-शक्ति को देखकर उनकी प्रशंसा की और 'भक्ति-सार' नाम उनको दिया। कहा ाता है कि तिरुमळिसई आळ्वार ने अपनी योग-शक्ति से 'भूक्तिसार' नामक प्रसिद्ध द्ध-योगी तथा अन्य अनेकों मतवादियों को पराजित किया।

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार तिरुमळिसई ने एक बूढ़ी स्त्री को जो उनकी वा करती थी युवती बना दिया और उस स्त्री के सौन्दर्य पर मोहित तत्कालीन ल्लव राजा ने उससे विवाह कर लिया। कुछ समय के पश्चात् राजा ने उस स्त्री के सौन्दर्य को और भी बढ़ता देखकर उसका रहस्य पूछा। राजा ने पुनः यौवन को प्राप्त करने की इच्छा से 'कणिकण्णन' से जो तिरुमळिसई आळ्वार का शिष्य था और जो राजा के यहाँ भिक्षा माँगने जाता था, अपनी इच्छा प्रकट की और तिरुमळिसई को बुला लाने को कहा। 'कणिकण्णन' के यह कहने पर कि तिरुमळिसई राजा के प्रलोभनों में नहीं आयेंगे, राजा क्रुद्ध हुआ और 'कणिकण्णन' को देश-निकाले का दण्ड दिया। कणिकण्णन ने तिरुमळिसई के पास जाकर सारा वृत्तान्त सुनाया तो तिरुमळिसई भी उसके साथ निकलने को तैयार हो गये। फिर इन्होंने मन्दिर के अन्दर जाकर प्रार्थना की—'हे वात्सल्यमय भगवान्! कणिकण्णन इस नगरी को छोड़कर जा रहा है और उसके साथ मुझे भी जाना होगा। इसलिए आप भी आदि शेष रूपी शैया को समेटकर मेरे साथ चलने की कृपा करें।' कणिकण्णन सहित तिरुमळिसई आळ्वार के नगर के बाहर जाने पर नगर में अन्धकार छा गया। इस दुर्दशा को देखकर राजा तिरुमळिसई और कणिकण्णन के पास आया और क्षमा माँगने लगा। तिरुमळिसई ने तब राजा पर दया कर, भगवान् से अपने लौटने की प्रार्थना की और भगवान् ने भी ऐसा ही किया। पुनः वे अपने निवास-स्थान को आ पहुँचे। उस स्थान पर स्थित मन्दिर आज भी 'यथोक्तकारी' के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

कहते हैं कि एक बार तिरुमळिसई कुम्भकोणम नामक नगर में स्थित विष्णु मन्दिर के दर्शनार्थ गये थे। वहाँ कुछ ब्राह्मण वेद-पाठ कर रहे थे। तिरुमळिसई को देखकर उन्हें नीच जाति वाला तथा वेद-वाक्य के श्रवण का अनधिकारी समझकर ब्राह्मणों ने वेद-पाठ बन्द कर दिया। तिरुमळिसई उनके अभिप्राय को समझकर वहाँ से उठकर अन्यत्र चले गये। जब ब्राह्मणों ने पुनः वेद-पाठ शुरू करना चाहा तब किसी को भी याद नहीं आया कि उन्होंने कहाँ वेद-पाठ बन्द किया था। उसे तिरुमळिसई का अपमान करने का फल समझकर, वे तिरुमळिसई के पास जाकर क्षमा माँगने लगे। तिरुमळिसई ने उन्हें वेद का वह वाक्य बताया जहाँ से उन्हें प्रारम्भ करना था। यह भी कहते हैं कि श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों में तिलक लगाने

---

१ तोंडकुलमे तोसुकुलम—श्री बी० बी० आचार्य पृ० ५४ ५५।

के लिए भी चूर्ण का प्रयोग इन्होंने ही पहले-पहल किया था।[1] गुरु-परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार ये सैकड़ों वर्ष जीवित रहे।

रचनाएँ

तिरुमळिसई आळ्वार की दो रचनाएँ 'प्रबन्धम्' में संगृहीत मिलती हैं—"नानमुखन तिरुवन्तादि" तथा 'तिरुच्चन्दविरुत्तम'। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने कई रचनाएँ की थीं और उनसे संतुष्ट न होकर उन्हें कावेरी नदी में डाल दिया और कई रचनाएँ सरिता के प्रवाह में बह गयीं और केवल "नानमुखन तिरुवन्तादि" तथा "तिरुच्चन्दविरुत्तम" प्रवाह के साथ न बहकर अपने आप किनारे की ओर लौट आयीं।

"नानमुखन तिरुवन्तादि" आळ्वार की रचनाओं में सबसे पहले रचित मालूम पड़ती है। इसमें 'अन्तादि' छन्द में रचित १०० पद एकत्रित हैं। इसमें विष्णु को परमात्मा मानकर शिव और ब्रह्मा को उनकी कृति बताया गया है। भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता भगवान् के वात्सल्य प्रेम आदि विशिष्ट गुणों का वर्णन है। सभी पद भक्ति तथा उपदेशपरक हैं। विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख है। पर कृष्णावतार में कवि की आस्था है। संसार की सारहीनता भगवद्-ध्यान करने से आनन्द, शरणागति आदि विषय भी वर्णित हैं। कहीं-कहीं प्रकृति-वर्णन की सुन्दर छटा है।

'तिरुच्चन्दविरुत्तम' में १२० पद हैं। पद विविध रागों में हैं। इसका पूर्वार्द्ध वैष्णव-धर्म के उपदेशों से सम्बन्धित है। वेद उपनिषदों का सार दिया मिलता है। 'नानमुखन तिरुवन्तादि' की अपेक्षा इसमें दर्शन के गूढ़ तत्त्वों का विवेचन है। उत्तरार्द्ध के कुछ पदों में एक विरहिणी नायिका के रूप में भगवान् से मिलने के लिए आतुरता प्रकट की गई है। आळ्वार-साहित्य में प्रथम बार नायक-नायिका के बीच विरह-मिलन के रूप में भगवान् और भक्त के बीच मिलन-आतुरता तिरुमळिसई की रचना में ही वर्णित हुई है।

नम्माळ्वार (शठकोप)

आळ्वार-पीढ़ी में नम्माळ्वार का स्थान सर्वोपरि है।[1] दक्षिण के समस्त वैष्णव भक्ति-साहित्य के इतिहास में नम्माळ्वार को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।[2] नम्माळ्वार शठकोप परांकुश वकुलाभरण मारन आदि नाम से भी प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि शैशवावस्था में 'शठ' नामक वायु पर जो मनुष्यों को पीड़ित करता है, अपना कोप प्रदर्शित कर इन्होंने भगाया था। अतः इनका नाम 'शठकोप' पड़ा।

1 *History of Tamil Language and Literature*—Prof S. Vaiyapuri Pillai, p 120
2. *The Holy Lives of Azhvars or Dravida Saints*—A. Govindacharya p 191
3. *Studies in Tamil Literature and History*—V R. R Dikshitar p. 105

'वकुल' नामक पुष्प को धारण करने से 'वकुलाभरण' तथा अन्य मतावलंबियों को अपने तर्क रूपी अंकुश से परास्त करने से 'परांकुश' नाम इनको मिले।[1]

नम्माळ्वार का जन्म पाण्ड्य देश में तिरुनेलवेली जिले में ताम्रपर्णी नदी के किनारे पर स्थित तिरुकुरुकूर (वर्तमान आळ्वार तिरुनगरी) में हुआ था। जिस तरह अन्य आळ्वारों को विष्णु के आयुध-विशेष या आभूषण-विशेष का अवतार माना जाता है, उसी प्रकार नम्माळ्वार को विष्वक्सेन का अवतार माना जाता है। इनको 'अवयवी' तथा शेष आळ्वारों को 'अवयव' भी कहते हैं। इनका जीवन-काल बहुत से विवाद का विषय रहा है। यह पाँचवीं सदी से नवीं सदी तक दोलायमान है। गुरुपरम्परा-ग्रन्थों के अनुसार इनका जन्म कलियुग-प्रारम्भ के ४३वें वर्ष में अर्थात् आज से ५००० वर्ष पूर्व हुआ था। यह मत विश्वसनीय नहीं हो सकता। आधुनिक विद्वानों में डा० कृष्ण स्वामी आय्यंगार इनका जीवन-काल छठी शताब्दी में मानते हैं।[2] श्री टी० ए० गोपीनाथ राव ने अनामलाई के शिलालेख के आधार पर, इनका काल नवीं शताब्दी बताया है।[3] श्री वी० आर० आर० दीक्षितर ने वेलवीकुडी ताम्र-पत्र के आधार पर इनका समय सातवीं शताब्दी माना है।[4] यही मत अधिक समीचीन मालूम पड़ता है।

नम्माळ्वार के पिता का नाम कारिमारन तथा माता का नाम उदयनंगै था। इनके पिता पाण्ड्य राजा के यहाँ एक उच्च पदाधिकारी थे और आगे चलकर वलुदिवळ नाडु नामक एक छोटे राज्य के अधीश हो गये। बहुत समय तक कोई सन्तान न होने पर कारिमारन ने पत्नी सहित तीर्थाटन कर श्री विष्णु भगवान् से पुत्र-सौभाग्य प्रदान करने की प्रार्थना की। कहा जाता है कि उस पर विष्णु भगवान् ने स्वयं उनके पुत्र रूप से अवतार लेने का वादा किया था। जनश्रुति के अनुसार बालक नम्माळ्वार ने जन्म लेने के उपरान्त १० दिनों तक न तो अपनी आँखें खोलीं और न अपनी माता का दूध पिया और न रोया भी था। अतएव इनके माता-पिता बारहवें दिन इन्हें स्थानीय विष्णु-मन्दिर में किसी इमली के वृक्ष के कोटर में छोड़ आये। वहीं पर नम्माळ्वार १६ वर्ष तक योग-मुद्रा-धारण किये पड़े रहे और कहते हैं कि विष्णु भगवान् ने इनका पालन-पोषण किया था।

योग-मुद्रा से इनके जागने के सम्बन्ध में एक विचित्र घटना बतायी जाती है। कहा जाता है कि मधुरकवि नामक एक विद्वान् ब्राह्मण उत्तर भारत के विभिन्न तीर्थों में घूमते हुए जब अयोध्या पहुँचे तब उन्होंने दक्षिण दिशा में एक विचित्र ज्योति स्तम्भ देखा। उन्हें ऐसा लगा कि वह ज्योति-स्तम्भ उनका आमन्त्रण कर रहा है।

---

१ श्री भागवत् विषयम्—ए० रंगनाथ मुदालियर, पृ० १८ १९।
2. *Early History of Vaishnavism in South India.*
3 *History of Sri Vaishnavas*, pp 18-21
4. *Studies in Tamil Literature and History* pp 104-105

इस सार्थक निमन्त्रण से आकर्षित होकर मधुर कवि हजारों मील दक्षिण की ओर, उस ज्योति की दिशा में चले। कई पुण्य-क्षेत्रों को पार करते हुए, अन्त में ताम्रपर्णी नदी के किनारे पर स्थित मन्दिर के इमली वृक्ष के पास आ पहुँचे। अब उन्हें स्पष्ट हो गया कि वह ज्योति योग-निष्ठावस्था में विराजमान नम्माळ्वार के शरीर से ही स्फुरित हो रही है। इन्होंने कौतूहलवश एक पत्थर उठाकर नम्माळ्वार के सामने पटक दिया। उसकी आवाज सुनते ही 'नम्माळ्वार' की आँखें खुल गयीं और दोनों के बीच आध्यात्मिक चर्चा होने लगी। युवक नम्माळ्वार की ज्ञान-राशि से वृद्ध ब्राह्मण विद्वान् मधुरकवि इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने नम्माळ्वार को निज गुरु के रूप में अपनाया। तत्पश्चात् मधुरकवि ने अपने आचार्य के मुख से निकलते जाने वाले पदों को यथाक्रम लिपिबद्ध किया। ये ही अब नम्माळ्वार की रचनाओं के नाम से संगृहीत हुए हैं।[1]

यद्यपि सभी गुरुपरम्परा-ग्रन्थ एक ही स्वर से घोषित करते हैं कि नम्माळ्वार ने इमली के पेड़ के कोटर में रहते हुए आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया था और दुनिया से उनका कोई सम्बन्ध न था तथापि नम्माळ्वार की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि ये समाज में अवश्य रहे थे और मनुष्य जीवन की समस्याओं का सामना इन्हें भी करना पड़ा था। अतः इनकी रचनाओं में तत्कालीन समाज का चित्रण मिलता है। कुछ पदों में तमिळ-प्रदेश के अनेक स्थलों का ऐसा वर्णन है जो उन स्थलों को बिना देखे सम्भव ही न था। इनकी रचनाओं में इनके पूर्व के तमिळ-साहित्य में प्राप्त होने वाली सभी साहित्यिक परम्पराओं का निर्वाह हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि इन्होंने तमिळ-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। ये संस्कृत के भी बड़े विद्वान् थे। क्योंकि इनकी रचनाओं में वेद उपनिषद् तथा गीता के सार का समावेश हुआ है।

नम्माळ्वार की अन्य जीवन-घटनाओं का पता नहीं चलता। ये अविवाहित ही ही रहे और सांसारिक वस्तुओं में इनका मोह न था। कहा जाता है कि ये केवल ३५ वर्ष तक ही जीवित रहे।

रचनाएँ

नम्माळ्वार के निम्नलिखित चार ग्रन्थ 'दिव्य-प्रबन्धम्' में समाविष्ट हैं —

१—तिरुविरुत्तम
२—तिरुवाशिरियम
३—पेरिय तिरुवन्तादि और
४—तिरुवायमोळी।

'तिरुवायमोळी' नम्माळ्वार का सबसे बड़ा ग्रन्थ है और यह 'दिव्य-प्रबन्धम्' का पूरा चौथा भाग बन गया है।

---

1 *Nammalvar*—G A Natesan, Madras, pp 22-23

'तिरुविरुत्तम' को ऋग्वेद का सार कहा जाता है। इसमें १०० पद हैं। इसमें भगवान् के प्रति प्रेम और तन्मय भाव के सम्बन्ध में विस्तार से कहा गया है। कवि ने स्वयं को विरहिणी नायिका के रूप में और भगवान् को प्रियतम-नायक के रूप में मानकर माधुर्य भाव से भक्ति-भावना प्रकट की है। नायिका का प्रियतम से मिलने के लिए आतुर होना समस्त प्रकृति को अपने प्रतिकूल पाना, विह्वल होना नायक की प्रतीक्षा करते-करते क्षीण होना, मेघ, पक्षी द्वारा सन्देश भेजना, अन्त में मरने तक को तयार हो जाना आदि बातों का विशद वर्णन है। कथा में प्रबन्धात्मकता की छटा है। ऊपर से देखने पर यह एक लौकिक प्रेम-काव्य मालूम पड़ेगा। परन्तु इसमें कवि ने विरहिणी नायिका के रूप में भगवान् के प्रति अपनी स्थिति का ही वर्णन किया है। यह मधुर भक्ति का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह रहस्यानुभूतियों का भण्डार है। कवि ने तमिल के 'संघकाल' के काव्यों में प्राप्त होने वाली लौकिक प्रेम सम्बन्धी सभी साहित्यिक परम्पराओं को लेकर उनका उपयोग इस प्रकार कर दिया है।

'तिरुवाचिरियम' में ७ पद हैं तथा 'पेरिय तिरुवन्तादि' में ८७ पद हैं। इनको क्रमश: यजु' और अथर्व वेदों का सार कहा जाता है। इनमें कोई कथा वर्णित नहीं है। सभी पद भक्ति तथा उपदेशपरक हैं। इनमें भगवद् स्वरूप, गुण विभूति भक्ति-तत्व, शरणागति तत्व आदि की चर्चा है।

'तिरुवायमोळी' नम्माळ्वार के ग्रन्थों में ही नहीं बल्कि समस्त आळ्वार साहित्य में सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। तिरुवायमोळी' का अर्थ है — संत महात्मा के मुख से निकली हुई दिव्य वाणी'। 'वायमोळी शब्द प्राचीन तमिळ-साहित्य में 'वेद' के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] इसमें १,१०२ पद हैं जो विभिन्न राग रागिनियों में गाने योग्य हैं। 'तिरुवायमोळी' को सामवेद का सार कहा जाता है। इसके स्फुट पद दशकों में बटे हैं और प्रत्येक ग्यारहवें पद में फल-श्रुति है। इसमें भक्ति उपदेश शरणागति गुरु-महिमा आदि विषय वर्णित हैं। उच्चकोटि के दार्शनिक विचार भी अभिव्यक्ति हुए हैं। माधुर्य और सख्य भाव से भक्ति का विवेचन हुआ है। इसमें भी अनेक दशकों में नायक-नायिका के माध्यम से जीवात्मा-परमात्मा सम्बन्ध की रोचक व्याख्या हुई है।

प्रसिद्धि

तमिळ के भक्ति-साहित्य में नम्माळ्वार को जो स्थान प्राप्त हुआ है, वह शायद ही अन्य किसी कवि को मिला हो। इन्हें दिव्य कवि भी कहते हैं[2]। इनके पदों में व्याप्त उच्चकोटि के दार्शनिक विचार ही श्री वैष्णव मत के मूल स्रोत हैं। इस

---

१ ज्ञान चित्तरम्—पी० श्री० आचार्य पृ० ९९।

२. "शठरिपुरेक एव कमलापति दिव्य कवि"—दिव्यसूरि कथामृतम् श्री पी० बी० अण्णंगराचार्य, पृ० १२।

कारण इन्हें 'श्री वैष्णव-कुल-पति' भी कहा जाता है।[1] तमिळ-प्रदेश के अनेक वैष्णव-मन्दिरों में श्री विष्णु की 'दिव्य पादुका' श्री शठकोप के नाम से प्रसिद्ध है, जिसे भक्त लोग अपने सिर पर धारण करते हैं। इनके नाम पर अनेक प्रशस्ति-ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें मधुरकवि कृत कण्णिणुण् शिरुत्ताम्बु' 'आचार्य हृदय' 'पादुका सहस्रम्' 'द्राविड़ उपदेश-रत्नावली' शठकोपरन्दादि आळ्वार अनुभूति' 'दिव्यसूरि चरितम्' मुख्य हैं। इनमें नम्माळ्वार की बड़ी स्तुति की गई है।

कहते हैं कि तमिळ के कवि चक्रवर्ती के नाम से विख्यात कम्बर द्वारा रचित 'रामायणम्' को भगवान् श्री रंगनाथ ने तभी स्वीकार किया जब उन्होंने नम्माळ्वार की प्रशंसा में 'शठकोपरन्दादि' की रचना की। कवि कंबर का कहना है— 'क्या विश्व के समस्त काव्य-संग्रह नम्माळ्वार के एक शब्द की बराबरी कर सकते हैं ? क्या खद्योत अंशुमाली के सामने चमक सकते हैं ?"—इत्यादि। प्रसिद्धि है कि जब कंबर ने भगवान् श्री रंगनाथ के सामने 'शठकोपरन्दादि' के पदों को गाकर सुनाया तो भगवद्विग्रह में से आवाज निकली—"ये ही हमारे आळ्वार (नम्माळ्वार) हैं।" तभी से इनका नाम 'नम्माळ्वार' हो गया।

इन्हें दक्षिण का समस्त वैष्णव-जगत् 'वकुल-भूषण-भास्कर' कहकर पुकारता है। ब्रह्माण्ड पुराण, भविष्यत् पुराण मार्कण्डेय पुराण आदि में नम्माळ्वार (शठकोपाचार्य) सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। वे तमिळ-वेद-प्रणेता अथवा तमिल वेद व्यास' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।[2] जिस इमली-वृक्ष के कोटर में रहकर नम्माळ्वार ने ज्ञानोदय प्राप्त किया था वह आज भी आळ्वार तिरुनगरी में विद्यमान है और भक्त उसके दर्शन कर आते हैं।[3]

नम्माळ्वार की रचनाएँ 'द्राविड़ वेद सागर' के नाम से प्रसिद्ध है।[4] कहा जाता है कि रामानुजाचार्य ने ब्रह्म-सूत्रों पर भाष्य लिखते समय अपने सन्देहों का समाधान नम्माळ्वार की रचनाओं को देखकर ही किया था।[5] वेदान्तदेशिकाचार्य ने भी वेद-रहस्यों को नम्माळ्वार की रचनाओं को पढ़कर ही समझा था।

नम्माळ्वार की 'तिरुवायमोळी' पर अनेक भाष्य अथवा टीका-ग्रन्थ लिखे गये हैं। तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। संस्कृत में 'सहस्र गीति'

१ 'शठरिपुरेक एव कमलापति दिव्य कवि:' —दिव्यसूरि कथामृतम् : श्री पी॰बी अण्णंगराचार्य पृ॰ १२।

२ ज्ञान शिखरम्—श्री पी॰ बी आचार्य पृ॰ ६६।

३ वही, पृ ६४। ४ वही पृ॰ १००।

5. "It is 'Tiruvoymoli' that has shaped the furniture of Sri Ramanuja's capacious mind and heart."—R. S. Desikan, "*Vedanta Kesari*", May, 1961 p. 47

के नाम से यह श्लोकों में अनूदित है। जहाँ तक 'तिरुवायमोळी' के साहित्यिक महत्व का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि इसने परवर्ती भक्ति-साहित्य को बहुत प्रभावित किया। इसके उच्च आदर्श को परवर्ती कवियों ने अपने सामने रखा है। अनेक वैयाकरणों ने नम्माळ्वार के पदों को ही श्रेष्ठ उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया है।

मधुरकवि आळवार (मधुरकवि)

मधुर कवि तथा नम्माळ्वार—दोनों की जीवनियाँ एक-दूसरी से अभिन्न सम्बन्ध रखती हैं। मधुरकवि आळ्वार का जन्म तिरुकुरुकूर के समीपवर्ती ग्राम तिरुकोळूर में एक ब्राह्मण शिखी ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। श्री वैष्णव सम्प्रदाय में इन्हें विष्णु के वाहन 'गरुड़' का अवतार माना जाता है। गुरुपरम्परा-ग्रन्थों से भी इनके जीवन-वृत्त पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। मधुरकवि ने बचपन में वेद तथा अन्य शास्त्रों का नियमवत अध्ययन किया था। संस्कृत तथा तमिळ—दोनों भाषाओं में पाण्डित्य प्राप्त किया था। बचपन से गीत-रचना करते थे और सुमधुर कंठ से गाते थे। कदाचित् इनकी मधुर-ध्वनि से प्रभावित होकर लोगों ने इन्हें 'मधुरकवि' के नाम से पुकारा होगा। इनके असली नाम का पता नहीं चलता।

कहते हैं मधुरकवि श्रेष्ठ भक्त थे। इन्होंने विद्या के साथ प्रेम और भक्ति को भी महत्व दिया था और ये साधु-सन्तों की संगति किया करते थे। परन्तु किसी में भी अपने गुरु होने की योग्यता न देखकर, अन्त में ये सद्गुरु की खोज में अकेले ही निकल पड़े। इन्होंने दक्षिण और उत्तर के विभिन्न तीर्थ-स्थानों के दर्शन किये, पर कहीं भी सद्गुरु प्राप्त नहीं हुआ। कहा जाता है कि जब ये अनेक तीर्थों में घूमते हुए आखिर अयोध्या पहुँचे तब इन्होंने दक्षिण-दिशा में आकाश में एक ज्योति-पुञ्ज को देखा। उस तेज-पुञ्ज का पता लगाने की तीव्र इच्छा से उसे लक्ष्यकर दक्षिण दिशा में लम्बे मार्ग को पारकर अन्त में तिरुकुरुकूर आ पहुँचे, जहाँ नम्माळ्वार इमली-वृक्ष के कोटर में समाधिस्थ थे। समाधिअवस्था से जगाने के उद्देश्य से मधुरकवि ने नम्माळ्वार से यह प्रश्न किया कि यदि सत् पदार्थ (सूक्ष्म चेतना शक्ति) असत् (जड़ प्रकृति) के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है तो वह क्या पायेगा और कहाँ विश्राम करेगा? नम्माळ्वार ने तब आँखें खोलीं और उत्तर दिया कि वह उसी का आहार करेगा तथा वहीं पर विश्राम भी करेगा। इस सूक्ष्म उत्तर का आशय समझकर मधुरकवि इतने प्रभावित हुए कि नम्माळ्वार का शिष्यत्व ग्रहण किया।[1] जिस सद्गुरु की खोज में ये निकले थे उन्हें नम्माळ्वार के रूप में पाकर इन्होंने अपने जीवन को धन्य समझा और गुरु की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। उस जमाने में एक वयोवृद्ध ब्राह्मण का निम्न जाति के एक युवक को गुरु मानना क्रान्तिकारी घटना थी। नम्माळ्वार इनके लिए गुरु ही नहीं माता पिता तथा ईश्वर तक थे। प्रसिद्ध है

१ द्राविड़ मुनिवरचरित—श्री राजगोपाल पिल्ले, पृ० ६६।

कि मधुरकवि ने शेष जीवन गुरु-सेवा में ही अर्पित किया था। कहा जाता है कि १६ वर्ष ये गुरु की सेवा में रत रहे और उनके मुख से निसृत पदों को लिपिबद्ध करते रहे। जब नम्माळ्वार ने अपने ३५ वें वर्ष में इहलोक-लीला समाप्त की, तब इन्हें गुरु के वियोग में अत्यधिक दुःख हुआ। गुरु के पदों को साधारण जनता में प्रचार करना ही अपने जीवन का एक मात्र ध्येय समझा। गुरु के स्मरणार्थ इन्होंने उनके जन्म-स्थान तिरुकुरुगूर में उनकी एक शिला (मूर्ति) स्थापित की। गुरु की महिमा गाते हुए विभिन्न स्थानों में जाकर उनके उत्कृष्ट पदों का महत्व साधारण जनता को बताया और जनता में भक्ति-भावना जगा दी। गुरु नम्माळ्वार को इन्होंने ईश्वर-तुल्य समझा था और उनके पदों को 'वेद-वाणी' और उनको 'देव-कवि' कहकर स्मरण किया। कहा जाता है कि प्रसिद्ध तमिळ-संघ (कवि-मण्डल) में जाकर इन्होंने नम्माळ्वार के एक-एक पद में व्याप्त महान् गूढ़ रहस्य को समझाया और नम्माळ्वार के श्रेष्ठ कवित्व का भी परिचय दिया।[1]

मधुरकवि आयु में अपने गुरु नम्माळ्वार से बड़े थे। गुरु के गोलोकवास के पश्चात् भी ये १६ वर्ष तक जीवित रहे। कहा जाता है कि इन्होंने आळ्वारों में सबसे लम्बी आयु प्राप्त की थी और १०१ वर्ष की अवस्था में अपने गाँव तिरुक्कोळूर में गुरु का स्मरण करते हुए अपनी इहलोक-लीला समाप्त की। चूँकि मधुरकवि अपने को नम्माळ्वार का दास मानते थे इसलिए नम्माळ्वार की पादुका को 'मधुरकवि' नाम प्राप्त है।

रचनाएँ

मधुरकवि आळ्वार की एक मात्र रचना 'कण्णिणुण् चिरुत्ताम्बु' उपलब्ध है जो 'दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत है। इसमें केवल ११ पद हैं, जिनमें गुरु नम्माळ्वार की महिमा गाई गई है। गुरु को इन्होंने ईश्वर-तुल्य समझकर उनकी स्तुति प्रस्तुत की है। श्रेष्ठ गुरु की आवश्यकता गुरु के सत्पात्र भक्ति की आवश्यकता आदि विषयों की भी चर्चा है। कहा जाता है कि कवि-चक्रवर्ती कम्बर ने शठकोपाचार्य (नम्माळ्वार) की प्रशस्ति में 'शठकोपरन्तादि' नामक ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा 'कण्णिणुण् चिरुत्ताम्बु' से ही प्राप्त की थी।[2]

'तिरुवायमोळि' के पाठ का आरम्भ 'कण्णिणुण् चिरुत्ताम्बु' के पठन के बाद ही होता है।

कुलशेखराळ्वार (कुलशेखर)

केरलीय राजा कुलशेखर का आळ्वार-भक्तों में एक प्रमुख स्थान है, जिनकी तमिळ वैष्णव-भक्ति-साहित्य को देन बहुत ही सराहनीय है। 'केरलोत्पत्ति' नामक

1　'*Vedanta Kesari*' Vol. 32.—"*Madhura Kavi*" Sri Salla, p 34.

२　भक्ति पुस्तक—श्री एतिराजुलु नायुडु, पृ० ३८।

ग्रन्थ में केरल प्रान्त के चेरवंशीय शासकों की वंशावली दी गई है। ये शासक 'पेरुमाळ' नाम से भी प्रसिद्ध थे। अतः कुलशेखराळ्वार को 'कुलशेखर पेरुमाळ' भी कहते थे। कहा जाता है कि राजा दृढ़व्रत की पुत्र-प्राप्ति के हेतु अपार तपस्या के फलस्वरूप उनके पुत्र-रत्न के रूप में कुलशेखर का जन्म हुआ। दृढ़व्रत ने अपने पुत्ररत्न को अपने कुल का 'शेखर' मानकर उनका नाम कुलशेखर रख दिया था। गुरुपरम्परा-ग्रन्थों में कुलशेखराळ्वार को विष्णु के वक्षस्थल की कौस्तुभ-मणि का अवतार माना जाता है।

कुलशेखराळ्वार के जीवन-काल के विषय में अनेक मत हैं। डा० भाण्डारकर इनका समय १२ वीं शती में मानते हैं।[1] उनका तर्क है कि चूँकि कुलशेखराळ्वार मुख्यतया रामोपासक थे। और रामोपासना १२ वीं शती में ही विकास को प्राप्त हुई इसलिए उनका काल १२ वीं शती के आस-पास मानना ही उचित है। परन्तु वस्तु स्थिति भिन्न है। कुलशेखराळ्वार जितने राम-भक्त थे, उतने ही कृष्ण भक्त भी थे। कुलशेखर के पहले के आळ्वारों ने भी रामोपासना की थी। डा० कृष्ण स्वामी अय्यंगार ने कुलशेखर का जीवन-काल सातवीं शताब्दी में माना है।[2] कुलशेखराळ्वार की रचनाओं में उपलब्ध अन्तःसाक्ष्य तथा शिलालेखों[3] के आधार पर कहा जा सकता है कि वे आठवीं शताब्दी में जीवित थे।[4] अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है।[5] कुलशेखराळ्वार ने अपने को क्षत्रिय कुल[6] का तथा 'कोंगु'[7] देश का राजा बताया है और अपनी राजधानी 'कोल्ली'[8] (वर्तमान उरैयूर) का उल्लेख किया है। अपनी रचना 'मुकुन्दमाला' में इन्होंने 'चित्तम्बरर' तथा 'परमशरर' नामक अपने दो मित्रों का परिचय दिया है।[9]

राज-परिवार में उत्पन्न होने के कारण कुलशेखर की शिक्षा का सर्वोत्तम प्रबन्ध हुआ था। विभिन्न शास्त्रों और नाना कलाओं में इन्होंने विद्वत्ता अर्जित की। संस्कृत तथा तमिळ—दोनों भाषाओं में समान रूप से पांडित्य प्राप्त किया। क्षत्रिय होने

1 *"Vaishnavism, Saivism and other minor Religious Sects"*
2. *History of Tirupati*—Dr S Krishnaswamy Iyengar, Vol. I p. 166.
३ नवीं शती के एक शिलालेख में कुलशेखराळ्वार के एक पद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हुई हैं—जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इनका जीवन-काल अवश्य उससे पूर्व था।
४ आळ्वारगळ कालनिलै—श्री राघव आय्यंगार—पृ० १६१।
5. *Studies in Tamil Literature and History*—V R. R. Dikshitar, p. 106.

---

६. पेरुमाळ तिरुमोळि, ४ ३।
७ वही, १ ६। ८ वही, ६ : १०।
९. मुकुन्दमाला—श्लोक ४० (प्रकाशक श्री वी० वी० के० रंगाचारी [illegible])

कि मधुरकवि ने शेष जीवन गुरु-सेवा में ही अर्पित किया था। कहा जाता है कि १६ वर्ष ये गुरु की सेवा में रत रहे और उनके मुख से निःसृत पदों को लिपिबद्ध करते रहे। जब नम्माळ्वार ने अपने ३५ वें वर्ष में इहलोक-लीला समाप्त की, तब इन्हें गुरु के वियोग में अत्यधिक दुःख हुआ। गुरु के पदों को साधारण जनता में प्रचार करना ही अपने जीवन का एक मात्र ध्येय समझा। गुरु के स्मरणार्थ इन्होंने उनके जन्म-स्थान तिरुक्कुरुकूर में उनकी एक शिला (मूर्ति) स्थापित की। गुरु की महिमा गाते हुए विभिन्न स्थानों में जाकर उनके उत्कृष्ट पदों का महत्व साधारण जनता को बताया और जनता में भक्ति-भावना जगा दी। गुरु नम्माळ्वार को इन्होंने ईश्वर-तुल्य समझा था और उनके पदों को 'देव-वाणी' और उनको 'देव-कवि' कहकर स्मरण किया। कहा जाता है कि प्रसिद्ध तमिळ-संघ (कवि-मण्डल) में जाकर इन्होंने नम्माळ्वार के एक-एक पद में व्याप्त महान् गूढ़ रहस्य को समझाया और नम्माळ्वार के श्रेष्ठ कवित्व का भी परिचय दिया।[1]

मधुरकवि आयु में अपने गुरु नम्माळ्वार से बड़े थे। गुरु के गोलोकवास के पश्चात् भी ये १६ वर्ष तक जीवित रहे। कहा जाता है कि इन्होंने आळ्वारों में सबसे लम्बी आयु प्राप्त की थी और १०१ वर्ष की अवस्था में अपने गाँव तिरुक्कोळूर में गुरु का स्मरण करते हुए अपनी इहलोक-लीला समाप्त की। चूँकि मधुरकवि अपने को नम्माळ्वार का दास मानते थे इसलिए नम्माळ्वार की पादुका को 'मधुरकवि' नाम प्राप्त है।

रचनाएँ

मधुरकवि आळ्वार की एक मात्र रचना 'कण्णिनुण् चिरुत्ताम्बु' उपलब्ध है जो 'दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत है। इसमें केवल ११ पद हैं, जिनमें गुरु नम्माळ्वार की महिमा गाई गई है। गुरु को इन्होंने ईश्वर-तुल्य समझकर उनकी स्तुति प्रस्तुत की है। श्रेष्ठ गुरु की आवश्यकता, गुरु के लक्षण, भक्ति की आवश्यकता आदि विषयों की भी चर्चा है। कहा जाता है कि कवि-चक्रवर्ती कंबर ने शठकोपाचार्य (नम्माळ्वार) की प्रशस्ति में 'शठकोपरन्तादि' नामक ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा 'कण्णिनुण् चिरुत्ताम्बु' से ही प्राप्त की थी।[2]

'तिरुवायमोळि' के पाठ का आरम्भ 'कण्णिनुण् चिरुत्ताम्बु' के पठन के बाद ही होता है।

कुलशेखराळ्वार (कुलशेखर)

केरलीय राजा कुलशेखर का आळ्वार-भक्तों में एक प्रमुख स्थान है, जिनकी तमिळ वैष्णव-भक्ति-साहित्य को देन बहुत ही सराहनीय है। 'केरलोत्पत्ति' नामक

---

1 *'Vedanta Kesari'* Vol. 32.—*"Madhura Kavi"* Sri Salla, p. 34.
२ भक्ति पुरुष—श्री एतिराजुलु नायडु, पृ० ५८।

न्थ में केरल प्रान्त के चेरवंशीय शासकों की वंशावली दी गई है। ये शासक 'पेरुमाळ' नाम से भी प्रसिद्ध थे। अतः कुलशेखराळ्वार को 'कुलशेखर पेरुमाळ' भी कहते थे। कहा जाता है कि राजा दृढ़व्रत की पुत्र-प्राप्ति के हेतु अपार तपस्या के फलस्वरूप उनके पुत्र-रत्न के रूप में कुलशेखर का जन्म हुआ। दृढ़व्रत ने अपने पुत्ररत्न को अपने कुल का 'शेखर' मानकर उसका नाम कुलशेखर रख दिया था। गुरुपरम्परा-ग्रन्थों में कुलशेखराळ्वार का विष्णु के वक्षस्थल की कौस्तुभ-मणि का अवतार माना जाता है।

कुलशेखराळ्वार के जीवन-काल के विषय में अनेक मत हैं। डा० भाण्डारकर इनका समय १२ वीं शती में मानते हैं।[1] उनका तर्क है कि चूँकि कुलशेखराळ्वार मुख्यतया रामोपासक थे। और रामोपासना १२ वीं शती में ही विकास को प्राप्त हुई इसलिए उनका काल १२ वीं शती के आस-पास मानना ही उचित है। परन्तु वस्तु स्थिति भिन्न है। कुलशेखराळ्वार जितने राम-भक्त थे उतने ही कृष्ण भक्त भी थे। कुलशेखर के पहले के आळ्वारों ने भी रामोपासना की थी। डा० कृष्ण स्वामी अय्यंगार ने कुलशेखर का जीवन-काल सातवीं शताब्दी में माना है।[2] कुलशेखराळ्वार की रचनाओं में उपलब्ध अन्तःसाक्ष्य तथा शिलालेखों[3] के आधार पर कहा जा सकता है कि वे आठवीं शताब्दी में जीवित थे।[4] अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है।[5] कुलशेखराळ्वार ने अपने को क्षत्रिय कुल[6] का तथा 'कोंगु'[7] देश का राजा बताया है और अपनी राजधानी 'कोल्ली'[8] (वर्तमान उरैयूर) का उल्लेख किया है। अपनी रचना 'मुकुन्दमाला' में इन्होंने 'शिवम्बरर' तथा 'परमशरर' नामक अपने दो मित्रों का परिचय दिया है।[9]

राज-परिवार में उत्पन्न होने के कारण कुलशेखर की शिक्षा का सर्वोत्तम प्रबन्ध हुआ था। विभिन्न शास्त्रों और नाना कलाओं में इन्होंने विज्ञता अर्जित की। संस्कृत तथा द्रविड़—दोनों भाषाओं में समान रूप से पांडित्य प्राप्त किया। क्षत्रिय होने

1 "Vaishnavism, Saivism and other minor Religious Sects"

2. History of Tirupati—Dr S. Krishnaswamy Iyengar, Vol. I. p 166.

३ नवीं शती के एक शिलालेख में कुलशेखराळ्वार के एक पद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हुई हैं—जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका जीवन-काल अवश्य उससे पूर्व था।

४ पाळ्वारकळ कालनिलै—श्री राघव आय्यंगार—पृ० १११।

5 Studies in Tamil Literature and History—V R. R. Dikshitar p 106.

६. पेरुमाळ तिरुमोळि, ८ १।

७ वही, १ ६।

८ वही, १ : १०।

९. मुकुन्दमाला—श्लोक ४० (प्रकाशक श्री वी० वी० के० रंगाचारी काञ्चीनगर)

के कारण ये शस्त्र विद्या में भी निपुण सिद्ध हुए। इन्होंने पास के छोटे राज्यों को जीतकर एक बड़ा शक्तिशाली राज्य कायम किया। कहा जाता है कि पुत्र की योग्यता से पूर्णतः सन्तुष्ट होकर राजा दृढ़व्रत ने कुलशेखर का राज-तिलक कराकर स्वयं वनवास ले लिया। बचपन से ही कुलशेखर ने भगवत् कथाएँ सुनी थीं और इनका मन भक्ति की ओर झुका हुआ था। इनके यहाँ वैष्णव भक्तों का बड़ा आदर-सत्कार होता था और भगवत् चर्चा भी होती थी। सिंहासनारूढ़ होने के कुछ काल ही के पश्चात् राजा कुलशेखर का मन शासन-सम्बन्धी कार्यों से ऊब गया। कहा जाता है कि एक दिन इन्होंने स्वप्न में भगवान् के दर्शन किये तथा तत्पश्चात् इनका मन भक्ति को छोड़कर किसी दूसरे कार्य में नहीं लगा। राज्य को त्यागकर श्रीरंगम् की भक्ति-गोष्ठी में जा मिलने की इन्हें तीव्र उत्कण्ठा हुई।

कुलशेखराळ्वार की तीव्र भक्ति-भावना को लक्ष्य करने वाली अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। जब से राजा कुलशेखर का मन शासन-सम्बन्धी कार्यों में नहीं लगा तब से अमात्य तथा राज-परिवार के लोगों को बड़ी चिन्ता हुई। कहा जाता है कि हर बार जब ये राज्य त्यागकर श्रीरंगम् जाने की तैयारी करते तब अमात्य इनके पास किसी एक नये वैष्णव भक्त को भेज देते और उस वैष्णव भक्त का आदर-सत्कार करने के लिए कुलशेखर रुक जाते थे। इस प्रकार इनकी श्रीरंगम्-यात्रा स्थगित होती जाती थी। यह तो कहा जा चुका है कि कुलशेखर के यहाँ वैष्णव भक्तों का बड़ा सम्मान था। भक्तों के प्रति राजा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई श्रद्धा को देखकर अमात्य तथा राज-परिवार के लोगों को ईर्ष्या हुई और उन लोगों ने राजा के मन में भक्तों के प्रति अविश्वास पैदा करने के लिए एक उपाय ढूंढा। उन्होंने एक मूल्यवान रत्नमाला को छिपाकर उसके चोरी हो जाने की बात कुलशेखर से कही और चोरी का अपराध वैष्णव-भक्तों पर लगाया। राजा का दृढ़ विश्वास था कि वैष्णव भक्त ऐसा अपराध नहीं कर सकता था। कहा जाता है कि राजा ने एक घड़े में विषधर को डालकर लाने को कहा और यह कह कर कि अगर किसी वैष्णव भक्त ने चोरी का अपराध किया हो तो यह सर्प मुझे मार डाले नहीं तो मुझे कुछ न करे, उस घड़े के अन्दर हाथ डाले। विषधर ने राजा को कुछ नहीं किया और इस प्रकार भक्तों की निष्कलंकता स्थापित की। इस घटना से अमात्य लोगों का बड़ा अपमान हुआ और उन लोगों ने राजा से क्षमा माँगी।

कुलशेखर की राम-भक्ति को लक्ष्य करने वाली अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें प्रमुख दो-एक को यहाँ दिया जाता है। एक बार जब ये कथावाचक से रामायण का व्याख्यान सुन रहे थे और उसमें सीता की रक्षा के लिए लक्ष्मण को नियुक्त कर अकेले ही श्री रामचन्द्र का खरदूषण की विपुल सेना से युद्ध करने का प्रसंग[1]

---

१ चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥
—वाल्मीकि रामायण ३-२४ २१

आया, तब कुलशेखर ने तन्मय होकर, राम की सहायता के लिए अपनी समग्र सेनाओं को प्रस्थान करने की आज्ञा दे दी। कथावाचक के यह कहने पर ही कि राम अकेले ही सबको मारकर सीता सहित विजयी होकर लौटे कुलशेखर ने अपनी सेना को वापस बुलाया। एक अन्य अवसर पर जब कथावाचक ने कहा कि रावण ने सीता का हरण किया इन्होंने श्रीलंका पर चढ़ाई कर सीता जी को लाने की आज्ञा सेनापति को दी और स्वयं समुद्रतट तक जाकर समुद्र में उतरने लगे। कथावाचक के यह कहने पर कि श्री रामचन्द्र रावण को मार कर सीता जी सहित लौटे, ये राजमहल की ओर वापस आये।

अन्त में जब कुलशेखर श्रीरंगम् के विशालकाय मन्दिर के प्रांगण में भगवान् की भक्त-मण्डलियों में सम्मिलित होकर नृत्य भजनादि से द्रवित जीवन बिताने की अपनी तीव्र उत्कंठा[1] का संवरण न कर सके तब राज्य ऐश्वर्य को त्यागकर पुण्य क्षेत्रों के दर्शन के लिए निकल पड़े। श्रीरंगम्, तिरुपति आदि वैष्णव स्थलों के दर्शन इन्होंने किये। दिव्यसूरिचरित[2] में कहा गया है कि इन्होंने अपनी पुत्री इला का विवाह भगवान् श्री रंगनाथ के साथ कराया। तमिऴ-जनता के बीच में कुलशेखर सम्बन्धी प्रसिद्धियाँ ही बहुत अधिक प्रचलित हैं। परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार इन्होंने अपनी तीव्र भक्ति-भावना को पदों में अभिव्यक्त कर अपने ६७ वें वर्ष में अपनी इहलीला समाप्त की। इनके पद भक्त-हृदय को बहुत ही द्रवित करने वाले हैं। कुलशेखर ने अपने एक पद[3] में भगवान् से यह प्रार्थना की है कि अगले जन्म में वे इन्हें कम से कम वह सीढ़ी बना दें जिस पर चढ़कर भक्त भगवान के दर्शन के लिए देवालय में प्रवेश करते हैं। आज भी वैष्णव मन्दिरों की सबसे ऊँची सीढ़ी को 'कुलशेखर सोपान' कहते हैं।

रचनाएँ

कुलशेखराऴ्वार के नाम से दो रचनाएँ मिलती हैं। एक तमिऴ भाषा में है और दूसरी संस्कृत में है। इनकी तमिऴ-रचना 'पेरुमाऴ तिरुमोऴि' कहलाती है, जिसमें १०५ पद हैं। केवल ये ही तमिऴ पद 'दिव्य-प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं। इनकी संस्कृत-रचना 'मुकुन्दमाला' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें ४० श्लोक हैं।

श्री के० रामपिषारटी[4] "मुकुन्दमाला' को कुलशेखराऴ्वार कृत नहीं मानते। उनका तर्क यह है कि चूँकि कुलशेखर के नाम से एक से अधिक राजा केरल में हुए

---

१ पेरुमाऴ तिरुमोऴि १ : ६।
२ इसे विद्वान् अप्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं।
३ पेरुमाऴ तिरुमोऴि ४ : ९।
४ श्री मुकुन्दमाला—संपादक : श्री के० रामपिषारटी (भूमिका भाग), प्रकाशक अन्नामलै विश्वविद्यालय।

थे इसलिए यह कहना कठिन है कि यह किस कुलशेखर की यह रचना है। 'मुकुन्द माला' को तमिळ कुलशेखराळ्वार की रचना न मानने के सम्बन्ध में श्री पिषारटी का कथन है कि चूँकि तमिळ कुलशेखराळ्वार मुख्यतः राम-भक्त थे और 'मुकुन्दमाला'' के रचयिता ने केवल कृष्ण की ही स्तुति की है इसलिए यह रचना तमिळ आळ्वार की नहीं हो सकती। पर 'मुकुन्दमाला' का आद्योपान्त अध्ययन करने से पता चलता है कि उसमें कृष्ण की वन्दना ही नहीं बल्कि राम-वन्दना भी है।[1] और हमारे आळ्वार जितने राम भक्त थे उतने ही कृष्ण-भक्त भी। 'पेरुमाळ तिरुमोळी' तथा "मुकुन्दमाला' में अनेक स्थलों पर भाव-साम्य दीख पड़ता है।

अतः 'मुकुन्दमाला' के तमिळ कुलशेखराळ्वार कृत होने में किंचित् भी सन्देह नहीं है। अतः श्री पिषारटी का मत अमान्य सिद्ध होता है।[2]

१ पेरुमाळ तिरुमोळी

इसके पद दशकों में विभाजित हैं। पद विभिन्न राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। प्रथम पाँच दशकों के पद आत्म निवेदनपरक हैं। इनमें श्रीरंगम् की भक्त-मण्डली में सम्मिलित होकर नृत्य-भजनादि करने की कवि की तीव्र उत्कण्ठा सांसारिक जीवन के प्रति कवि की विमुखता भगवान् के सम्मुख कवि की दीनता तथा अगले जन्म में भी वेंकट-गिरि में भगवान् कृष्ण की सेवा में प्रस्तुत किसी भी वस्तु के रूप जन्म लेने की उसकी कामना आदि बातें भावमयी भाषा तथा हृदय को द्रवित करने वाली शैली में वर्णित हैं। छठे दशक में बाल गोपाल की विभिन्न चेष्टाओं का विशद वर्णन है। सातवें दशक में कृष्ण की शिशु-लीलाओं के रसास्वादन से वंचित माता देवकी के करुण विलाप का वर्णन है। आठवें दशक में दशरथी राम को पालने में कौसल्या के लोरी गाने का तथा नवें दशक में राम के वन-गमन पर दशरथ-विलाप का वर्णन है। अन्तिम दशक में सम्पूर्ण रामायण की कथा संक्षेप में दी गई है।

२ मुकुन्दमाला

यह कोमल-कान्त पदावली में रचित शेषशायी विष्णु को कवि की 'गीतांजलि'' है। इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इनमें इसके ४० श्लोक तक मिलते हैं। इस छोटी-सी रचना में कवि ने अपार कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। यह संस्कृत का सबसे सुन्दर, स्तोत्र-काव्य है तथा टीकाकार राघवानन्द के अनुसार यह "मुकुन्द

---

१ श्रीनाथ नारायण वासुदेव, श्रीकृष्ण भक्त प्रिय चक्रपाणे।
श्री पद्मनाभाच्युत कैटभारे श्रीराम पद्माक्ष हरे मुरारे ॥
—श्री मुकुन्दमाला श्लोक ११।

2. It is therefore clear that the views of Mr Pisharoti are untenable and incorrect. —Dr K. C. Varadachari.
—*Journal of Sri Venkateswara Oriental Research Institute* Vol III pt. II p 168

अष्टाक्षर मंत्र" का सफल प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है।[1] १७ वीं शती के श्री राघवानन्द ने इस पर टीका लिखी है जो 'मुकुन्दमाला-तात्पर्य-दीपिका" नाम से प्रसिद्ध है। सांसारिक माया-मोह के जाल से मुक्त होकर सर्वथा भगवान् के गुण-गान में तल्लीन रहने का उपदेश दिया गया है। कवि ने कृष्ण भगवान् की विभिन्न लीलाओं की ओर भी संकेत किया है।

पेरियाळ्वार (विष्णु चित्त)

आळ्वारों में "पेरियाळ्वार" का एक विशिष्ट स्थान है। 'विष्णुचित्त" इनका बचपन का नाम था। जाति के ये ब्राह्मण थे।[2] इनकी रचनाओं में इनके ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने तथा पांडिय राज्य के अन्तर्गत प्रसिद्ध श्री विल्लिपुत्तूर नामक गाँव में इनका जन्म होने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर अपने समकालीन पांडिय राजा 'वल्लभदेव पांडियन' का उल्लेख किया है। वल्लभ देव (शासनकाल: ईस्वी ७४०-७६७) ने इन्हें अपने ज्ञान-गुरु के रूप में अपनाया था।[3] अतः अधिकांश विद्वान् इनका जीवन काल आठवीं शती में मानते हैं।[4] इन्हें उक्त राजा ने 'पट्टर पिरान' (श्रेष्ठ ब्राह्मण) की उपाधि भी प्रदान की थी।

गुरु-परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार पेरियाळ्वार के पिता का नाम मुकुन्दाचार्य था और माता का नाम पद्मा था। बचपन से ही विष्णुचित्त का चित्त विष्णु की उपासना में रम गया था। ये साधारण बालकों से विलक्षण प्रतीत होते थे और अपना अधिकांश समय भगवद् ध्यान में व्यतीत करते थे। शास्त्राध्ययन इनका विशेष न हो सका। इन्होंने एक कथावाचक पौराणिक से कृष्ण-कथा प्रसंग में यह श्लोक "प्रसाद परमौ नाथौ मम गेहमुपागतौ। धन्योऽहमर्चयिष्यामीत्याह माल्योपजीवन"[5] सुनकर यह निश्चय किया कि प्रतिदिन श्री भगवान् के श्रीचरणों में पुष्पमालाओं का समर्पण करना ही भगवद्गुणोल्लास को बढ़ाने वाला श्रेष्ठ कार्य है। तत्पश्चात् इन्होंने एक सुन्दर बगीचा लगाया। नित्य नवीन सुमनों का चयन कर उनकी मालाएं गूँथकर स्थानीय विष्णु-मन्दिर के "वटपत्रशायी" के चरणों में अर्पित करते थे और अधिकांश समय मन्दिर में ही व्यतीत करते और विष्णु-सहस्रनाम की गाथा करते थे।

---

१ श्री मुकुन्दमाला (भूमिका भाग)—श्री के० राम पिषारटी प्रकाशक अन्नमलै विश्वविद्यालय।

२. श्री हेमचन्द्रराय चौधरी ने अपने ग्रन्थ "अर्ली हिस्टरी आफ दी वैष्णव सेक्ट" (पृ० ११०) में गलती से इन्हें "परया" जाति में उत्पन्न बताया है।

३ भगवान बक्तर्ग मक्तर—श्री पी० बी० आचार्य, पृ० ५६।

४ आळ्वारगळ् कालनिलै—श्री एम. राघव अय्यंगार पृ० ६६।

५. दिव्य सूरि कथामृतम्—श्री पी० बी० अण्णंगराचार्य पृ० १७।

कहते हैं कि तत्कालीन पांडिय राजा वल्लभदेव ने शास्त्र-मर्मज्ञों की एक सभा बुलायी थी और यह घोषणा की थी कि जो विद्वान् उस सभा में आकर वैदिक प्रमाणों का निरूपण कर ठीक तरह से परतत्त्व को निर्धारित करेंगे उन्हें पुरस्कार और गौरव प्रदान किया जायगा। एक दिन "वटपत्रशायी" ने स्वप्न में प्रकट होकर पेरियाऴ्वार को आदेश दिया कि पांडिय राजा के दरबार में जहाँ विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधि शास्त्रार्थ में भाग ले रहे हैं, तुम भी शामिल होकर शाश्वत आनन्द की उपलब्धि का मार्ग दिखाकर मेरे प्रेम और भक्ति का महत्व सर्वसाधारण को बता दो। विष्णुचित्त ने इस कठिन कार्य के लिए अपने को कम योग्य समझा। परन्तु भगवान् की आज्ञा का पालन करना तो था ही अतः भगवान् पर भरोसा रखकर वे पांडिय राजधानी मदुरा में आकर राजा द्वारा संगठित विद्वानों की गोष्ठी में शामिल हुए। इन्होंने विभिन्न धर्मावलम्बी पंडितों की उठाई गई समस्त शंकाओं का समाधान प्रस्तुत कर उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया और यह साबित किया कि श्री लक्ष्मी-नारायण ही पर देवता हैं जिनके चरणों में शरण लेना ही हितकर है और मोक्षदायक है। राजा ने विष्णुचित्त के अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर उन्हें विजयी घोषित किया। आऴ्वार को धनराशि के साथ "पट्टर पिरान्" की उपाधि भी प्राप्त हुई। राजा ने आऴ्वार को सम्मानित करने के लिए उन्हें हाथी पर बिठाकर नगर में एक जुलूस निकाला। कहा जाता है कि उस समय श्री विष्णुचित्त ने अपनी प्रतिष्ठा को भगवदनुग्रह का ही फल समझकर आकाश की ओर देखा तो साक्षात् विष्णु महालक्ष्मी के साथ पक्षारूढ़ होकर प्रकट हुए। विष्णुचित्त ने अपने उपास्य देव के दर्शन कर अपने जीवन को धन्य समझा। भगवान् की दिव्य-मंगल-शोभा को देखकर इनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। परन्तु उनके मन में एक विचित्र चिन्ता पैदा हुई कि भगवान् की यह सौन्दर्य राशि बिगड़ न जाय। उसके लिए इन्होंने प्रार्थना की कि यह अनुपम सौन्दर्य सहस्रों करोड़ों वर्ष शाश्वत रहे।[1] जहाँ दूसरे आऴ्वारों ने भगवदनुग्रह की ही कामना की है, श्री विष्णुचित्त ने स्वयं भगवान् को भी असीम वात्सल्य से मंगल-कामनाएँ अर्पित कीं। इसी कारण इन्हें "पेरियाऴ्वार" अर्थात् "महान् आऴ्वार" विरुद प्राप्त हुआ।[2]

पांडिय राजधानी से प्राप्त धन राशि को लेकर पेरियाऴ्वार अपने निवास-स्थान श्री विल्लिपुत्तूर को लौट आये और उस धन को अपने इष्टदेव की सेवा में अर्पित करने की इच्छा से "वटपत्रशायी" के मन्दिर के "गोपुर" को बनाने में लगा दिया। तत्पश्चात् श्री वे पूर्ववत् सुमन चयन कर मालाएँ गूँथने और "वटपत्रशायी" के चरणों में अर्पित करने के दिव्य-कार्य में लगे रहे। पुष्पांजलि के साथ गीतांजलि

---

१ तिरुप्पल्लाण्डु—पद १ १०।

२. प्रबोध रत्नमाला—पृ० १८।

भी करते रहे। ये संस्कृत के भी बड़े पण्डित थे। कहा जाता है कि कल्पसूत्रों पर इन्होंने एक टीका लिखी।[1]

रचनाएँ

पेरियाळ्वार के पद 'तिरुपल्लांडु' तथा 'परियाळ्वार तिरुमोळी' नामक दो संग्रहों में मिलते हैं और ये पद "दिव्य-प्रबन्धम्" के प्रथम भाग में प्रारम्भ में दिये गए हैं। "तिरुपल्लांडु" में १२ पद हैं। इसमें पेरियाळ्वार ने यह मंगल-कामना की है कि भगवान् का अनुपम सौन्दर्य करोड़ों वर्ष तक शाश्वत रहे। कवि ने इन पदों में विष्णु के विभिन्न अवतारों का भी स्मरण किया है तथा भक्तों को सदैव भगवत्सेवा में ही तल्लीन रहने का उपदेश दिया है। "तिरुपल्लांडु" का धार्मिक महत्व अत्यधिक है। "नित्य पाठ" में इसको स्थान प्राप्त है तथा इसका पाठ भी वैष्णवों के घरों में प्रतिदिन होता है।[2]

'पेरियाळ्वार तिरुमोळी' में आळ्वार के ४६१ पद संगृहीत हैं। बाल कृष्ण की मधुर-लीलाओं में कवि का मन रम गया है। अतः कवि ने कृष्ण के शिशु-रूप और वात्सल्य से आकर्षित होकर हृदय-ग्राहक मार्मिकता के साथ बालकृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं का वर्णन कर वात्सल्य रस की ऐसी अद्भुत धारा प्रवाहित की है, जो समस्त तमिळ-साहित्य में कहीं भी देखने को नहीं मिलती। इसमें कृष्ण का जन्मोत्सव गोकुल में हर्षोल्लास, कृष्ण को पालने में रखकर यशोदा का लोरी गाना कृष्ण का चन्दा मामा को बुलाना कर्ण-वेध संस्कार, दृष्टिदोष परिहार, माखन-चोरी गोपियों की यशोदा से शिकायतें कृष्ण को गाय चराने वन भेजने पर यशोदा का विलाप कृष्ण के अपार सौन्दर्य पर गोपियों का मोहित होना मुरली-माधुरी आदि अनेक प्रसंगों का सरस वर्णन है। शिशु के लोटने मचलने किलकने, रोने, हँसने आदि का कवि ने मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। शैशवकाल की विभिन्न अवस्थाओं में शिशु की चेष्टाओं में होने वाले परिवर्तनों की मानों मनोवैज्ञानिक व्याख्या इसमें हुई है। वास्तव में सैकड़ों वर्षों से बच्चों को खिलाते, पिलाते सुलाते और प्यार करते समय तमिळ-प्रदेश की माताएँ जो मधुर लोक-गीत गाया करती थीं उनको साहित्यिक रूप देकर पेरियाळ्वार ने तमिळ साहित्य की महान् सेवा की है। 'पिळ्ळै तमिळ' कहलाने वाली इन गीतों की शैली के प्रणेता स्वयं पेरियाळ्वार ही माने जाते हैं। इनके बाद अनेक कवियों ने इस विशिष्ट 'पिळ्ळै तमिळ' काव्य-शैली को अपनाया। परियाळ्वार के कुछ पदों में राम-कथा के कुछ प्रसंगों का भी वर्णन मिलता है।

आंडाळ (गोदा)

वैष्णव-संत-कवयित्री आंडाळ का तमिळ के भक्ति-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। 'आळ्वार' नाम से प्रसिद्ध वैष्णव भक्त कवि-समूह में आंडाळ ही एक मात्र

1 Dr K. C. Varadachari—*J S V O T* Vol II (1949) p 454
2. *History of Tamil Literature*—E. S. Varadaraja Iyer p 277

रही थी। आंडाळ श्री विल्लीपुत्तूर निवासी पेरियाळ्वार अथवा विष्णुचित्त की पोष्य पुत्री थीं। सम्प्रदाय में आंडाळ को भूदेवी का अंश माना जाता है।[1] 'गुरु-परम्परा' ग्रन्थों के अनुसार आंडाळ का जन्म कलियुगारंभ के ९७ वें वर्ष में हुआ था। परन्तु आंडाळ की एक रचना में प्राप्त ज्योतिष से सम्बन्धित एक विवरण के आधार पर अनेक आधुनिक विद्वानों ने आंडाळ का जन्म सन् ७१६ ई० में माना है।[2]

आंडाळ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक बहुत प्रचलित कथा है। कहते हैं कि नियमानुसार पेरियाळ्वार एक दिन प्रातःकाल अपनी वाटिका में भगवान् को अर्पित करने के लिए पुष्प-चयन कर रहे थे। अचानक उन्हें तुलसी-वनों के बीच एक नवजात बालिका भूमी की गोद पर पड़ी दृष्टिगोचर हुई। पेरियाळ्वार तो अविवाहित थे ही। उस बालिका को दैवी वरदान समझकर घर ले आये और अत्यन्त स्नेह के साथ उसका लालन-पोषण करने लगे। पुष्प-वाटिका में प्राप्त होने के कारण पेरियाळ्वार ने उस बालिका का नाम 'कोदै'[3] (फूल का गुच्छा) रखा।

पेरियाळ्वार की पोष्यपुत्री के रूप में आंडाळ धीरे-धीरे बड़ी हुई। पेरियाळ्वार की कुटिया के सरल भक्तिमय वातावरण में पलने के कारण आंडाळ का मन भगवान् विष्णु में स्वाभाविक रूप से रम गया। विष्णु के सजीव सुन्दर रूप असीम शक्ति और सरस लीलाओं ने आंडाळ को मुग्ध कर दिया। पूजा और भजन में वे पेरियाळ्वार की सहायता करती थीं। नन्दवन में जाकर फूल तोड़ लाती और पिता

1 *History of Tirupati, Vol. I*—Dr S. Krishnaswamy Aiyengar p 161

२ आंडाळ ने अपनी रचना 'तिरुप्पावै' (पद १३) में ज्योतिष से सम्बन्धित एक विवरण दिया है। वह है—उषाकाल में गुरु का अस्त तथा शुक्र का उदय एक ही समय होना यही तिरुप्पावै का 'रचना-काल' बताया गया है। यह घटना ज्योतिषियों के अनुसार १८ दिसम्बर सन् ७३१ ई० को उषाकाल में हुई थी। गुरु-परम्परा ग्रन्थों में आंडाळ की आयु १५ वर्ष की बतायी गयी है। अतः उक्त तिथि से १५ वर्ष घटाकर अनुमानतः आंडाळ का जन्म सन् ७१६ ई० में हुआ माना जाता है।—आळ्वार कळ्निलै : एम० राघव अय्यंगार पृ० ८१।

३ (क) 'कोदै' ही 'गोदा' का शुद्ध रूप है। इस शब्द के अनेक अर्थ हैं। 'दिव्य-सूरि-चरितम्' नामक गुरु-परम्परा ग्रन्थ में 'कोदै' या 'गोदा' का अर्थ 'वाक् शक्तिप्रदायिनी' किया गया है।—आळ्वार कळ्निलै पृ० ९९।

(ख) सर मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोश में 'गोदा' को 'सामवेद (संहिता) की एक प्रसिद्ध शैलिका बताया है। चूंकि पेरियाळ्वार संस्कृत के भी बड़े पण्डित थे इसीलिए कदाचित् उन्होंने अपनी पुत्री के लिए भी उस प्रसिद्ध शैलिका का नाम रखा होगा।

—गोदै आण्डाळ् कावल वैभवम्—श्री पी० बी० आचार्य, पृ० ९४।

द्वारा भगवान् को अर्पित करने के लिए मालाएँ गूँथा करती थीं। कहा जाता है कि भगवद् प्रेम में इस तरह तन्मय हो जाती थीं कि भगवान् के लिए गुँथी हुई पुष्प मालाओं को स्वयं पहनकर दर्पण में अपना सौन्दर्य देखा करती थीं। वे यही देखना चाहती थीं कि उनका सौन्दर्य उनके प्रियतम भगवान् को आकर्षित कर सकेगा कि नहीं। एक दिन इस प्रकार शृङ्गार करते समय पेरियाळ्वार ने देख लिया। यह विचार कर कि एक बार पहनी गयी मालाएँ भगवान् पर चढ़ाये योग्य नहीं होतीं अपनी पुत्री के इस नित्य दुराचरण पर बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने आंडाळ को बहुत डाँटा और एक दूसरी माला बनाकर उस दिन भगवान् की सेवा में अर्पित की। कहते हैं कि जब वे उस दिन रात को चिन्ताग्रस्त ही सो रहे थे तब स्वप्न में भगवान् ने आकर सन्देश दिया— 'मुझे आंडाळ द्वारा पहनी गयी मालाएँ ही अधिक पसंद हैं और आगे उन्हीं मालाओं से मुझे आभूषित करो।' तभी से आंडाळ का नाम 'चूडिकोडुत्त नाच्चियार' (अर्थात् पहनी हुई माला अर्पित करने वाली) पड़ गया।[1]

कहते हैं कि आंडाळ के असाधारण व्यक्तित्व का परिचय पाकर वे अपने इष्टदेव को आंडाळ द्वारा पहनी गयी मालाओं से ही अलंकृत करते थे। ज्यों-ज्यों आंडाळ की अवस्था बढ़ती गई त्यों-त्यों भगवान् के प्रति आंडाळ का अनुराग भी बढ़ता गया। जब वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हुईं तो पेरियाळ्वार उनके लिए सुयोग्य वर खोजने में लगे। योग्य वर न मिलने के कारण वे बहुत चिंतित हुए। जब आंडाळ को अपने पिता की चिन्ता का कारण मालूम हुआ तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया— 'मैंने श्रीरंगम् के भगवान् को ही अपने पति के रूप में वरण कर लिया है। यदि कोई कहे कि मैं किसी दूसरे की हूँ तो अपने प्राण त्याग दूँगी।"[2] कहा जाता है कि उसी दिन रात को भगवान् रंगनाथ ने स्वप्न में आकर पेरियाळ्वार को आदेश दिया— मेरी प्रियतमा आंडाळ को सभी आभूषणों से अलंकृत कर श्रीरंगम् ले आओ और मैं उससे पाणि-ग्रहण करूँगा।" आश्चर्य और आनन्द के साथ पेरियाळ्वार दूसरे दिन आंडाळ को एक शिविका में बिठाकर, बन्धु मित्र[3] सहित मंगल वाद्यों के साथ श्रीरंगम् ले गये।

---

1 नालायिर दिव्य प्रबन्धम्—सम्पादक एस० कृष्णमाचारियर आंडाळ वैभवम् पृ० ११।

2 नाच्चियार तिरुमोळि'—पद १५।

3 श्री गरुड़वाहन पंडित कृत 'दिव्यसूरि चरितम्' नामक काव्य में श्री रंगनाथ के साथ आंडाळ के विवाह का वर्णन नाटकीय शैली में विस्तार से मिलता है। इसमें लिखा है कि इस अवसर पर नम्माळ्वार, तिरुमंगैयाळ्वार, कुलशेखराळ्वार आदि शेष सभी आळ्वार आए हुए थे और उन्होंने मंगलाशासन किये।—(दिव्यसूरि चरितम्, आंडाळ वैभवम्, पद ३-७ पृ० १२५) तथा *Journal of Indian History* Vol 13 pp 181-203 Article on *Divya Suri Charitam by Sri. B. V Ramanujan M A.*

श्री रंगनाथ के मन्दिर में पेरियाळ्वार ने विधिपूर्वक विवाह-संस्कार कराकर आंडाळ को भगवान् को समर्पित किया। आंडाळ अपनी अभिलाषा को पूर्ण देखकर बहुत प्रसन्न हुईं। गर्भगृह में प्रवेश कर भगवान् की शेष-शैया पर चढ़ीं तो एक दिव्यालोक सा वहाँ व्याप्त हो गया और आंडाळ विद्युत् की चमक के सदृश उस ज्योति के द्वारा भगवान् में समा गईं। इस प्रकार आंडाळ ने अपने प्रेम द्वारा भगवान् को जीत लिया। 'आंडाळ' (अर्थात् भगवान् पर प्रेमाधिपत्य करने वाली) शब्द भी इस घटना को सूचित करने वाला है। दक्षिण के सभी वैष्णव मन्दिरों में अब भी प्रतिवर्ष आंडाळ का विवाहोत्सव धूमधाम के साथ मनाया जाता है। गुरु-परंपरा ग्रन्थों के अनुसार आंडाळ की आयु, अन्तर्धान के समय १६ वर्ष की थी।

यद्यपि पेरियाळ्वार को अपनी पुत्री आंडाळ को भगवान् को सौंपकर 'श्वशुर' बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तो भी पुत्री का वियोग उन्हें असहनीय हो गया। अपने निवास-स्थान श्री विल्लीपुत्तूर को लौट आने पर, पुत्री की अनुपस्थिति में सारा वातावरण उन्हें सूना दीख पड़ा। पुत्री के वियोग में उन्होंने अनेक पद गाये हैं। एक पद में वे कहते हैं— "मेरी एक पुत्री थी जिसकी कीर्ति समस्त संसार में फैली थी। पर अब अरे अरुणिम नैनों वाला माधव उसे हर ले गया। अब मैं उस अनुपम पुत्री को कहाँ पाऊँ ?"[१]

रचनाएँ

आंडाळ महान् भक्तिन होने के साथ ही उच्च कोटि की कवयित्री भी हैं। इनकी रचनाएँ तमिळ-साहित्य का ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय साहित्य का गौरव प्रदान करने वाली हैं। कई पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों तथा दार्शनिकों ने मुक्त-कण्ठ से आंडाळ की रचनाओं की काव्य-कला और विचार-धारा—दोनों की दृष्टियों से बड़ी प्रशंसा की है। आंडाळ की निम्नलिखित दो प्रसिद्ध रचनाएँ 'दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं —

१—तिरुप्पावै
२—नाच्चियार तिरुमोळि।

१—तिरुप्पावै

इसमें ३० पद हैं जो विविध राग रागिनियों में गाने योग्य हैं। इसमें तमिळ-समाज की एक पुरानी प्रसिद्ध प्रथा 'मार्गळि नोम्बु' (मार्गशीर्ष व्रत) वर्णित है। महीनों में श्रेष्ठ 'मार्गशीर्ष' में सब कुमारियाँ योग्य वर की प्राप्ति के लिए यह व्रत रखती हैं। लोगों का विश्वास है कि इस प्रकार व्रत रखने से व्रत-धारिणियों को ही नहीं बल्कि वर्षा, धन-धान्य से समस्त देश को भी लाभ पहुँचेगा।[२] तिरुप्पावै के भाव-लोक

१ पेरियाळ्वार तिरुमोळि—३ ८।४।
२ तिरुप्पावै—पद ३।

की विशेषता यह है कि काल स्थान की परिधि को लाँघकर आंडाळ स्वयं गोपी बन जाती हैं और अन्य सहेलियों के साथ अपने उपास्य देव 'कृष्ण' के पास व्रत की फल प्राप्ति के लिए पहुँच जाती हैं। अतः 'तिरुप्पावै' में आंडाळ ने अपनी ही कहानी कही है। तिरुप्पावै का वर्ण्य विषय संक्षेप में इस प्रकार है—'मार्गशीर्ष' की पूर्णिमा के दिन आंडाळ अपनी सखियों से 'मार्गळी नोम्बु' का अनुष्ठान करने के लिए कहती है और यह विश्वास दिलाती है कि भगवान् अवश्य हमारी इच्छित वस्तुओं को प्रदान करेंगे। आंडाळ 'तिरुप्पावै' के प्रारम्भ के कुछ पदों में 'मार्गळी नोम्बु' की विशेषता तथा विधि विधान आदि का वर्णन करती है।[1] इस व्रत का प्रधान अंग—उषाकाल में उठकर स्नान कर आना है। अतः आंडाळ अपनी सहेलियों से सवेरा हो जाने की सूचना देती है और निद्रा त्यागकर अपने साथ चलने को कहती है।[2] जब सभी सखियाँ एकत्र हो गयीं तो आंडाळ कृष्ण तक पहुँचने के लिए उत्तम मार्ग का अन्वेषण करती है और सखियों के दल को लेकर कृष्ण भगवान् के निवास-स्थान की ओर चलती है। द्वारपालक से अपना परिचय इस प्रकार देती है कि हम गोपियाँ श्रीकृष्ण भगवान् को नींद से जगाने के लिए आयी हैं और द्वारपालक से प्रार्थना करती है कि वह उनके आने का समाचार श्रीकृष्ण तक पहुँचा दे।[3] अब आंडाळ कृष्ण से मिलने से पहले उनकी प्रिया 'नप्पिन्नै' (तमिळ की 'राधा') से निवेदन करती है कि वे उन्हें श्रीकृष्ण से मिलने दें।[4] 'नप्पिन्नै' को प्रसन्न करने के पश्चात् आंडाळ श्रीकृष्णचन्द्र का यशोगान करती है और श्रीकृष्ण को जगाती है। श्रीकृष्ण से सखियों सहित अपने आने का कारण बताती है और प्रार्थना करती है कि उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाएँ।[5]

इन पदों में आंडाळ के भक्ति-भाव और तत्कालीन ग्राम्य जीवन के सौन्दर्यपूर्ण सजीव चित्र देखने को मिलते हैं। प्रकृति का भी रसपूर्ण वर्णन है। 'तिरुप्पावै' का धार्मिक महत्व अत्यधिक है। वैष्णव मन्दिरों में और वैष्णवोपासकों के घरों में 'मार्गशीर्ष' महीने के तीसों दिन अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ 'तिरुप्पावै' के पद गाये जाते हैं। आंडाळ द्वारा प्रचारित यह 'मार्गळी व्रत' समस्त दक्षिण भारत में ही नहीं सुदूर स्याम देश में भी शताब्दियों से मनाया जाता है।[6]

२—नाच्चियार तिरुमोली

इसमें १४३ स्फुट पद हैं। पद विविध राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इनमें लीलानायक कृष्ण को अपना प्रियतम और अपने को उनकी प्रेमिका मानकर रचे गये

---

१ तिरुप्पावै—पद १ से ५ तक
२ वही पद ६ से १५ तक
३ वही, पद १६
४ वही, पद १७ से २० तक
५ वही, पद २१ से ३० तक
६ श्री वी० श्री आचार्य का लेख : "*Voice and Vision of Andal*" Souvenir All India Writers Conference 1959, p. 154

श्री रंगनाथ के मन्दिर में पेरियाळ्वार ने विधिपूर्वक विवाह-संस्कार कराकर आंडाळ को भगवान् को समर्पित किया। आंडाळ अपनी अभिलाषा को पूर्ण देखकर बहुत प्रसन्न हुई। गर्भगृह में प्रवेश कर भगवान् की शेष-शैया पर पहुँची तो एक दिव्यालोक सा वहाँ व्याप्त हो गया और आंडाळ विद्युत की चमक के सदृश उस ज्योति के द्वारा भगवान् में समा गई। इस प्रकार आंडाळ ने अपने प्रेम द्वारा भगवान् को जीत लिया। 'आंडाळ' (अर्थात् भगवान् पर प्रेमाधिपत्य करने वाली) शब्द भी इस घटना को सूचित करने वाला है। तमिळ के सभी वैष्णव मन्दिरों में अब भी प्रतिवर्ष आंडाळ का विवाहोत्सव धूमधाम के साथ मनाया जाता है। गुरु-परम्परा ग्रन्थों के अनुसार आंडाळ की आयु, अन्तर्धान के समय १६ वर्ष की थी।

यद्यपि पेरियाळ्वार को अपनी पुत्री आंडाळ को भगवान् को सौंपकर 'श्वसुर' बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तो भी पुत्री का वियोग उन्हें असहनीय हो गया। अपने निवास-स्थान श्री विल्लीपुत्तूर को लौट आने पर पुत्री की अनुपस्थिति में सारा वातावरण उन्हें सूना दीख पड़ा। पुत्री के वियोग में उन्होंने अनेक पद गाये हैं। एक पद में वे कहते हैं—"मेरी एक पुत्री थी जिसकी कीर्ति समस्त संसार में फैली थी। पर मद भरे अरुणिम नैनों वाला माधव उसे हर ले गया। अब मैं उस अनुपम पुत्री को कहाँ पाऊँ?"[1]

रचनाएँ

आंडाळ महान् भक्तिन होने के साथ ही उच्च कोटि की कवयित्री भी हैं। उनकी रचनाएँ तमिळ-साहित्य को ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय साहित्य को गौरव प्रदान करने वाली हैं। कई पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों तथा दार्शनिकों ने मुक्त-कण्ठ से आंडाळ की रचनाओं की काव्य-कला और विचार-धारा—दोनों की दृष्टियों से बड़ी प्रशंसा की है। आंडाळ की निम्नलिखित दो प्रसिद्ध रचनाएँ 'दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं —

१—तिरुप्पावै
२—नाच्चियार तिरुमोळी।

१—तिरुप्पावै

इसमें ३० पद हैं जो विविध राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इसमें तमिळ-समाज की एक पुरानी प्रसिद्ध प्रथा 'मार्गळी नोम्बु' (कात्यायिनी व्रत) वर्णित है। महीनों में श्रेष्ठ 'मार्गशीर्ष' में नव युवतियाँ योग्य वर की प्राप्ति के लिए यह व्रत रखती हैं। लोगों का विश्वास है कि इस प्रकार व्रत रखने से व्रत-धारिणियों को ही नहीं बल्कि वर्षा धन-धान्य से समस्त देश को भी लाभ पहुँचेगा।[2] तिरुप्पावै के भाव-लोक

---

१ पेरियाळ्वार तिरुमोळी—३ ८ ४।
२ तिरुप्पावै—पद १।

की विशेषता यह है कि काल स्थान की परिधि को लाँघकर आंडाळ स्वयं गोपी बन जाती हैं और अन्य सहेलियों के साथ अपने उपास्य देव 'कृष्ण' के पास व्रत की फल प्राप्ति के लिए पहुँच जाती हैं। अतः 'तिरुप्पावै' में आंडाळ ने अपनी ही कहानी कही है। तिरुप्पावै का वर्ण्य विषय संक्षेप में इस प्रकार है—'मार्गशीर्ष' की पूर्णिमा के दिन आंडाळ अपनी सखियों से 'मार्गळी नोम्बु' का अनुष्ठान करने के लिए कहती है और यह विश्वास दिलाती है कि भगवान् अवश्य हमारी इच्छित वस्तुओं को प्रदान करेंगे। आंडाळ 'तिरुप्पावै' के प्रारम्भ के कुछ पदों में 'मार्गळी नोम्बु' की विशेषता, तथा विधि विधान आदि का वर्णन करती है।[1] इस व्रत का प्रधान अंश—उषाकाल में उठकर स्नान कर आना है। अतः आंडाळ अपनी सहेलियों से सवेरा हो जाने की सूचना देती हैं और निद्रा त्यागकर अपने साथ चलने को कहती हैं।[2] जब सभी सखियाँ एकत्र हो गयीं तो आंडाळ कृष्ण तक पहुँचने के लिए सफल मार्ग का अन्वेषण करती हैं और सखियों के दल को लेकर कृष्ण भगवान् के निवास-स्थान की ओर चलती हैं। द्वार पालक से अपना परिचय इस प्रकार देती हैं कि हम गोपियाँ श्रीकृष्ण भगवान् की नींद त्यागकर जगाने के लिए आयी हैं और द्वारपालक से प्रार्थना करती हैं कि वह उनके आने का समाचार श्रीकृष्ण तक पहुँचा दे।[3] अब आंडाळ कृष्ण से मिलने से पहले उनकी प्रिया 'नप्पिन्नै' (तमिळ की 'राधा') से निवेदन करती हैं कि वे उन्हें श्रीकृष्ण से मिलने दें।[4] 'नप्पिन्नै' को प्रसन्न करने के पश्चात् आंडाळ श्रीकृष्णचन्द्र का यशोगान करती हैं और श्रीकृष्ण को जगाती हैं। श्रीकृष्ण से सखियाँ सहित अपने आने का कारण बताती हैं और प्रार्थना करती हैं कि उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाएँ।[5]

इन पदों में आंडाळ के भक्ति-भाव और तत्कालीन ग्राम्य जीवन के सौन्दर्यपूर्ण सजीव चित्र देखने को मिलते हैं। प्रकृति का भी रसपूर्ण वर्णन है। तिरुप्पावै का धार्मिक महत्व अत्यधिक है। वैष्णव मन्दिरों में और वैष्णवोपासकों के घरों में 'मार्गशीर्ष' महीने के तीसों दिन अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ 'तिरुप्पावै' के पद गाये जाते हैं। आंडाळ द्वारा प्रचारित यह 'मार्गळी व्रत' समस्त दक्षिण भारत में ही नहीं सुदूर स्याम देश में भी शताब्दियों से मनाया जाता है।[6]

२—नाच्चियार तिरुमोळी

इसमें १४३ स्फुट पद हैं। पद विभिन्न राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इसमें लीलानायक कृष्ण को अपना प्रियतम और अपने को उनकी प्रेमिका मानकर रचे गये

---

१ तिरुप्पावै—पद १ से ५ तक
२. वही पद ६ से १५ तक
३ वही, पद १६
४ वही, पद १० से २० तक
५ वही, पद २१ से ३० तक
६ श्री पी० श्री आचार्य का लेख : "Voice and Vision of Andal" Souvenir All India Writers Conference, 1959, p. 154

आंडाळ के पद संगृहीत हैं । कामदेव से श्रीकृष्ण से अपने को मिला देने का निवेदन कोकिल मेघादि से कृष्ण के पास सन्देश भेजना और उन्हें बुलाने की प्रार्थना स्वप्न में माधव से विवाह और मिलन और फिर वियोग आदि बातें इस संग्रह के पदों में वर्णित हैं । इसके कुछ पद वैष्णवोपासकों के घरों में विवाहोत्सव के अवसर पर अवश्य गाये जाते हैं ।

आंडाळ की प्रसिद्धि

आंडाळ की दोनों रचनाओं ने तमिळ जनता के धार्मिक जीवन को बहुत ही प्रभावित किया है, इसमें सन्देह नहीं । कहा जाता है कि श्री रामानुजाचार्य जिन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था आंडाळ के पदों को गा-गाकर आत्म-विभोर हो जाते थे । आंडाळ की रचना 'तिरुप्पावै' में उनकी तल्लीनता को देखकर उन्हें 'तिरुप्पावै जीयर' (अर्थात् तिरुप्पावै प्रेमी') कहा जाता था ।[1] श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने आंडाळ की प्रशस्ति गाते हुए 'गोदा स्तुति' नामक ग्रन्थ लिखा है । एक दूसरे वैष्णव भक्त ने यहाँ तक कहा है—"वह व्यक्ति वसुधा के लिए भार स्वरूप है जिसने आंडाळ द्वारा तमिळ में रचित तिरुप्पावै के तीस पदों को हृदयंगम नहीं किया हो ।"[2] कहा जाता है कि प्रसिद्ध शैव कवि माणिक्कवाचकर ने भी 'तिरुप्पावै' का अनुकरण करके ही उसी विषय को लेकर 'तिरुवेंबावै' नामक काव्य की रचना की । श्री आंडाळ की प्रेम साधना को अपनी कथावस्तु बनाकर राजा श्री कृष्णदेव राय ने स्वयं तेलुगु भाषा में 'आमुक्तमाल्यदा' नामक महाकाव्य रचा ।[3]

तोंडरडीपोडी आळवार (भक्तांघ्रिरेणु)

तोंडरडीपोडी आळ्वार का जन्म चोल राज्य में कावेरी नदी के तट पर स्थित तिरुमंडनकुडी नामक ग्राम में एक प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ था । इनके पिता 'वेद विशारद' कहे जाते थे ।[4] 'विप्रनारायण' आळवार के बचपन का नाम था । बाल्यावस्था में इन्होंने भली-भाँति शास्त्राध्ययन किया था । तमिळ और संस्कृत दोनों भाषाओं में पर्याप्त पांडित्य प्राप्त किया था । इनका मन भक्ति की ओर झुका हुआ था और इन्होंने भगवत्सेवा में ही अपने जीवन को लगाने का निश्चय किया । इसके लिए वे श्रीरंगम् के निकटवर्ती एक ग्राम में एक सुन्दर तुलसी-वन बनाकर रहने लगे और नित्य (पेरियाळ्वार की तरह) पुष्प मालाएँ तैयार कर श्री रंगनाथ को समर्पित कर आते थे । केवल इसी सेवा को अपने जीवन का परम ध्येय समझते थे । युवावस्था में होने पर भी अत्यन्त निष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य का पालन

---

१ वेदान्त केसरी—मई १९५१ पृ० ४२ ।
२ द्राविड़ मुनिवरस्त्र—श्री रामकृष्ण पिल्लै पृ० ११ ।
३ आल इण्डिया रायटर्स कान्फ्रेन्स मद्रास १९५९, श्री पी० श्री आचार्य का लेख—*Voice and Vision of Andal* p. 161

कर संन्यासी की तरह जीवन बिताते रहे। ये अपने को 'भगवान् के दासों का दास' कहना पसन्द करते थे और भक्तों की सेवा को भगवत्सेवा के तुल्य समझते थे। अतः इन्हें तॉण्डरडीपोडी आळ्वार (भक्ताङ्घ्रिरेणु) अर्थात् भगवद् दासों के चरणों की धूलि' कहकर लोग पुकारने लगे। सम्प्रदाय में इन्हें विष्णु की वनमाला का अङ्ग माना जाता है।

तॉण्डरडीपोडी आळ्वार के जीवन-काल का निर्णय करने में कठिनाई है। इनकी रचनाओं में उपलब्ध कुछ उल्लेखों के आधार पर इनका समय आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में माना जा सकता है।[1] कुछ विद्वान् इन्हें तिरुप्पाण आळ्वार तथा तिरुमंगै आळ्वार का समकालीन मानते हैं।[2]

तॉण्डरडीपोडी के सम्बन्ध में एक कथा बहुत ही प्रसिद्ध है। इसकी पुष्टि में आळ्वार के कुछ पद प्राप्त होते हैं। कहा जाता है कि एक दिन प्रातःकाल ये नियमानुसार अपने तुलसी-वन में भगवान् का नाम-स्मरण करते हुए क्यारियों को सुधार कर पानी लगाने में व्यस्त थे। उस समय देवदेवी नामक एक वेश्या चोल-नरेश के राजभवन में अपने नृत्य गीत आदि का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन करके तथा पुरस्कार प्राप्त कर अपनी बहिन तथा सखियों के साथ लौट रही थी। आळ्वार के तुलसी-वन ने उनको इतना आकर्षित कर दिया कि वहीं थोड़ी देर विश्राम कर जाने की इच्छा से प्रेरित होकर तुलसी-वन में आ घुसीं। दूर से ही तेजस्वी नवयुवक संन्यासी आळ्वार को देखकर देवदेवी उन पर मुग्ध हो गयी। परन्तु देवदेवी के मनमोहन रूप-सौन्दर्य का कुछ भी असर आळ्वार पर नहीं पड़ा। देवदेवी ने जिसको अपने रूप का गर्व था आळ्वार के इस तिरस्कार भाव को देखकर मन ही-मन निश्चय किया कि मैं इनको अपने वश में करके ही यहां से जाऊँगी। उसकी बहिन तथा अन्य सखियों ने उसे समझाया कि यह महात्मा बड़े विरक्त हैं और इन पर नारी-सौन्दर्य कुछ भी असर नहीं करेगा और इनके मन को विचलित नहीं कर सकेगा। देव-देवी ने उनकी बात नहीं मानी और यह कहकर उन्हें भेज दिया कि मैंने यह प्रण कर लिया है कि इन्हें किसी-न किसी तरह अपने वश में करके ही यहाँ से लौटूंगी। देवदेवी गेरुआ वस्त्र पहनकर तॉण्डरडीपोडी आळ्वार के सम्मुख जाकर उनके चरणों में नत हुई। आळ्वार ने यह पूछा कि तुम कौन हो और यहां क्यों आयी हो? देवदेवी ने हाथ जोड़कर कहा कि मैं वेश्या हूँ। अब उस जीवन से मुझे घृणा पैदा हो गई है और अपना उद्धार करने की इच्छा से आपके पास आई हूँ। आप मुझ पर दया कर, इस उपवन में रहने दें और श्री रंगनाथ की सेवा में मुझे भी अपना जीवन व्यतीत करने का अवसर दें। तॉण्डरडीपोडी ने अपनी सहज सरलता के कारण देवदेवी की बातों पर विश्वास कर उसे वहां रहने की अनुमति दे दी। तत्पश्चात् देवदेवी तुलसी-वन की वृद्धि में आळ्वार

---

१ आळ्वारगळ कालनिलै—स्वामी विरुम्बनगार पृ० ७४।
2. *History of Sri Vaisnavas*—T A Gopinath Rao p 26

की सहायता करने लगी। कुछ समय के पश्चात् एक दिन जब देवदेवी फूल चुन रही थी तब बड़े जोर से वर्षा होने लगी। आळ्वार को भीगी देवदेवी पर दया आयी और उन्होंने उसे अपनी कुटी के अन्दर बुला लिया। बहुत देर तक पानी का बरसना बन्द नहीं हुआ तो देवदेवी को उसी कुटिया में रह जाना पड़ा। अनुकूल अवसर पाकर देवदेवी ने युवक संन्यासी से अपने शरीर को स्वीकार करने की प्रार्थना की और अपने रूपलावण्य से उनके मन में काम की ज्वाला उत्पन्न कर दी। भक्त का चित्त चलायमान हो गया और भगवान् की रूप-सुधा से हटकर गर्हित नारी की ओर जा चिपका। देवदेवी जिस उद्देश्य के लिए वहाँ आयी थी आखिर उसकी पूर्ति हुई। देवदेवी के प्रेम-पाश में पड़कर आळ्वार ने भगवान् को विस्मृत कर दिया। कुछ समय के बाद जब देवदेवी ने अनुभव किया कि इस संन्यासी के साथ रहने में विशेष आनन्द नहीं है, तो वह उन्हें छोड़कर वहाँ से चली गयी। भगवान् को भक्त की इस दशा पर दया आई। एक रात को कोई अपने को तोंडरडीपोडी आळ्वार का सेवक बताकर सोने की एक थाली देवदेवी के घर दे आया जिससे प्रसन्न होकर देवदेवी ने आळ्वार को सप्रेम अपने पास बुला लिया। परन्तु वह स्वर्ण-थाल राजमहल का था। अतः दूसरे ही दिन आळ्वार चोरी के अपराध में पकड़े गये और उन्हें कारावास का दण्ड मिला। कहते हैं कि फिर श्री रंगनाथ ने राजा के स्वप्न में प्रकट होकर आळ्वार को मुक्त कर देने की आज्ञा दी। आळ्वार को अपने अपराध पर पश्चात्ताप हुआ। अब उन्होंने जेल से ही नहीं नारी-प्रेम से भी मुक्त होकर, फिर से भगवत्सेवा तथा भक्ति में तन-मन को लगाया। आळ्वार की यह धारणा थी कि भागवतों की सेवा भगवत्सेवा से भी श्रेष्ठ है। वे मन्दिर में आने वाले समस्त भक्तों की चरण-धूलि का सेवन कर भजन-कीर्तन में रत रहने लगे।

रचनाएँ

तोंडरडीपोडी आळ्वार की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं —

१—तिरुमाळै

२—तिरुप्पळ्ळी एळुच्ची

'तिरुमाळै' का अर्थ है 'पवित्र माला'। इसे कवि की 'गीतावलि' कह सकते हैं। यह ४५ पदों का एक गीत-संग्रह है। अधिकांश पद आत्मनिवेदनपरक हैं। कवि ने भगवान् के सम्मुख अपनी दीनता का प्रकाशन कर अपने को उनके दासानुदास के रूप में अङ्गीकार करने की प्रार्थना की है। इसमें उत्कृष्ट भक्ति-भावना के साथ काव्य सौन्दर्य भी झलकता है। तमिळनाडु में एक प्रसिद्ध कहावत है—'*तिरुमाळै अरियाम तिरुमाळै अरियाम*' अर्थात् जो '*तिरुमाळै*' को नहीं जानता वह *तिरुमाळ* (विष्णु) को नहीं जानता। इससे 'तिरुमाळै' का महत्व स्पष्ट होता है।

तोंडरडीपोडी आळ्वार की दूसरी रचना 'तिरुप्पळ्ळी एळुच्ची' विशेष महत्त्व की है, क्योंकि इसको 'नित्यानुसन्धान पाठ' अर्थात् नित्यपाठ में स्थान प्राप्त है। अतः इसका गायन नित्यप्रति प्रातःकाल प्रत्येक विष्णु मन्दिर में होता है, जिससे इस रचना

का धार्मिक महत्त्व माना जा सकता है। 'तिरुपळ्ळी एळुच्ची' से तात्पर्य 'भगवान् को जगाने के सुप्रभात गीतों' से है। इसमें केवल १० ही पद हैं। प्रत्येक पद में प्रातःकाल होने की सूचना देने वाले प्राकृतिक लक्षणों का वर्णन कर भगवान् से अपनी शैया से उठने की प्रार्थना की गई है। प्रत्येक पद में प्रातःकालीन वातावरण का सुन्दर चित्रण है। प्रकृति के ऐसे सुन्दर सजीव चित्र अन्यत्र विरले ही मिलते हैं। पदों में शब्द-चयन चित्ताकर्षक है।

तिरुप्पाण आळ्वार (योगीवाहन)

तिरुप्पाण आळ्वार को मुनिवाहन अथवा 'पाण पेरुमाळ' भी कहा जाता है।[1] इनका जीवन-वृत्त तिमिराच्छिन्न है। गुरु-परम्परा-ग्रन्थों में इनको 'अयोनिज' कहा जाता है। इनका जन्म-स्थान श्रीरंगम् के दक्षिण भाग में कावेरी नदी के किनारे पर स्थित 'उरैयूर' गाँव था। कहा जाता है कि ये उरैयूर के किसी ब्राह्मण के खेत में पड़े हुए थे। वहीं से 'पाणन' कुल का एक व्यक्ति इन्हें ले आया और उसी ने इनका पालन-पोषण किया। 'पाणन' कुल के लोग गायक होते थे और वे राजाओं और धनी लोगों के यहाँ वीणा आदि वाद्य-यन्त्रों के साथ गायन कर उनसे पुरस्कार प्राप्त कर जीविका चलाने वाले थे। एक समय तमिळ-समाज में उन्हें बड़ा गौरव प्राप्त था। परन्तु हमारे आळ्वार के समय में 'पाणन' जाति एक निम्न जाति मानी जाती थी। 'पाणन' कुल में पलने के कारण आळ्वार का नाम भी 'तिरुप्पाण ('पवित्र पाण') पड़ा।

गुरु-परम्परा-ग्रन्थों में तिरुप्पाण आळ्वार का जीवन-वृत्त बहुत ही संक्षिप्त रूप में मिलता है। इनकी रचना में भी कहीं इनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने वाला कोई भी उल्लेख नहीं है। इनके समय का निर्णय करने के लिए कोई आधार उपलब्ध नहीं है। गुरु-परम्पराओं के अनुसार इनका जन्म कलियुग के १४३ वें वर्ष में हुआ था। तोंडरडिप्पोडी आळ्वार ने अपने एक पद में कदाचित् 'तिरुप्पाण' का ही स्मरण कर यह लिखा है— "हे भगवान्, नीच जाति में उत्पन्न होने पर भी अपने भक्त होने के कारण तुमने भक्त को अपने पास बुला लिया और यह साबित किया कि नीच वह है जो तुम्हारा भक्त नहीं चाहे वह उच्च कुलोत्पन्न क्यों न हो।"[2] अधिकांश विद्वान् अनुमानतः तिरुप्पाण आळ्वार को तोंडरडिप्पोडी आळ्वार का समकालीन मानकर उनका समय आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा नवीं शती के पूर्वार्द्ध में निश्चित करते हैं।

जनश्रुतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तिरुप्पाण आळ्वार बचपन से ही गायन-विद्या में निपुण थे। वीणा बजाकर वे मधुर गीत गाया करते थे

---

१ द्राविड़ मुनिवरुकुळ—श्री राधाकृष्ण पिळ्ळै पृ० १८।
२ तिरुमालै—पद ४१।

और लोग मन्त्र-मुग्ध से होकर सुनते थे। स्वयं भी वे भक्ति-परक पद गा-गाकर तन्मयावस्था में मूर्छित हो जाते थे। गुरु-परम्पराओं के अनुसार वे "यमवद् पाल विषय सार्वभौम' के नाम से भी प्रसिद्ध थे।

तिरुप्पाण आळ्वार श्रेष्ठ वैष्णव भक्त थे। उन दिनों श्रीरंगम् का मन्दिर वैष्णव भक्तों का मुख्य केन्द्र था। चूँकि आळ्वार की 'पाणन जाति' निम्न कोटि की मानी जाती थी और उस जाति के लोग अस्पृश्य समझे जाते थे इसलिए वे विष्णु के अर्चावतार रूप श्री रंगनाथ के मन्दिर में प्रवेश कर मत्त्व गोष्ठी में आ नहीं सकते थे। इनके जीवन की सबसे बड़ी कामना यही थी कि श्रीरंगनाथ के सौन्दर्य-स्वरूप के दर्शन कर अपने जीवन को धन्य बनाएँ। परन्तु 'पाणन' कुलोत्पन्न होने के कारण मन्दिर में प्रवेश करने के लाभ से वंचित रहे। अतः वे कावेरी के दक्षिणी तट पर एक कुटी बनाकर रहने लगे और वहीं खड़े होकर श्रीरंगनाथ के मन्दिर की ओर देखते हुए प्रतिदिन श्रीरंगनाथ की स्तुति में गीत गाते रहे। मधुर गीत गा-गाकर आत्मविभोर हो जाते थे और उन्हें अपने शरीर की सुध तक नहीं रहती।

कहा जाता है कि भगवान् ने तिरुप्पाण की तीव्र भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें मन्दिर में प्रवेश कराकर अपने दिव्य दर्शन देने का निश्चय किया और उसके लिए एक उचित अवसर भी हुआ। एक दिन एक विचित्र घटना घटी। श्री रंगनाथ के मन्दिर का 'लोकसारंग' नामक एक ब्राह्मण पुजारी अपने साथियों के साथ श्री रंगनाथ की मूर्ति के अभिषेक के लिए घड़े में कावेरी-जल लेकर आ रहा था। कावेरी-तट से मन्दिर की ओर जाते समय उन लोगों ने देखा कि तिरुप्पाण आळ्वार मार्ग के समीप भगवद् भजन में तल्लीन होकर वीणा बजाते हुए तन्मयावस्था में बैठे हुए थे। यह सोचकर कि तिरुप्पाण निम्न जाति का है और इसलिए अपवित्र है उन लोगों ने तिरुप्पाण से मार्ग से दूर हट जाने के लिए कहा। चूँकि आळ्वार भगवद् भजन में समाधिस्थ थे इसलिए वे उन लोगों की आवाज न सुन सके। पुजारी समेत अन्य लोग आळ्वार को वहाँ से भाग जाने के लिए बुलन्द आवाज में चिल्लाने लगे। परन्तु तिरुप्पाण ध्यान में इतने मस्त थे कि उनके चिल्लाने का कोई असर इन पर न पड़ा और वे टस से मस न हुए। 'लोक सारंग' को अब क्रोध आया और अहंकारवश उसने एक पत्थर आळ्वार पर फेंक दिया। आळ्वार के सिर पर चोट लगी और खून बह निकला। तब तिरुप्पाण जाग उठे और क्षमा-याचना करते हुए वहाँ से चले गये। लोकसारंग को अपने क्रूर कार्य पर पश्चात्ताप होने लगा। जब वह उस दिन रात को चिन्ताग्रस्त होकर सो रहा था तब श्री रंगनाथ ने स्वप्न में प्रकट होकर आदेश दिया "तुम्हारे फेंके हुए पत्थर से मेरे सिर पर ही चोट लगी है। तुमने बड़ा अन्याय किया है। तिरुप्पाण मेरे श्रेष्ठ भक्त मित्र और दास हैं। अतः तुम अपने प्रायश्चित्त के रूप में उन्हें अपने कन्धों पर बिठाकर लाओ और मेरे सम्मुख उपस्थित करो। यही तुम्हारे पाप का उचित प्रायश्चित्त है।" दूसरे दिन प्रातःकाल लोकसारंग मुनि भगवान् की आज्ञा का पालन करने के हेतु आळ्वार के पास आया और उसने आळ्वार से क्षमा

गी। भगवान् का आदेश सुनाकर आळ्वार को अपने कन्धों पर बिठाकर श्री रंगनाथ मन्दिर में ले आया। 'मुनि की पीठ' पर आरूढ़ होकर मन्दिर के अन्दर प्रवेश करने के कारण आळ्वार को 'मुनिवाहन' भी कहा जाता है। कहते हैं कि श्री रंगनाथ के मन्दिर में प्रवेश कर तथा मूर्ति के सौन्दर्य का आस्वादन कर तिरुप्पाण आळ्वार को उतना आनन्द मिला जितना अन्धे को दृष्टि मिलने पर। भाव-विभोर होकर आळ्वार ने भगवान् के सौन्दर्यपूर्ण प्रत्येक अंग का वर्णन (नख से शिख तक) किया और भगवान् की स्तुति में अनेक पद गाये। अन्तिम पद[1] में इन्होंने गाया कि—"जिन आँखों ने इस अलौकिक शाश्वत सौन्दर्य को देखा है, वे किसी दूसरी वस्तु को न देखें।" कहते हैं जब आळ्वार ने भगवद् सौन्दर्य-वर्णन समाप्त किया तब वहाँ दिव्यालोक-सा सर्वत्र व्याप्त हो गया और उस ज्योति में तिरुप्पाण आळ्वार अन्तर्धान हो गये। गुरु-परम्परा ग्रन्थों के अनुसार उस समय आळ्वार की आयु ५० वर्ष की थी।[2]

रचनाएँ

'अमलनादिपिरान' तिरुप्पाण आळ्वार की एक मात्र रचना है। यह १० पदों वाली एक कविता है। इस कविता का आरम्भ 'अमलन', 'आदिपिरान' आदि भगवद् गुण विशेषणों से होने के कारण इसका नाम 'अमलनादिपिरान' रखा गया। तिरुप्पाण आळ्वार की अन्य रचनाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। 'अमलनादिपिरान' में श्री रंगनाथ के अद्भुत सौन्दर्य का नख से शिख तक वर्णन है। प्रत्येक पद में विष्णु की विभिन्न लीलाओं की ओर विशेषकर कृष्ण लीलाओं की ओर संकेत है। दसों पदों में दस अंगों का वर्णन है।

'अमलनादिपिरान' का धार्मिक महत्व अत्यधिक है। इसको वैष्णव मन्दिरों में 'नित्यानुसंधान' अर्थात् 'नित्य-पाठ' में स्थान प्राप्त है। श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने जिनके अनेक ग्रन्थ तमिळ और संस्कृत—दोनों भाषाओं में मिलते हैं, आळ्वारों की रचनाओं में से केवल 'अमलनादिपिरान' पर ही टीका लिखी है। उसका नाम है 'मुनिवाहन भोगम्'। इससे इसका धार्मिक महत्व जाना जा सकता है।

तिरुमंगै आळ्वार (परकाल)

आळ्वार-परम्परा में तिरुमंगै आळ्वार अन्तिम आळ्वार माने जाते हैं। सम्प्रदाय में इन्हें विष्णु का शार्ङ्गांश माना जाता है। इस आळ्वार का जन्म चोल राज्य में तिरुवालि तिरुनगरी' नामक दिव्य-धाम के पास अवस्थित 'तिरुक्कुरैयलूर' नामक स्थान में हुआ था। इनकी जाति का नाम कळ्ळर था। इस जाति के लोग जंगली पहाड़ों में वास कर लूटमार से जीविका चलाने वाले व्याध थे। इनके पिता

१   अमलनादिपिरान—पद सं० १०।
२. दिव्य सूरि चरितामृतम्—श्री पी० बी० अण्णंगराचार्य पृ० २८।

चोल राजा के यहाँ सेनापति थे। तिरुमंगै का पहला नाम 'नीलन' था। 'कलियन', 'अरुळ्मारी' 'परकालन' आदि कई नामों से भी प्रसिद्ध हैं।[1]

अन्य आळ्वारों की अपेक्षा इस आळ्वार का जीवन-वृत्त इनकी रचनाओं में प्राप्त अन्तःसाक्ष्य के आधार पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। इन्होंने 'परमेश्वर विण्णगर' नामक मन्दिर का उल्लेख किया है, *जिसका निर्माण पल्लव नन्दीवर्मन* द्वितीय (ईस्वी सन् ७११ से ७९६ तक जीवित) के शासन-काल में हुआ था। शिलालेखों[2] से भी पता चलता है कि तिरुमंगै आळ्वार का जीवन-काल आठवीं सदी के उत्तरार्द्ध में था। अनेक आधारों को प्रस्तुत कर प्रो० एस० वैयापुरि पिल्लै इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तिरुमंगै आळ्वार ईस्वी सन् ८०० तथा ८७० के बीच में जीवित थे।[3]

तिरुमंगै आळ्वार युद्ध विद्या में निपुण थे। अतः चोल राजा ने इनके पिता की मृत्यु के पश्चात् इन्हें अपना सेनापति बना लिया। राजा के विरोधियों को बड़ी *आसानी से परास्त कर देने के कारण इन्हें 'परकालन' (अर्थात् शत्रुओं का 'कालन'—*यम) कहते थे। इनकी वीरता से प्रसन्न होकर चोल राजा ने इन्हें 'तिरुमंगै' नामक प्रदेश का सामन्त राजा बना दिया। तत्पश्चात् ये तिरुमंगै मन्नन के नाम से प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार युद्ध-कला में कुशल थे उसी प्रकार संगीत नृत्य नाटक काव्य-कलाओं में भी ये पारंगत थे। ये तमिळ और संस्कृत—दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित सिद्ध हुए। इनकी रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इन्होंने अपने पूर्व के तमिळ-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है और अपनी रचनाओं में विभिन्न काव्य शैलियों को कुशलतापूर्वक अपनाया है। आळ्वार भक्त-कवियों में सबसे श्रेष्ठ साहित्यिक मर्मज्ञ ये ही हैं।

तिरुमंगै बड़े ही रसिक थे। अपने पास यौवन तथा जीवन की सारी सुविधाओं के रहने से ये बड़ा विलासितापूर्ण जीवन बिताते थे। बहुत समय तक ये अविवाहित रहे। इनके विवाह तथा बाद के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि उस समय 'तिरुवेळ्ळक्कुळम्' नामक गाँव में एक वैष्णव वैद्य रहते थे जिनके एक रूपवती कन्या थी। लड़की का नाम 'कुमुदवल्ली' था और उसकी लावण्यता इतनी अत्यधिक थी कि बड़े-बड़े राजा उससे विवाह करने को इच्छुक हुए। तिरुमंगै ने कुमुदवल्ली के रूप से मोहित होकर उसके पिता से कुमुदवल्ली के साथ विवाह करने की अपनी इच्छा प्रकट की। दो शर्तों पर कुमुदवल्ली तिरुमंगै से विवाह

---

१ *नालायिर दिव्य प्रबन्धम्—सम्पादक श्री एन० कृष्णमाचारियार—तिरुमंगै* वैभवम्, पृ० ४।

2. *Epigraphia Indica*, Vol. IV p. 334.

3. *History of Tamil Language and Literature*—Prof S. Vaiyapuri Pillai, p. 128.

करने को तैयार हुई। एक शर्त यह थी कि सबसे पहले तिरुमंगै को परम वैष्णव भक्त बनना चाहिए। दूसरी बात यह थी कि प्रतिदिन १००८ वैष्णव भक्तों को भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करना चाहिए। दोनों शर्तों को स्वीकार कर तिरुमंगै ने कुमुदवल्ली से विवाह कर लिया। प्रतिदिन १००८ वैष्णव भक्तों के भोजन का प्रबन्ध किया गया। कुछ समय के अनन्तर तिरुमंगै की सारी सम्पत्ति इस कार्य में खर्च हो गयी। यही नहीं तिरुमंगै ने इस कार्य में राजकोष का पूरा धन भी समाप्त कर दिया। चोल राजा को इस बात का पता चला तो उसने तिरुमंगै से राजकोष के सम्पूर्ण धन को लौटा देने की आज्ञा दी। चूँकि तिरुमंगै राजा के धन को लौटा न सके इसलिए उनको गिरफ्तार कर कारागार में भेज दिया गया। कहा जाता है कि वहाँ रहते हुए तिरुमंगै को दैवी प्रेरणा से कांचीपुरम् में एक स्थान पर जमीन में गड़ी हुई किसी गुप्त सम्पत्ति का पता चला। आळ्वार ने इस सम्पत्ति को प्राप्त कर राजकोष का सम्पूर्ण धन लौटा दिया और बन्दीगृह से मुक्त कर दिए गये। कुमुदवल्ली को दिए गये वचन का पालन करने के लिए, जब कोई दूसरा मार्ग न दीख पड़ा तो इन्होंने अपने जातीय पेशा डाका-डालना—प्रारम्भ कर दिया। द्रव्य जुटाने के लिए इन्हें क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना पड़ा। परन्तु लूटमार से जो कुछ भी मिलता उसे वैष्णव भक्तों की सेवा में अर्पित करते थे। कहते हैं कि भगवान् आळ्वार को सुमार्ग पर लाने के लिए स्वयं एक धनी ब्राह्मण यात्री के रूप में उस रास्ते से आये जहाँ तिरुमंगै तथा उनके साथियों ने ब्राह्मण यात्री के सारे धन को लूटा। परन्तु प्राप्त धनराशि को वे उठा नहीं सके। यह विचार कर कि ब्राह्मण ने किसी मन्त्र का प्रयोग किया होगा, उन लोगों ने यात्री को डाँटकर वह मन्त्र बताने को कहा। इस पर ब्राह्मण यात्री ने तिरुमंगै को अपने पास बुलाकर उन्हें वेद-सार-रूपी अष्टाक्षर मन्त्र का उपदेश दिया। तिरुमंगै को मालूम हुआ कि वस्तुतः विष्णु भगवान् ही उनका उद्धार करने के हेतु आये हुए थे। उस समय से आळ्वार के जीवन में महान् परिवर्तन आ गया और वे एक श्रेष्ठ भगवद् भक्त बन गये।

आळ्वार का यह युग धार्मिक संघर्ष का था और प्रत्येक धर्मानुयायी अपने अपने धर्म के प्रचार के कार्य में लगे हुए थे। बौद्ध और जैन धर्म पतनोन्मुख हो चुके थे यद्यपि पूर्ण रूप से उनकी शक्ति न मिटी थी। शैव सन्त अपने धर्म को श्रेष्ठ साबित कर लोगों को शैव भक्त बनाने के कार्य में लगे हुए थे। तिरुमंगै ने भी अपने युग की माँग को भली भाँति समझ कर सारे देश में घूम घूमकर वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने बौद्ध तथा जैन धर्मों का खण्डन भी किया था। कहते हैं कि नागपट्टिनम में स्थित भगवान् बुद्ध की स्वर्ण मूर्ति को इन्होंने तोड़ डाला[1] और उससे प्राप्त धन

---

1 *History of India*, Pt. I Ancient India, Prof K. A. Nilakanta Sastri, p 267

से श्रीरंगम् के मन्दिर का तीसरा प्राकार (बाहरी दीवारी) बनवाया।[1] इन्होंने ही श्रीरंगम् के मन्दिर में नम्माळ्वार के पदों के गायन का प्रबन्ध किया था। दक्षिण और उत्तर भारत के सभी प्रमुख वैष्णव स्थलों के—कन्याकुमारी से बद्रिकाश्रम तक के वैष्णव क्षेत्रों के दर्शन कर आये। इन्होंने इन सभी स्थानों का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। कहा जाता है कि इन्होंने दूसरे मतावलम्बियों के साथ धार्मिक वाद-प्रतिवाद में भी भाग लिया था। एक जनश्रुति के अनुसार इन्होंने प्रसिद्ध शैव-सन्त तिरुज्ञान सम्बन्धर को भी धार्मिक चर्चा में परास्त किया था। परन्तु इसका कोई आधार नहीं है।[2] गुरु-परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार ये १०५ वर्ष तक जीवित रहे और इनका देहान्त 'तिरुक्कुरुंगुडी' नामक स्थान में हुआ।

यह लिखा जा चुका है कि तिरुमंगै आळ्वार तमिळ तथा संस्कृत—दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे। ये सहृदय कवि और प्रकृति-प्रेमी भी थे। तमिळ की कोई भी काव्य-शैली ऐसी नहीं जिसमें इन्होंने मधुर कविताएँ नहीं रची हों। 'आशु' 'मधुरम्' 'चित्रम्' 'विस्तारम्' नाम के चार प्रकार की काव्य-शैलियों में उत्तम रचना करने के कारण इन्हें 'नालु कवि पेरुमाळ" (काव्याचार्य) भी कहा जाता है। भक्त भी उच्चकोटि के थे ही। इनके मत के अनुसार शुष्क तपस्या व्यर्थ है और नवधा-भक्ति ही मोक्षदायिनी है। इनके सम्बन्ध में एक आलोचक का कहना है कि तिरुमंगै आळ्वार ऐसे भक्त थे जो "आत्मा को सूर्य की धूप में सुखाना और शरीर को कृपा की ठंडक में पालना चाहते थे।"

रचनाएँ

संख्या की दृष्टि से नालायिर दिव्य-प्रबन्धम्' में संगृहीत पदों में सबसे अधिक पद तिरुमंगै आळ्वार के हैं। ये सभी पद विविध राग रागिनियों में हैं। इनकी निम्नलिखित ६ कृतियाँ मिलती हैं —

१—पेरिय तिरुमोळि

२—तिरुक्कुरुन्ताण्डकम्,

३—तिरुनेडुन्ताण्डकम्,

४—तिरुवेळुकूट्रिरुक्कै

५—शिरिय तिरुमडल

६—पेरिय तिरुमडल।

ये छः कृतियाँ वैष्णवों के बीच में 'षडंग' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

'पेरिय तिरुमोळि में १०८४ पद हैं। अनेक पद तीर्थ-यात्रा करते समय तिरुमंगै आळ्वार ने जितने भी वैष्णव दिव्य-क्षेत्रों के दर्शन किये थे, उनमें विराजमान विष्णु

---

१ कारलाल मन्निपेरुदेवर—श्री पी० बी० आचार्य पृ० ४०।

२ आळ्वार कालनिलै—श्री एम० राघव अय्यंगार, पृ० ११०।

की अर्चावतार-मूर्तियों की स्तुति में गाये गये हैं। कवि ने प्रारम्भ के कुछ पदों में यौवनावस्था में किये गये अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप प्रकट कर भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण की भावना व्यक्त की है। अधिकांश पद दार्शनिक विचारों से भरे पड़े हैं। कृष्ण-कथा के प्रसङ्गों का भी वर्णन मिलता है। कुछ पदों में तमिळ के संघ साहित्य की 'अहम्' काव्य-शैली में नायिका की विरह-वेदना नायक से मिलने की आतुरता मेघ कोकिल भ्रमर इत्यादि द्वारा सन्देश भेजना आदि वर्णित हैं।

'तिरुक्कुरुन्ताण्डकम्' में २० पद हैं तथा 'तिरुनेडुन्ताण्डकम्' में १० पद हैं। इनमें सांसारिक माया-मोह के बन्धनों से विमुक्त होकर परम वात्सल्यमय भगवान् की शरण में जाने का उपदेश है। इस भवसागर को पार करने के लिए उसी को एक मात्र सहायक कहा है। 'ताण्डकम्' शब्द का अर्थ है 'सहायक छड़ी' जो बूढ़ों के लिए चलने में और पर्वत पर चढ़ते समय पैर के न फिसलने के लिए सहायक होती है। एक मात्र भगवान् को ही वह 'सहायक छड़ी' कहा गया है। 'तिरुवेलुकूट्टिरुक्कै' एक लम्बा पद है। इसमें कवि के आत्मसमर्पणपूर्ण भाव व्यक्त किये गये हैं।

'सिरिय तिरुमडल' तथा "पेरिय तिरुमडल' में तमिळ-समाज की 'मडल' प्रथा का वर्णन है। नायक और नायिका के बीच प्रेम के विकास को कई अवस्थाओं में विभाजित कर वर्णन करने की परम्परा, 'अहम्' काव्य-शैली में मिलती है। पहले यह प्रेम गुप्तावस्था में ही रहता है। धीरे-धीरे विकसित होकर वह उस अन्तिम दशा में पहुँच जाता है जब नायक लोक-मर्यादा की भी परवाह न कर अपने दृढ़ प्रेम की अग्नि-परीक्षा देने के लिए भी तैयार हो जाता है। अगर उसे अपनी प्रिया की प्राप्ति न करने में बाधा पड़े तो वह 'मडल'[1] पर चढ़कर मरण को प्राप्त करने की धमकी देता है। दोनों 'मडल' कृतियों में तिरुमंगै ने लौकिक प्रेम की तीव्रता स्थापित करने वाली 'मडल' प्रथा का आधार लिया है। परन्तु कवि ने अपने को विरहिणी नायिका मानकर प्रियतम भगवान् को प्राप्त करने के हेतु 'मडल' पर चढ़कर अपने तीव्र प्रेम की परीक्षा देने की घोषणा की है।[2]

१६ वीं शती के हिन्दी-कृष्ण-भक्त कवि

ईसा की सोलहवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशिष्ट महत्व रखती

---

१ ताड़ के पत्तों का बना घोड़ा जिस पर चढ़कर निराश प्रेमी आत्महत्या करने की घोषणा करता है और अन्त में अपनी प्रेमिका को प्राप्त करता है।

२ जिस प्रकार सूफीमत में ईश्वर तक पहुँचने के लिए विभिन्न-दशायें बतायी गयी हैं और अन्तिम दशा में प्रेम की तीव्र-परीक्षा होती है, उसी प्रकार 'मडल' भी प्रेम की 'अग्नि-परीक्षा' है। प्रेम की इस पराकाष्ठा पर पहुँच कर प्रेम की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सच्चे अटल प्रेम का परिचय देकर प्रेमी—प्रेमिका को पाता है और प्रेमिका—प्रेमी को।

है। धार्मिक भावना को लेकर यह साहित्य सर्जना उस समन्वयात्मक रूप को प्रस्तुत करती हुई दृष्टिगोचर होती है जिसके पीछे शताब्दियों और सहस्त्राब्दियों तक की परम्पराएँ निहित हैं। अन्तर्बाह्य साधनाओं का जैसा सुन्दर सामंजस्य इस शताब्दी के साहित्य में दीख पड़ा वैसा पहले कभी प्रस्तुत नहीं हो सका और न आज तक सम्भव ही हो सका है। साहित्य-धर्म और नीति की त्रिवेणी का पावन तीर्थराज इसी शताब्दी में सम्भव हो सका। विभिन्न युगों के अनेक स्तरों के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई अनेक विधाओं से छनती सीधी बहकर आने वाली विभिन्न विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सिद्धान्त-सार-सुधा से भावुकों के अन्तःकरण को तृप्त करती हुई भारतीय साधना की इस त्रिवेणी ने साहित्य-सागर को इतना लबालब भर दिया कि आज भी उसकी तरंगों में मज्जन और अवगाहन करने से चिर शान्ति प्राप्त होती है।[1]

तुलसी सूर, जायसी जैसे महान् कवि इस शताब्दी में ही हुए हैं। यह हिन्दी का गौरवपूर्ण युग था। इस शताब्दी को हिन्दी साहित्य के इतिहास में छोड़ दिया जाय तो हिन्दी-साहित्य न कुछ भी नहीं रह जाता। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, किन्तु है सच। हिन्दी की साहित्य-सम्पन्नता की परख के लिए एक शताब्दी के साहित्य का मूल्यांकन पर्याप्त है।

छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक तमिल भक्ति-साहित्य की पावन भूमि को सिंचित कर उत्तर की ओर प्रवहमान वैष्णव-भक्ति-सरिता अव्याहत गति से बहती हुई विभिन्न संप्रदायों की विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी की विशाल भक्ति-भूमि को आप्लावित कर देती है। जहाँ तक कृष्ण-भक्ति-काव्य का इस भक्ति-परम्परा से सम्बन्ध है, सोलहवीं शताब्दी में ही कृष्ण काव्य का विशेष निर्माण हुआ जिस पर दक्षिण के विभिन्न वैष्णव-भक्ति-सम्प्रदायों की विचार-धाराओं का प्रभाव देखा जा सकता है। "सोलहवीं शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था लेकिन वह सब-का-सब या तो संस्कृत में है जैसे जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में जैसे मैथिल कोकिल-कृत 'पदावली'। ब्रज भाषा में लिखी हुई सोलहवीं शताब्दी से पहले की प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं है।[2]

सोलहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा-कृष्ण-काव्य में अधिकांश रचनाएँ विभिन्न सम्प्रदायों की विचार-धाराओं की आधारभूमि पर ही लिखी मिलती हैं। कृष्ण-भक्तों में उपासना-क्षेत्र में यद्यपि साम्य की एकता थी अर्थात् सभी ने कृष्ण को अपने आराध्य

---

१ परमानन्द सागर—सं० डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल—भूमिका ले० डा० हरवंश लाल शर्मा—पृ० १।

२ नाम-माहात्म्य की अंक, अगस्त सन् १९४० 'ब्रजभाषा' नामक लेख लेखक डा० धीरेन्द्र वर्मा। "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" पृ० ९७ से उद्धृत।

के रूप में ग्रहण किया था तो भी उनकी सेवा-विधि तथा कृष्ण के विभिन्न रूपों सम्बन्धी मान्यताओं में थोड़ा-बहुत अन्तर था। इसी कारण विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना हुई जिनमें वल्लभ राधावल्लभीय गौड़ीय निम्बार्क और हरिदासी सम्प्रदाय प्रमुख हैं। अधिकांश हिन्दी कृष्ण भक्त-कवि इनमें से किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। कुछ सम्प्रदाय-मुक्त कवि भी थे। सोलहवीं शताब्दी के निम्नलिखित प्रमुख हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों का परिचय आगे दिया जाता है (जिनकी रचनाओं तक ही इस तुलनात्मक अध्ययन की परिधि को सीमित रखा गया)।

१ वल्लभ-सम्प्रदाय —
 १—सूरदास २—परमानन्द दास ३—नन्ददास ४—रसखान।
२ राधावल्लभीय-सम्प्रदाय —
 १—हितहरिवंश, २—दामोदरदास (सेवक जी) ३—हरिराम व्यास।
३ गौड़ीय सम्प्रदाय —
 १—गदाधर भट्ट २—सूरदास मदनमोहन।
४ निम्बार्क सम्प्रदाय :—
 १—श्री भट्ट २—हरिव्यास जी।
५ हरिदासी सम्प्रदाय —
 १—स्वामी हरिदास २—विट्ठल विपुलदेव।
६ सम्प्रदाय-मुक्त-कवि —
 १—मीराबाई २—रहीम, ३—नरोत्तमदास।

महाकवि सूरदास उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

महाकवि सूरदास हिन्दी साहित्य-गगन के तेजोमय सूर्य हैं। इनकी रचनाएँ इनके जीवन-काल से अब तक अनगिनत भगवद् भक्तों और साहित्यानुरागी रसिक जनों को असीमित आनन्द प्रदान कर रही हैं। संगीतज्ञों के लिये तो सूर के पद मानों प्राण हैं। इस महान् कवि की रचनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन कर हिन्दी साहित्य के सुयोग्य विद्वानों ने अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्य के आधार पर सूरदास के जीवन पर प्रकाश डालने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। परन्तु सर्वसम्मत जीवनी अब तक लिखी नहीं जा सकी है।

सूर कृत कहे जाने वाले ग्रन्थों की सूची डा० हरवंशलाल शर्मा ने इस प्रकार दी है[१] —

१—सूर सारावली २—भागवत भाष्य ३—सूर रामायण ४—गोवर्धन लीला (सरस लीला) ५—भँवरगीत ६—प्राणप्यारी ७—सूर साठी ८—सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद ९—एकादशी महात्म्य १०—साहित्य लहरी, ११—दशम

१ सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ९५।

स्कन्ध भाषा १२—राम-लीला १३—मान लीला, १४—दृष्टिकूट के पद १५—सूर पचीसी १६—नल-दमयन्ती १७—सूर-सागर, १८—सूर सागर-सार, १९—राधा रस-केलि-कौतूहल २०—दान-लीला २१—ब्याहलो, २२—सूरशतक २३—सेवा फल, २४—हरिवंश टीका (संस्कृत) २५—राम-जन्म।

इनमें से कुछ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित हैं। इन रचनाओं की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डा० ब्रजेश्वर वर्मा एक मात्र 'सूर सागर' को ही सूर की प्रामाणिक रचना मानते हैं।[1] डा० दीनदयालु गुप्त, मुंशीराम शर्मा तथा द्वारकादास परीख आदि विद्वानों ने 'साहित्यलहरी' और 'सूर सारावली' को भी प्रामाणिक सिद्ध किया है।[2]

यहाँ सूर की प्रमुख तीन रचनाओं पर प्रकाश डाला जाता है। यथा—

१ सूरसागर

यह सूरदास की अत्यन्त विशालकाय और महत्त्वपूर्ण रचना है। उपलब्ध 'सूरसागर' भागवत की तरह ही द्वादश स्कन्धों में विभाजित है। हो सकता है कि सूरदास ने स्कन्ध क्रम में ही इसकी रचना की हो।[3] इसमें प्रथम, नवम और दशम के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध विशाल और महत्त्वपूर्ण हैं। शेष उतने महत्त्वपूर्ण नहीं। सम्पूर्ण पदों की संख्या ४१७८ है। सूरसागर में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं तथा और गोपियों के प्रति उनकी अनेक चेष्टाओं तथा गोपियों के विरह का विशद वर्णन है। भागवत की कथाओं और तत्त्वों को सूर ने इसमें अपनी भावना के अनुसार ही प्रस्तुत किया है।

२ सूर सारावली

इसको कुछ विद्वानों ने 'सूर सागर' की 'अनुक्रमणिका' अथवा 'सूची-पत्र' तक कहा है। परन्तु वास्तव में यह एक स्वतन्त्र रचना है और इसकी शैली में भी उससे भिन्नता है। इसमें कुल ११०७ विषय छन्द हैं। इसमें सूर ने इस संसार को होली के

---

१ सूरदास—पृ० ९७।

२ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृ० २१८।
सूर सौरभ (प्रथम भाग), पृ० १।
सूर निर्णय—पृ० ११६।

३ श्रीमुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समुझाई।
ब्रह्म नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाई॥
व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कन्ध बनाई।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाई॥
—सूरसागर (प्रथम स्कन्ध), पद सं० २२५ (सभा)

वेश का रूपक माना है जिसमें लीला-पुरुष की अद्भुत लीलाएँ निरन्तर चलती हैं। इस रूपक का निर्वाह अन्त तक किया गया है। अवतारों के वर्णन में भागवत का अनुकरण है। नयी कल्पनाओं का भी आश्रय लिया गया है। अन्तिम भाग में रुक्मिणी के प्रश्न के उत्तर के रूप में ब्रज वृन्दावन, राधा यशोदा तथा रास आदि लीलाओं का समावेश है।

३ साहित्य लहरी

इसको सूरदास के दृष्टिकूट पदों का संग्रह तथा रस अलंकार और नायिका भेद की एक रीति-प्रधान रचना कहा जाता है। इसमें ११८ पद हैं। 'साहित्य लहरी' के आधार पर कुछ विद्वानों ने सूर की भक्ति-भावना को शृङ्गार के कर्दम से लांछित और दूषित भी ठहराने का प्रयत्न किया है। परन्तु डा० हरबंशलाल शर्मा का कहना है—"सूर ने अपने आराध्य की अनेक प्रणय-पूर्ण लीलाओं के मधुर गान का जो स्वर उठाया है—उसमें सरसता है किन्तु कर्दम नहीं विह्वलता है किन्तु वासना नहीं सौन्दर्य रसपान की आकुल पिपासा है किन्तु ऐन्द्रिय लोलुपता नहीं। काव्य की तरलता है किन्तु दृढ़ता के साथ मुस्कान की मादकता है किन्तु चेतना के साथ अनुभूतियों की चपलता है किन्तु स्थिरता के साथ। कहाँ तक कहें—लौकिकता है परन्तु अलौकिकता के साथ।"[1]

परमानन्ददास उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

परमानन्ददास द्वारा रची हुई मानी जाने वाली रचनाएँ निम्नलिखित हैं —

१—दान लीला २—ध्रुव चरित्र ३—उद्धव लीला ४—संस्कृत रत्नमाला ५—दीर्घ लीला, ६—परमानन्द जी के पद ७—परमानन्द सागर।

उपर्युक्त ग्रन्थों में पहले ५ ग्रन्थ अप्रामाणिक और अनुपलब्ध हैं। छठा ग्रन्थ सातवें का ही अंग मात्र है। 'परमानन्द सागर' जो उनके भक्तों द्वारा उनके पदों के लिए दिया हुआ नाम है, उनकी प्रामाणिक रचना ठहरती है।[2] 'परमानन्दसागर' का विस्तार लगभग २००० पदों तक जाता है। यह संख्या नाथद्वार और कांकरौली में में प्राप्त इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है। परमानन्ददास जी के पदों में 'परमानन्द' नाम की निम्नलिखित छापें मिलती हैं —

१—परमानन्द प्रभु २—परमानन्द स्वामी ३—परमानन्द दास ४—दास परमानन्द, ५—परमानन्द।

इन पदों के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में डा० दीनदयालु गुप्त लिखते हैं — 'उनके पदों में दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध कृष्ण के मथुरा-गमन और भँवर-गीत तक का

---

१. सूर और उनका साहित्य—द्वितीय संस्करण पृ० ४६।

२. परमानन्द सागर (पद-संग्रह)—डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल पृ० १२।

ही मुख्यतः वर्णन है। सूरदास जी ने तो स्वयं कई स्थलों पर अपनी रचना में कहा है कि वे भागवत के अनुसार अपने विषय को लिख रहे हैं। परमानन्द दास के पदों में इस प्रकार का उल्लेख देखने को नहीं मिलता। उन्होंने कुछ स्फुट पद अक्षय तृतीया दीपमालिका राम जन्म-नृसिंह, वामन अवतारों की प्रशंसा आदि विषयों पर भी लिखे हैं जो बहुधा वल्लभ-सम्प्रदायी वर्षोत्सव-कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं।"[1]

इन पदों का क्रम रागों के अनुसार न होकर, विषय के अनुसार है। कवि का काव्य-विषय मुख्यतः श्रीकृष्ण की किशोर-लीला गाना था। 'परमानन्द सागर' में 'सूर सागर' की तरह भागवत की सम्पूर्ण कथा का समावेश न होकर, केवल दसमें स्कन्ध पूर्वार्द्ध' कृष्ण के मथुरा-गमन और भँवर-गीत का वर्णन है। इनके अधिकतर पद कृष्ण की बाल-लीला गोपी प्रेम और गोपी-विरह पर लिखित हैं। इनके अतिरिक्त राधा को लेकर मान खण्डिता युगल लीला रास आदि पर तथा अन्य स्फुट विषयों पर भी इनके पद उपलब्ध होते हैं।

नन्ददास उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

नन्ददास ने अन्य अष्टछापी कवियों की तरह स्फुट पद भी रचे थे पर साथ ही इन्होंने अनेक स्वतन्त्र-ग्रन्थों की भी रचना की जिनमें कुछ अब अनुपलब्ध हैं। फ्रांसीसी विद्वान् तासी ने अपने इतिहास (सन् १८७० ई० में) में भी नन्ददास के १० ग्रन्थों का उल्लेख किया है। परन्तु डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार नन्ददास के निम्नलिखित ग्रन्थ ही प्रामाणिक हैं —

१—रस मंजरी २—अनेकार्थ मंजरी ३—नाम मंजरी ४—दशम स्कन्ध ५—स्याम सगाई, ६—गोवर्धन लीला ७—सुदामा चरित्र ८—विरह मंजरी, ९—रूप मंजरी, १०—रुक्मिणी मंगल ११—रास पंचाध्यायी १२—भँवर गीत १३—सिद्धान्त पंचाध्यायी।

'रस मंजरी' ग्रन्थ का विषय नायक-नायिका भेद है। 'अनेकार्थ मंजरी' में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दोहाबद्ध करके दिये गये हैं। 'नाम मंजरी नाममाला' में अमर कोष के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची रूप दिए गये हैं। इसमें राधा का मान वर्णन भी है। 'दशम स्कन्ध' में भागवत दशम स्कन्ध के उन्तीस अध्यायों का भाषानुवाद है। कवि को इसको लिखने की प्रेरणा तुलसी के 'रामचरितमानस' से मिली थी। यह अपूर्ण रचना है। 'स्याम सगाई' में कृष्ण के साथ राधा की सगाई होने का उल्लेख है। यह कथा भागवत में नहीं है। कृष्ण गारुड़ी बनकर छल से राधा का काल्पनिक विष उतारते हैं और इस प्रकार अन्त में सगाई स्वीकृत कराने में सफल होते हैं।

'गोवर्धन लीला' में कृष्ण चरित्र की लीलाओं का वर्णन और गुणगान है। 'सुदामा चरित्र' में कृष्ण की दयालुता भक्तवत्सलता मैत्री-निर्वाह आदि भावों को

---

1 अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ३११।

दिखाया गया है। 'विरह मंजरी' में नन्ददास के 'द्वादश मास विरह की कथा' का चित्रण है। इसमें ब्रजवासिनियों की विरह-व्यथा का मार्मिक वर्णन है। 'रूप मंजरी' में रूपवती और रूपमंजरी के रूप तथा उसके लौकिक प्रेम का त्याग तथा कृष्ण के साथ प्रेम करने का वर्णन है। दोहा-चौपाई की शैली में वर्णित इस कथा का आधार भागवत से लिया गया है। 'रुक्मिणी मंगल' में कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की कथा है, जो भागवत पर आधारित है। कथा-क्रम कल्पना को भी स्थान मिला है।

'रास पंचाध्यायी' में भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के पाँच अध्यायों में वर्णित रास-लीला का वर्णन रोला छन्द में हुआ है। अपनी कोमलकान्त-पदावली और श्रुति-मधुर भाषा-शैली के कारण यह ग्रन्थ हिन्दी का 'गीत-गोविन्द' कहा जा सकता है। 'भँवर गीत' में उद्धव-गोपी-सम्वाद के रूप में निर्गुण पर सगुण की विजय और योग और ज्ञान-मार्ग पर प्रेम की विजय दिखायी गयी है। ऐसा लगता है कि यह सूरदास के 'भ्रमर गीत' से प्रभावित होकर लिखा गया हो। 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में 'रास पंचाध्यायी' में वर्णित रास-क्रीड़ा की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। ऐसा लगता है कि रास-प्रसंग के शृङ्गारिक वर्णनों की अलौकिकता पर की गई शंकाओं का शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत करना ही इसकी रचना में कवि का उद्देश्य था।

'नन्ददास की पदावली' में पदों की संख्या ७०० और ८०० के बीच में है। विषय की दृष्टि से इन पदों में पुष्टिमार्गीय वर्षोत्सव सम्बन्धी लगभग सभी प्रसंगों का वर्णन मिलता है। बाललीला पर नन्ददास की कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिलती है। परन्तु इनके पदों में कहीं-कहीं उसका भी समावेश है। इनकी पदावली के मुख्य विषय इस प्रकार हैं—गुरु-स्तुति, यमुना-स्तुति, लीला-पद, कृष्ण-जन्म, बधाई, पालना, बालरूप, गोचारण, गोदोहन, पनघट, रास-लीला, हिंडोला, राधा-कृष्ण अनुराग, केलि, कृष्ण-रूप वर्णन, राधा-रूप-वर्णन, राधा-कृष्ण का विवाह वर्णन, रास, राधा मान, होली, फूल मंडली, बसन्त, खण्डिता, मल्हार, वर्षा, दीप-मालिका, अक्षय तृतीया आदि त्यौहार। नन्ददास के काव्य में भाषा की मधुरता तथा छन्दों की सजावट है। इसलिए 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया' की उक्ति प्रचलित हो गयी है।

रसखान : उनकी रचनाएँ और काव्य-विषय

'रसखान' हिन्दी के सुप्रसिद्ध मुसलमान कृष्ण-भक्त कवि हैं, जिनकी देन कृष्ण काव्य को अति प्रशंसनीय है। इनका जीवन-वृत्त तिमिराच्छिन्न है और इनका प्रामाणिक जीवन वृत्तान्त अभी तक लिखा नहीं जा सका है। 'शिवसिंह सरोज'[1] गोस्वामी

---

1 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि रसखान कवि सैयद इब्राहीम पिहानी वाले ई० १६३० वि० में हुए। ये मुसलमान थे। श्री वृन्दावन में जाकर कृष्णचन्द्र की भक्ति में ऐसे डूबे कि फिर मुसलमानी धर्म त्यागकर माला-कंठी धारण किये हुए वृन्दावन की रज में मिल गये। इनकी कविता निपट ललित-माधुरी से भरी हुई है।

नाभादास कृत 'भक्तमाल' बाबा बेनी माधव दास कृत 'मूल गोसाईं चरित' आदि में रसखान के सम्बन्ध में उल्लेख है। रसखान के निम्नलिखित दोहे तथा '२५२ वैष्णवन की वार्ता' से पता चलता है कि ये किसी बादशाह खानदान के थे :—

"देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छाँड़ि रसखान॥"

—प्रेम वाटिका दोहा ४८

कुछ लोग इन्हें सैयद इब्राहीम पिहानी वाले समझते हैं। परन्तु कवि रसखान उनसे भिन्न व्यक्ति थे।[1] रसखान के जन्म-संवत् और निधन-संवत् का निर्णय करना कठिन है। पंडित चन्द्रशेखर पांडेय[2] और मिश्रबन्धु[3] ने इनका जन्म-संवत् १६१५ लिखा है। परन्तु इसका कोई आधार नहीं दिया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल केवल उनके कविता-काल का उल्लेख करते हैं जो उनके अनुसार संवत् १६४० है।[4] कवि ने अपनी रचना 'प्रेम-वाटिका' में एक दोहे में उसके रचनाकाल का उल्लेख किया है :—

"बिधु सागर रस इंदु सुभ बरस सरस रसखान।
प्रेमवाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरषि बखान॥

इस दोहे के आधार पर 'प्रेम-वाटिका' का रचना-काल संवत् १६७१ निकलता है। यह प्रसिद्ध है कि रसखान दिल्ली छोड़कर गोवर्धन गये थे और वहाँ गोस्वामी विट्ठलनाथ ने (संवत् १५७२-१६४२) रसखान का प्रवेश वल्लभ संप्रदाय में कराया था। प्रचलित किम्वदन्तियों से अनुमान किया जा सकता है कि जब ये वृन्दावन गये, तब काफी वयस्क व्यक्ति अवश्य थे। अतः इनका जन्म संवत् १५९० के आस-पास ही मानना समीचीन होगा। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का अनुमान है कि रसखान का जन्म १६ वीं शती के मध्य में हुआ होगा।[5] चूँकि 'प्रेम-वाटिका' की रचना संवत् १६७१ में हुई इसलिए रसखान का निधन-संवत् १६७४ के लगभग माना जा सकता है। डा० दीनदयालु गुप्त रसखान को अष्टछाप कवियों के समकालीन मानते हैं।[6]

रसखान की दो रचनाएँ मिलती हैं —

१—प्रेम-वाटिका

२—सुजान-रसखान

---

१ ब्रजमाधुरी सार (चतुर्थ संस्करण) पृ० १४०।

२ रसखान और उनका काव्य पृ ९।

३ कृष्ण-काव्य की रूपरेखा, पृ० ६८।

४ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० २३२।

५ हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० २०७।

६ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ९२।

प्रेम-वाटिका' में ५२ दोहे हैं जिनमें प्रेम की महिमा का वर्णन है। कवि ने प्रेम को ईश्वर से भी बढ़कर प्रधान दिखाने का प्रयत्न किया है। इनका प्रेम रीति कालीन कवियों का-सा वासनामूलक न होकर सच्चा प्रेम है जो भगवत्प्रेम में परिणत होता है। कहीं कहीं आध्यात्मिकता की भी झलक मिलती है।

'सुजान-रसखान' में कवित्त और सवैये हैं। 'राग रत्नाकर' में रसखान के १३० पद्य संगृहीत हैं।[1] इन पदों में मुरलीधर मनमोहन और गोपी-कृष्ण प्रेम का प्रधानतः वर्णन है। अन्य लीलाओं का वर्णन नहीं है। इसमें नियम-बद्धता का अभाव है। कुछ छन्दों में बाल रूप का भी वर्णन मिलता है।

रसखान की भाषा सरल सरस ब्रजभाषा है जो अपने माधुर्य के लिए प्रसिद्ध है। हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य को इनकी देन अमूल्य है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं — 'सहज आत्म-समर्पण अखण्ड विश्वास और अनन्य निष्ठा की दृष्टि से रसखान की रचनाओं की तुलना बहुत थोड़े भक्त-कवियों से की जा सकती है।'[2] भारतेन्दु जी का यह कथन है— इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए।'

हितहरिवंश उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हितहरिवंश जी का हिन्दी कृष्ण-काव्य के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

श्री हितहरिवंश जी का ब्रजभाषा तथा संस्कृत—दोनों पर समान अधिकार था। प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'राधा सुधा-निधि' के रचयिता आप ही हैं। कुछ विद्वानों ने भ्रमवश इसे प्रबोधानन्द सरस्वती की रचना बतायी है।[3] इसमें २७० सुन्दर श्लोकों में राधारानी की प्रशस्ति गायी गई है। चूँकि श्री हितहरिवंश जी की इष्टाराध्या राधा है, इसलिए उसकी पूजा उपासना वन्दना प्रशस्ति के लिए उन्होंने इसकी रचना की है। इस स्तोत्र-काव्य का प्रमुख ध्येय—श्री राधा को इष्टाराध्या के रूप में प्रस्तुत

---

१ ब्रजमाधुरी सार, पृ० २०१।

२ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

3 (A) "The Stotra Kavya named "Radha Suada Nidhi" printed in 2 parts from the Bhakti Prabha Office Hugli (1924-25) is wrongly ascribed to Prabodhanand .. It is obviously a case of appropriation by the Chaitanya Sect of a work composed by Hit Harivansh of Radhavallab Sect "—*Early History of Vaishnava Faith and Movement in Bengal* Dr S K. De, p. 99

(b) हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १६६, १६७।

करता ही है। 'राधा सुधा-निधि' की पदावली कोमल-कान्त और सरस है। यह हिन्दी अनुवाद सहित 'वाद' ग्राम निवासी बाबा हितदास द्वारा प्रकाशित है।

श्री हितहरिवंश जी की संस्कृत में दूसरी रचना 'यमुनाष्टक' है। यह यमुना की वन्दना में आठ श्लोकों में लिखा हुआ प्रशस्ति-काव्य है। ब्रजभाषा में श्री हितहरिवंश जी की दो रचनाएँ प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं।

१—श्री हित-चौरासी २—श्री हित स्फुटवाणी।

श्री हित-चौरासी', मधुर ब्रजभाषा में सरस-कोमल-पदावली में रचित ८४ पदों वाली एक उत्कृष्ट रचना है जिसके कुछ पद जयदेव और विद्यापति के पदों की याद दिलाते हैं। यह रचना हित सम्प्रदाय में गीता अथवा भागवत के समान पूज्य मानी जाती है और सभी साम्प्रदायिक कवियों ने इसे आदर्श रूप में अपनाया है। इसमें राधा-कृष्ण के प्रेम, सम्भोग कुन्ज क्रीड़ा रास मान नखशिख आदि का वर्णन है। इसके पद भिन्न-भिन्न रागों में विभाजित हैं।[1] हित-चौरासी के ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी हैं —

(क) हित चरनीधर की टीका (१६ वीं शती)
(ख) गोस्वामी सुखलाल जी की टीका (१७ वीं शती)
(ग) लोकनाथ जी की टीका
(घ) श्री सुखसदास की टीका
(ङ) प्रेमदास जी की टीका
(च) केलिदास की टीका (१८ वीं शती टीका)
(छ) श्री रत्नदास जी की टीका आदि।[2]

'श्री हित-स्फुटवाणी' में १२ पद ३ सवैये २ छप्पय २ कुण्डलियाँ तथा एक कवित्त—कुल २१ मुक्तक संगृहीत हैं। परन्तु पदों के प्रकीर्णक होने पर भी उसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का स्थान प्राप्त हो गया है। इसका वर्ण्य-विषय कृष्ण भक्ति की महत्ता है।

इनके अतिरिक्त श्री बलदेव उपाध्याय ने और तीन ग्रन्थ इनके नाम से बताये हैं —

१—आरातस्तव २—चतुःश्लोकी तथा ३—राधातन्त्र ग्रन्थ।[3]

१ ऐ पद लिखाय मांझ सात है विभावस में होरी में चतुर प्रातावरी में है बनें।
सप्त है धमारी में कुमस बसन्त केलि वेदगोपाल पंच सोम रस सौं सनें॥
सारंग में अरेचता है बार ही मलार एक गौड़ में सुहाथी नव गौरी रस में भरें।
यद् कल्याण निधि कान्हरे केदारे वैरवासी हित जू की सब चौरासी राग में तनें॥
—श्री हितामृत सिन्धु—हितचौरासी—हारकादास जो महाराज कृतस्तुति
कवित्त—पृ ६४।

२. भागवत्-सम्प्रदाय—श्री बलदेव उपाध्याय पृ० ४२६।
३ वही पृ० ४२६।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दो और रचनाएँ इनके द्वारा रचित बतायी हैं —

१—वृन्दावन शतक २—हित सुधा सागर ।

चूँकि इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख 'राधावल्लभ भक्तमाल' 'साहित्य रत्नावली' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में नहीं मिलता इसलिए ये हित हरिवंश जी की प्रामाणिक रचनाएँ मालूम नहीं पड़तीं । नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में हस्तलिखित पुस्तकों के विवरण में "प्रेमलता" नामक ग्रन्थ का रचयिता श्री हितहरिवंश को बताया है ।[1]

दामोदरदास (सेवक जी) उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

श्री हितहरिवंश जी की वाणी के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने वाले भक्त रसिकों में श्री सेवक जी का स्थान सर्वोपरि है । राधावल्लभ-सम्प्रदाय में इनको एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है । राधावल्लभ भक्तमाल,[2] भक्तनामावली[3] जैसे साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इनकी स्तुति की गई है । सम्प्रदाय की अनेक वाणियों में सेवक जी का वर्णन मिलता है । भगवतमुदित ने तथा उत्तमदास ने अपने 'रसिक अनन्यमाल' और प्रियादास ने अपने 'सेवक चरित' में विस्तार से इनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला है ।

'सेवक जी की वाणी' श्री हित चौरासी का मर्मोद्घाटन करने से तथा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का विवेचन करने से हित चौरासी की पूरक वाणी मानी जाती है । अतः गुरु की रचना के साथ ही "श्री हित चौरासी सेवक वाणी" के नाम से प्रकाशित हुई है । यह १६ प्रकरणों में विभक्त है । सरल तथा सरस ब्रजभाषा में लिखित इसमें १८७ पद और २१ छन्द हैं ।[4] यद्यपि इसका वर्ण्य विषय प्रमुख

---

1 हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का चौदहवाँ वार्षिक विवरण, सन् १९२९ १९३१
—संपादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ।

2 सेवक सम सेवक नहीं, प्रगटि भक्ति प्रमान ।
—राधावल्लभ भक्तमाल, पृ० २५२ ।

3 सेवक जी सम को भई भजन सरोवर हंस ।
मन बच कै करि एक व्रत पाये श्री हरिवंस ॥
या बिना हरि नाम हू लियो न जाके टेक ।
पायें सोई वस्तु जो जाके है व्रत एक ॥
—भक्त नामावली

4 त्रिपदी ११ चुपई ८ गाथा ४, तोटक १४ रट्ट ८ सवैया १०, मालती ६, मदिरा १ पद्मावती १, सोरठा २० कुण्डलिया २१, गाहा ४ ध्यार ४, किरीट १, दुमिल २ मल्लिका १, रोला १, त्रोटक १ नाराचम ४ दोहा ६, छप्पय ६ ।

क्रम से श्री हित जी की प्रशंसा है, तो भी "श्री हित रस रीति प्रकरण" और 'श्री हित मङ्गल प्रकरण' आदि कुछ प्रकरणों में राधा-कृष्ण की कुञ्ज-क्रीड़ा का वर्णन है। 'सेवक वाणी' की प्रशंसा में स्वामी चतुर्भुजदास ने लिखा है —

सेवक वाणी के नहिं जानें।
ताकी बात रसिक नहिं मानें॥

मिश्रबन्धुओं ने 'सेवक वाणी' के अतिरिक्त उनके 'भक्ति परिचावली संग्रह' नामक एक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।[1] परन्तु यह न तो प्राप्य है और इसका उल्लेख 'राधावल्लभ भक्तमाल' और 'साहित्य रत्नावली' में मिलता है।

हरिराम व्यास : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

भक्त शिरोमणि व्यास जी का पूरा नाम हरिराम शुक्ल था। 'व्यास' तो उनकी उपाधि थी। इनका वर्णन नाभादास के 'भक्तमाल' भगवतमुदित के 'रसिक-अनन्यमाल' तथा उत्तमदास के 'रसिकमाल' में विस्तार से मिलता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक कवियों ने अपनी वाणियों में व्यास जी का स्मरण किया है जिससे इनके राधावल्लभीय होने का प्रमाण मिलता है। नाभा जी के 'भक्तमाल' में व्यास जी के परिचय में दिये हुए छप्पय का शीर्षक "श्री हरिवंश जी के शिष्य व्यास जी" है और उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' में शीर्षक "श्री हितपदाश्रित व्यास जू को चरित्र" है।

हरिराम व्यास जी उच्च कोटि के भक्त और दार्शनिक होने के साथ साथ कुशल कवि भी हैं। संस्कृत में तो वे पूर्ण पंडित थे ही। इनके नाम से दो संस्कृत ग्रन्थ 'नवरत्न' तथा 'स्वधर्म पद्धति' विख्यात हैं। नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज रिपोर्टों में इनके नाम से निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख मिलता है —

१—रागमाला[2]—इसमें ६०४ श्लोक हैं। यह संगीत-शास्त्र का ग्रन्थ है।
२—रस के पद[2]—इसमें ११०० पद हैं।
३—व्यास जी की वाणी[3]—इसमें ११७२ पद हैं।
४—पदावली[3]—इसमें ८०७ श्लोक हैं।
५—रासपंचाध्यायी[4]—इसमें ११२ पद हैं।
६—व्यास जी की साखी[5]—इसमें ५४ पद हैं।

मिश्रबन्धुओं की दी हुई सूची और नागरी प्रचारिणी सभा की उपर्युक्त सूची में विशेष अन्तर नहीं है। श्री वियोगी हरि के पद-संग्रह में व्यास जी के ८०० पद

---

१ मिश्रबन्धु विनोद (प्रथम भाग) पृ० ११२।
२. खोज रिपोर्ट, वर्ष १९०६-८ नागरी प्रचारिणी सभा काशी
३ वही, " १९०९-११ "
४ वही, " १९१२-१४ "
५. वही, " १९२०-२२ "

है।[1] इन पुस्तकों का निरीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल 'व्यास जी की वाणी' ही व्यास जी लिखित प्रामाणिक रचना है। मालूम पड़ता है कि इसी एक ही कृति के पदों का विभिन्न दीपकों में संग्रह कर अलग-अलग नाम दिये गये हैं। प्रकाशित 'व्यासवाणी' में पद-संख्या ५२६ है और साथ में १४६ साखियाँ और दोहे भी हैं।[2] ये दोनों भागों में विभाजित हैं। प्रथम भाग में 'सिद्धान्त रस' के १०१ पद हैं तथा द्वितीय भाग में 'रस विहार' के ४२५ पद हैं।

'सिद्धान्त रस' के सम्पूर्ण पद सिद्धान्तपरक नहीं हैं। आरम्भ में वृन्दावन मधुपुरी, यमुना महाप्रसाद तथा नाम रूप की स्तुति है। 'श्री साधुन की स्तुति' प्रकरण में समस्त प्रसिद्ध भक्तों का यश-गान है। शेष पदों में विनय विरह, मनोपदेश भक्ति ज्ञान आदि विषयों की चर्चा है। इन पदों में इन्होंने जीवन के व्यवहार-पक्ष का आकलन करते हुए सांसारिक दृष्टि से वस्तुओं का विश्लेषण-विवेचन किया है। इनमें व्यवहार-पक्ष की प्रधानता है। सूक्ष्म सैद्धान्तिक अवगाहन से दूर रहकर लौकिक धरातल पर ही व्यास जी ने अपनी बात कही है।[3] 'रस-विहार' के पदों में राधाकृष्ण की कुंज-क्रीड़ा जल-क्रीड़ा वन-विहार षोडश शृंगार [illegible] मान होली हिंडोला आदि अनेक विषय वर्णित हैं। 'रास पंचाध्यायी' अलग रूप से पद-बद्ध की गई है।

गदाधर भट्ट : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

चैतन्य सम्प्रदाय के कवियों में श्री गदाधर भट्ट का स्थान मूर्धन्य है। ये राधा कृष्ण के अनन्य उपासक थे और महाप्रभु चैतन्य के समकालीन थे। दुर्भाग्यवश इनके सम्बन्ध में बहुत कम विवरण मिलता है।

गदाधर भट्ट की रचना प्रधानतः पदों के रूप में ही मिलती है। 'मोहिनी वाणी गदाधर भट्ट जी' के नाम से संगृहीत वाणी में पदों के अलावा कुछ संस्कृत के श्लोक और वृन्दावन की प्रशंसा में लिखित २४ रोला छन्दों का 'योगपीठ' भी सम्मिलित है। 'योगपीठ' गदाधर भट्ट जी की वाणी का ही एक अंग है, न कि पृथक रचना जैसे कि कुछ विद्वानों की भ्रान्त धारणा है। यद्यपि वाणी के कुछ पदों में यशोदा नन्द, बधाई, पलना, यमुना, बंशी, वर्षा, बसन्त होली हिंडोला आदि विषय वर्णित हैं, तथापि अधिकांश पदों में राधा-कृष्ण के शृंगार, रास विलास विवाह तथा मान आदि का विस्तार से वर्णन है। एक-दो स्थान पर श्रीकृष्ण की व्रज-गोकुल-लीलाओं का भी वर्णन मिलता है। अन्य पदों में नाम-माहात्म्य तथा दैन्य भाव की भी व्यंजना हुई है। इस संग्रह में छोटे-बड़े सभी प्रकार के पद हैं, जिनकी संख्या ८० के लगभग है।

---

१ व्रजमाधुरी सार—श्री वियोगी हरि, पृ० ११८।
२ श्री व्यास वाणी (पूर्वार्द्ध वक्तव्य) पृ० ५०।
३ राधावल्लभ सम्प्रदाय साहित्य और सिद्धान्त—डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १८२।

क्रम से श्री हित जी की प्रशंसा है, तो भी 'श्री हित रस रीति प्र
भक्तजन प्रकरण' आदि कुछ प्रकरणों में राधा-कृष्ण की कुछ
'सेवक वाणी' की प्रशंसा में स्वामी चतुर्भुजदास ने लिखा है —

सेवक वाणी के माँहि आनै ।
ताकी बात रसिक माँहि भानै ॥

मिश्रबन्धुओं ने 'सेवक वाणी' के अतिरिक्त उनके 'भक्ति
नामक एक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है ।[1] परन्तु यह न तो प्रा
उल्लेख 'राधावल्लभ भक्तमाल' और 'साहित्य रत्नावली' में मिलत

हरिराम व्यास उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

भक्त शिरोमणि व्यास जी का पूरा नाम हरिराम शुक्ल
उनकी उपाधि थी । इनका वर्णन नाभादास के 'भक्तमाल' भगवत
अनन्यमाल' तथा उत्तमदास के 'रसिकमाल' में विस्तार से मिलता
सम्प्रदाय के अनेक कवियों ने अपनी वाणियों में व्यास जी का स्मरण
इनके राधावल्लभीय होने का प्रमाण मिलता है । नाभा जी के 'भक्त
के परिचय में दिये हुए छप्पय का शीर्षक "श्री हरिवंश जी के शिष्
और उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' में शीर्षक "श्री हितपदाश्रित व्यास (

हरिराम व्यास जी उच्च कोटि के भक्त और दार्शनिक हो
कुशल कवि भी हैं । संस्कृत के तो वे पूर्ण पंडित थे ही । इनके नाम से
'नवरत्न' तथा 'स्वधर्म पद्धति' विख्यात हैं । नागरी प्रचारिणी सभा
रिपोर्टों में इनके नाम से निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख मिलता है

१—रागमाला[2]—इसमें १०४ श्लोक हैं । यह संगीत-शास्त्र व
२—रस के पद[2]—इसमें ११०० पद हैं ।
३—व्यास जी की वाणी[3]—इसमें १२७२ पद हैं ।
४—पदावली[3]—इसमें ८०७ श्लोक हैं ।
५—रासपंचाध्यायी[4]—इसमें ११९ पद हैं ।
६—व्यास जी की साखी[5]—इसमें २४ पद हैं ।

मिश्रबन्धुओं की दी हुई सूची और नागरी प्रचारिणी सभा की र
में विशेष अन्तर नहीं है । श्री वियोगी हरि के पद-संग्रह में व्यास जी

---

१ मिश्रबन्धु विनोद (प्रथम भाग) पृ० ११२ ।
२. खोज रिपोर्ट, वर्ष १९०६-८-नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
३ वही " १९०९ ११ "
४ वही " १९१२ १४ "
५. वही " १९२० २२ "

है।[1] इन पुस्तकों का निरीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल 'व्यास जी की वाणी' ही व्यास जी की लिखित प्रामाणिक रचना है। मालूम पड़ता है कि इसी एक ही कृति के पदों का विभिन्न शीर्षकों में संग्रह कर अलग-अलग नाम दिये गये हैं। प्रकाशित 'व्यासवाणी' में पद-संख्या ५२६ है और साथ में १४६ साखियाँ और दोहे भी हैं।[2] ये दोनों भागों में विभाजित हैं। प्रथम भाग में 'सिद्धान्त रस' के १०१ पद हैं तथा द्वितीय भाग में 'रस विहार' के ४२५ पद हैं।

'सिद्धान्त रस' के सम्पूर्ण पद सिद्धान्तपरक नहीं हैं। प्रारम्भ में वृन्दावन मधुपुरी यमुना महाप्रसाद तथा नाम रूप की स्तुति है। श्री साधुन की स्तुति प्रकरण में समस्त प्रसिद्ध भक्तों का यश-गान है। शेष पदों में विनय विरह, मनोपदेश भक्ति भाव आदि विषयों की चर्चा है। इन पदों में इन्होंने जीवन के व्यवहार-पक्ष का आकलन करते हुए सांसारिक दृष्टि से वस्तुओं का विश्लेषण-विवेचन किया है। इनमें व्यवहार-पक्ष की प्रधानता है। सूक्ष्म, सैद्धान्तिक अवगाहन से दूर रहकर लौकिक धरातल पर ही व्यास जी ने अपनी बात कही है।[3] 'रस-विहार' के पदों में राधाकृष्ण की कुंज-क्रीड़ा जल-क्रीड़ा शयन-विहार, षोडस शृंगार नखशिख मान होली हिंडोला आदि अनेक विषय वर्णित हैं। 'रास पंचाध्यायी' अलग रूप से पद-बद्ध की गई है।

गदाधर भट्ट : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

चैतन्य सम्प्रदाय के कवियों में श्री गदाधर भट्ट का स्थान मूर्धन्य है। ये राधा कृष्ण के अनन्य उपासक थे और महाप्रभु चैतन्य के समकालीन थे। दुर्भाग्यवश इनके सम्बन्ध में बहुत कम विवरण मिलता है।

गदाधर भट्ट की रचना प्रधानतः पदों के रूप में ही मिलती है। 'मोहिनी वाणी गदाधर भट्ट जी' के नाम से संगृहीत वाणी में पदों के अलावा कुछ संस्कृत के गीत और वृन्दावन की प्रशंसा में लिखित २४ रोला छन्दों का 'योगपीठ' भी सम्मिलित है। 'योगपीठ' गदाधर भट्ट जी की वाणी का ही एक भाग है, न कि पृथक रचना जैसे कि कुछ विद्वानों की भ्रान्त धारणा है। यद्यपि रास के कुछ पदों में यशोदा, नन्द, बधाई वन्दना यमुना वंशी वर्षा बसन्त, होली हिंडोला आदि विषय वर्णित हैं, तथापि अधिकांश पदों में राधा-कृष्ण के शृङ्गार, रास विलास विवाह तथा मान आदि का विस्तार से वर्णन है। एक-दो स्थल पर श्रीकृष्ण की व्रज-गोकुल-लीलाओं का भी वर्णन मिलता है। अन्य पदों में नाम-माहात्म्य तथा दैन्य भाव की भी व्यंजना हुई है। इस संग्रह में छोटे-बड़े सभी प्रकार के पद हैं, जिनकी संख्या ८० के लगभग है।

---

१ व्रजमाधुरी सार—श्री वियोगी हरि, पृ० ११८।
२ श्री व्यास वाणी (पूर्वार्ध वक्तव्य) पृ० ४०।
३ राधावल्लभ सम्प्रदाय साहित्य और सिद्धान्त—डा० विजयेन्द्र स्नातक पृ० ३८६।

भट्ट जी संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे। अतः इनकी भाषा कहीं-कहीं संस्कृत गर्भित दीख पड़ती है और काव्य-शैली बहुत सुन्दर बन पड़ी है। आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है— 'संस्कृत के पूर्ण पंडित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पद-विन्यास बहुत ही सुन्दर है।"[1]

सूरदास मदनमोहन : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

सूरदास मदनमोहन अकबर के दरबार की ओर से नियुक्त संडीले के अमीन थे। इनका असली नाम 'सूरध्वज' था और ये मदनमोहन के अनन्य उपासक थे। अपने नाम के साथ अपने इष्टदेव के नाम की प्रतिष्ठा स्थापित करने के कारण इनका वास्तविक नाम छिप गया और ये 'सूरदास मदनमोहन' के नाम से ही प्रसिद्ध हुए।[2]

सूरदास मदनमोहन के अनेक पद कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं। इनकी कविता सरस और मनोहारिणी तथा नाम सूरदास होने से इनके अनेक पद 'सूरसागर' में घुल-मिल गये हैं। परन्तु इनके समस्त पदों में 'सूरदास मदनमोहन' की छाप मिलती है। 'सुहृद वाणी श्री सूरदास मदनमोहन की' नाम से प्रकाशित संग्रह में इनके १०५ स्फुट पद हैं। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ में इनके केवल १२ पद दिये हैं और उन्हीं को प्रामाणिक माना है। पदों में बाल रूप बंसी विवाह, साँझी होली, धमार, फाग हिंडोला आदि विषय वर्णित हैं। नख-शिख रास-विलास तथा मान का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है।

श्री भट्ट : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

श्री भट्ट निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रथम व्रजभाषा कवि थे। इनको निम्बार्काचार्य की तीसवीं पीढ़ी में माना जाता है। श्री महन्त रामकृष्ण दास कृत "श्री गुरु-परम्परा स्तोत्रम्" के अनुसार श्री भट्ट जी के पूर्व साम्प्रदायिक गुरु-परम्परा में १२ आचार्य तथा १७ भक्त हुए थे।[3] ये सम्प्रदाय में व्रजभाषा के प्रथम कुशल कवि ही नहीं बल्कि सम्प्रदाय की उन्नति की आधार-शिला भी माने जाते हैं। श्री वियोगी हरि लिखते हैं— "वास्तव में केशव काश्मीरी जी ने आचार्योचित् वह कार्य किया जिसके कारण निम्बार्क-सम्प्रदाय की नींव सदा के लिए सुदृढ़ हो गयी। आपके शिष्य श्री भट्ट जी ने तो मानों सम्प्रदाय-मन्दिर पर कलश ही रख दिया। गुरुदेव यदि भगवान् के ऐश्वर्य के पूर्ण प्रतिपादक थे तो आप श्री माधुर्य के सच्चे अनुरक्त।"[4]

श्री भट्ट उच्चकोटि के भक्त थे और उन्होंने अन्तिम समय तक सम्प्रदाय की आचार्य गद्दी को सुशोभित किया था। जिस प्रकार स्वामी हरिदास जी के अनुयायी

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० २२२।
२ भक्तमाल—पृ० ७५२ ७५३।
३ श्री गुरु-परम्परा स्तोत्रम्—रामकृष्णदास।
४ व्रजमाधुरी सार—श्री वियोगी हरि, पृ० १०८ (संस्करण २०११)।

इन्हें श्री राधाकृष्ण की मुख्य सखियों में से श्री ललिता सखी का अवतार मानते हैं, उसी प्रकार इस सम्प्रदाय के लोग इन्हें श्रीहित सखी का अवतार मानते हैं। श्री रूप रसिक कृत एक छप्पय आपके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है:—

जे नर आवे शरण आप भय तिनके हरहीं।
तत्ववार्ता ते होंवे हस्तका मस्तक धरहीं॥

श्री भट्ट संस्कृत तथा ब्रजभाषा—दोनों में प्रकाण्ड पंडित थे। सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि इन्होंने १० ००० पद ब्रजभाषा में लिखे थे और ये सब शृङ्गार रस के थे। कहा जाता है कि भट्ट जी ने गद्दी स्वीकार करने के पूर्व अपने गुरु केशव काश्मीरी के सम्मुख उन पदों को उपस्थित किया जिनको गुरु ने कलियुग के लोगों के लिए व्यर्थ समझकर यमुना जी में फेंक देने की आज्ञा दी। अब उन १० ००० पदों में केवल ६ पद उपलब्ध हैं जिनको 'यमुना जी का प्रसाद' कहा जाता है।[1]

भट्ट जी ने ब्रजभाषा में 'कृष्ण शरणापत्ति स्तोत्र' नाम से १०० पदों की—एक रचना की थी। यही ग्रन्थ 'आदिवाणी' अथवा 'युगल शतक' के नाम से प्रसिद्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के अनुसार भट्ट जी ने 'आदि वाणी' और 'युगल शतक' नाम के दो भिन्न ग्रन्थ रचे थे।[2] परन्तु वास्तव में 'आदिवाणी' और 'युगल शतक' एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं। राधा-कृष्ण की 'युगल मूर्ति' की उपासना का प्रतिपादन करने के कारण इसका नाम 'युगल शतक' पड़ा और ब्रजभाषा में रचित प्रथम रचना होने के कारण 'आदिवाणी' नाम इसको प्राप्त है। साम्प्रदायिक मतानुसार 'आदिवाणी' केवल 'युगल-शतक' का ही विशेषण है।[3] जैसे कि नाम से स्पष्ट है, इनमें १०० पद हैं। उनके अलावा अन्त में और दो दोहे दिये गये हैं। एक में रचना-काल का उल्लेख और दूसरे में फल-प्राप्ति की प्रार्थना है। विषय के अनुसार 'युगल शतक' के पद छ भागों में विभाजित हैं —

१—सिद्धान्त सुख
२—ब्रजलीला सुख
३—सेवा सुख
४—सहज सुख,
५—सुरत सुख तथा
६—उत्सव सुख।[4]

इन पदों में भट्ट जी ने राधाकृष्ण के अनुपम सौन्दर्य और ब्रज के आनन्दमय वातावरण में उनकी सरस लीलाओं का सुमधुर तथा सुसंस्कृत ब्रजभाषा में वर्णन किया है।

---

१ श्री युगल-शतक (भूमिका) पृ० ४५, ४६।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० २२७।
३ युगल-शतक (भूमिका), पृ० १। ४ ब्रजमाधुरी सार, पृ० १२६।

हरिव्यास जी : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

श्री हरिव्यास देव श्री आचार्य भट्ट के अन्तरंग और प्रमुख शिष्य थे। आप निम्बार्क सम्प्रदाय की इकतीसवीं पीढ़ी के महान् आचार्य हुए।

व्यास जी के सम्बन्ध में उल्लेख श्री रूप रसिक ने 'हरिव्यास यशामृत' तथा स्वामिनीदास ने 'श्री हरिव्यास पच्चीसी' में किये हैं। 'श्री आचार्य चरित' नामक संस्कृत ग्रन्थ में भी इनकी जीवनी पर्याप्त विस्तार से दी गयी है। नाभादास के भक्तमाल[1] में और प्रियादास की टीका में इनकी उत्कृष्ट वैष्णवता और उद्दाम भक्ति-भावना का वर्णन मिलता है।

हरिव्यास जी माधुर्य भाव के उपासक थे। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत होते हुए भी उन्होंने 'रसिक-सम्प्रदाय' नाम से एक शाखा चलायी। इस मत में भगवान् के शृङ्गारी रूप की उपासना की प्रधानता है। इस शाखा के लोग 'हरिव्यासी' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

हरिव्यास जी ने संस्कृत में निम्नलिखित ग्रन्थ रचे थे —

१—सिद्धान्त रत्नांजलि,

२—अष्टयाम

३—तत्त्वार्थ पंचक

४—पंचसंस्कार निरूपण

५—प्रेम भक्ति विवर्धिनी—श्री निम्बार्क अष्टोत्तरशत नाम की टीका।

इनकी एक मात्र हिन्दी रचना 'महावाणी' है जिसको इन्होंने अपने गुरु के आदेशानुसार 'युगल शतक' के भाष्य के रूप में लिखा था। 'युगल शतक' एक साधारण ग्रन्थ है तो 'महावाणी' काव्य-गुणों से शोभित एक उत्कृष्ट रचना है। इसमें राधाकृष्ण की नित्य-विहार लीलाओं का बड़ा मार्मिक और हृदयस्पर्शी वर्णन है जो एक भक्त-कवि की आत्मानुभूति की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति है। इसमें भक्त मानसिक दशा के भावावेश में पहुँचकर विषय के साथ तादात्म्य स्थापित कर उसमें पूर्णतः अपने को खो जाता है। 'महावाणी' की भाषा कोमल ब्रजभाषा है जो सुन्दर प्रसाद गुण युक्त श्लेषादि अलंकारों से अर्थ-गाम्भीर्य लिये हुए है।

---

[1] खेचर नर की शिष्य निपट अचरज यह आवै।
विदित बात संसार संतमुख कीरति गावै।
बैरागिन के वृन्द संग स्याम सनेही।
ज्यौं जोगेस्वर मध्य मनो सोभित बैदेही।
श्रीभट्ट चरन रज परसि कै सकल सृष्टि जाकी नई।
श्रीहरिव्यास तेज हरि भजन-बल देवी को दीक्षा दई।

—भक्तमाल छप्पय ७०

हरिव्यास जी पदों में अपना नाम 'हरिप्रिया' रखते थे। इनके पदों की रचना मुक्तक होने पर भी उसका आस्वादन प्रासंगिक रूप में किया जा सकता है। श्री महावाणी' में पाँच सुख हैं —

१—सेवा २—उत्सव ३—सुरत ४—सहज और ५—सिद्धान्त।

'सेवा सुख' में नित्य विहारी श्री राधा-कृष्ण की अष्टयाम सेवा का वर्णन है। प्रारम्भिक ११ पदों में पूर्व आचार्यों का 'सखियों' के रूप में स्मरण किया गया है। 'उत्सव सुख' में नित्य विहार के नैमित्तिक उत्सवों के आनन्द का वर्णन है जिससे सखियों को नित्य नवीन सुख का अनुभव होता है। 'सुरत सुख' राधा और कृष्ण के परस्पर एक-दूसरे के सुख सागर में निमग्न रहने का वर्णन है। 'सहज सुख' में स्वाभाविक प्रेमावस्था में विभोर होने का वर्णन है। श्रीकृष्ण अपना आह्लादिनी शक्ति श्री राधा रानी के साथ नित्य-विहार का सुख वृन्दावन धाम में अनुभव करते हैं। 'सिद्धान्त सुख' का विषय अत्यन्त गम्भीर है। इसमें वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों का जैसे उपास्य तत्व, धर्म तत्व सखी नामावली आदि का वर्णन है। इनके अनुसार अपार माधुर्य की मूर्ति सौन्दर्य रस-सिन्धु श्री सर्वेश्वर कृष्णचन्द्र ही एक मात्र परात्पर तत्व हैं और निर्गुण निराकार ब्रह्म उस लीला नायक के विवर्त मात्र हैं। 'सखी नामावली' में प्रधान सखियों तथा उनके उपनामों की चर्चा है। संक्षेप में यही महावाणी' का वर्ण्य-विषय है।

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों में हरिव्यास जी का सम्मानपूर्ण स्थान है। श्री बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है —

"निम्बार्क मतावलम्बी कवियों में श्री हरिव्यास देव जी का वही स्थान है जो वल्लभ मतानुयायी भक्तों में सूरदास जी को प्राप्त है। दोनों ही हिन्दी कविता-कामिनी के कलेवर को शोभित करने वाले दो रत्न हैं तथा अपने भक्ति-सम्प्रदाय के भास्वन्त भाल हीरक हैं।"[1]

परशुराम देव उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

परशुराम देव हरिव्यास जी के द्वादश शिष्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। बड़े भक्त होने के साथ ही एक श्रेष्ठ कवि भी हैं। ये सगुणोपासक तो थे ही। परन्तु निर्गुण ब्रह्म पर भी कबीर की भाँति काव्य-रचना इन्होंने की है। इनके १३ ग्रन्थों का पता चला है —

१—तिथि लीला २—वार लीला ३—बावनी लीला, ४—विप्रमतीसी ५—नाम लीला ६—नक्षत्री ७—रामरसनाम लीला निधि ८—श्रीच निपध लीला ९—हरि लीला १०—लीला समझनी ११—नाथ लीला १२—निज रूप लीला १३—निर्वाण।

---

१ भागवत सम्प्रदाय—आ० बलदेव उपाध्याय, पृ० ३२९।

प्रथम चार ग्रन्थ विषय और नाम-साम्य की दृष्टि से कबीर के कहे जाने वाले इन्हीं नाम वाले ग्रन्थों से कुछ मिलते-जुलते हैं। 'नाम लीला' में महापुरुषों के नाम दिये गये हैं। 'हरिलीला' में भगवान् की लीलाओं का दार्शनिक विवेचन है। 'नक्षत्र लीला' में नक्षत्रों का दार्शनिक निरूपण है। 'निज रूप लीला' में भगवान् के स्वरूप का विवेचन है। 'निर्वाण' में संसार की सारहीनता का परिचय देकर संसार में त्याग और भगवद् भक्ति का उपदेश दिया गया है। इन १२ ग्रन्थों का संग्रह ही 'परशुराम सागर' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें २२०० दोहे और छप्पय छन्द और १००० पद हैं।[1] यह अभी अप्रकाशित है और इसकी एक हस्तलिखित प्रति 'सलेमाबाद' में सुरक्षित है।

रूप रसिक जी : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री रूप रसिक जी एक महान् भक्त, दार्शनिक और धर्म प्रचारक के रूप में प्रख्यात हैं। इनके जीवन-वृत्त पर विशेष विवरण कुछ नहीं मिलता।

रूप रसिक की तीन रचनाओं का परिचय हिन्दी-जगत् में मिलता है।[2]

१—वृहदुत्सव मणिमाल
२—हरिव्यास यशामृत और
३—नित्य विहार पदावली।

'वृहदुत्सव मणिमाल' एक वृहद् ग्रन्थ है जिसके पदों की संख्या १६६४ है।[3] इसमें कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों का भी वर्णन है। परन्तु विशेष रूप से राधा कृष्ण के जन्म, मंगल बधाई, नित्य बसन्त, होरी, झूला आदि समस्त उत्सवों का ही विशद वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'महावाणी' के 'उत्सव सुख' का अनुकरण कर लिखा गया है। यद्यपि इन दोनों में दैनिक और वार्षिक उत्सवों का वर्णन मिलता है तो भी 'वृहदुत्सव मणिमाल' में नैमित्तिक उत्सवों को प्रधानता दी गई है।

'हरिव्यास यशामृत' में गुरु-महिमा वर्णित है। इसमें कृष्ण भक्ति के स्वरूप पर भी अनेक पद, दोहे और चौपाइयाँ मिलती हैं।

'नित्य विहार पदावली' में १९० पद हैं, जो नित्य-कुंज-लीला पर लिखे गये हैं। व्रजलीला के पद इसमें नहीं हैं।[4]

स्वामी हरिदास : उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

हिन्दी कृष्ण-काव्य को अलंकृत करने वाले कविरत्नों में सखी-संप्रदाय के

---

१ निम्बार्क-माधुरी, पृ० ७४-७५।
२ वही पृ० ९९।
३ वही पृ० १००।
४ वही पृ० १४१।

प्रवर्तक स्वामी हरिदास का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वामी जी के जन्म-स्थान जन्म संवत्, माता पिता गुरु आदि के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं।

स्वामी हरिदास जी का कविताकाल संवत् १६०० और १६४४ के बीच पड़ता है। इनकी सम्पूर्ण काव्य रचना पदों के रूप में ही मिलती है। स्वामी जी सिद्धहस्त गायक थे ही अतः इनके पद विविध राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इनकी रचनाओं के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार इनके अनेक संग्रह प्राप्त हुए हैं जिनमें 'हरिदास जी की बानी' तथा 'हरिदास जी के पद' मुख्य हैं।[1] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी तीन रचनाओं का उल्लेख किया है —[2]

१—हरिदास जी को ग्रन्थ

२—स्वामी हरिदास जी के पद तथा

३—हरिदास जी की बानी।

मिश्रबन्धुओं ने और एक ग्रन्थ 'भरथरी वैराग्य' को हरिदास जी कृत माना है।[3] परन्तु इनमें से उपलब्ध होने वाली केवल दो ही रचनाएँ हैं। पहली रचना *सिद्धान्त के पद* है और दूसरी *'केलिमाल'*। ये दोनों *निम्बार्क माधुरी* में प्रकाशित हैं। 'सिद्धान्त के पदों' की संख्या १८ है और 'केलिमाल' के पदों की संख्या १०८ है। शायद इन्हीं दो रचनाओं का उल्लेख डा० दीनदयालु गुप्त ने 'साधारण-सिद्धान्त और रस के पद' से किया है।[4] 'केलिमाल' में युगल रूप राधाकृष्ण के नित्य-विहार नखशिख, मान दान होली, रास आदि विषय वर्णित हैं।

विट्ठल विपुलदेव उनकी रचनाएँ और वर्ण्य विषय

हरिदासी सम्प्रदाय में श्री विट्ठल विपुलदेव का नाम बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु इनके जीवन-वृत्त पर बहुत कम विवरण उपलब्ध है।

श्री विट्ठल विपुल की रचना स्फुट पद हैं जो कीर्तन संग्रहों और राग कल्पद्रुम में प्राप्त होते हैं। इनके ४० पदों में २९ पद 'निम्बार्क माधुरी' में दिये गये हैं।[5] इन पदों के द्वारा उन्होंने स्व सम्प्रदायान्तर्गत परम्परागत रस-सिद्धान्त एवं उपास्य तत्त्व की परिपुष्टि की है। इन पदों में स्वामी हरिदास जी के 'केलिमाल' का सार

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (चतुर्थ संस्करण)
—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५६०।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० १८६।

३ मिश्रबन्धु विनोद—पृ० ३०२।

४ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (भाग १)—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ९९।

५ श्री विट्ठल विपुल प्रताप बल प्रगट सबै यह तमक रवि।
चालिस पद रसमय विरचि गायो विविरस एमक छवि ॥
—निम्बार्क माधुरी, पृ० २२४।

निरूपित है। राधा-कृष्ण के नित्य-विहार झूला मान रास नोंक-झोंक आदि विषय वर्णित हैं।

मीराबाई उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

कृष्ण भक्ति मीराबाई हिन्दी की सबसे अधिक प्रसिद्ध कवयित्री हैं। इनके ऊपर नयी-पुरानी अनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं जिनमें मीरा का जीवन-वृत्तान्त मिलता है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' ८४ वैष्णवन की वार्ता' २५२ वैष्णवन की वार्ता' राघवदास कृत 'भक्तमाल' आदि में भी मीरा सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। मीरा के जन्म-संवत्, निधन-संवत् आदि के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं।

मीराबाई के नाम से निम्नलिखित रचनाएँ बतायी जाती हैं :—

१—नरसी जी रो माहेरो
२—गीत-गोविन्द की टीका
३—राग गोविन्द
४—सोरठ के पद,
५—मीराबाई की मलार, और
६—गर्वा गीत।

परन्तु 'राग गोविन्द' तथा 'राग सोरठा' के केवल नाम मात्र मिलते हैं। 'नरसी जी रो माहेरो' मीराबाई की रचना नहीं मालूम पड़ती है। इनके पदों में निर्गुण ब्रह्मवाद हठयोग सूफी प्रेम-तत्त्व इत्यादि समकालीन विचार-धाराओं का प्रभाव दीख पड़ता है। इनकी ब्रजभाषा में राजस्थानी का प्रभाव है। कृष्ण से सम्बन्धित पदों में कृष्ण के प्रति मीरा के प्रेम विरह, मिलन आत्म-निवेदन आदि के भाव अभिव्यंजित हैं। कुछ पद रामचरित सम्बन्धी भी हैं।

रहीम उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

अब्दुर्रहीम खानखाना[1] अकबर के दरबार के श्रेष्ठ कविरत्नों में से हैं। अबुल फज़ल अब्दुल कादिर, बदायूनी अब्दुल बाकी आदि मुसलमान इतिहासकारों के ग्रन्थों में रहीम के जीवन-वृत्त सम्बन्धी विवरण विस्तार से मिलते हैं। ये इतिहास-प्रसिद्ध बैरमखाँ के पुत्र थे।

---

१ हिन्दी के कुछ इतिहासकारों ने हिन्दी भाषा के दो रहीम कवियों का परिचय देने का प्रयास किया है। शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' में प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना के अलावा और एक रहीम का उल्लेख किया है जिसके समर्थन में मिरजारोशन का एक छन्द दिया है। इसके आधार पर मिश्रबन्धुओं ने भी हिन्दी के दो रहीम कवि माने हैं परन्तु खानखाना एक ही व्यक्ति थे और वे अकबरी दरबार के प्रसिद्ध कवि रहीम ही हैं। डा० सरयूप्रसाद ने यह सिद्ध किया है। —अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृ० १६५।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रहीम की निम्नलिखित रचनाएँ बतायी हैं —[1]

१—रहीम दोहावली या सतसई २—बरवै नायिका भेद ३—शृङ्गार सोरठ, ४—मदनाष्टक ५—रास पंचाध्यायी ६—नगर शोभा ७—फुटकल बरवै ८—फुटकल कवित्त सवैये, ९—रहीम काव्य १०—खेटकौतुकम्।

इनके ग्रन्थों में डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'रहीम दोहावली' बरवै नायिका', 'मदनाष्टक' 'रास पंचाध्यायी और 'शृङ्गार सोरठ' प्रसिद्ध हैं।[2] दोहावली में प्रारम्भ में गंगा-स्तुति है। भक्ति, नीति, उपदेश आदि विषयों की चर्चा है। रहीम की रचनाओं में 'मदनाष्टक' और 'रास पंचाध्यायी दोनों ही कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत आती हैं। 'मदनाष्टक' में केवल आठ श्लोक हैं और 'रास पंचाध्यायी' में केवल दो पद ही उपलब्ध हैं।[3]

'मदनाष्टक' रचना में कृष्ण की मुरली के व्यापक प्रभाव कृष्ण-सौन्दर्य से उद्दीप्त गोपी-प्रेम-भावना, गोपियों की विह्वलता और कृष्ण से मिलने की तीव्र आकांक्षा आदि का वर्णन है। "यह सम्पूर्ण वर्णन विप्रलंभ शृङ्गार के अन्तर्गत स्मृति-संचारी के ही रूप में हुआ है। गोपियों में कृष्ण के बंसी-नाद, उनकी रूप माधुरी तथा उनकी मधुर चाल-ढाल तथा बोली ने उनके विरह को और भी उद्दीप्त कर दिया है और वे कृष्ण से मिलने के लिए लालायित हो उठती हैं। रहीम के पदों में कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन मधुर ब्रजभाषा में हुआ है। पदों की शब्द-योजना श्रुतिमधुर और संगीतात्मक है। भाव और भाषा—दोनों के दृष्टिकोण से ये पद सूरदास के पदों से मिलते हैं। कवित्त और सवैयों में कृष्ण का बाल-रूप-वर्णन उनके गुणों का कथन और साधारण नीति तथा शिक्षा के विषय आये हैं।"[4]

नरोत्तमदास उनकी रचनाएँ और वर्ण्य-विषय

नरोत्तमदास केवल एक छोटी रचना के बल पर हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में स्थान पाने वाले अद्वितीय कृष्ण-भक्त थे।

नरोत्तमदास के दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—'सुदामा चरित' और ध्रुव चरित। केवल 'सुदामा चरित' प्राप्य है। 'ध्रुव चरित' अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। 'सुदामा चरित' बहुत छोटी रचना होने पर भी इतनी सरस और श्रेष्ठ है कि उसी ने कवि को अमर बना दिया। यह 'चरित-काव्य' है जो अपने वर्ग में 'हिन्दी कृष्ण-काव्य-क्षेत्र' में सर्वश्रेष्ठ है। इसकी कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित है। यह

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० २०१४) पृ० २०२।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (चतुर्थ संस्करण) —डा० रामकुमार वर्मा पृ० १००।

३ रहीम रत्नावली—मायाशंकर याज्ञिक द्वारा सम्पादित पृ० १२।

४ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृ० १०१।

एक खण्ड-काव्य है, जिसमें दोहा, सवैया, और कवित्त छन्दों में सम्बद्ध क्रम से कृष्ण-सुदामा मिलन की कथा का वर्णन है। छन्दों की संख्या १२१ है। इसकी भाषा प्रवाहमयी एवं सरस है और शैली आकर्षक है, जिससे अन्य कवियों को इसी के अनुकरण पर 'सुदामा-चरित' लिखने की प्रेरणा दी।

कृष्ण-काव्य-जगत् में इसकी विशेषता यह है कि यह राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन न कर, द्वारकाधीश श्रीकृष्ण के हृदय की कोमलता दयाशीलता और सुदामा के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता का परिचय देता है। इसमें दीन हृदय के बड़े सजीव चित्र अंकित हैं।

तृतीय अध्याय

"मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्व"

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य
को
प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्'[1] के तत्व

तमिळ-प्रदेश में छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक भक्ति का जो तीव्र आन्दोलन चला उसमें आळ्वारों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रथम अध्याय में हम यह दिखा चुके हैं किन-किन परिस्थितियों से तमिळ-प्रदेश में भक्ति-आन्दोलन का आविर्भाव हुआ और उसमें आळ्वारों की देन क्या थी? उक्त भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन के रूप में व्यापक और विशाल बनाने का पूरा-पूरा श्रेय आळ्वारों को है। आळ्वार भक्तों ने भक्ति-मार्ग को ही ईश्वर-प्राप्ति का सर्वसुलभ और राज मार्ग घोषित किया। आळ्वारों के भक्ति-प्रधान गीतों में एक अद्भुत शक्ति थी जिसने तमिळ-प्रदेश की समस्त जनता को भक्ति-मार्ग पर आकृष्ट किया। कितने ही भक्त आळ्वारों के सरस और मधुर गीतों को गा-गाकर आत्म-विभोर हो जाते थे। वह युग भक्ति के भावावेश का युग था और भक्ति ही उस युग की सबसे ऊँची आवाज थी। 'बिजली की चमक' के समान आळ्वारों का भक्ति-सन्देश समस्त दक्षिण भारत के कोने-कोने में पहुँच गया। आळ्वारों द्वारा प्रसारित भक्ति की धारा नवीं शताब्दी के बाद भी अव्याहत गति से प्रवहमान रही।

पहले कहा जा चुका है कि छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल तमिळ-साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल के नाम से अभिहित है। तमिळ को छोड़कर भारत की प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं का विकास नवीं शताब्दी के अनन्तर ही हुआ है। दक्षिण की अन्य भाषाओं में भी भक्ति-साहित्य का आविर्भाव अधिकांशतः नवीं शताब्दी के पश्चात् ही हुआ है। नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक के साहित्य को 'मध्ययुगीन साहित्य' की संज्ञा दी जाती है। तमिळ तथा समस्त भारतीय आधुनिक भाषाओं के भक्ति-साहित्य का काल इस मध्य युग में ही पड़ता है।

---

1 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्'—आळ्वारों के पदों का संग्रह।

यह देखा जा चुका है कि छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक भक्ति का जो शक्तिशाली आन्दोलन तमिळ-प्रदेश में चला उसने तमिळ में उच्च कोटि के भक्ति-साहित्य को जन्म दिया। तमिळ के इस भक्ति-साहित्य ने दक्षिण की अन्य सगोत्र भाषाओं के भक्ति-साहित्यों को प्रभावित किया हो इसमें आश्चर्य की बात तनिक भी नहीं है। आळ्वारों के पश्चात् आने वाले आचार्यों की परम्परा ने मध्ययुग में भक्ति-आन्दोलन को देशव्यापी बना दिया जिसके फलस्वरूप भारत की विभिन्न भाषाओं में भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ। तमिळ-प्रदेश में छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में जन-आन्दोलन के रूप में जिस भक्ति-आन्दोलन के दर्शन होते हैं, ठीक उसी प्रकार के भक्ति-आन्दोलन की झाँकी मध्ययुगीन तमिळेतर समस्त भारतीय भाषाओं के भक्ति-साहित्यों में मिलती है। इस प्रकार आळ्वारों का भक्ति-साहित्य 'प्रबन्धम्' भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ ठहरता है।[1] हमारा उद्देश्य यह स्थापित करना नहीं है कि भारतीय भाषाओं के मध्य-युगीन भक्ति-साहित्यों को प्रभावित करने वाला एक मात्र स्रोत 'प्रबन्धम्' है। कई अन्य स्रोतों ने भी प्रभावित किया होगा। परन्तु 'प्रबन्धम्' का जो प्रभाव अन्य साहित्यों पर भक्ति-आन्दोलन के मूल ग्रन्थ के रूप में पड़ा है, वह निर्विवाद है—चाहे तो वह प्रभाव असाक्षात् रहा हो चाहे उस प्रभाव के माध्यम अनेक हों। 'प्रबन्धम्' अतिशय शक्तिशाली आचार-पक्ष और विचार-पक्षों से प्रभावित आचार्यों द्वारा चलाये गये विभिन्न भक्ति-सम्प्रदाय तथा उनके अन्तर्गत रचित भक्ति-साहित्य इसके प्रमाण हैं।

मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को विशेषकर कृष्ण भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रबन्धम् के तत्वों का सामान्य विवेचन प्रस्तुत करना ही यहाँ हमारा उद्देश्य है। इन तत्वों का प्रभाव मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति-साहित्य पर भी देखा जा सकता है, जिसका विवेचन आगे के अध्यायों में किया जायगा। 'प्रबन्धम्' भक्ति-

---

१ "इस प्रकार प्रबन्धम् भक्ति-आन्दोलन का आदि ग्रन्थ बन गया। अभी तक भागवत पुराण ही भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ समझा जाता है। किन्तु हमारा अनुमान है कि इस आन्दोलन का मूल ग्रन्थ भागवत नहीं प्रबन्धम् है। यह इस कारण कि यद्यपि भागवत और प्रबन्धम्—ये दोनों ग्रन्थ एक ही समय में लिखे गये, फिर भी प्रबन्धम् की बहुत-सी कविताएँ दूसरी-तीसरी सदी से प्रचलित चली आ रही थीं। साथ ही यह भी विचारणीय है कि प्रबन्धम् की कविताएँ जनता की भक्ति-साधना की सीधी अभिव्यक्ति हैं। किन्तु भागवत की रचना पांडित्य के स्तर पर की गयी है। प्रबन्धम् भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ क्यों माना जाय? इसका संकेत भी भागवत ही देता है, क्योंकि उसका भी मत है कि भक्ति का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था।"

—संस्कृति के चार अध्याय (द्वितीय संस्करण) : श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' पृ० २१८।

प्रधान ग्रन्थ है। उसके प्रणयन के मूल में भी भक्ति का प्रचार ही था। मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित वाले प्रबन्धम् के भक्ति-तत्वों[1] को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है —

१—सामान्य तत्व २—विशिष्ट तत्व

सामान्य तत्वों के अन्तर्गत हम उन तत्वों को लेंगे जिन्होंने सामान्य रूप से मध्ययुगीन भारतीय भक्ति-साहित्य को प्रभावित किया है। विशिष्ट तत्वों के अन्तगत हम मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले तत्वों को विशेष रूप से लेंगे। सामान्य भक्ति-तत्व तो सगुण भक्ति साहित्य के अन्तर्गत ही नहीं बल्कि निर्गुण भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत भी न्यूनाधिक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। ये तत्व भारतीय भक्ति-साहित्य में केवल प्रबन्धम्' से ही गये हों यह बात नहीं है। 'प्रबन्धम्' भी स्वयं वेद तथा गीता से प्रभावित है। परन्तु प्रबन्धम्' का महत्व इस बात में है कि उसके भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट सन्दर्भ में इन तत्वों पर सर्वाधिक जोर दिया और उन्हें भक्ति के आवश्यक तत्व बताये। इन सामान्य तत्वों में परवर्ती भक्ति-साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित करने वाले निम्नलिखित कुछ तत्वों को प्रमुख रूप से लेंगे —

१—भक्ति का सर्वोपरि महत्व
२—नाम महिमा
३—स्तुति
४—शरणागति अथवा प्रपत्ति
५—गुरु महिमा
६—सत्संग
७—वैराग्य

१ भक्ति का सर्वोपरि महत्व

भारतवर्ष में अतिप्राचीन काल से संसार-दुःख से छूटकर मुक्ति-लाभ करने के तीन प्रधान मार्ग प्रचलित रहे हैं —ज्ञान-मार्ग कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग। देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार कभी किसी मार्ग का प्राधान्य रहा है और कभी किसी का। आळ्वार भक्तों के समय तक ज्ञान-मार्ग और योग-मार्ग (कर्म-मार्ग) जन-साधारण के लिए असाध्य जान पड़ने लगे थे। आळ्वार भक्तों ने भक्ति-मार्ग को इतना आसान और सुगम बना दिया कि लोगों ने इसे बड़ी सरलता से अपना लिया

---

१ केवल भक्ति-तत्वों के वर्गीकरण के विषय में डा० विश्वनाथ शुक्ल के 'मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले श्रीमद्भागवत के सामान्य तत्व' नामक लेख से सहायता ली गयी है।
—धर्मिवर भारती अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी-संस्कृत विभाग की शोध पत्रिका पृ० ६८-८२।

यहाँ तक कि कर्म और ज्ञान-मार्गों में भी भक्ति को साधन रूप में प्रविष्ट कर लिया गया। "कर्म और भक्ति, ज्ञान के साथ साधन-रूप भक्ति और योग के साथ गुरु की मध्यस्थता-रूप में भक्ति इस प्रकार अन्य मार्गों में भी भक्ति का समन्वय हुआ। स्वतंत्र रूप से तो भक्ति-मार्ग इतना प्रचलित हुआ कि इसकी लहर ने दक्षिण से उठकर सम्पूर्ण उत्तरी भारत को आप्लावित कर दिया।"[1]

प्रबन्धम्' में भक्ति की महत्ता सर्वत्र घोषित की गई है। सभी आळ्वारों ने भक्ति को ही मुक्ति-लाभ का एक मात्र उपाय बताया है। जो भक्ति नहीं करता उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है। पेरियाळ्वार ने यहाँ तक कह दिया है कि जो भक्ति नहीं करता वह अपनी माता के गर्भ को कलंक पहुँचाता है।[2] सांसारिक दुःख से छूटकर परमानन्द प्राप्त करने के लिए योग तप इत्यादि सब व्यर्थ है। केवल भक्ति ही वैकुण्ठ-प्राप्ति करा सकती है।[3] भक्ति ही मरण को जीत सकती है। अपने शरीर को नाना कष्ट पहुँचाकर पंचेन्द्रियों को दबाकर कठिन तपस्या करने की आवश्यकता नहीं।[4] वन में जाकर पंचाग्नि मध्य बैठकर योग में लीन रहने से भी कोई प्रयोजन नहीं है।[5] भक्ति मात्र के उदय होने से सारा क्लेश दूर जाता है।

आळ्वारों के अनुसार भगवान् में अनुरक्ति ही भक्ति है। भगवान् का स्मरण मात्र करने से वह भक्त के हृदय में वास करने लगता है। भक्त सतत् भक्ति में ही लीन रहना चाहता है। भक्ति से जो सुख मिलता है, वह स्वर्ग के सुख से भी श्रेष्ठ है।[6] आळ्वारों के अनुसार भक्ति का फल भक्ति ही है। भक्ति प्राप्त होने के पश्चात् किसी भी बात की आवश्यकता नहीं होती। उसे पूर्णानन्द का लाभ होता है। कुल-शेखराळ्वार ने यहाँ तक कह दिया है— हे भगवान्! मैं स्वर्ग की इच्छा नहीं करता केवल तुम्हारी भक्ति करते रहने की मेरी कामना है।"[7] अत आळ्वारों के अनुसार

---

१ अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (प्रथम संस्करण)—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ५११।

२ पेरियाळ्वार तिरुमोळी ४ ४ २

३ नान्मुकन तिरुवन्तादि, ७९

४ ऊनवाडा उण्णु उलिर कावलिट्टु
उडलिल पिरियाप्पुलनैन्दुम नोन्दु
तामवाडा वाडा तवम् चेय्यवेंडा
—पेरिय तिरुमोळी १ : २ १

५ कायोडु नीडु कनियुडु, वीसु
कडुंकाल नुकर्न्दु नेडुंकालम् ऐन्दु
तीयोडु निन्ड्र तवम् चेय्यवेंडा
—वही १ २ २

६ तिरुमालै २

७ पेरुमाळ तिरुमोळी, ४ ६

भक्ति साधन ही नहीं बल्कि साध्य भी है।[1] स्पष्ट है कि आळ्वारों ने भक्ति को सर्वोपरि महत्व दिया है। मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी भक्ति को ही सर्वाधिक प्राधान्य प्रदान किया है और ऊपर दिये हुए आळ्वारों के विचारों को दुहराया है।

२ नाम महिमा

भक्ति के साधन में भगवान् के अनेक नामों में से किसी भी नाम के स्मरण कीर्तन तथा श्रवण को आळ्वार भक्तों ने भारी महत्व बताया है। आळ्वार भक्तों का दृढ़ विश्वास है कि भगवान् के सहस्र नामों में से किसी भी एक का सदा मन में स्मरण तथा ध्यान करने से जिह्वा से उसका कीर्तन-गायन करने से और उसका कानों से श्रवण करने से मन वाणी और कर्म द्वारा होने वाले समस्त पापों का क्षय होता है, मन में पवित्र भाव भर जाते हैं और श्रद्धा की वृद्धि हो जाती है।[2] श्रद्धा से भगवान् की सेवा में संलग्नता आती है और उससे भगवान् की भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति से सत्व गुण की वृद्धि होती है और सत्य का साक्षात्कार होता है, तदनन्तर मोक्ष मिलता है। तिरुमंगै आळ्वार अपने एक गीत में कहते हैं— "मैंने उस 'नारायण' नाम को पहचान लिया है जो पवित्रता (अच्छा कुल) प्रदान करने वाला है। वह धन देने वाला है, भक्तों के कष्टों और दुखों को दूर करने वाला है, भगवान् का अनुग्रह प्रदान करने वाला है, शक्ति प्रदान करने वाला है, जन्म देने वाली माता से भी अधिक स्नेह (ममता) दिखाने वाला है वह कल्याण प्रदान करने वाला है।"[2] पेरियाळ्वार का सुझाव है कि बच्चों को भगवान् के सहस्र नामों से एक को रखना चाहिए। नाम की महिमा अनन्त है। भगवान् का नाम बच्चों को रखने से उन्हें बुलाते समय भगवान् का स्मरण भी हो सकता है। इस तरह भगवान् के नामों का उच्चारण सर्वदा हो सकेगा।[3]

---

१ तिरुवाय्मोळी— ९ १ १-८

२ "कुलमतरुम् सेल्वम् तन्दिडुम्
अडियार् पडु तुयरायिनवेल्लाम्
निलन्तरञ्जेय्युम् नीळ्विसुम्बरुळुम्
अरुळोडु पेरुनिलमळिक्कुम्
वलन्तरुम् मट्रुम् तन्दिडुम्
पेट्र तायिनुमायिन सेय्युम्
नलन्तरुम् सोल्लै नान् कण्डु कोण्डेन्
नारायणावेन्नुम् नामम्

—पेरिय तिरुमोळी १ १ ९

३ पेरियाळ्वार ने बच्चों को भगवान् के विभिन्न नाम रखने का उपदेश देते हुए दस पद लिखे हैं। —पेरियाळ्वार तिरुमोळी, ४ ६ १-१०

प्रायः सभी आळ्वारों ने नाम की महिमा गायी है। नाम महिमा पर आळ्वारों के कुछ विचार नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं। (विस्तार भय से उद्धरण संक्षेप में ही दिये गये हैं।)

'हमारे पापों और दोषों को "नारायण" नाम विष की तरह मार डालता है।'[1]

'सुन्दर घनश्याम भगवान् का नाम लेने वाला कभी नरक नहीं पहुँच सकता।'[2]

"हे, मन! भगवान् के नामों का उच्चारण करो, तुम्हारा उद्धार होगा।"[3]

"जो भगवान् का नाम-स्मरण करता है वह उसे स्वर्ग तक पहुँचाने वाला है, स्वर्ग उसका पुरस्कार है।"[4]

"जो "नमोनारायण" नाम का उच्चारण करता है उसकी दुर्गति कैसे हो सकती है?'[5]

'भगवान् का नाम सज्जनों को वरदान स्वरूप है। भगवन्नाम को भूलने वाले को मैं मनुष्य की कोटि में मान नहीं सकता।"

'भगवान् का नाम-स्मरण करने से जो आनन्द आता है, उसकी अपेक्षा मुझे इन्द्रलोक पर शासन करने का अधिकार मिल भी जाय उसे नहीं लूँगा।"[6]

'भगवन्नाम की शक्ति से हम यमराज के सिर पर सवार हो सकते हैं।"[7]

मुक्ति के लिए सुलभ साधन भगवान् के नाम के अतिरिक्त कुछ नहीं।"[8]

---

१ "नंदुवल वंदीर नम्मुडैय विनैगळ्
नारायणावेन्नुम् नामम्" —पेरिय तिरुमोऴि १ । १ । १०

२ कण्णुम् इलिय कण्णुदिल कण्णन् नामने
नण्णुदिन नारायणान् तम अन्नै नरकम् पुकाळ।"
—पेरियाळ्वार तिरुमोऴि ४-६-७

३ नामम् पलसोल्लि नारायणावेन्नु
नामंगळुडैय नम्बिक्के।
—मुदल् तिरुवन्दादि ८।

४ नान-डाळ नन्नुरुवेन्नु नारायण तन नामंगळ,
वानताळ मदुवम परेयाळ्गुनान वानत्। —इरण्डाम तिरुवन्दादि, ९

५ मोन्ऱाम तिरुवन्दादि ९१।

६ इच्चुवै तविरयानपोय इन्दिरलोकमाळुम
अच्चुवै पेरिनुम वेण्डेन अरंगमानगरुळाने।" —तिरुमालै २

७ कावलिल पुलनै वैत्तु कलितन्नै कडक्कप्पाय्न्दु
नावलिट्टुऴितरुगिन्ऱोम् नमन् तमर् तलैगळ् मीदे। —तिरुमालै १

८ "पेरिदिन्पम् वायतुम नेञ्जमाल नामम्"
—नान्मुगन तिरुवन्दादि, ६६

"भगवान् के नाम का उच्चारण करने से नरक भी स्वर्ग में परिणत होगा।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि आळ्वारों ने भगवन्नाम-माहात्म्य पर विशेष जोर दिया है। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में भी भगवन्नाम की अनन्त महिमा की प्रतिष्ठा हुई है। निर्गुण मार्ग के संत तथा सगुण मार्ग के भक्त—दोनों ने मुक्त कंठ से भगवन्नाम की अमोघ शक्ति का वर्णन किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है—"मध्य युग के भक्तों में भगवान् के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है। मध्य युग की समस्त धर्म-साधना को 'नाम की साधना' कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के नाम-जप के बारे में किसी को सन्देह नहीं। इस अपार भवसागर में एक मात्र नाम ही नौका रूप है।"[2]

३ स्तुति

भगवद्-स्तवन भक्ति का ही एक प्रधान अङ्ग माना गया है। भक्त होकर भगवान् की असीम शक्ति, भगवान् की भक्त-वत्सलता तथा भगवान् के श्रेष्ठ गुणों का बारम्बार स्तवन करने से भक्त को परम शान्ति का अनुभव होता है। स्तुति की परम्परा तो वैदिक ऋचाओं से मिलती है। संस्कृत में तो उच्च कोटि का स्तोत्र साहित्य उपलब्ध होता है ही। कीर्तन भजन भी इस श्रेणी में आते हैं। भगवान् के नाम, गुण माहात्म्य लीला धाम तथा भागवत् भक्ति के यश का प्रेम और श्रद्धा के साथ भजन स्तुति, उच्च स्वर से पाठ तथा गान 'कीर्तन' कहलाता है। भक्ति शास्त्र के आचार्यों ने इस साधन को भी परमानन्द प्राप्ति का एक उपाय कहा है और इसकी बहुत प्रशंसा की है।[3]

आळ्वारों के समस्त पद एक प्रकार से स्तुति-गीत ही हैं। अनेक दशकों में पूरे का पूरा भगवत्-स्तवन ही है। भगवान् के श्रेष्ठ गुणों और उनकी महिमा का गायन कर भक्त अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है। भक्त भगवान् की महिमा गाना ही अपना परम धर्म समझता है। वास्तव में बात यह है कि आळ्वार भक्तों ने अपने अधिकांश गीत विभिन्न मन्दिरों में विभूषित भगवान् के अर्चावतार-रूपों की स्तुति में गाये हैं। अतः उनके अधिकांश गीत स्तुति-परक हैं। भक्त भगवान् को कितने ही नामों से सम्बोधित कर, उसकी कितनी ही लीलाओं की प्रशंसा कर स्वयं परम सुख का अनुभव करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आळ्वारों के स्तुति-गीतों ने भक्तों

---

१ "नरगुम सुर्कमुम पेशा मरकिम निप्पुगग्स केट्टर
नरकमे स्वर्गमागुम नामधेयम नम्बी"
—तिरुमालै १२

२ मध्यकालीन धर्म-साधना—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५।

३ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० २९२।

पर बड़ा ही प्रभाव डाला था। वैष्णव-मन्दिरों में आज भी उनके स्तुति-गीत गाये जाते हैं।

नम्माऴ्वार, तोंडरडिप्पोडियाऴ्वार, पेरियाऴ्वार और कुलशेखराऴ्वार के अनेक पद भगवत् स्तुति परक हैं। कुलशेखराऴ्वार की संस्कृत रचना 'मुकुन्दमाला' तो श्रेष्ठ स्तोत्र ग्रन्थ है ही। संस्कृत के स्तोत्र ग्रन्थों में 'मुकुन्दमाला' का एक महत्वपूर्ण स्थान है। भगवान् की स्तुति करने में भक्त को कितना आनन्द आता है! 'मुकुन्द माला' से दो श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं —

"जयतु जयतु देवो देवकीनन्दनोऽयं
जयतु जयतु कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः
जयतु जयतु मेघ श्यामलः कोमलाङ्गो
जयतु जयतु पृथ्वी भारनाशो मुकुन्दः"[1]

"अनन्त वैकुण्ठ मुकुन्द कृष्ण
गोविन्द दामोदर माधवेति
वक्तु समर्थोऽपि न वक्ति कश्चित्
अहो जनानां व्यसनाभिमुख्यम्"[2]

आऴ्वार भक्तों ने भगवत्-स्तवन की बड़ी आवश्यकता बतायी है। भूतत्ताऴ्वार का कथन है कि भगवान् की स्तुति करने वाले ही जीते हैं।[3] भगवान् के गुणों की लीलाओं की स्तुति करना ही तप करने के समान है।[4] चेर राजा कुलशेखर भगवान् की सेवा में प्रस्तुत होकर उनकी स्तुति करना ही सबसे श्रेष्ठ सुख मानते हैं।[5] पेरियाऴ्वार का कहना है कि जो जिह्वा भगवत्-स्तवन न करे, उससे क्या प्रयोजन है।[6] नम्माऴ्वार ने कहा है कि 'स्तुति के योग्य केवल भगवान् ही हैं। मैं मनुष्यों की स्तुति करने वाले मूर्खों में नहीं हूँ। हे कवि! तुम सर्वेश्वर शक्तिशाली गुण-निधान

---

१ मुकुन्दमाला-कुलशेखराऴ्वार—सम्पादक एम० वी० सी० के० रंगाचारी (काञ्चीवाला) पृ० १।

२ वही पृ० ७।

३ वाऴ्त्तुवार वाऴ्त्तराम्मार्वी-वाऴ्त्तिम्डी
मारन्न तन नामपल वाऴुत्तु दृत्तु म॥
—इरंडाम तिरुवन्तादि २०।

४ एत्ति पणिन्दवन पेर इरियुरम्।
एण्डोळ्ळुम वालि पुरितल तवम्॥
—इरंडाम तिरुवन्तादि ७७

५ एत्ति इरुप्पम तोंटर सेवडी एत्ति वाऴुत्त मेनीयाये —पेरुमाळ तिरुमोऴि २'४।

६ पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि ४ १ १।

भगवान् की स्तुति करो।'[१] पोयगै आळ्वार ने कहा है कि मेरा मुँह भगवान् के अतिरिक्त किसी दूसरे की स्तुति नहीं करेगा।[२]

आळ्वारों के स्तुति-गीतों की एक बड़ी विशेषता उनमें संगीत का समावेश है। संगीत का प्रभाव विश्वव्यापी है। मनुष्य ही नहीं पशु संसार भी संगीत के मुग्धकारी प्रभाव से वंचित नहीं है। आळ्वारों के स्तुतिपरक भक्ति-गीतों को गाते-गाते भक्त बहुधा आनन्दातिरेक से नाच उठते थे। भक्ति के साथ संगीत तथा संगीत के साथ भक्ति—दोनों का एक-दूसरे के सहारे बहुत प्रचार हुआ है। डा० दीनदयालु गुप्त जी के शब्दों में 'ईसा की सातवीं तथा आठवीं शताब्दियों में जब दक्षिण भारत में शिव और विष्णु की भक्ति के भावों का पुनरुत्थान और प्रचार हुआ उस समय यह कार्य धार्मिक गीतों (आळ्वार भक्तों के तमिल-गीत-प्रबन्धम्) द्वारा अधिक मात्रा में हुआ। भक्ति के प्रचार के साथ इन शताब्दियों में संगीत-प्रियता खूब बढ़ी। तमिल-भाषा में उस समय के संगीत के बहुत से नमूने अब भी सुरक्षित हैं। उत्तरी भारत में भी दक्षिण का धार्मिक प्रभाव आया और भक्ति आन्दोलन के साथ संगीत का भी मान बढ़ा।'[३] तात्पर्य यह है कि आळ्वारों के स्तुति गीतों ने मध्ययुगीन भक्त-कवियों को बहुत ही प्रभावित किया है। मध्य युग में कीर्तन भजन की जो परम्परा चल पड़ी उसका मूल स्रोत आळ्वारों का प्रबन्धम् है। मध्य युग के हिन्दी-कृष्ण भक्त-कवियों ने भी गीतात्मक शैली को अपनाया और भगवत्-स्तवन में गीत प्रस्तुत किये।

४ शरणागति या प्रपत्ति

आळ्वारों के अनेक पदों में 'शरणागति तत्त्व' पर विशेष जोर दिया गया है। आत्म-दोषों पर पश्चात्ताप प्रकट करना अपनी आत्म महीनता का अनुभव करना भगवान् को ही एक मात्र सहारा समझना और उद्धार की प्रार्थना करते रहना ही प्रपत्ति या शरणागति है। गीता में श्रीकृष्ण का कथन है—'हे, भारत! सब प्रकार उस परमेश्वर की शरण जा। तू उस परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति को और शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा।'[४] शरणागति में भगवान् का अनुग्रह विशेष अपेक्षित है। यद्यपि भक्ति और प्रपत्ति—दोनों में भगवान् के अनुग्रह और प्रेम का प्रकर्ष होता है

---

१ तिरुवायमोऴी, १६ ११०।

२ "वाय अवनैयल्लदु वाळ्त्तादु"—पोयगम् तिरुवन्तादि ११।

३ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ५६५।

४ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८

और दोनों का फल भगवान् ही है तथापि दोनों में अन्तर यह है कि भक्ति में साधन विशेष का स्वीकार है प्रपत्ति में साधनानुष्ठान का स्वीकार नहीं है केवल भगवान् का स्वीकार है। प्रपत्ति में भगवत्सेवा [1] भगवान् के नाम-जप-कीर्तन आदि निषेध नहीं लेकिन ये कार्य आवश्यक भी नहीं है। सामान्य रूप से शरणागति तत्व के अन्तर्गत स्व-दैन्यों का प्रकाशन भगवान् की भक्तवत्सलता पर दृढ़ विश्वास उद्धार की प्रार्थना भगवान् से शरण की याचना आत्म-समर्पण आदि अंग रूप में आते हैं।[2] आत्म-दोष तथा अपनी अकिंचनता का प्रकाशन करते हुए अभिमान के त्याग दीनता तथा आत्म निवेदन सहित भगवान् से शरण पाने की आर्त पुकार के कितने ही पद आळ्वार भक्तों ने लिखे हैं। तिरुमंगै आळ्वार ने आत्मदोषों का प्रकाशन कर करुणा कलित शब्दों में भगवान् की शरण की याचना की है। उनके कुछ पदों का सार देखिए —

"मैं दुखी हूँ चिंतित हूँ व्याकुल हूँ। सांसारिक मोहजाल में पड़कर मैंने कितने ही स्वर्ण दिन खो दिये हैं। विषय की कामना कर नश्वर पदार्थों की इच्छा कर, नारी के मोह-जाल में पड़कर, चंचल मन से कितने दिन मैंने नष्ट कर डाले। अब

---

१ भक्ति और प्रपत्ति का अन्तर समझाते हुए श्री ए० गोविन्दाचार्य ने लिखा है :—

"One is by Bhakti or loving Him with all energy of one's own will the other by Prapatti or loving him with all the force derived from God Himself when the aspirant Has resigned his own will and dispensations of Providence. In the former case (Bhakti) God does not bind Himself to save, whereas in the latter case (Prapatti) *He binds Himself to save* *Conditions for* the former (Bhakti) are untiring devotion and unceasing worship & C., on the part of the creature—the use of self-will whereas conditions for the latter (Prapatti) are implicit trust and effacement of self-will and proneness to the complete operation of God's will alone. The former (Bhakti) is a slender stream of love proceeding from puny efforts, a creature is capable of *producing in his heart* and this *necessarily subject of many* accidents but the latter (Prapatti) is the mighty flood of Grace pouring down from God the Creater nothing withstanding the rush of the torrent."

—"*Divine Wisdom of Dravid Saints*" pp 207 209

२ 'पांचरात्र' (लक्ष्मी संहिता) में प्रपत्ति के छः अङ्गों का इस प्रकार वर्णन है —

"आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥'

क्या करूँ ? हे भगवान् ! मैं चोर हूँ कपटाचरण करने वाला हूँ, मनमाने मार्ग पर चलने वाला हूँ विद्याहीन हूँ, लक्ष्यहीन हूँ। अब आपकी दया की कामना करता हूँ।
—(पेरियतिरुमोऴि, १ १ ५)

'नारी सौन्दर्य पर मोहित होकर उसे ही वास्तव सुख समझ कर मैं मूर्ख बन बैठा। मैं अब लज्जित हूँ। आपकी शरण में आया हूँ।"
—(पेरिय तिरुमोऴि १ ६ १)

'हे भगवान् ! मैं आपकी शरण में आया हूँ, मुझे स्वीकार करो।[1]"

'हे, करुणानिधान ! अन्त में मैं आपके पास आया हूँ। इस अकिंचन की रक्षा करो।[2]

पेरियाऴ्वार ने अनेक पदों में आर्त-पुकार की है—"हे भगवान् ! मैं आपकी शरण में आया हूँ। मेरी रक्षा करो।[3]

तोण्डरडिप्पोडि आऴ्वार के पद्य तो हृदय को द्रवित करने वाले हैं। तड़पते हुए भक्त हृदय की करुण-पुकार इन पदों में सुनाई पड़ती है :—

मेरा अपना कोई घर नहीं, अपनी जमीन नहीं और दूसरा अपना कोई वस्तु भी नहीं। फिर भी हे करुणामूर्ति ! इस पार्थिव जीवन में आपके चरणों की सुदृढ़ शरण मैंने नहीं ग्रहण की। हे घनश्याम, भगवान् ! अब तो मैं भारी क्रन्दन करता हूँ। कौन है मुझे अवलम्ब देने वाला ?"[4]

'मेरे मन में थोड़ी सी भी पवित्रता नहीं मुँह से एक भी प्रिय वचन नहीं निकलता। क्रोध के कारण मैं इन्द्रिय का दमन नहीं कर पाता हूँ। किन्तु दूसरे पक्षवादियों पर बुरी दृष्टि डालकर कटुवचन बोल देता हूँ। हे तुलसीमाला-धारी ! मेरी गति अब क्या हो सकती है ? कहिए, मुझ पर शासन करने वाले महाप्रभु !"[5]

---

१ "अम्मा ! वन्तडैन्तेन अडियेनै आट्कोण्डरुळाये"
—पेरिय तिरुमोऴि, १ ९ १

२ अडु न वन्तडैन्तेन अडियेनै आट्कोण्डरुळाये"
—वही १ ९ ६

३ "अच्चमे ! नी एन्नै काक्कवेण्डुम" —पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि ५ १० १

४ 'ऊरिलेन का णियिल्लै उरवुमट्रोरुवरिल्लै
पारिल निनपादमूलम् पट्रिलेन परममूर्त्ति !
कारोळिवण्णने ! कण्णने ! कदरुकिन्ट्रेन,
आरुळर ? कळैकण अम्मा ! अरङ्गमानगरुळाने।"
—तिरुमालै २९।

५ मनत्तिल ओर तूय्मैयिल्लै वायिलोर इन्सोलिल्लै,
चिनत्तिनाल सेट्रम नोक्कि तीविळी विळम्बुवन् नाँ।
पुनत्तुळाय्मालैयाने ! पोन्निसूळ् तिरुवरंगा !
[illegible]

कुलशेखराळ्वार ने भगवान् की शरण को ही एक मात्र सहारा माना है। वे कहते हैं— "मैं बहुत कष्ट भोग रहा हूँ। तुम्हारी शरण के सिवा और कोई शरण नहीं। जिस प्रकार माता के क्रुद्ध होकर त्यागने पर भी शिशु माता के प्रेम पर ही आश्रित है उसी प्रकार हे भगवान्, मैं आप ही के अनुग्रह पर आश्रित हूँ।"[1]

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट हुआ होगा कि आळ्वारों ने शरणागति तत्त्व पर कितना जोर दिया था। आळ्वारों की विचारधारा की पृष्ठभूमि में पनपने वाले श्री रामानुज सम्प्रदाय[2] में आगे चलकर शरणागति या प्रपत्ति तत्त्व को लेकर शास्त्रीय स्तर पर मतभेद हुआ। एक पक्ष के लोग भगवान् के अनुग्रह को सहेतुकी मानने लगे और दूसरे पक्ष वाले उसे निर्हेतुकी मानने लगे। प्रथम पक्ष वाले 'वडकलै' और द्वितीय पक्ष वाले 'तेन्कलै' कहलाने लगे। 'तेन्कलै' पक्ष वाले अपने सिद्धान्तों के विशेष आधार 'प्रबन्धम्' को मानते हैं। 'तेन्कलै' शाखा की प्रपत्ति सम्बन्धी मान्यता को बिल्ली और उसके बच्चे के सम्बन्ध से और वडकलै की मान्यता को बन्दर और उसके बच्चे के सम्बन्ध के उदाहरणों से साधारणतया समझाया जाता है। आश्चर्य की बात है कि श्री वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में भी आळ्वारों की यही निर्हेतुकी अनुकम्पा वाली मान्यता स्वीकृत हुई। डा० दीनदयालु गुप्त जी लिखते हैं— 'पुष्टि मार्गीय प्रपत्ति का उदाहरण बिल्ली के बच्चे का दिया जाता है। बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को नहीं पकड़ता। बिल्ली ही जहाँ जाती है, बच्चे को मुख में लटकाकर ले जाती है तथा उसकी रक्षा के लिए सदैव उसके पीछे फिरा करती है। उसी प्रकार भगवान् भी भक्त, दीन उपायहीन प्रपन्न शरणागत की रक्षा के लिए अपने कार्य और धर्मों को भी त्यागकर उसके पीछे फिरा करते हैं।"[3]

सारांश यह है कि आळ्वारों के शरणागति-तत्त्व ने परवर्ती भक्ति-साहित्य को बहुत प्रभावित किया है।

६. गुरु-महिमा

आध्यात्मिक साधना के सभी मार्गों में गुरु की आवश्यकता और उसकी महिमा का गायन हुआ है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के संत हों

---

1 तरुतुयरम् तडायेल् उन् शरणल्लाल् शरणिल्लै,
 विरै कुळुवुम् मलर्पोंळिल् सूळ् वित्तुवक्कोट्टम्माने।
 अरिसिनत्ताल् ईन्रताय् अकट्रिडिनुम् मट्रवळ्तन्
 अरुळ् निनैन्दे अळुम्कुळवि अदुवेपोन्रिरुन्देने।'
 —पेरुमाळ तिरुमोळी ५ । १।

2 प्रस्तुत प्रबन्ध के "आळ्वारों के प्रति श्री रामानुजाचार्य का भाव" शीर्षक वाले परिशिष्ट (परिशिष्ट ४) में इस विषय का विस्तार से विवेचन है—देखें।

3 अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ६७० ६७१।

चाहे हठयोगी साधक हों चाहे सूफी प्रेमी—सभी ने मुक्तकंठ से आध्यात्मिक साधना में गुरु की आवश्यकता मानी है। गुरु आध्यात्मिक जीवन का पथ प्रदर्शक है। अज्ञान तिमिर में गुरु ज्ञान-दीपक है। गुरु की सहायता के बिना मन का मैल दूर नहीं हो सकता और परमात्मा की प्राप्ति असम्भव है। गुरु की कृपा आत्मा को परमात्मा से मिलने के रास्ते पर ले जाने वाली है। गुरु ईश्वर के सदृश आदरणीय है। कुछ भक्तों ने तो गुरु को ईश्वर से भी अधिक पूज्य बनाया है। आळ्वारों के अनेक पदों में गुरु की महिमा गायी गयी है। मधुर कवि आळ्वार की एक मात्र रचना 'कण्णिनुण्-शिरुत्तांबु' का मुख्य विषय ही गुरु-भक्ति है। सद्गुरु की खोज में भटकने वाले मधुर कवि नम्माळ्वार को गुरु-रूप में पाकर अपने जीवन को धन्य समझते हैं वे गुरु को ईश्वर से भी श्रेष्ठ मानते हैं और गुरु की सेवा को अपना परम धर्म मानते हैं। उनका मत है कि गुरु भगवद्-स्वरूप है। उसे मनसा शरीरादि सम्बन्ध निवेदन करते हुए सर्वदा अनुगमन करते हुए, सर्वदा अनुगमन करते हुए अत्यन्त तुच्छ सेवक के समान दिन रात गुरु की सेवा में लीन रहना चाहिए। गुरु-सेवा से सर्वेश्वर सन्तुष्ट हो जाते हैं। मधुर कवि ने अपने कथन से ही नहीं बल्कि अपने कर्मों द्वारा भी गुरु-भक्ति की महिमा साबित की है। मधुर कवि गुरु की स्तुति में कहते हैं—

"गुरु (नम्माळ्वार) का नाम लेते ही मेरी जिह्वा अमृत आस्वादन का सा आनन्द प्राप्त करती है।'[1]

"वेद के गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों को गुरु ने मुझे सरलता से समझाया। श्रेष्ठ गुरु (नम्माळ्वार) की दासता स्वीकार कर मैं अपने को धन्य समझता हूँ।[2] मुझ में वास करने वाले दोषों को गुरु (नम्माळ्वार) ने दूर किया। मैं श्रेष्ठ गुरु की महिमा दिशा दिशा में फैला दूँगा। मैं गुरु की कृपा की याचना करता हूँ।

—(कण्णिनुण् शिरुत्तांबु—७)

"पेरियाळ्वार ने यहाँ तक कह दिया है कि निर्मल तथा सद्गुणों से विभूषित गुरु की कृपा पाकर उनके निर्देशानुसार भगवान् की स्तुति नहीं करने वाला अपनी माँ के गर्भ को कलंक पहुँचाता है।[3]

---

१ " .. ..

नण्णित्तेन् कुरुकूर् नम्बियेन्रक्काल्
अण्णिक्कुम् अमुदूरुम् एन्नावुक्के।"

—कण्णिनुण् शिरुत्तांबु १

२ "मिक्क वेदियर् वेदत्तिन् उट्पोरुळ्
निर्कप्पाडि एन्नेञ्जुळ् निरुत्तिनान्
तक्कसीर् शटकोपन् एन्नम्बिक्कु आट्
पुक्ककादल् अडिमै पयनन्रे। —वही ९

३ पेरियाळ्वार तिरुमोळी—४.४.२

नम्माळ्वार ने भी गुरु की महिमा पर अनेक पद लिखे हैं। चाहे गुरु किसी भी निम्न जाति का हो—'चांडाल' क्यों न हो—गुरु की महिमा अवर्णनीय है और उसकी सेवा करनी चाहिए।[1]

मधुरकवि जैसे वयोवृद्ध ब्राह्मण का निम्न जाति के युवक नम्माळ्वार को गुरु रूप में पूजन करना उस युग में एक क्रान्तिकारी घटना अवश्य रही होगी। स्पष्ट है कि आळ्वार भक्तों ने गुरु को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने साथ ही साथ मनुष्य की पहचान जाति से न कर भक्ति और ज्ञान के आधार पर मानकर जाति भेद को मिटाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया है। श्री रामानुजाचार्य के समय में भी आळ्वारों की उदारवृत्ति का प्रभाव समाज पर पड़ा। भक्ति के क्षेत्र में गुरु शिष्य के जाति-भेद को न मानने वाले आळ्वारों के उच्च आदर्शों ने जनता पर अमिट प्रभाव डाला। इस कारण निम्न जातियों का जो सामाजिक उद्धार सम्भव हो सका वह भारत भूमि में निश्चय ही ऐतिहासिक महत्व रखता है।[2] मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी गुरु-भक्ति की आवश्यकता बतायी है और जाति-भेद को मिटाने का सन्देश दिया है।

६ सत्संग

'सत्संग' भक्ति की उत्पत्ति एवं विकास के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करने वाला अद्वितीय साधन माना गया है और बहुधा सत्संग और साधुसंग का उसके रूप में ग्रहण किया जाता है। भक्ति-धर्म में एकान्त निष्ठा बनी रखने के लिए साधु समागम भी आवश्यक है। ज्ञान योग और तप की तरह भक्ति की एकाकी साधना नहीं होती वह व्यक्ति-धर्म ही नहीं है समाज-धर्म है। सांसारिक विषयों के प्रलोभनों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे समाज में रहा जाए जहां भक्ति विरोधी परिस्थितियाँ नहीं हों। साधु महात्माओं के साथ बैठने से आत्मा को शान्ति मिलती है उनके उपदेशों से पाप-निष्ठा का ह्रास होता है। उनकी सेवा और अनुकरण से भगवान् के ज्ञान का साक्षात्कार होता है। गीता में श्रीकृष्ण का कथन है—"जो भक्त जन निरन्तर मुझ में मन लगाकर मुझी को प्राणों का अर्पण कर सदा मेरी चर्चा

---

1 'कुलम तांगु जातिकल नालिलुम कीलिलिन्दु एत्तनै
नलन्दानिलाद चण्डाल चण्डालर्कलाकिलुम
वलन्दांगु चक्करत्तण्णल मणिवण्णर्कु आलेन्रु उल
कलन्दार अडियार तम अडियार एम्मडियारक्ळे ।"

—तिरुवायमोऴी, ३·७·९

2. " ~the social uplift of the lower classes to which it has led is of great value in the History of India. —"*Out-lines of Indian Philosophy* Prof. Hiriyana p 413

करते हैं तथा आपस में बोध-विनिमय करते हैं, व नित्य सुखी रहते हैं और निरन्तर मुझ में रमते हैं।"[1]

आळवार भक्तों ने सत्संग को भगवत्-प्राप्ति का उपकरण मानकर सर्वदा भक्तों के समाज में विराजने का आदेश दिया है। कुलशेखराळवार ने अपने राज भोग को भी त्यागकर भक्तों की मंडली में जा मिलने की अपनी तीव्र उत्कंठा प्रकट की है।

अमृत सम भगवान् की स्तुति कर भगवान् को अपने अन्तःकरण में धारण कर, भगवान् का गुण-गान कर नाचते-नाचते थक जाने वाले भक्तों के मंडल में जा मिलने का सौभाग्य मुझे कब प्राप्त हो ?[2]

"भगवान् की दिव्य लीलाओं का गानकर आनन्दाश्रु बहाकर अश्रुधारा से भीगने वाले भगवान् के मन्दिर के प्रांगण में नाचने वाले श्रेष्ठ भक्तों की चरण धूलि को अपने चेहरों पर लगाऊँगा।"[3]

'निरन्तर आनन्दाश्रु बहाकर, आर्त-पुकार कर पुलकित होकर, भगवान् की स्तुति कर नाच उठने वाले भक्तों को कोई पागल कह दें तो कहने वाला ही पूर्णरूपेण पागल है।[4]

भक्तों के बीच में ऊँच-नीच भेद के लिए कोई स्थान नहीं है। वे तो भगवान् के भक्त होने के कारण समान हैं। तोंडरडिप्पोडी आळवार ने कहा है— दोष रहित जीवन बिताकर भगवान् के ध्यान में सर्वदा लीन रहने वाले (भले ही नीच कुल के क्यों न हो) अगर शुद्ध भगवद् भक्त है तो उनकी पूजा करो उनकी सेवा करो। उनकी संगति करो क्योंकि वे भगवान् के समान तुल्य है।'[5]

---

१ मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।'
—गीता दसम् अध्याय श्लोक ६

२ 'तिरुवमिरत तेनिने तिसरकुन्नि तिरुमकुयाळ।
वारुदमिल बनमाल मायने वाळत्ति माल कोल मिरुमराय।
मारुदम मियसमघोत् मयवोहतुम मैम्पडियारकळ तम
ईट्टम कण्डिडक्कुमेल अतुकाणुम कण पयनावते।"
—पेरुमाळ तिरुमाळी २ १

३ "माय पोल वरम कण्णीर कोंदु मरगाम कोयिल तिरुमुत्तु
पेद पेय तोंडर सेवडी वणुमेय एम चेन्निकाणि वसे।"
—वही २ १

४ पेरुमाळ तिरुमोळी, २ ६।

५.
इळि कुलत्तवर्ऍनुम एम्मडियाळ्ळाकिल
तोलुमिन कोडुमिन कोळमिन ऐन्…'
—तिरुमालै ४२

साधु-संगति के आदेश के साथ-साथ आळ्वारों ने हरि-विमुख लोगों के संग त्याग का भी उपदेश दिया है। कुलशेखराळ्वार ने लिखा है —

"इस सांसारिक जीवन को शाश्वत (वास्तविक) मानकर इसी में लीन रहने वालों से मैं संगति नहीं करूँगा।"[१]

"(पतली कमर वाली) सुन्दर स्त्रियों के प्रेम-पाश में पड़े रहने वालों से संगति नहीं करूँगा।"[२]

"मन की मैल को दूर कर ईर्ष्यादि दुर्गुणों को त्यागकर, पंचेन्द्रियों को काबू में रखकर सर्वदा भगवद्-स्तवन में लगे रहने वाले तथा विशुद्ध भक्तों के दर्शन कब कर सकूँ ?[३]

मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी अपने अनेक पदों में सत्संग के महत्व को प्रकट किया है। हिन्दी के अष्टछापी कवियों ने भी सत्संग-महिमा भक्त और भगवान् की एकता तथा हरि विमुख-संग-त्याग के भावों को प्रकट करने वाले अनेक पद लिखे हैं।

७ वैराग्य

भक्ति-पथ के पथिक के लिए सांसारिक विषयों का तथा उन विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों का त्याग कर उनके प्रति वैराग्य भाव रखना परमावश्यक है। पूर्ण ज्ञान या पूर्ण-आनन्द-अवस्था में तो संसार के रागद्वेषों से अपने आप छुटकारा मिल जाता है। परन्तु साधन-अवस्था में वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता होती है। जब तक मनुष्य का मन सांसारिक विषय-वासनादि में लीन रहता है, तब तक वह ईश्वरोन्मुख नहीं हो सकता। वैराग्यवान् के लिए अपनी समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना अनिवार्य है। जब इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं तो कैसे अध्यात्म विद्या प्राप्त हो सकती है ? आळ्वार भक्तों का कहना है कि जो पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, वही श्रेष्ठ भक्त है सफल साधक है। क्योंकि पंचेन्द्रियाँ ही मनुष्य को सांसारिक बन्धन में बन्धन में सर्वदा डाले रखती हैं। पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना भक्ति की साधना के लिए प्रथम सोपान बताया गया है।

मनुष्य को ईश्वरोन्मुख होने में बाधा डालने वाले अनेक पदार्थ हैं जिन पर विजय प्राप्त करना ही वैराग्य है। जब मनुष्य नश्वर शरीर से सम्बन्ध रखने वाले गृह, धन आदि को मोहवश शाश्वत मान बैठता है। वह अपने घर-बार, स्त्री पुत्र

१ "मैय्यिल वाळ्क्कैयै मॆय्येन्नु कॊण्डु
वैय्यत्तवरोडुम् कूडुवदिल्लै यान्।"
—पेरुमाळ तिरुमोऴि ३ १

२ तुन्निनेरिडैयार् तिरत्ते तिरिन्तु
आन्नत्तवरोडुम् कूडुवदिल्लै यान्।"—वही ३ ८

३ पेरुमाळ तिरुमोऴि १ ७

पशु, धन और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त होकर अपने को भाग्यवान् समझ लेता है। उनके भरण-पोषण की चिन्ता में सर्वदा लगा रहता है। दुर्वासनाओं को कभी भी नहीं छोड़ता। दिन-रात उसी में रत रहता है। अन्त में जब उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और मृत्यु समीप आती है तब जाकर उसकी आँखें खुलती हैं। बुढ़ापा उसके लिए असह्य हो जाता है। वह रो पड़ता है। तब जाकर भगवान् की शरण में जाता है। आळ्वार भक्तों का कथन है कि बुद्धिमान मनुष्य इस नाशवान सांसारिक सुख भोग के प्रति पहले से ही वैराग्य-भाव धारण करता है क्योंकि वह जानता है कि इनसे बचने पर ही अध्यात्म-प्रकाश मिल सकता है।

द्वादश आळ्वारों में कुछ अपने प्रारम्भिक जीवन में सांसारिक विषय-वासना में लीन रहे। परन्तु जब उन्हें मालूम पड़ा कि ये सब पदार्थ नश्वर हैं, तो वे उन सबको त्यागकर वैरागी हो गये। कुलशेखराळ्वार तो राजकीय सुख भोग तक को तिलांजलि कर घर-बार छोड़कर वैरागी बन गये। तिरुमंगै आळ्वार जो चोरी डकैती जैसे कुकर्मों से धनोपार्जन करते थे अचानक भगवद् प्रेरणा पाकर सब कुछ त्यागकर वैरागी हो गये। आळ्वारों की जीवनियाँ यह स्पष्ट बता रही हैं कि वे सब सांसारिक सुखों के प्रति वैराग्य भाव रखते थे और वे दूसरों को भी सांसारिक माया-जाल में पड़ने से अपने को बचाने का आदेश दिया करते थे।

आळ्वारों के पदों में वैराग्य के अनेक आयामों में निम्नलिखित विषयों का विशेष रूप से निरूपण हुआ है :—

(क) पंचेन्द्रियों पर विजय
(ख) नारी के मोहक रूप की निन्दा
(ग) अर्थ-निन्दा और
(घ) शरीर की नश्वरता का बोध।

(क) पंचेन्द्रियों पर विजय

पंचेन्द्रियाँ मनुष्य को गुमराह करने वाली हैं। ऐन्द्रिय सुख प्राप्त करने की कामना से ही मनुष्य अन्याय करने को भी तैयार हो जाता है। संसार में होने वाले सभी अनर्थों के कारण पंचेन्द्रियाँ ही हैं। इन इन्द्रियों को सुख पहुँचाने के हेतु नाना पाप कर बैठता है और ईश्वर चिन्तन से विमुख हो जाता है। आळ्वारों के अनेक पदों में इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का आदेश मिलता है। इन्द्रिय दमन को अध्यात्म-पथ के पथिक के लिए अनिवार्य शर्त के रूप में बताया गया है। सभी आळ्वारों ने एकमत से घोषणा की है कि पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले साधक को भगवान् के दर्शन मिलेंगे।[1] उनका कथन है कि पंचेन्द्रियों के द्वार को

---

१ "परियपुलनैन्तरुवी पायवमार कोण्डु पावम्
पुरिय परितिनाम पुक्कित
.... " पुरुषोत्तमन्दु परिन्दु।" —नान्मुगन तिरुवन्तादि ९०

बन्द करने से ज्ञान का द्वार खुल सकता है।[1] पंचेन्द्रियों की तुलना पाँच राक्षसों से की गयी है, जो मनुष्य को कोल्हू के गड्ढे में डालकर पीसते हैं।[2] मनुष्य को इन्द्रिय-रूपी इन राक्षसों पर विजय प्राप्त करनी है, तभी अध्यात्म-पथ पर बिना किसी रोक-टोक के साधक जा सकता है।

(ख) नारी के मोहक रूप की निन्दा

भारतीय साहित्य में नारी की महत्ता परम पुनीत मातृ-शक्ति के रूप में की गई है। परन्तु नारी का अचिर यौवन रूप मनुष्य को अध्यात्म-पथ से अनायास ही विमुख कर देने वाला है। इस कारण भक्ति-साहित्य में उसके मोहक रूप की निन्दा की गई है। भक्ति-साहित्य में नारी के मादक रूप की ज्वाला से साधक को निरन्तर सचेत रहने का आदेश दिया गया है। तिरुमंगैयाळ्वार ने पश्चात्ताप के रूप में कहा है —

'मृगनयनी महिलाओं के रूप-जाल में पड़कर, अपने कर्त्तव्य को भूलकर मैंने नरक-दुःख भोगने के पाप किए हैं।'[3]

'मधुर मुस्कान वाली रमणियों के सुन्दर स्तनों पर मोहित होकर ... मैं यौवनावस्था के सम्भोग-सुख के पीछे पड़ा रहा। ... अब मैं लज्जित हूँ।'[4]

मरितुएैयुम वल्लळी मायमनार कॅन्नु मार्बम्
वेरिन्न कनतिनराय वॅम्मे मरिनु पळन तम
वेरोसिपेन्‌न वेन्नुपपोर काण्बे
कारोस वन्नम कळल।

—इरण्डाम तिरुवन्दादि ७ तथा मुन्नाम तिरुवन्दादि १२।

१ 'पुनुन पळिप्परैत् परविळळ्ळ्ळिने वेनु
मनुन वळितिरनु ज्ञान नमु दर कोळि "

—तिरुच्चन्दविरुत्तम ७६

२ 'तीर मयस्थिरम्मी ऐनु मोपनुम वेळि सिरर् तिरिकुमरेयरे
मेर नव गुरुतानरत् मैनिसयामोळिन्नुाय'

—तिरुवाय मोळी ७ १ १

३ 'कावेय कननपरवार कयळिल पड्डु मातिनात्
नाने नानाविन नरकम पुहुम पावम् चेय्देन ॥"

—पेरिय तिरुमोळी १ ६ २

४ "वाळ्ळिलना मुरुवल विळनुरम पेरमोळ
मादरार वननुलैप्पयने
पेणिनेन अदने पिळ्ळैयेनक्करुदि
पेदयेन पिरवि नोयरुप्पान

(ग) अर्थ निन्दा

मनुष्य को ईश्वरोन्मुख होने से विमुख करने वाला एक प्रमुख साधन धन है। मनुष्य अर्थ के लोभ में पड़कर कितना अनर्थ कर बैठता है। मनुष्य जब तक यह जान नहीं पाता कि धन नाशवान् है अस्थायी है तब तक वह धन के मोह को नहीं छोड़ सकता। धन भगवान् के दर्शनों से उसकी आँखों को बन्द करता है। अर्थ के प्रति अनाकर्षण वैराग्य की ओर उन्मुख करेगा। कुलशेखराळ्वार तथा तिरुमंगै आळ्वार ने अपार धन राशि को त्यागकर भगवद् भक्ति प्राप्त की। नम्माळ्वार का कथन है *कि मनुष्य को यह समझना चाहिए कि राजकीय सुख भी अस्थायी है, धन मिट जाने* वाला है।[1] नम्माळ्वार के अनेक पदों में अर्थ के मोह को छोड़ने का आदेश है।

(घ) शरीर की नश्वरता का बोध

आळ्वारों का कथन है कि अगर मनुष्य अपनी देह की नश्वरता और संसार की असारता का परिचय प्राप्त करे तो वह अवश्य वैराग्य युक्त जीवन की ओर उन्मुख होगा। तिरुमलिशै आळ्वार का प्रश्न है —

यह जानकर भी कि आज नहीं तो कल इस संसार को छोड़ना ही पड़ेगा मूर्ख मनुष्य क्यों इस देह में पड़े रहते हैं?[2] नम्माळ्वार के अनेक पदों में संसार की असारता तथा मनुष्य-देह की नश्वरता का बोध कराया गया है और उनमें वैराग्यपूर्ण जीवन बिताने का सन्देश है।[3] तिरुमंगै आळ्वार ने अपने पदों में बुढ़ापे की करुण दशा का चित्रण कर आदेश दिया है कि बुढ़ापे का कष्ट भोगने से पहले ही मनुष्य को वैराग्ययुक्त जीवन बिताकर भक्ति-पथ पर आरूढ़ होना चाहिए।

एयिलेन इरुन्देन एण्णिनेन एण्णि
एलैयवर कलवियिल तिरत्तै
नाणिनेन '

—पेरिय तिरुमोळि १ १ १ ।

1 'अरिवैर मुडियिनराकि अरसराय् आम सोळा
इडि पैर मुरसगळ मुट्रितयम इरुन्दवर
पोटिवेर पुल्लाय पोवाक्ळ '

—तिरुवायमोळि ४ ७ २

2 'इन्रु नाळम निन्ड्रु नाळम इन्ड्री आगम वैयतु
शोन्ड्री निन्ड्री वाळ्वनिन्ने कणुम नीवर एन्कोली ?

—तिरुच्चन्दविरुत्तम ११

3 "पंडरीळिन संपत्त पंडपुरुवनु ईतम
पंडरीलिम पहुरेनु पंडपुरु उरुदे ।'

—तिरुवायमोळि १ २ ७

मध्ययुगीन भक्त-कवियों ने भी वैराग्य पर जोर दिया है और उसे अध्यात्म पथ के पथिक के लिए अनिवार्य साबित किया है। हिन्दी के अष्टछापी कवियों ने भी वैराग्य धारण करने का आदेश दिया है।

ऊपर जिन तत्वों का हमने संक्षेप में विवेचन किया है वे सामान्य रूप से मध्ययुगीन समस्त भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्व हैं। भक्ति आन्दोलन के विशिष्ट सन्दर्भ में आळवार भक्तों ने ऊपर विवेचित भक्ति-तत्वों पर विशेष जोर दिया था। आळवारों की विचारधारा से प्रभावित होकर पनपने वाले श्री रामानुज सम्प्रदाय आदि भक्ति-सम्प्रदायों में ये तत्व न्यूनाधिक रूप में स्वीकृत हुए हैं। विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के अन्तर्गत काव्य-रचना करने वाले (१६ वीं शती के) हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने भी उन तत्वों को अपने भक्ति काव्यों में स्थान दिया है और उन्हें भक्ति-पथ के आवश्यक साधनों के रूप में स्वीकार किया है।

प्रबन्धम् के विशिष्ट तत्व

प्रबन्धम्' जहाँ विशुद्ध भक्ति के विभिन्न तत्वों का विवेचन प्रस्तुत करता है, वहाँ वह काव्य की कसौटी पर भी उत्तम ग्रन्थ साबित होता है। आळवार भक्तों ने 'प्रबन्धम्' में भक्ति-तत्वों के बीच-बीच में अपने आराध्यदेव विष्णु के विभिन्न अवतारों की और उनकी अनन्य लीलाओं का भी गायन किया है। 'प्रबन्धम्' ने भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट सन्दर्भ में भक्तों की मानसिक पिपासा की पूर्ति के लिए कुछ भक्ति-तत्वों के अतिरिक्त अवतारी विष्णु की विभिन्न लीलाओं का काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया था। भक्तों ने प्रबन्धम् में वर्णित भगवल्लीलाओं में 'ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यानन्द' का भी रसास्वादन किया था। प्रबन्धम् में वर्णित विविध भगवल्लीलाओं तथा उनके काव्योचित चित्रण ने परवर्ती भक्त कवियों को बहुत ही प्रभावित किया है।

प्रबन्धम् में विष्णु के सभी अवतारों का न्यूनाधिक रूप में वर्णन मिल जाता है। आळवारों के अनुसार परब्रह्म विष्णु विभिन्न युगों में मनुष्यों के उद्धार के निमित्त अवतार लेते हैं। जब पृथ्वी में अधर्म फैल जाता है और अज्ञान अन्धकार पृथ्वी को आवरित करता है तब कृपासिन्धु भगवान् अपनी करुणा को प्रकट करने के हेतु अवतार लेते हैं। नम्माळवार ने यहाँ तक कह दिया है कि अपने ही अंशभूत असंख्य जीवों को अपना दर्शन-सुख प्रदान करने के निमित्त भगवान् अवतार लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आळवारों ने विष्णु के विविध अवतारों में कोई भेद नहीं देखा। फिर भी विष्णु के दो अवतार—रामावतार और कृष्णावतारों ने उनको विशेष रूप से आकर्षित किया। इन दोनों अवतारों में भी कृष्णावतार में उनका मन जितना रमा उतना रामावतार में नहीं। श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का उन्होंने ऐसा सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है मानों उन्होंने स्वयं इन लीलाओं का अवलोकन किया हो। उनके कोमल भावुक और कवि-हृदय ने कृष्ण लीलाओं में ही अपनी अभिव्यक्ति की भाव-भूमि देखी। अतएव उन्होंने लीलानायक कृष्ण की विविध लीलाओं का रसपूर्ण

वर्णन प्रस्तुत किया और उनका भाव पक्ष स्वच्छन्द रूप से काव्य-व्योम में उड़ सके जिससे कि उच्च कोटि के सरस कृष्ण-काव्य का निर्माण उनके द्वारा हो सका।

प्रथम अध्याय में हम बता चुके हैं कि कृष्ण से सम्बन्धित अनेक कथाओं की जन्म-भूमि तमिळ-प्रदेश है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में जबकि गीता द्वारा प्रसारित भागवत-धर्म का दक्षिण की ओर आगमन हुआ, तब कृष्ण-चरित में तमिळ प्रदेश के लोक-देवता 'मायोन' से सम्बन्धित अनेक कथाएँ मिल गयीं। विष्णु के अवतार रूप में श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा हुई और उनकी विविध लीलाओं का जन-मानस में प्रचार हुआ। आळवारों को कृष्ण-सम्बन्धी अनेक कथाएँ प्राचीन पुराणों में मिलीं। साथ ही साथ आळवारों ने लोक में प्रचलित अनेक कथाओं को कृष्ण चरित में मिला दिया। कल्पना का भी सहारा लेकर उन्होंने उन कथाओं में वर्णित नाना लीलाओं का काव्योचित चित्रण अपने भक्ति-काव्य में प्रस्तुत किया।

प्रबन्ध में कृष्ण-चरित क्रमबद्ध रूप से नहीं दिया गया है। स्मरण रहे कि 'प्रबन्धम्' एक व्यक्ति की रचना नहीं है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी से लेकर आठवीं नवीं शताब्दी तक के दीर्घकाल में विभिन्न समयों में अवतरित भक्तों के पदों का संकलन है। अतः उसमें कृष्ण-चरित को क्रम-बद्ध रूप में प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती। यहाँ प्रसंगवश हम श्रीमद्भागवत पुराण के विषय में कुछ कहना आवश्यक समझते हैं। क्योंकि भागवत पुराण को साधारणतया मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति-साहित्य का आधार ग्रन्थ माना जाता है। भागवत में कृष्ण-चरित क्रमबद्ध रूप में वर्णित है। उसमें भक्ति-तत्वों का शास्त्रीय विवेचन हुआ है। यहाँ कुछ प्रश्न उठ सकते हैं। क्या प्रबन्धम् भागवत से प्रभावित है? भागवत का रचना-काल क्या है? क्या भागवत प्रबन्धम् से प्रभावित है? श्रीमद्भागवत के रचना-काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अधिकांश विद्वान् उसे नवीं शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं।[1] अनेक विद्वान् श्रीमद्भागवत का कई दृष्टियों से परीक्षण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वह अवश्य नवीं शताब्दी या उसके पश्चात् की रचना है और उसकी रचना दक्षिण भारत में हुई थी। डा० हरवंशलाल जी शर्मा लिखते हैं :— यदि श्रीमद्भागवत पुराण को हम नवीं शताब्दी की रचना मानें और उसका दक्षिण-देश में लिखा हुआ स्वीकार करें तो उस समय की धार्मिक परिस्थितियों के ठीक मेल में श्रीमद्भागवत का विषय उतरता है। श्री शंकराचार्य जी का अद्वैत-मत प्राचीन भागवत धर्म का पोषक था। भक्ति-पद्धति में जिन नवीन तत्वों का समावेश आळवार और अडियार भक्तों के सम्पर्क से हो रहा था उनको

---

1 (i) C. V Vaidya JBRAS (1925) p. 144 ff
(ii) R G Bhandarkar—"*Vaishnavism, Saivism*" p. 49
(iii) Pargiter—"*Ancient Indian Historical Tradition*" p. 80.
(iv) Farquhar—*Outline of Religious Literature of India*, p 229 ff
(v) Winternitz—"*Indian Literature*" Vol I. p. 556

शंकराचार्य जी ने अपने मत में कोई स्थान नहीं दिया और न उन्होंने भक्ति को ही सर्वोपरि माना। श्रीमद्भागवत पुराण में इनके विरोध में ही भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। श्रीमद्भागवत पुराण में इस बात का उल्लेख है कि कलियुग में नारायण के भक्त कहीं-कहीं होंगे परन्तु द्राविड़ देश में जहाँ कि ताम्रपर्णी कृतमाला, कावेरी और महानदी नदियाँ बहती हैं विशेष रूप से होंगे। इन नदियों के जल का पान करने वालों के हृदय शुद्ध होंगे।[1] इससे पता चलता है कि भागवत-पुराण की रचना के समय तमिळ देश में कृष्ण भक्ति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था।"[2]

श्रीमद्भागवत एक ही व्यक्ति की रचना मालूम पड़ती है। इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। उसमें कृष्ण-कथा क्रम-बद्ध रूप से वर्णित है और भक्ति-तत्त्वों का विवेचन शास्त्रीय स्तर पर हुआ है। भागवतकार ने अपने अपार पांडित्य का परिचय दिया है। वह प्रयत्न सजाया गया ग्रन्थ मालूम पड़ता है। परन्तु प्रबन्धम् के एक व्यक्ति की रचना न होने के कारण उसमें कृष्ण-कथा क्रम-बद्ध रूप से नहीं मिलती। फिर भी प्रबन्धम् में भागवत-वर्णित अधिकांश कृष्ण-लीलाएँ मिल जाती हैं। प्रबन्धम् में बिखरे पड़े भक्ति-तत्त्वों और कृष्ण-लीलाओं को सुव्यवस्थित रूप में अथवा क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाय तो प्रबन्धम् और भागवत के वर्ण्य-विषय में विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ेगा। डा० विजयेन्द्र स्नातक का भी कथन है कि 'भागवत पुराण में जिस कोटि की प्रपत्तिपरक भक्ति का विधान हुआ है उसके समान कोटि की भक्ति सातवीं शताब्दी के आळ्वार भक्तों में प्रचलित थी। भगवान् का गुणानुवाद और लीला वर्णन ठीक वैसा ही था जैसा भागवत पुराण में है।[3] प्रोफेसर हूपर ने भी आळ्वारों की भक्ति-साधना को भागवत-पुराण के समकक्ष ठहराया है।[4] भागवत के कुछ अंश को विद्वान् प्रक्षिप्त भी मानते हैं। कुछ भी हो हमें इतना कहना है कि वर्तमान रूप में श्रीमद्भागवत आळ्वारों के समय में नहीं था। यहाँ यह कहकर कि भागवत बहुत बाद की रचना है वैष्णव-जनों के भक्ति-भाव को ठेस पहुँचाना हमारा उद्देश्य नहीं है। हमें इतना कहना है कि अगर भागवत का वर्तमान रूप उस समय मिला होता तो आळ्वार उससे अवश्य लाभ उठा सकते थे और अवश्य भागवत का अनुकरण कर क्रम-बद्ध रूप से कृष्ण-चरित प्रस्तुत करते। परन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता। उल्टे भागवत में कृष्ण-कथा की व्यवस्थित रूप में और भक्ति का शास्त्रीय विवेचन देखकर ऐसा अनुमान करना पड़ता है कि भागवतकार ने अपने ग्रन्थ को भक्ति के सशक्त-ग्रन्थ

१ श्रीमद्भागवत ११।५।३८ ४० ।

२ सूर और उनका साहित्य (द्वितीय संस्करण)—डा० हरवंश लाल शर्मा पृ० १४० ।

३ राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक पृ० १२ ।

4 Hymns of Alvars—J S M. Hooper (Introduction), p. 18.

के रूप में प्रस्तुत करना चाहा है और उसने किन्हीं अन्य स्रोतों को सहय ग्रन्थों के रूप में स्वीकार किया है। उन सहय ग्रन्थों में प्रबन्धम् भी एक हो सकता है। प्रबन्धम् के भक्ति-प्रधान पदों का प्रचार चौथी-पाँचवीं शताब्दी से होना भागवत में प्रबन्धम् में वर्णित सभी विषयों का प्राप्त होना तथा भागवत की रचना का दक्षिण भारत में होना हमारे अनुमान को और भी पुष्ट कर देते हैं कि भागवतकार को प्रबन्धम् की परम्परा से थोड़ा परिचय अवश्य था। प्रबन्धम् का आद्योपान्त अध्ययन करने से मालूम पड़ता है कि प्रबन्धम् के रचयिताओं को श्रीमद्भागवत से प्रभावित होने की आवश्य कता नहीं थी। प्रबन्धम् में ऐसी बहुत सी चीजें मिलती हैं जो भागवत में नहीं हैं। कृष्ण की कुछ लीलाओं का वर्णन भी प्रबन्धम् में मिलता है जो भागवत में नहीं है। भागवत में 'राधा' का उल्लेख भी नहीं है, परन्तु प्रबन्धम् में 'नप्पिन्नै' के नाम से राधा का ही वर्णन है। बाद के साहित्य में राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का जो वर्णन प्राप्त होता है वह पहले से ही प्रबन्धम् में है। तमिळ के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पी० श्री० आचार्य का मत है कि प्रबन्धम् में मिलने वाली पेरियाळ्वार द्वारा वर्णित कृष्ण की अनेक लीलाएं भागवत पुराण से भी पूर्व की हैं।[1]

प्रबन्धम् ने भागवत को कितना दिया या प्रबन्धम् ने भागवत से कितना लिया होगा—इन बातों पर सूक्ष्म रूप से कुछ कहना दुस्तर कार्य है। चूँकि शताब्दियाँ बीत गयीं अतः अब इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। फिर हमारा उद्देश्य यहाँ यह दिखाना भी नहीं है कि भागवत प्रबन्धम् से कितना प्रभावित है अथवा प्रबन्धम् भागवत से कितना प्रभावित हुआ होगा। यह शोध का कोई दूसरा स्वतन्त्र विषय हो सकता है। हमें यहाँ कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित प्रबन्धम् के उन विशिष्ट तत्वों का सामान्य परिचय देना है जिन्होंने परवर्ती साहित्य को प्रभावित किया है। ये विशिष्ट तत्व दक्षिण की समीप भाषाओं के कृष्ण-भक्ति-साहित्य में ही नहीं बल्कि दक्षिण में पनपने वाले विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के माध्यम से उत्तरी भारत की भाषाओं के मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति-साहित्य तक में न्यूनाधिक रूप में स्वीकृत हुए हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रबन्धम् में कृष्ण-लीलाएँ अथ: क्रम से उपलब्ध नहीं होतीं। परन्तु प्रयत्न कर ढूंढने पर प्रायः सभी कृष्ण-लीलाओं का वर्णन यत्र-तत्र मिल जाता है। प्रबन्धम् में यत्र-तत्र वर्णित कृष्ण-लीलाओं को अथः क्रम के अनुसार देने का प्रयास यहाँ किया गया है। कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन पेरियाळ्वार ने जितनी मार्मिकता से प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है। इनमें प्राचीन काल में (छठी शताब्दी) पेरियाळ्वार ने बाल चेष्टाओं का ऐसा सजीव चित्र अंकित किया है जो बाल-मनोवृत्ति का सूक्ष्म परिचय देता है। तमिळ में पेरियाळ्वार का

---

१ श्री पी० श्री० आचार्य के "कृष्णावतार" नामक लेख—"तिरुक्कोयिल", वाल्यूम २ इस्यू ७।

बाल-वर्णन एक आदर्श छोड़ गया है—परवर्ती कवियों के लिए। कृष्ण की किशोर लीलाओं और गोपी-प्रेम का भी पर्याप्त विस्तार से वर्णन प्रबन्धम् में मिल जाता है। आळ्वारों ने गोपी-प्रेम तथा विरह के वर्णन में तमिळ की अनेक काव्य रूढ़ियों का उपयोग किया है जिसका अनुकरण परवर्ती कवियों ने किया है। मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त-कवियों ने विशेष रूप से बाल-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का ही विस्तार से वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य और अलौकिक प्रेम का भी वर्णन प्रमुख रूप से मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य में मिलता है। वैसे तो मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले अनेक विशिष्ट तत्व प्रबन्धम् में मिल जाते ॥ जिनको सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत करना कठिन है। विस्तार भय से सूक्ष्मता में नहीं जाकर प्रबन्धम् के इन विशिष्ट तत्वों को स्थूल रूप से ही निम्नलिखित चार शीर्षकों के अन्तर्गत देते हैं —

१—श्रीकृष्ण की विविध लीलाएँ
२—श्रीकृष्ण की अलौकिक रूप-माधुरी
३—श्रीकृष्ण का परमेश्वरत्व
४—श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेम भावना —
(१) वात्सल्य भाव और
(२) माधुर्य-भाव।

(१) श्रीकृष्ण की विविध लीलाएँ

('प्रबन्धम्" में कृष्ण-लीलाएँ क्रम-बद्ध रूप में नहीं मिलतीं किन्तु यहाँ पर्याप्त अध्यवसाय के पश्चात् प्रबन्धम् में इधर उधर मिलने वाली कृष्ण-लीलाओं को एकत्रित कर क्रम-बद्ध रूप से नीचे दे रहे हैं। जो लीलाएँ 'प्रबन्धम्' में हैं और भागवत में नहीं हैं या कुछ भिन्नता के साथ हैं, उनका उल्लेख यथास्थान किया गया है।)

कृष्ण लीला का सूत्रपात—अवतार रहस्य

आळ्वार भक्तों ने सर्वत्र श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में माना है। आळ्वारों के अनेक पदों में विष्णु भगवान् के क्षीर-सागर वैभव का वर्णन मिलता है विष्णु शेष नाग पर शयन कर रहे हैं।[1] उनके करों में चक्र शोभित है।[2] श्री देवी और भूदेवी उनके पास विराजमान हैं।[3] विष्णु योग-निद्रा में लीन हैं।[4] नारदादि मुनिजन वाद्य बजाते हैं।[5] तुलसी-माला अर्पित कर देवगण उनकी स्तुति करते हैं।[6]

---

१ "मल्लिय नालत्तीयेल् "—पेरियतिरुमडल्, २
२ 'पुकराष्ठि योगु "—पेरिय तिरुमोऴि २ १०-९
३ "तिरुमडन्दै मरुङ्गल" "—वही १ १० १
४ 'उन्निय योगत्तु "—पेरिय तिरुमडल्, ८
५ "तम्बुरुम्बुम नारदनुम "—नेरपाळ तिरुमोऴी १ ४
६ "पोन्ताराई मरुप्पुड्रप "—पेरिय तिरुमोऴी २ १०-२

भक्त और सिद्ध पुरुष उन्हें पूजते रहते हैं।[1] यही विष्णु देवों की प्रार्थना पर पृथ्वी में कृष्णावतार लेते हैं। आळवारों ने कृष्णावतार के अनेक कारण बताये हैं —देवलोक के देवगणों की वेदना को दूर करने के लिए[2] पृथ्वी तथा पृथ्वी में रहने वाले मनुष्यों के उद्धार के लिए[3] पृथ्वी के बोझ को कम करने के लिए[4] भूदेवी के कष्ट को दूर करने के लिए[5] देवगणों की प्रार्थना पर[6] बन्धु-बान्धवों को सताने वाले कंस का वध करने के लिए[7] देवकी के किये व्रत का फल देने के लिए[8] (पिता) वसुदेव के पैरों पर पड़ी शृङ्खला को तोड़ने[9] अपने छः बच्चों को खो देने वाली माता के गर्भ को सफल बनाने हेतु,[10] क्षीर-सागर वासी श्री विष्णु का श्रीकृष्ण के रूप में अवतार हुआ।

श्रीकृष्ण का प्रादु र्भाव

पुरातन नगर उत्तर मथुरा में[11] वसुदेव-पत्नी देवकी के पवित्र गर्भ[12] से हस्त नक्षत्र के दसवें दिन[13] श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। जन्म के समय ऐसा लगा मानों सहस्र सूर्य एक साथ उदित हुए हों।[14] देवकी-पुत्र का वध करने के लिए फैलाये गये कंस के क्रूर जाल से बचकर[15] उसी दिन घोर अन्धकार में छिपे-छिपे वसुदेव द्वारा नन्द गोप के यहाँ कृष्ण लाये गये। दैवी महिला यशोदा के पुत्र के रूप में[16] बलराम

---

१ 'भक्तरकनुम भवरकनुम "—पेरियाळवार तिरुमोळी ४-३ ६
२ 'विन्नोळ् अमरर वेदनै तीर"—वही १ २ १६
३ "मण्णुम मण्णुमकिल मनुवरुम"—पेरुमाळ तिरुमोळी १ १०
४ 'पारेरम पेरम भारम तीर"—पेरिय तिरुमोळी ९ १०-८
५ "पुवरियिलिवास तिसमंगै तुयर तीर"—वही ८-८-१
६ "देवरीरकम "—'तिरुवायमोळी' ६ ४ ५
७ साधुजनरी नलियु कन्जनै चातिप्पदु' —वही १ ५ २
८ "एन नोम्बु नोट्रान कोलो "—पेरियाळवार तिरुमोळी २ २ ६
९. "तन्नै कातिल पेर विलंगु ताळविळ"—पेरिय तिरुमोळी ७-२ १
१० "मरवळ् मकरर कलिनै मोव इळव —पेरियाळवार तिरुमोळी १ ३ १
११ "तार्यरुडल विळक्कम पेरय ' —तिरुप्पावै ५
१२ "मरने मुदुर वड मदुरेयिल तिरुवाय मोळी १ १ ६
१३ "वसुदेवर तन्मुदंव चित्तम पिरिया देवकी तन वयिट्रिल"
—पेरियाळवार तिरुमोळी १ २ ६
१४ "कतिरायिरमिरवि कलन्तेरित्तालोंनु'—वही ४ १ १
१५. 'कंजन वलै वल वारिरुक्न तिरुनु —माक्षियार तिरुमोळी १-१
१६ 'दैव नडी यशोदैनु पोतल पेरदुयरियाय"—पेरियाळवार तिरुमोळी, १ २ १

के मनुज के रूप में[१] गोपों के नायक के रूप में—[२] गोकुल दीपक[३] का आविर्भाव हुआ ।

कृष्ण का जन्मोत्सव

पेरियाळ्वार ने कृष्ण के जन्मोत्सव का बड़े विस्तार से वर्णन किया है ।[४] कृष्ण के जन्म पर गोकुल में बड़ा हर्षोल्लास और कोलाहल हो रहा है । गोप-बन्धु शिशु के दर्शन के लिए दौड़ रहे हैं, गिर रहे हैं और फिर उठकर दौड़ रहे हैं । बड़े उत्साह के साथ नन्द बाबा के यहाँ लोग जा रहे हैं मानों कोई अद्भुत वस्तु ढूंढने जा रहे हों । कोई कहता है— 'लो यह है हमारा छोटा राजा !" कोई पूछता है— 'कहाँ है, हमारा बाल राजा ?" कोई अपने आनन्द को वाणी में नहीं बल्कि गाने में व्यक्त करता है तो कोई नाचकर अपना आनन्द प्रकट करता है ।[५] अत्यधिक हर्ष में ग्वाले अपने यहाँ के घी दही आदि को औरों को बाँट देते हैं और खाली मटकों पर नाच उठते हैं । इनमें से हर एक अपने को भूल गया है । हर कोई संसार से नाता छोड़कर आनन्द में मस्त दीखता है । सारा गोकुल ऐसा दीखता है, मानों वह किसी विशिष्ट प्रेम-जाल फँस गया हो । शुभ वार्ता देने की उत्कंठा से कोई जाता है तो कोई नन्द बाबा के घर जाकर पूछता है कि मेरे बाल राजा कहाँ हैं ? शिशु को देखकर कोई कहता है कि हमने ऐसे सर्व-गुण लक्षण युक्त शिशु को कहीं-नहीं देखा । कोई कहता है कि बालक संसार का शासन करेगा । कोई कहता है कि यह हमारा सौभाग्य है कि ऐसे निराले शिशु और उसकी माँ के दर्शन कर सके । हाँडियों में सुगन्धित जल भर रखा है । हाथ मलकर देह पर हल्दी लेपकर शिशु प्रेम से नहलाया है ।

नामकरण संस्कार

गोकुलवासियों ने सब मिलकर अपने घरों को तोरण[६] इत्यादि से अलंकृत किया । कृष्ण के जन्म के बारहवें दिन[७] वेद में निपुण पण्डितों[८] ने 'घनश्याम !

---

१ 'मत्तेवर पीडु कम्पूय"—नाच्चियार तिरुमोळि ४१ १
२ "आयरकुल नायकनाय"—पेरियाळ्वार तिरुमोळि १ ५ ११
३ 'आयर पाडिक्कु अणि विळक्काय"—वही २ २ ५
४ पेरियाळ्वार तिरुमोळि—प्रथम दशक
५ "ओडुवार विळुवार उगन्दालिप्पार
नाडुवार नम्बिरान् एङ्गुत्तानेन्बार
पाडुवारगळुम् पल्परै कोट्टु निन्ड्रु
आडुवारगळुम् आयिट्रु आय्प्पाडिये ।'—पेरियाळ्वार तिरुमोळि, १ १ २
६ तिरुनेडुन्ताण्डकम्, १
७ पेरियाळ्वार तिरुमोळि १ १ ४
८ तिरुवाय मोळि, ४ ६-८

कृष्ण ! श्रीधर !'[1] आदि नामों से पुकार कर बालक का नामकरण संस्कार कराया गया। लोगों ने 'कृष्ण' नाम से शिशु को प्रमपूर्वक पुकार कर अमृत का-सा आनन्द पाया।[2]

अन्य लीलाएँ

१ पूतना-वध—दुष्ट मन वाले कंस के द्वारा भेजी गयी राक्षसी[3] एक सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर[4] श्रीकृष्ण के प्रति अपने ही पुत्र का सा प्रेम भाव दिखाकर[5] विष भरे अपने स्तन से कृष्ण को दूध देने आयी। स्तन्य पान करने का बहाना कर[6] कृष्ण ने भी दुष्ट हृदय से आयी हुई राक्षसी के षड्यन्त्रपूर्ण भाव को समझकर, उसके वास्तविक रूप से परिचित होकर उसके प्राणों को पी लिया।

२ शकट भंजन अथवा शकटासुर वध—शकट के रूप में आने वाले राक्षस का पाद प्रहार द्वारा वध।

—तिरुवायमोळी २ १-८।

३ घुटनों और हाथों के बल रेंगकर विहार करना।

—पेरियाळवार तिरुमाळी १ ४ ३।

४ पैर की उँगली को मुँह में लेकर चूसना।

—वही, १ २ १।

५ किंकिणी के निनादित होते धूल में बसना।

—वही, १ ५-६।

६ चाँदी के अंकुर के समान दाँतों का निकल आना—और बालक का हँसना। —वही १ ७-२।

७ थोड़े बड़े होने पर बिना पुरुषों की सहायता के पैरों चलना।

—वही १-७-४।

८ झूमते हुए आकर माता को चुम्बन देना।

—वही १ ९ २।

९ तेल की हाँड़ियों को जमीन पर लुढ़काना।

—वही, १ ४ ११।

---

१ तिरुवाय मोळी, ए १-७
२ कण्णिनुळ चिरुत्तांबु २
३ पेरिय तिरुमोळी १ १०-७
४ वही १-६-७
५ वही १ ४-७
६ इरण्डाम तिरुवन्तादि, ८

१० बछड़ों की पूँछ को पकड़कर घुमाना ।

—पेरियाळ्वार तिरुमोळी, २ ४-८ ।

११ बछड़ों के कानों में चींटियों को डालकर उन्हें डराना ।

—वही १-४-२ ।

१२ बिना गोदोहन के समय भी बछड़ों को खोल देना ।

—वही, २ ४-७ ।

१२ बिना गोदोहन के समय भी बछड़ों को खोल देना ।

—वही २ ४-७ ।

१३ छींकों को तोड़ कर मक्खन खाना और हाँडियों में रखे हुए दूध को भर पेट पीना । —वही २ ४ ६ तथा २-७-१ ।

१४ तोतली बोली बोलना । —वही १ ६ ४ ।

१५ चन्द्र खिलौना—माँ से चन्द्र को पकड़ कर देने की प्रार्थना करना ।

—वही १ ४ ३ ।

(यह लीला भागवत में नहीं है । डा० जगदीश गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि पेरियाळ्वार ने ही इसका वर्णन किया है । वे लिखते हैं कि यह प्रसंग अपौराणिक लोक-प्रचलित परम्परा के कारण कृष्ण की बाल-क्रीड़ा के साथ समाविष्ट हुआ है ।[1])

१६ मृत्तिका भक्षण—पेरियाळ्वार तिरुमोळी २ १-८ ।

१७ माता यशोदा को मुख में ब्रह्माण्ड दर्शन कराना ।

—वही १ २ १८ और १ १ ६ ।

१८. कृष्ण द्वारा माता को हौआ दिखाना ।

—वही २-१-२ ।

(यह लीला भागवत में नहीं है। सम्भव है कि यह तमिळ लोक-कथा के आधार पर ही वर्णित है । छोटा बच्चा मुँह को विकृत रूप में कर विचित्र आवाज पैदाकर माँ को डराने की चेष्टा करता है । इसे तमिळ में 'अप्पूच्चिकाट्टल' कहा जाता है । अन्य ग्रन्थों में कृष्ण को डराने के लिए हाऊ का वर्णन मिलता ।)

१९ स्तनपान की हठ और माता द्वारा प्रेमपूर्वक स्तनपान करने के लिए बुलाना । —वही २ २ ३ ।

२० नहाने के लिए बुलाना । —वही २ ४ २ ।

२१ कर्ण-वेधन संस्कार । —वही २-२ ८ ।

२२ दृष्टि-दोष परिहार के लिए कृष्ण के हाथों में कंगन बाँधा जाना (तमिळ में इसको 'काप्पिडुदल' कहा जाता है) ।

—वही २-८ २ ।

१ गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

—डा० जगदीशगुप्त, पृ० ६९ ।

२३ रस्सी पड़ी ओखली पर खड़े होकर माखन-चोरी ।

—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴी १ १० ७ ।

२४ ऊखल बन्धन । —वही १ २ १० तथा ७-८ ।

२५ ऊखल को खींचते हुए जाना और दो वृक्षों को गिरा देना ।

—वही ३ ३ ३ ।

(यह कथा कुछ भिन्नता के साथ भागवत मिलती है । भागवत में कहा गया है कि यद्यपि कुबेर के मदोन्मत्त पुत्र नल कूबर और मणि ग्रीव जो नारद के शाप से यमलार्जुन वृक्ष हो गये थे, कृष्ण ने उनका उद्धार किया । पेरियाऴ्वार उन वृक्षों म असुरावेश मानते हैं ।)

२६ गाय-बालिकाओं के कंकण को चुरा ले जाना और उनसे फल खरीदना ।

—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴी २ ६-६ ।

२७ दधि-पाण्डव और बर्तन को मोक्ष देना—यह भागवत में नहीं है ।

(जब यशोदा माखन-चोरी के अपराध पर कृष्ण को पकड़ने दौड़ी, तो कृष्ण किसी घर के अन्दर घुस गये । उस घर में दधि-पाण्डव नामक ग्वाला रहता था । कृष्ण ने दधि-पाण्डव से प्रार्थना की कि माता के प्रहार से उन्हें बचाने के लिए कहीं वह उन्हें छिपाये । दधि-पांडव ने कृष्ण की प्रार्थना पर उन्हें मिट्टी के एक बड़ बर्तन के अन्दर रख दिया । जब यशोदा ने भी उस घर के अन्दर आकर पूछा कि कृष्ण यहाँ आया कि नहीं तब दधिपांडव ने कहा कि कृष्ण यहाँ नहीं आये । इस पर माता लौट गयीं । माता के लौट जाने की सूचना पाकर कृष्ण न दधिपांडव से अपने को बर्तन से बाहर करने की प्रार्थना की । दधिपांडव ने अब उनके लिए एक शर्त बनायी कि उनको और कृष्ण को फँसाने क लिए सहायक सिद्ध होने वाले बर्तन को मोक्ष देने का वायदा करने पर ही वह कृष्ण को बर्तन से बाहर करेगा । कृष्ण ने ऐसा ही किया ।)

२८ यशोदा से गोपियों की शिकायतें ।

—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴी २ १० से १—१० ।

२९ कृष्ण के बलराम और अन्य बालकों के साथ बछड़ों को चराने के लिए जाना । —वही १ २ २० १-८ २ और ३-१ १ ।

३० हाँड़ियों से मक्खन खाना और खाली (मिट्टी के) बर्तनों को जमीन पर पटक देना और उनकी आवाज सुनकर हँसना ।

—वही, २-१ १ ।

३१ गोचारण के लिए प्रथम बार वन जाना और माता का विलाप ।

—वही ३ २ १ और ३ ३ २ ।

३२ बंसी बजाना । —वही ३ ६ १ से १०

३३ विविध शृङ्गार सजाकर वन म विहार ।

—नाच्चियार तिरुमोऴी, १४ १ व १४ २ ।

३४ वत्सासुर वध—यमुना के तट पर वत्सचारण के समय एक दैत्य बछड़ों में बछड़े का रूप धारण कर घुस आया। कृष्ण ने उसे पूँछ सहित पिछले पैर पकड़ कर अन्तरिक्ष में घुमाकर एक वृक्ष पर दे मारा।
—पेरियाळ्वार तिरुमोळी १ ६ ४।

३५. बकासुर वध—बक रूप धारण करके आए हुए एक दैत्य ने कृष्ण को निगल लिया। किन्तु कृष्ण ने उसे चोंच चीरकर मार डाला।
—वही २-५ ४।

३६ धेनुकासुर वध। —तिरुच्चन्दविरुत्तम, ८०।

३७ कालिय नाग के सिर पर नाचना। —नाच्चियार तिरुमोळी १२-७ और पेरियाळ्वार तिरुमोळी २ १०-१

३८ कालिय दमन। —पेरियाळ्वार तिरुमोळी १-६-७ और १-१-६।

३९. प्रलम्बासुर वध।

४० दावानल पान।
—पेरियतिरुमोळी ११ ६-७ और तिरुवायमोळी ६ ६ ६।

४१ वन भोजन। —नाच्चियार तिरुमोळी १२ ६।

४२ सीमालिकन को स्वर्ग देना—यह भागवत में नहीं है।

(सीमालिकन कृष्ण का मित्र था। वह कृष्ण से उनके चक्रायुध को मांगता था। कृष्ण ने कहा कि उसे उसके हाथ में देने पर वह उसके सिर को काट देगा। सीमालिकन ने हठ प्रकट किया। इस पर कृष्ण ने चक्र को उसके हाथ में दिया तो चक्र ने सीमालिकन के सिर को काट दिया और वह स्वर्ग पहुँच गया (कृष्ण के मित्र होने कारण)। —पेरियाळ्वार तिरुमोळी ९-७-८।

४३ सात वृषभों को वश में कर कृष्ण का 'नप्पिन्नै' की कन्या पुरस्कार के रूप में प्राप्त करना—

(तत्कालीन प्रथा के अनुसार सात वृषभों को कृष्ण ने वश में किया और नप्पिन्नै को प्राप्त किया। भागवत में एक दूसरी कथा है, जिसमें कहा गया है कि अयोध्या के नग्नजित राजा की पुत्री को कृष्ण ने सात वृषभों को वश में कर प्राप्त किया।)

४४ वेणु-माधुरी—पेरियाळ्वार तिरुमोळी ३ ६ ८।

४५ चीर हरण—नाच्चियार तिरुमोळी ११ और पेरियतिरुमोळी १०-७-१

४६ 'कुरुन्द' पेड़ के रूप में खड़े असुर का वध।
—भागवत में उस वृक्ष के लिए असुर कल्पना नहीं है।

(गोपियों के वस्त्रों को लेकर कृष्ण जिस पेड़ पर चढ़े वह एक राक्षस का परिवर्तन रूप था। कृष्ण ने उस पेड़ को गिरा दिया और राक्षस

का वध किया। भागवत में इस भेद में असुरावेश का उल्लेख नहीं है, जबकि प्रबन्धम् की कथा में है।) —पेरियाळ्वार तिरुमोऴि

४७ गोपियों के साथ कृष्ण के नृत्य (कुरवै कूत्तु) रासलीला।
—तिरुवायमोऴि १ ६ १

४८ इन्द्र यज्ञ भंग। —पेरिय तिरुमोऴि ९-३ ४ वही ४ २ ३

४९. गोवर्धन धारण—पेरियाळ्वार तिरुमोऴि ३ ५ ६ तथा
तिरुनेडुन्ताण्डकम् १३

५० केशि वध। —पेरिय तिरुमोऴि ३ २-८

५१ मथुरा गमन। —वही ९-७-२

५२ कुब्जा पर अनुकम्पा। —पेरियाळ्वार तिरुमोऴि १ ६ ४

५३ कुवलयापीड़ वध। —वही, ४-७-७ और तिरुमालै ४५ तथा
पेरिय तिरुमोऴि २ २-८

५४ मल्ल निग्रह। —पेरियाळ्वार तिरुमोऴि २ २-८ तथा
पेरिय तिरुमडल् ४१

५५ कंस वध। —तिरुमालै २५ तथा पेरिय तिरुमोऴि ३ १० ३
और ३ १०-२

५६ गुरु सान्दीपनि को उनके पुत्रों को लौटा देना।
—पेरियाळ्वार तिरुमोऴि ४-८ १

(विद्याध्ययन के बाद गुरु-दक्षिणा में गुरु के पुत्र को जो समुद्र में प्रभास क्षेत्र में डूबकर मर गया था, लाने के लिए कृष्ण ने समुद्र-जल में निवास करने वाले शंख रूपधारी पंचजन नामक दैत्य का पता लगाकर उसको मार डाला। फिर संयमनी पुरी जाकर यमराज से गुरु-पुत्र को प्राप्त किया और गुरु सान्दीपनि को लौटा दिया।)

५७ रुक्मिणी हरण। —पेरियाळ्वार तिरुमोऴि ३-९ ३ तथा
तिरुवाय मोऴि ७-१० ६

५८ नरकासुर वध। —पेरियाळ्वार तिरुमोऴि ४ ३ ३

५९. द्वारकापुरी का स्थापन। —वही, ४-९ ४

६० पारिजातापहरण। —वही ३-९ १ और २ १-९

६१ बाणासुर वध। —पेरियाळ्वार तिरुमोऴि ४ ३ ४ तथा
तिरुवायमोऴि ३ १० ४

६२ पौण्ड्रक वध। —पेरिय तिरुमोऴि २ ४-७ तथा
तिरुच्चन्द विरुत्तम् १०७

६३ शिशुपाल वध। —तिरुवाय मोऴि ७-५ ३ और ७-५ १०

६४. कृष्ण द्वारा दन्तवक्त्र का वध। —कुलशेखर तिरुमोऴि २१

६५. द्रौपदी का कृष्ण की शरण लेना। —पेरिय तिरुमोळी २ १-६

६६ कृष्ण का दूत-रूप में जाना और दुर्योधन के भूले, कपट आसन पर बैठकर अपना विश्व-रूप दर्शन देना। —वही १ १-८

६७ पार्थ सारथी के रूप में आना। —वही २-१ १

६८ कृष्ण के चरणों पर अर्पित पुष्पों को शिवजी का अपने सिर पर धारण करना। —तिरुवायमोळी २-८ ६

(महाभारत युद्ध के समय अर्जुन को पाशुपत-अस्त्र की आवश्यकता पड़ी। चूँकि वह शिवजी का अस्त्र था अत शिवजी की पूजा करने की आवश्यकता आ पड़ी। उसके लिए तैयार होने पर कृष्ण ने अर्जुन से अपने चरणों को दिखाकर वहीं पुष्पों को अर्पित करने को कहा। अर्जुन ने ऐसा ही किया। उस दिन रात को शिवजी के सिर पर उन पुष्पों के दर्शन अर्जुन ने किये और शिवजी आकर पाशुपत अस्त्र दे गये।[1])

६९. गीता उपदेश। —तिरुवाय मोळी ४-८ ६ तथा ३ ६-७

७० अर्जुन के घोड़ों को जल पिलाना।

—पेरियाळ्वार तिरुमोळी ४ २ ७।

(जब अर्जुन के रथ के घोड़ों को बहुत प्यास लगी तब उस स्थान पर कृष्ण ने वरुणास्त्र का प्रयोग कर जल उत्पन्न किया और घोड़ों की प्यास बुझायी।[2])

उपर्युल्लिखित प्रबन्धम् की कृष्ण-लीलाओं के अवलोकन से स्पष्ट हुआ होगा कि प्रबन्धम् में भागवत म उपलब्ध अधिकांश कृष्ण-लीलाओं का वर्णन मिल जाता है और कुछ ऐसी लीलाएँ भी प्रबन्धम् में वर्णित हैं जो भागवत में नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आळ्वारों में सर्वत्र भागवत निरपेक्ष दृष्टिकोण पाया जाता है। फिर आधुनिकतम विद्वानों की भागवत के काल-निर्णय की उपलब्धि के अनुसार आळ्वार भक्त भागवत-काल से पूर्व के ठहरते हैं, अत आळ्वारों का भागवत-समाश्रित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रबन्धम् में वर्णित कृष्ण-लीलाओं को परखने पर एक और बात स्पष्ट हो जाती है कि आळ्वारों ने बाल-लीलाओं (गोकुल लीलाओं) का जितने बड़े विस्तार और बड़ी मार्मिकता से वर्णन प्रस्तुत किया है, उतना मथुरा लीला या द्वारका-लीला का नहीं। आळ्वारों द्वारा वर्णित ये कृष्ण सम्बन्धी बाल लीलाएँ निश्चय ही भक्तों के हृदय में अगाध प्रेम को उत्पन्न कर देने वाली हैं। इसमें

---

१ दिव्य प्रबन्धम्-कथामृतम् (प्रबन्धम् की टीका) —श्री अण्णङराचार्य स्वामी पृ० १८।

२ वही पृ० १७।

आश्चर्य की बात नहीं यदि हम यह अनुमान करलें कि परवर्ती भक्त-कवियों ने अर्थात् मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त-कवियों, विशेषकर अष्टछापियों ने आळ्वारों द्वारा वर्णित उस बाल-लीलाओं से प्रभावित होकर उन्हें अपने भक्ति-काव्यों म स्थान दिया हो।

बालवत्सलीलाओं में आळ्वारों की तन्मयता

आळ्वारों की बाल-लीला-वर्णन की शैली में एक वैशिष्ट्य है। वह यह कि आळ्वारों ने बाल-लीलाओं का वर्णन कथाओं के रूप में प्रस्तुत न कर, उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—मानों वे हमारे सामने प्रत्यक्ष घटित हो रही हों। कहने का तात्पर्य यह है कि आळ्वारों ने बाल-कृष्ण से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित किया हो ऐसा प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए पेरियाळ्वार के बाल-लीला-वर्णन को ले सकते हैं। जहाँ यशोदा या देवकी क कथन होने चाहिए वहाँ कवि ने स्वयं यशोदा या देवकी के स्थान पर अपने को कल्पित कर कहा है। ऐसा लगता है मानो कवि स्वयं बालक (कृष्ण) की देख रेख करता [illegible] और बालक की लीलाओं में भाग लेता हो। इस बात का स्पष्ट करने के लिए पेरियाळ्वार क कुछ पदों का सार नीचे देते हैं।

जहाँ कवि बालक कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन प्रस्तुत करना चाहता है वहाँ वह कहता है —

"देवकी द्वारा देवो महिला—यशोदा को सौंपे गये सुन्दर बालक क मदन पैर की उँगली को मुँह मे लकर चूसते समय उसके मुँह को देखने आइये। हे देवियों! आकर देखिए।" [1]

"देव-लोक के देवगणों की वेदना को दूर करने के हेतु पहले वसुदेव-पुत्र-रूप में अवतरित बालक (कृष्ण) क सुन्दर नयनों को आकर देखिए।" [2]

इस प्रकार अनेक पदों में दूसरों को बुलाकर अपने बालक (कृष्ण) का सौन्दर्य दिखाना चाहता है। यही नहीं, कृष्ण को पालने मे लिटाकर यशोदा क लोरी

---

१ "सीतक्कडल उळ्ळमुदन्न देवकि
कोत्तैक्कुळलाळ् असोदैक्कुप्पोत्तन्द
पेदैक्कुळवि पिडित्तु चुवैत्तुण्णुम
पादक्कमलङ्गळ् काणीरे पवळवायीर ! वन्दु काणीरे।"
—पेरियाळ्वार तिरुमोळी १ २ १

२ "विण्णोर्मुरैयोड वेदनैतीर मुन्न
मण्णीड वसुदेवर तम वकनाइ वन्दु
तिण्णोर्मुरैयोडु वळर्किन्ऱ्न
कण्णड् कुरुगवा काणीरे कनवळैयीर। वन्दु काणीरे।"
—वही, १-२ ११

गाने के अवसर पर कवि स्वयं कृष्ण-लीलाओं का स्मरण कराकर उनकी स्तुति कर
हुए उन्हें सुलाने के लिए लोरी गाता है। चन्द्र को बुलाते समय यशोदा के स्थान प
कवि कहता है —

'मेरा यह लाल मेरी कमर पर बैठकर तुम्हीं को बुला रहा है, अपने बड़े-ब
ज्योतिर्मय लोचनों से। यदि तुम व्यथित करना चाहते हो तो उसको दुःख मत दो
यह चक्रधारी भगवान् है यह समझ लो। हे चन्द्र! तुम्हें भी ऐसा पुत्र होता त
मालूम होता कि तुम्हारे इस व्यवहार से कितना दुख होगा। हे पुत्र-हीन धमाये
जल्दी आ जाओ।'[1]

कवि ने अनेक स्थलों में यह भूलकर कि उसे कृष्ण-लीलाओं का कथा-रूप
वर्णन करना है यह अनुभव किया है कि वह भी उन लीलाओं में भाग ले रहा है
विशेष रूप से कृष्ण को स्तनपान कराने कृष्ण का शृंगार करने कृष्ण को बेल
देखने तथा कृष्ण के वन में गोचारण करने जाने के अवसरों में कवि ने स्वयं य
यशोदा के स्थान पर कल्पित कर अपने उद्गार सीधे प्रकट किये हैं। इस कारण
अनेक स्थलों में ऐसा सजीव वर्णन मिलता है, जिसमें घटनाएँ प्रत्यक्ष होती सी दीखत
है। यह शैली की विशेषता की ओर ही नहीं बल्कि कृष्ण-लीलाओं में कवि
की तन्मयता की ओर भी संकेत करता है। अनेक परवर्ती कवियों ने भी कृष्ण
लीलाओं में इस प्रकार तन्मयता भाव दिखाया है। पुराणों की कथा-शैली को त्याग
कर परवर्ती कवियों ने कृष्ण-लीलाओं में तन्मय होकर भावपूर्ण वर्णन प्रस्तु
किया है।

२ श्रीकृष्ण की अलौकिक रूप-माधुरी

श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का गान करने वाले प्रायः सभी भक्त कवि
श्रीकृष्ण के अलौकिक रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हुए हैं। कृष्ण के रूप-वर्णन में सौन्दर्य की
जितनी भी कवि-कल्पनाएँ आ सकती हैं उन सबका प्रयोग करने की प्रवृत्ति इन कवियों
में पायी जाती है। आळ्वार भक्तों ने कृष्ण में अलौकिक शक्ति के साथ अलौकिक
एवं अपरिसीम सौन्दर्य के भी दर्शन किये हैं। अतः आळ्वारों ने कृष्ण की विभिन
लीलाओं के साथ ही साथ उनकी मनोहारिणी और प्रतिक्षण नवीन आकर्षण उपस्थित
करने वाली छवि का भी पग-पग पर अनुभव किया है। श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य प
मुग्ध होने की प्रवृत्ति सभी आळ्वारों में पायी जाती है। कुछ में तो यह इतनी अधिक

---

[1] 'वारुत्तर्वैयम तर्वैकण्णाल मलर विटिन्तु
चोत्तसी मैनिलम्बु उम्मये वुट्टि काट्टुम काण
तरक्तरिकियेल वाविरा छलम वैप्पारे
मरुद् वेराद मल्लमालेसैस वा कण्णाय।"
—पॅरियाऴ्वार तिरुमाऴी १ ८ ८

ममी और प्रगाढ़ है कि कृष्ण के किसी चरित्र किसी भी लीला का वर्णन बिना उनकी अनिन्द्य छवि के वर्णन के सम्भव ही नहीं हो सका। आळ्वार रूप-वर्णन करके कभी तो स्वयं ही मुग्ध हो लेते हैं कभी गोपियों के माध्यम से उन्हें रूपासक्त चित्रित करके सुखानुभूति प्राप्त करते हैं। आळ्वारों ने प्रमुखतया कृष्ण के दो रूपों की छवि का वर्णन प्रस्तुत किया है —

१—कृष्ण का बाल रूप और
२—कृष्ण का किशोर रूप।

कृष्ण के बाल-रूप का सौन्दर्य

कृष्ण के बाल-रूप के सौन्दर्य पर सर्वाधिक मुग्ध होने वाले आळ्वार पेरियाळ्वार हैं। इन्होंने २० पदों में बाल-कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का नखशिख-वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक पद में प्रत्येक अंग की शोभा का बड़ा ही सरस वर्णन है —

"कृष्ण के चरण खिले हुए कमल के समान सुन्दर हैं।"[1]

' उन चरणों में शुद्ध कांचन के बीच जड़ित मोती रत्न और हीरे के समान अंगुलियाँ शोभित हैं।"[2] सर्वत्र कवि के सम्मुख बाल-कृष्ण का वह मोहन रूप ही आता है जिसके वर्णन में वह अपने को खो जाता है। सुन्दर सिन्दूर रंग के कोमल मुँह के बीच प्रवाल युक्त चाँदी के अंकुर जैसे दाँत निकले हैं।[3] कमल दल बीच मधु-पान करने वाले भ्रमरों की भाँति कृष्ण के मुख पर सुन्दर अलकावली क्रीड़ा कर रही है।"[4] बालक के मुख चन्द्र से चन्द्रमा की तुलना कर कवि कहता है—

---

१ "

तावककमलमलर् कामीरे ..... वन्नू काणीरे।"

—पेरियाळ्वार तिरुमोळि १ २ १

२ "मुत्तु मणियुम वयिरमुम नन्पोन्नुम
तत्तीप्पतित्तु तलैपेइदार पोल एंगुम
पत्त विरलुम मणिवण्णन पादङ्गळ
ओत्तिरुन्दवा काणीरे ओण्णुदलीर ! वन्नू काणीरे।

—वही १ २ २

३ "

पोसमदम पवळत्तेमुदार वाविनिडै
कोमळ वेळ्ळि मुळैप्पोल सिल पळिरुलव।" —वही १ ५ १

४ "वेंकमलप्पूविल तेनुण्णुम वण्डे पोल
पंकियल वन्नू उन पवळवाय मोइप्प।
"

—वही, १-८ २

'हे ज्योतिर्मय रथ पर विराजमान होकर सर्वत्र प्रकाशमान चन्द्र ! तुम चाहे जितनी भी चाँदनी दिखाओ और पूर्ण बनो फिर भी (मेरे) इस बालक के मुख-सौन्दर्य को तुम प्राप्त नहीं कर सकते ।"[1] "बालक के मुँह से टपकने वाली लार का सौन्दर्य कमल-पत्र पर से गिरने वाली द्युतियुक्त ओस की बूँदों के समान है ।[2] बालक की प्रत्येक चेष्टा में कवि को सौन्दर्यानुभूति होती है । शिशु का स्तन-पान करना, चन्द्रमा बुलाना, ताली बजाकर हँसना, सिर ऊँचा करके हिलाना, छोटे कोमल पैरों पर अस्थिर गति से चलना आदि प्रत्येक क्रिया-कलाप में कवि ने सूक्ष्मता से सौन्दर्य का अनुभव किया है और उस सौन्दर्य को यथाशक्ति शब्दों में व्यक्त किया है ।

वेश-भूषा

पेरियाळ्वार ने बाल-कृष्ण की वेश-भूषा का बड़ा ही मोहक चित्र अंकित किया है । कितने ही प्रकार के आभूषणों की कल्पना कर उन सबसे कृष्ण को भूषित बताया है । कितने ही प्रकार के पुष्पों के नाम गिनाकर उन सबसे कृष्ण को सज्जित बताया है । कृष्ण अपने सजल जलधर सदृश श्याम वर्ण शरीर पर विद्युत की सी कांतिवाला पीताम्बर पहने हुए हैं ।[3] लाल कमल जैसे पैरों में पायल, कमल की खिली हुई पंखुड़ियों सदृश शोभित उंगलियों में अंगूठियाँ, कमर में स्वर्ण से निर्मित कमरबन्द और निनादित होने वाली किंकिणी, हाथों में कंगन, हाथों की उंगलियों में हीरे मोती से खचित स्वर्ण अंगूठियाँ, सुन्दर बाहों में विविध आभूषण, कानों में कुण्डल, माथे पर 'चुट्टि' (एक आभूषण विशेष) आदि विविध आभूषणों से श्रीकृष्ण अलंकृत हैं ।[4]

---

१ 'तुळुम सोळिक्कट्टम तुळन्दु ज्योति परन्देंगुम
एत्तनै सेय्यिनुम एन मकन मुकम नेरोव्वाय
" —पेरियाळ्वार तिरुमोळि १ ४ १

२ "वडर पंकयमलरवाय तेक्किळ्न्निलु विलकुम पोल
इडंकोण्ड सेव्वायूरि तूरि इट्टिट्टु पीळ निन्रु
" —वही १-७-७

३ "मिन्नुक्कोडियुम ओर वेण्तिङ्गळुम सूळपरिवेडमुमाय
पिन्नल तुलंगुम अरसिलैयुम पीतकच्चिट्राडैयोडुम
—वही १-७-१

४ "सेंकमलक्कळलिल सिट्रुळ्ळील पिरळ
पेरणिवल्लिकनुम किंकिणियुम अरैयिल
तरित्त तोन्दकमुम ताळ नम्मातुळ्ळिय
सुत्तु पोन्मणियुम मोदिरमुम कीरियुम
मंगलऐम्पडैयुम तोळवळैयम कुळैयुम
मकरमुम वाळिकनुम चुट्टियम ओत्तितक" —वही १ ९ १०

बालक के चलते समय किंकिणी की "छलार छलार"[1] की ध्वनि निनादित हो रही है। गन्ने के रस से भरे घड़ों में छिद्र करने से रस के बाहर निकलते समय जो 'कण-कण' की ध्वनि निकलती है उसी के समान अमृत भरे अपने मुँह से 'कण-कण' की ध्वनि से कृष्ण हँसते हैं।[2]

कृष्ण के किशोर-रूप का सौन्दर्य

गोकुल की गोपियों को मुग्ध करने वाले कृष्ण के मोहक रूप का वर्णन आळ्वार भक्तों ने अनेक स्थलों में किया है। विशेष रूप से पेरियाळ्वार ने कृष्ण के किशोर-रूप के सौन्दर्य का गोपियों के माध्यम से आस्वादन कराया है। गोचारण पर बलराम तथा अन्य साथियों के साथ लौटने वाले कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य पर गोपियाँ मुग्ध हो जाती हैं —"नन्द-कुमार कृष्ण 'कम्र' लता के मुकुल पुष्प-सम वस्त्र पहने हुए, कमर में सुन्दर रेशमी कपड़े को बाँधे गले में सुन्दर और सुगन्धित सुमनों की माला धारण किये मोर मुकुट के सिर पर शोभित होते सन्ध्या के समय अन्य बालकों के साथ वन से लौट रहे हैं।[3] माथे पर सिन्दूर तथा प्रकाश युक्त तिलक शोभित है।[4] कृष्ण के अन्य साथियों के साथ वन से लौटते समय मेघ-गर्जन सा स्वर उठ रहा है। 'कृष्ण के विद्रुम जैसे अधरों को और उन पर लेपन वाली मधुर मुस्कान को देखकर हे सखी! मैं मोहित हुई।' गायों के पीछे शरीर की कांति को सर्वत्र विकीर्ण कर अपने सुन्दर केशों को मयूर-पंखों से अलंकृत कर सुन्दर कमल जैसे नयनों से देखकर वेणु की मधुर ध्वनि कर गाते हुए, हँसते हुए, नाचते हुए अपने अन्य साथियों के साथ आने वाले मोहन को देखकर (मेरी पुत्री) मुग्ध हो गयी।' (माता का वचन[5]) मुरली बजाते समय कृष्ण के अपार सौन्दर्य के कितने ही सुन्दर

---

१ "सेदर् वॅंकिलिवे छलार् छिलारेन्न
  तू मू सेंगमियोलिप्प
  —पेरियाळ्वार तिरुमोळी १-७-१

२ 'कन्नरकरुम् तिरळोल्पु री कण्कम् चिरित्तरुळु" —वही १ ७-४

३ "वल्लिनुम् हरळुन्द इडै कोंडु
  वरोपलरिन्तवरे चिरित्तुत्
  मुल्ले नल्ल नर् नमार् वैवे मलरनिन्तु
  पल्लायर् कुळाम नडुवे।" —वही ३ ८-२

४ "सिन्दूरमिलंगत् तिरुनेट्रिमेल्।
  तिरुत्तिय कोरम्बुम् तिरुक्कुलमुम्" —वही ३ ८-६

५ "वायप्पनिरेप्पिन्ने तलैराविल कोळ
  मन तिरमैनि तिस्पोटी तिष्क
  मीन नम मरक्कु को मैत्तिरताळनिन्तु
  पल्लायर कुळाम नडुवे

चित्र आळ्वारों ने अंकित किये हैं। कृष्ण के अलौकिक और अपरिसीम सौन्दर्य का वर्णन करते-करते भक्त कवि थकते नहीं। कृष्ण के मन-मोहन रूप की सौन्दर्यानुभूति में आळ्वार सुधबुध खो बैठते हैं। तिरुप्पाण आळ्वार ने अपनी एक मात्र रचना 'अमलनादिपिरान' में भगवान् के सौन्दर्य का 'नखशिख' वर्णन ही प्रस्तुत किया है। परवर्ती कवि कृष्ण के रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी इन चित्रों से बहुत प्रभावित हुए हैं। मध्य-युगीन कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने काव्यों में श्रीकृष्ण के अलौकिक रूप-माधुर्य के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं।

३ श्रीकृष्ण का परमेश्वरत्व

लीलानायक श्रीकृष्ण के लोक रंजक रूप का सांगोपांग वर्णन करते हुए भी बालकृष्ण के लीला-सागर में गोता लगाते हुए भी आळ्वार सर्वत्र इस बात का ध्यान रखते हैं कि श्रीकृष्ण परब्रह्म विष्णु के अवतार-स्वरूप हैं। वे प्रत्येक पद में श्रीकृष्ण के परमेश्वरत्व की घोषणा करते हैं। आळ्वारों के अनुसार परब्रह्म विष्णु विभिन्न युगों में मनुष्य के उद्धार के लिए अवतार लेते हैं। जब पृथ्वी में अधर्म फैल जाता है और अज्ञान अन्धकार पृथ्वी को कवलित करता है, तब कृपा-सिन्धु भगवान् अपनी करुणा को प्रकट करने के हेतु अवतार लेते हैं। कृष्णावतार की लीलाओं का वर्णन करते हुए भी बीच-बीच में वे विष्णु के पूर्व अवतारों और उनकी लीलाओं का भी गायन करते हैं। आळ्वारों के समय में अवतारों की कथाएँ बहुत ही प्रचलित हुई थीं। भागवत धर्म के विस्तार के साथ-साथ विष्णु भगवान् के विविध अवतारों की कथाएँ—रामावतार की कथाएँ जिनमें विष्णु के भक्तवत्सल रूप करुणा-सिन्धुत्व सत्य-संकल्पत्व आदि अपरिमित विशिष्ट गुणों के प्रमाण मिलते हैं व्यापकता प्राप्त कर जन-साधारण के बीच में भक्ति-प्रचार का सरल माध्यम सिद्ध हुईं। आळ्वारों के पदों में विष्णु के विभिन्न अवतारों की लीलाओं का सांगोपांग वर्णन है। आळ्वारों ने विष्णु के इन विभिन्न अवतारों में कोई भेद नहीं देखा। सब अवतारों को एक परब्रह्म विष्णु के विविध रूपों में ही देखा। फिर भी उनका मन कृष्णावतार में सबसे अधिक रमा।

श्रीकृष्ण की लीला या चेष्टा का वर्णन करते समय यह कहने को आळ्वार नहीं भूलते कि कृष्ण पर-ब्रह्म विष्णु के अवतार स्वरूप हैं। कृष्णावतार की लीलाओं का उल्लेख करते समय श्रीकृष्ण की अलौकिक शक्ति का परिचय देकर उनके अतिमर्त्य (Super human) और अद्भुत कार्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित

कोलवेण्णमरैवरुम् पिळिर
कच्चुरिले पाडि कुमित्तु आयरोड
पालनिलु वर्णिन्नु वायपिल्लै
पलतु वण्डु एन मयक्कुयिन्नुरे"

—पेरियाळ्वार तिरुमोलि, ३ ४-७

करते हैं। सर्वत्र यह स्थापित करने की प्रवृत्ति दिखाते हैं कि ये कृष्ण परब्रह्म विष्णु के ही अवतार हैं जिन्होंने इसके पूर्व अनेक अवतार लिये हैं और उस शृंखला की कड़ी के रूप में उन्होंने कृष्णावतार भी लिया। इस प्रकार कहने में कवि का उद्देश्य थी कृष्ण के परमेश्वरत्व का स्थापन करना है। एक ही प्रसंग में कृष्णावतार के साथ अन्य अवतारों का भी उल्लेख करना कदाचित् यह सिद्ध करने के लिए है कि श्रीकृष्ण साधारण व्यक्ति नहीं परब्रह्म के अवतार हैं। बाल-कृष्ण के कतिपय अतिमानुषिक कृत्यों तथा पूतना-वध शकटासुर-वध कालियदमन गोवर्धन-धारण आदि का वर्णन करते समय तो कृष्ण का अतिमानुष रूप प्रकट होता ही है। अन्य अवसरों पर भी आळ्वार अपनी ओर से यह कहने को नहीं भूलते कि कृष्ण विष्णु के अवतारों में से हैं। कृष्ण की विविध बाल-सुलभ चेष्टाओं का वर्णन करते समय भी आळ्वार उनकी पूर्व अतिमानुष लीलाओं का भी जिक्र कर बैठते हैं। काव्य-कला की दृष्टि से यद्यपि यह एक दोष है तथापि कवि का उद्देश्य कृष्ण का सम्बन्ध विष्णु के अन्य अवतारों से स्थापित करने का होने से यह क्षम्य है। उदाहरण के लिए देखिए—श्रीकृष्ण की माँग पर यशोदा द्वारा चन्द्र को बुलाते समय भी कवि विष्णु के अन्य अवतारों की ओर संकेत कर बैठता है—"हे नीलाम्बर स्थित विशाल चन्द्र! मेरा पुत्र तुम्हें बुला रहा है। इसका तिरस्कार मत करो, यह समझकर कि यह छोटा बालक है। समझ लो यह बालक वही है जो एक बार वट-पत्र पर सोया था। यदि वह अपनी शक्ति दिखाना चाहे तो अभी उछलकर तुम्हारे ऊपर कूदकर तुम्हें पकड़ सकता है। अतः इसकी उपेक्षा मत करो।"[1] यह समझकर कि यह बालक है तुम इस बाल-क्रीड़ा का तिरस्कार मत करो। राजा बली से जाकर पूछो इसकी चिर यौवन शक्ति के सम्बन्ध में। यह वही महान् मायन् (विष्णु) है जो तुम्हें शीघ्र ही आ पहुँचने का आदेश दे रहा है। हे पूर्णचन्द्र! तुम अपनी इस दुर्बलता और शक्तिहीनता को कैसे समझोगे कि तुम मेरे लाल के सेवक होने के भी लायक नहीं हो।"[2] स्पष्ट है कि कवि कृष्ण के परमेश्वरत्व की ओर संकेत करना चाहता है।

---

१ "बालकनेन्ड्रु परिभवम् चय्येल् पण्डोरुनाळ्
आलिनिलै वळर्न्द चिरुक्कनवन् इवन्
मेलेळप्पाय्न्दु पिडित्तु कोळ्ळुम् वेकुळुमेल्
मालै मदियाद मामदि। मकिळ्न्दोडिवा"
—पेरियाळ्वार तिरुमोळि १ ४-७

२ "सिरियनेन्ड्रु एन्निळञ्जिङ्गत्तै इकळेल् कण्डाय
सिरुमैयिन् वार्त्तैयै मावलियिडैच्चेन्ड्रु केळ्
सिरुमैप्पिळै कोळ्ळिल् नीयुम् उन् तेवैक्कुरियै काण्
निरैमदी! नेडुमाल् विरैन्दु उन्नैक्कूवुकिन्ड्रान्।'—वही १ ४-८

राम-कृष्ण अभेद भाव

कृष्णावतार के साथ रामावतार का भी आळ्वारों ने कुछ विस्तार से गायन किया है ("आळ्वारों की राम भक्ति" शीर्षक वाला परिशिष्ट देखें)। यद्यपि कृष्णावतार की अपेक्षा रामावतार का वर्णन-विस्तार कम है तो भी आळ्वारों ने रामावतार के जो भी प्रसंग लिए हैं, उनके द्वारा वे राम के विष्णु के अवतार होने की बात साबित करते हैं। पेरियाळ्वार के एक दशक में रामावतार और कृष्णावतार की लीलाओं का वर्णन साथ ही साथ दो सखियों के सम्भाषण द्वारा कराया गया है।[1] कृष्ण को सम्बोधित करते समय भी 'हे गोकुल सिंह हे सीता-पति हे विष्णु' आदि नामों से सम्बोधित कर राम-कृष्ण-अभेद को स्थापित करते हैं।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि आळ्वारों ने सर्वत्र कृष्ण के परमेश्वर-स्वरूप की ओर संकेत किया है और विष्णु के विभिन्न अवतारों में कोई भेद नहीं देखा है। यही प्रवृत्ति मध्ययुगीन अनेक कृष्ण भक्त कवियों में भी देखने को मिलती है। सभी भक्त-कवियों ने कृष्ण के परब्रह्म स्वरूप की स्थापना कर राम-कृष्णादि अवतारों में अभेद भाव दिखाया है। हिन्दी के महान् कृष्ण भक्त कवि सूरदास तथा राम भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भी राम कृष्ण-अभेद भाव से दोनों अवतारों की स्तुति की है।

४ श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेम भावना

'प्रबन्धम्' में भगवान् के प्रति प्रेम के विविध रूपों एवं भावनाओं का जितना व्यापक उद्घाटन हुआ है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। भगवान् से प्रेम करना ही परा-भक्ति का एक मात्र उद्देश्य है। श्रीकृष्ण और गोपियों का पारस्परिक प्रेम कृष्ण भक्ति साहित्य का मेरुदण्ड है। 'प्रबन्धम्' में किसी भी अन्य बात पर उतना जोर नहीं है जितना गोपी भाव की भक्ति पर। बाद के भक्ति-साहित्य में व्रज की गोपिकाओं की प्रेम-भावना को बड़ी प्रतिष्ठा हुई और उसे ही आदर्श-रूप में माना गया। नारद भक्ति-सूत्र में और शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र में परम आदर्श-रूप में व्रज-गोपियों को ही माना गया है।[3]

प्रेम मानव हृदय का एक प्रबल पक्ष है। आळ्वारों ने इस प्रेम की बड़ी सुन्दर और विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रेम की अभिव्यक्ति मुख्यतया चार प्रकार से मानी जाती है —

---

१ पेरियाळ्वार तिरुमोळि ३ १ १ से १० ।

२ "एन चिङ्गमर तिरुमे । सीतै मणाळा । चिरुगुइ वेङ्कमाले ।
—पेरियाळ्वार तिरुमोळि ३ १-२ ।

३ यथा व्रजगोपिकानाम् ॥—नारद भक्ति-सूत्र सूत्र २१ ।
अतएव तद्भावादल्लवीनाम् ।—शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र सूत्र १४ ।

१—दास्य भाव	३—वात्सल्य भाव
२—सख्य भाव	४—माधुर्य भाव।

'प्रबन्धम्' ने वात्सल्य और मधुर भाव पर ही विशेष जोर दिया है। प्रबन्धम् में प्रीति के इन दोनों भावों की अभिव्यक्ति गोपियों के माध्यम से सबसे अधिक उदात्त रूप में बहुत ही विस्तृत भाव-पटल पर हुई है।

वात्सल्य भाव

वात्सल्य भाव कृष्ण-भक्ति परम्परा का एक प्रधान तत्व है। आळ्वारों के बाल भाव-चित्रण में वात्सल्य भाव का सुन्दर परिपाक हुआ है। यशोदा के माध्यम से कवियों ने वात्सल्य रस की स्निग्ध धारा प्रवाहित की है। वात्सल्य भाव की प्रीति अन्य सब प्रकार की प्रीतियों से उत्तम कही जा सकती है क्योंकि वह निष्काम प्रीति है। सन्तान के भोले भाले और निष्कपट रूप और गुण पर किस माता-पिता का मन सहज ही नहीं रीझता? अपने कष्ट और स्वार्थ को भूलकर शिशु की परिचर्या में किस माता ने अपने स्वार्थ को नहीं भुला दिया? अपनी सन्तति के विछोह में किस माता-पिता का हृदय नहीं छटपटाता? वात्सल्य भाव एकांगी है क्योंकि स्नेह पात्र के अबोध और अशक्त होने के कारण स्नेही अपने स्नेह के बदले में कुछ नहीं चाहता। शिशु की मीठी-मीठी और तुतली बातें सुनने उसकी क्रीड़ाओं और विविध चेष्टाओं का अवलोकन करने में मातृ-हृदय जिस आनन्द तन्मयता तथा तृप्ति का अनुभव करता है वैसा पितृ-हृदय में नहीं होता।

मातृ रूप की प्रतीक यशोदा है। यशोदा के भाग्य की सराहना करते-करते भक्तों ने अनेक बार उनके सुख की कल्पना देवताओं ऋषियों तथा मुनियों की शक्ति के परे बतलाकर बार-बार मोक्ष ज्ञान इत्यादि पर सगुण भक्ति की इस पुण्य अनुभूति की विजय घोषित की। कृष्ण के शैशव बाल्यकाल और किशोर-काल में यशोदा के मातृ-हृदय का सुन्दर विकास चित्रित है। कृष्ण की बालोचित भोली-भाली उक्तियों के प्रति उनकी गद्गद् भावना उनके नटखटपन के प्रति उनकी खीझ आदि मातृ-हृदय के स्वाभाविक चित्रण हैं। शिशु-कृष्ण की माँ के रूप से लेकर किशोर-कृष्ण की माँ के रूप तक उनका चित्रण अनुपम है। वात्सल्य के संयोग और वियोग—दोनों ही पक्ष आळ्वारों ने दिखाये हैं।

संयोग वात्सल्य के अन्तर्गत बाल-सुलभ-क्रीड़ाओं के सूक्ष्म चित्रण के लिए पेरियाऴ्वार ने शिशु की इन भिन्न वय स्थितियों की कल्पना कर प्रत्येक स्थिति में बालक की स्वाभाविक चेष्टाओं का बड़ा ही सजीव चित्र अंकित किया है। इस विशिष्ट बाल-वर्णन शैली को तमिळ में 'पिळ्ळै तमिळ्' कहते हैं। (इसका विस्तृत परिचय अन्यत्र दिया गया है।) इस पिळ्ळै तमिळ् शैली के जन्म-दाता पेरियाऴ्वार हैं। इस शैली का अनुकरण सैकड़ों परवर्ती कवियों ने किया है। पेरियाऴ्वार ने माता यशोदा

के स्थान पर अपने को कल्पित कर मातृ-हृदय धारण कर वात्सल्य का बड़ा आनन्द लिया है और बड़ी सूक्ष्मता से उसका चित्रण किया है। माता यशोदा के मन के हर उद्गार को उसके प्रत्येक उच्छ्वास-निःश्वास को पेरियाळ्वार ने हृदय-द्रावक मार्मिकता के साथ वर्णित किया है। शिशु कृष्ण के प्रत्येक कोमल अङ्ग को देखकर माता आनन्द से पुलकित होती है और उस सौन्दर्य का पान करने के लिए दूसरों को बुलाती है।[1] कृष्ण जन्म के कुछ ही दिन बाद यशोदा सहेलियों से शिकायत करती है 'पालने में छोड़ें तो ऐसा पद प्रहार करता है कि उसके टूट जाने का डर होने लगता है। गोद में उठा लूँ तो कमर तोड़ देता है। छाती से लगा लूँ तो पेट पकड़ देता है। हे सखी! मुझ से नहीं होती इस बालक की सार-सम्भाल। मैं क्या करूँ ?'"[2] यही माता एक अन्य स्थल पर कहती है —

मेरे लाल के माथे पर आभूषण डोल रहा है। सोने की किंकिणी मधुर झिनकार कर रही है और गोविन्द धूल में घुटनों के बल रेंगता हुआ खेल रहा है।[3] सुन्दर मुख से अमृत लार टपक रही है और मेरा लाड़ला तोतली बोली से तुम्हें पुकार रहा है। हे चन्द्र! तुम मेरे लाल के सौन्दर्य के आगे फीके पड़ जाते हो।"

कान्हा धीरे-धीरे चलने लगता है। कान्हा खिल-खिलाकर हँसता हुआ आकर यशोदा से लिपट जाता है और उसे प्यार करता है। उसके मुँह से इक्षु-रस सी लार की धारा बह रही है। वह शिशु मुस्कान माँ के हृदय में अमृत प्रवाहित कर देता है। एक स्थल पर माता की ममता बोल उठती है —"कृष्ण-जन्म के बाद घर में भी न कहीं सुरक्षित रह पाता न दूध न दही न मक्खन।"[4] कान्हा पड़ोस के बच्चों से झगड़ा करने के बाद चुपके से घर आ जाता है। पड़ोस की स्त्रियाँ रोने वाले बच्चों के साथ यशोदा को घेर लेती हैं और शिकायत करती हैं। उधर यशोदा होहल्ले से परेशान हो रही है और इधर कृष्ण उनका मजा लेता हुआ हँस रहा है। संयोग-

---

१ पेरियाळ्वार तिरुमोळी १-२ १ से १०

२ "किडक्किल तोट्टिल किऴिय उदैत्तिडुम
एडुत्तुक्कोळ्ळिल मरुङ्गैयिऱुत्तिडुम
ओडुक्की पुल्किल उदरत्ते पाय्न्दिडुम
मिडुक्किल्लामैयाल नान मेलिन्देन नङ्गाय"
—पेरियाळ्वार तिरुमोळी १ १-९।

३ "तन मुगत्तु च्चुट्टि तूङ्ग तूङ्ग तवऴ्न्दुपोय
पोन मुगक् किण्किणियार्प्प पुऴुदियळैकिन्ऱान।"
—वही १ ४ १।

४ "करण्ड मर्त्तोडु तयिरुम वरिदु उरिमेल वैत्तवेण्णै
पिरन्दपिन मुन्नाल्प्पोल्लुडैयेन एय्तिलादे।" —वही २ ४-७।

वात्सल्य के ऐसे कितने ही चित्र पेरियाळ्वार ने प्रस्तुत किये हैं। पहली बार कृष्ण के गाएँ चराने के लिए जंगल की ओर जाने पर मातृ-हृदय छटपटाता है। उसे एक क्षण के लिए भी पुत्र-वियोग असह्य सा लगता है। पेरियाळ्वार ने अनेक स्थलों पर वियोग वात्सल्य का हृदय-द्रावक वर्णन किया है। पुत्र को जन्म देकर तुरन्त उससे वंचित रहने वाली अभागिनी देवकी के मातृ-हृदय के उद्गारों को कुलशेखराळ्वार ने काव्य रूप दे डाला है। शिशु की चेष्टाओं की कल्पना मन ही मन कर देवकी उस सुख से वंचित अपने को कोसती है।[1] वह बच्चे से प्यार करने के लिए प्रतिक्षण तड़पती है।

वात्सल्य रस से रंजित गोपियों को व्रजांगना की संज्ञा दी गई है।[2] वात्सल्य भावना की मुख्य प्रतीक यशोदा ही हैं पर कुछ अन्य गोपियाँ भी इससे ओत प्रोत हैं इन गोपियों में वे व्रजांगनाएँ जिनमें वात्सल्य प्रधान है। कृष्ण की बाल-लीलाओं में उनका हृदय पूर्ण रूपेण रम जाता है। व्रजांगनाओं का यह वात्सल्य भाव बड़ी महत्ता का बताया गया है। यही भक्ति के स्तर में निष्काम रूप धारण करता है। आळ्वारों के वात्सल्य भाव चित्रणों ने परवर्ती कवियों को बहुत ही प्रभावित किया और वात्सल्य भक्ति को भी प्राधान्य प्रदान किया।

मधुर भाव

प्रबन्धम् में भक्त और भगवान् के बीच स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को घोषित करने वाले सैकड़ों पद हैं। लोक में प्रेम के जितने भी भिन्न-भिन्न सम्बन्ध हो सकते हैं उन सबको आळ्वारों ने लोक से हटाकर ईश्वर के साथ जोड़ा है। यहाँ तक कि ऐन्द्रिय विषयों में अनुरक्त लोगों को संसार विषय से हटाने के लिए आळ्वार भक्तों ने ईश्वर को ही उनकी विषय प्राप्ति का साधन बताया है। नम्माळ्वार, तिरुमंगै आळ्वार आदि ने भक्ति में स्त्री भाव को प्रधानता दी है। लोक-पक्ष में जिसे हम शृंगार रस कहते हैं, भक्ति-पक्ष में वही मधुर रस कहलाता है। कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में स्त्री भाव का प्रतिनिधित्व गोपियाँ करती हैं। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी काम रूपा प्रीति भी निष्काम होती है। अतः संयोग और वियोग—दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एक रूप है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य प्रेम को चित्रित करने वाले अनेक प्रसंग 'प्रबन्धम्' में हैं।

भक्ति के क्षेत्र में नायक-नायिका-सम्बन्ध को स्वाभाविक रूप से प्रतिष्ठापित करने वाले आळ्वार भक्त ही थे। आळ्वारों ने ईश्वर से जितने भी सम्बन्ध स्थापित किये

---

१ पेरुमाळ तिरुमोऴि ७-१ से १०।

२ व्रजांगनानुभावाद्‌ "

तथा व्रजांगनानामानुभावेनैवास यद्‌ तासाँईश्वरे पुत्रभावोत्पत्तेः।

तस्मात् सांप्रदायिकत्वम्। —आचार्य वल्लभकृत आनन्दवल्लीटिका

पृ० १४१ पु० स्तो० (द्वि० भाग) सन् १६४८।

है। उसमें नायक-नायिका सम्बन्ध अधिक महत्त्व का है। इस मधुर-भाव को काव्य रूप देने के लिए आळ्वारों ने लौकिक प्रेम-काव्य के क्षेत्र में प्रचलित सभी रूढ़ियों का सहारा लिया है और उनके माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है। आळ्वार पूर्व तमिळ के संघ-साहित्य के लौकिक प्रेम-काव्यों में नायक-नायिका सम्बन्ध के संयोग वियोग—दोनों पक्षों की भिन्न दशाओं का निर्वाह किया गया था, उन सबका आळ्वारों ने प्रयोग कर नायक-नायिका भाव से अर्थात् मधुर भाव से भक्त और ईश्वर के सम्बन्ध को पहली बार अभिव्यक्त किया था। नायक-नायिका के वचन के रूप में प्रेम के नाना प्रकार के प्रसंग प्रस्तुत करने की परम्परा तमिळ के प्राचीन साहित्य में चली आ रही है। अब तमिळ में उपलब्ध सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'तोल्काप्पियम्' वैयाकरणिक विषयों के अतिरिक्त कविता की सामग्री का विवरण भी प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ "अहप्पोरुळ" खण्ड में कविता-विषय का परिचय देकर उन प्रसंगों की ओर संकेत करता है जिनका वर्णन रसानुभूति की परिपुष्टि के लिए आवश्यक है। प्रेमी जीवन से सम्बन्धित प्रसंगों को एक सूत्र में बाँधकर उन्हें नाटक-सरणी से युक्त एक धारावाहिक उपन्यास का रूप दिया गया है। प्रेम काव्य में 'तोल्काप्पियम्' के अनुसार निम्न-लिखित प्रसंगों का क्रमानुसार होना आवश्यक है।[1] सबसे पहले किसी सुन्दर प्राकृतिक वातावरण में नायक-नायिकाओं का मिलन संयोगवश होता है। एक-दूसरे के सौन्दर्य गुण आदि से आकर्षित होते हैं। यह आकर्षण प्रेम में परिवर्तित होता है जो प्रतिदिन विकसित होता रहता है। प्रेमी किसी बहाने से प्रेमिका से मिलने के लिए आता है। प्रेमिका की सखी से सहायता माँगता है, जो दोनों के बार-बार मिलने के लिए अवसर पैदा करती है। प्रेमी-प्रेमिका का गुप्त मिलन होता रहता है और प्रेमी प्रेयसी से गान्धर्व-विवाह भी कर लेता है। प्रेम की बात बढ़ती जाती है और आसपास के लोग वास्तविक स्थिति का—उन दोनों के सम्बन्ध का अनुमान कर लेते हैं। समाचार फैल जाता है और सखी के कथन द्वारा गुरुजनों तक पहुँच जाता है और प्रेमी-प्रेमिका का परिणय मनाने की अनुमति माता-पिता से मिल जाती है। परिणय-पूर्व काल "कळवु" (गान्धर्व वैवाहिक काल) कहलाता है। इस प्रेम-पद्धति के अन्तर्गत नायक-नायिका का प्रथम मिलन, दोनों के एक दूसरे से प्रेम प्रदर्शन, नायक के गुप्त आगमन के कारण मार्ग में सम्भाव्य विपत्तियों का नायिका द्वारा निवेदन आदि अनेक प्रसंग आते हैं। परिणयोत्तर काल "कर्पु" (दाम्पत्य काल) कहलाता है। पति-पत्नी का प्रणय कलह, पति के अपने कार्य निमित्त विदेश चले जाने से पत्नी की विरह-वेदना, विलाप या विरह सहन के उपयुक्त वचन, दोनों का पुनर्मिलन आदि कई प्रसंग इस "कर्पु" प्रेम-पद्धति के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के विभिन्न प्रसंगों का विस्तृत वर्णन नायक, नायिका, धाई, सहेली, देखने वाले आदि पात्रों के कथनों के द्वारा इस प्रेम-काव्य-पद्धति में

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए— "कळवियल एन्र इरैयनार अहप्पोरुळ।"
प्रकाशक—शैव सिद्धान्त नूर्पतिप्पु कळकम, मद्रास।

प्रस्तुत किया जाता है। एक और बात उल्लेखनीय है कि प्रेमी प्रेमिका के प्रेम-सम्बन्ध का समाचार सुनकर भी उनके माता-पिता उनके विवाह के लिए सहमत नहीं होते तो प्रेमी 'मडल' पर चढ़कर अपने तीव्र प्रेम की परीक्षा देकर प्रेमिका को प्राप्त करने की घोषणा करता है। प्रेमोन्मत्त नायक नगर के किसी चौराहे पर खड़े होकर अपनी प्रेमिका का चित्र दिखाकर यह धमकी देता है कि प्रेमिका के न मिलने पर वह "मडल" पर चढ़कर आत्म-हत्या तक कर डालेगा। ताड़ की तीखी डालियों से बने घोड़े पर सवार होने से शरीर में चोट लगती है और उससे खून बह निकलता है। यह प्रेम की परीक्षा है जिस पर उत्तीर्ण होने पर प्रेमी को प्रेमिका अवश्य मिल जाती है।

आळ्वारों ने प्रेम-काव्य की उपर्युक्त वर्णित पद्धति को पूर्ण-रूपेण अपनाया। संघ-साहित्य के वही नायक-नायिकाओं के कथन, धाई, सहेली तथा दर्शक के कथन आदि प्रसंगों को लेकर आळ्वारों ने प्रेम-सम्बन्ध का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। इस पद्धति में प्रेम के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग—की सभी दशाओं का सांगोपांग वर्णन किया जाता है। आळ्वारों ने पूर्ववर्ती प्रेम सम्बन्धी काव्य रूढ़ियों से लाभ उठाकर लौकिक प्रेम के स्थान पर अलौकिक प्रेम अर्थात् भक्त और परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट किया। इसी कारण प्रबन्धम् में संगृहीत अधिकांश रचनाएँ, विशेषकर नम्माळ्वार, तिरुमंगै आळ्वार, कुलशेखराळ्वार और आंडाळ की रचनाएँ माधुर्य भाव से ओतप्रोत हैं।

आंडाल का स्वतः सिद्ध माधुर्य भाव

जहाँ दूसरे आळ्वारों को भगवान् के प्रति मधुर भाव को व्यक्त करने के लिए स्वयं को स्त्री रूप में कल्पित करने की आवश्यकता थी वहाँ आंडाळ के विषय में उस कल्पना की भी आवश्यकता न थी। वह स्त्री थी। अतः उनका पुरुष रूप भगवान् से प्रेम सीधा था और स्वाभाविक भी। आंडाळ को बचपन से ही "मुरली माधव" ने आकर्षित कर लिया था। वह भगवान् को अपनी पहनी हुई मालाएँ अर्पित करती थी और मुकुर में यह देखा करती थी कि क्या वह लीलानायक को वरने योग्य है? आंडाळ का प्रेम धीरे धीरे बढ़कर पूर्णावस्था को पहुँच जाता है तो उनकी स्थिति कृष्ण-मिलन के लिए भूखी मछली की सी हो जाती है। वह कहती है—"जैसे ब्राह्मणों के यज्ञ में देवताओं को लक्ष्य करके अर्पित की जाने वाली हवि को कोई जंगली सियार घुसकर सूंघ ले वैसे ही चक्रधर शंखधर भगवान् को लक्ष्य करके उभरे हुए मेरे उरोजों को यदि मानवों के उपभोग्य बनाने की चर्चा चली तो हे मन्मथ मैं जीवन धारण नहीं कर सकूंगी।"[1]

1 'वानिडै वाऴुम् अव्वानवर्क्कु मरयवर् वेळ्वियिल् वकुत्त अवि
कानिडै तिरिवदोर् नरि पुहुन्दु कडप्पदुम् मोप्पदुम् सेय्वदोप्प
ऊनिडयाऴी संगु उत्तमर्क्कु उन्नित्तेऴुन्द एन् तडमुलैगळ्
मानिडवर्क्केन्ड्रु पेच्चुप्पडिल् वाऴगिल्लेन् कण्डाय् मन्मदन ॥'

—नाच्चियार तिरुमोऴी १।५

आण्डाळ की कविता प्रेम-पीड़िता नारी की विभिन्न भावावस्थाओं का सुन्दर चित्र है। कभी तो प्रियतम से मिलने की आशा करती है कभी प्रियतम की निष्ठुरता पर करुण-क्रन्दन करती है प्रिय-वियोग विच्छेद में अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन करती है। मिलन के लिए तड़पती है। इस प्रकार के कितने ही भावों से आंडाळ के गीत ओतप्रोत है। कोकिल मयूर आदि चेतन तथा मेघ शंख आदि निर्जीव वस्तुओं तक से प्रिय की बातें कर बैठती है और अपना सन्देश प्रियतम तक पहुँचाने का निवेदन उनसे करती है—"मस्त हाथी के समान उठने वाले मेघो! मुक्ता-निधि बरसाने वाले हे धनिया तुम्हीं बताओ! सुन्दर साँवरे की बात क्या रही? हृदय में कामाग्नि जल रही है और मलय पवन के रूप में बाहर भी अग्नि-धारा बह रही है। इस आधी रात में मैं इस तरह दोनों ओर से झुलस रही हूँ। मेरी इस दशा पर तनिक तरस तो खाओ।"[1] हे मेघो! तिरुवेंकट पर्वत पर वास करने वाले शेषशायी भगवान् द्वारा दिया गया वचन कितना विश्वसनीय था। अब वह सत्य से कितना दूर हो गया। वह पुरुष जो लोगों का रक्षक कहलाता है, अकाम 'स्त्री-हत्या' के वध का कारण बना अगर इस प्रकार का अपवाद संसार में फैल जाय तो कौन उसका आदर करेगा।[2]

आण्डाळ की दोनों रचनाएँ—"तिरुप्पावै" और "नाच्चियार तिरुमोळी" मधुर-भाव के अद्वितीय उदाहरण है। तिरुप्पावै में श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के निमित्त गोपियों द्वारा पालित व्रतचर्या (कात्यायिनी व्रत) का वर्णन है। "तिरुप्पावै" में आण्डाळ स्वयं गोपी बनकर अन्य सखियों को कात्यायिनी व्रत रखने के लिए आह्वान करती है। "नाच्चियार तिरुमोळी" के छठे दशक में आंडाळ ने स्वप्न में माधव के साथ होने वाले अपने विवाह वर्णन किया है—

> "सखि सुमधुर सपना देखा।
> मधुसूदन को आते देखा॥
> गज सहस्र परसत सब आये।
> पुर मग तोरण से सखि भाये॥

१　कामुर निधि वेरियुम मामुकिल्काळ्। वेंकटत्तु
सामर्त्तिनिरंकोण्डु ताजाळन वार्त्तैयेन्ने।
कामत्तीयुळ् पुगुन्दु कदुवप्पट्टु इडैक्कंगुल
एमत्तोर तेन्दलुक्कु इंगिलक्काय नानिरुप्पेने।

—नाच्चियार तिरुमोळी ८ २

२　मतयानै पोलेऴुन्द मामुकिल्काळ् वेंकटत्तै।
पतियाक वाऴ्वीर्काळ्। पाम्पणैयान् वार्त्तैयेन्न॥
गतियेन्रुम् तानावान् कैविट्टाल् आर्सोलुवार्।

—वही, ८ ६

घर-घर पट पर बहु जन मायें।
रच गज सुखासन बहु लायें।।[1]
प्रियतम हरि को आते देखा।
सखि, सुमधुर सपना देखा।।
शंख मृदंग व ढोल बजायें।
मंडप तर मन-मोहन आयें।।
सज्जित मण्डप में प्रिय आयें।
कर में कर ले मेल मिलायें।।
मम प्रिय माधव को आते देखा।
मुझ दासी को अपनाते देखा।।[2]

—(भावानुवाद)

आंडाळ में वे सब बातें देखने को मिलती हैं, जो गोपियों में हैं। आंडाळ ने श्रीकृष्ण की उपासना गोपी भाव से ही की थी। इस प्रकार आंडाळ ने मध्ययुगीन कृष्ण भक्त कवियों के सम्मुख मधुर भाव का एक उच्च आदर्श खड़ा रखा था।

'प्रबन्धम्' में गोपी-प्रेम को चित्रित करने वाले अनेक प्रसंग हैं। गोपियों के इस अनेक-रूप प्रेम की झाँकी प्रमुख रूप से निम्नलिखित प्रसङ्गों में मिलती है —

१—वेणु माधुरी और उसका प्रभाव,
२—रास-लीला (आळवारों की 'कुरवैकूत्तु')
३—राधा (आळवारों की 'नप्पिन्नै') और कृष्ण की केलि-क्रीड़ाएँ
४—भ्रमरगीत (आळवारों का 'भ्रमर-सन्देश')।

'प्रबन्धम्' के इन प्रसङ्गों में वर्णित गोपी-प्रेम को परवर्ती कवियों ने बड़ी तत्परता और निष्ठा के साथ हृदयंगम एवं आत्मसात् कर अपनी सहज प्रतिभा और भक्ति-भावना से उसे और भी नितान्त गम्भीर और हृदयहारी बना दिया।

१ वेणु-माधुरी और उसका प्रभाव

गोपियों को कृष्ण की ओर आकृष्ट करने में श्रीकृष्ण की मुरली का बड़ा हाथ है। कृष्ण के मुरली-नाद में एक अद्भुत शक्ति है जो समस्त जड़-चेतन जगत् को अपने वश में कर लेती है। 'प्रबन्धम्' में वेणु-माधुरी के प्रभाव का बड़ा ही विस्तृत वर्णन है। परवर्ती कृष्ण भक्त-कवि इससे बहुत प्रभावित हुए हैं और इसका प्रतिपादन भी किया गया है।

मुरली की ध्वनि सभी प्राणियों के मन को हर लेती है। उसका सबसे अधिक प्रभाव गोपियों के हृदय पर पड़ता है। 'पेरियाळ्वार तिरुमोळि' के तीसरे शतक के

---

१ नाच्चियार तिरुमोळि ६-१
२ वही, ६-६

छठे दशक में मुरली-माधुर्य और उसके प्रभाव का सुन्दर वर्णन है, जो संक्षेप में नीचे दिया जाता है —

'कृष्ण ने अपने पवित्र अधर में मुरली को रखकर बजाया। कितना आश्चर्य! उस ध्वनि को सुनते ही कौतूहल से पूरित स्तनवाली गोप कुमारिकाओं के कोमल शरीर पुलकित हो गये और वे प्रभाववश लाज, ससुर आदि के बन्धनों की भी परवाह न कर बाहर आयीं और गुम्फित पुष्प-समूह की तरह एकत्रित हो गयीं।'[1]

'गोविन्द ने अपने चिबुक के बायें भाग को बायें भुज की ओर झुकाकर, दोनों हाथों को मुरली पर रखकर अपनी भृकुटियों को एक विलक्षण प्रकार से कर, हवा भरकर नीचे के ओठ को संकुचित कर वेणु को बजाया। उस समय मृगनयनी मयूर-सम-सुन्दर गोप-कुमारियों के केश-बन्धन छूट गये।[2] (कामवश) अस्त-व्यस्त होने वाले अपने वस्त्रों को अपने करों से सम्भाल कर वे कृष्ण की ओर देखती रहीं।"

'गोविन्द ने जब वेणु-गान किया उस समय उसके नाद-जाल में फँसकर अप्सरायें भी वृन्दावन की ओर आयीं। वृन्दावन में आकर पिघले हुए मन आनन्दाश्रु से पूरित पुष्प-सम-नयन ढीली बनी लट पसीने हुए ललाट से युक्त होकर मग्न होकर वेणु-गान का आस्वादन कर रही थीं।"[3]

---

१ 'नावलम पेरिय दीविनिल वाऴुम मंगैमीरगळ! इदु वोर अर्पुदम केळीर तूवलम्पुरियुडय तिरुमाल तूय वायिल कुऴलोसै वऴिये कोवलर सिरुमियर इळ कोंगै कुदुकलिप्प उडलुळविऴ्न्दु एंगुम कावलुम कडन्दु कयिरुमालै यागि वन्दु कविऴ्न्दु निन्रनरे।'

—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴी ३-६-१

२ 'इडवणरै इडत्तोळोडु चाय्त्तु
  इरुकै कूडप्पुरुवम नेरिन्देर
कुडवयिरु पडवाय कडैकूड
  गोविन्दन कुऴलकोडु ऊदिन पोदु
मडमयिलक्ळोडु मानपिणै पोले
  मंगैमारक्ळ कूंतल अविऴ निन्रनरे।

—वही, ३ ६ २

३ "
वानिळम पडियर वन्दु वन्दीण्डि
  मन मुरुगि मलरक्कण्गळ पनिप्प
तेनळवु सेरि कून्दलविऴ्च्चेन्नि
  वेर्प्पच्चेवि सेर्त्तु निन्रनरे।"

—वही, ३ ६ ३

'कृष्ण के वेणु-नाद को सुनकर तिलोत्तमा उर्वशी रम्भा आदि अप्सरायें भी मोहित हुई और अपने नृत्य गान तक को छोड़कर स्वर्ग और भूलोक के बीच में स्थिर रह गयीं।"[1]

' वेणु-नाद का प्रभाव इतना था कि वीणा बजाने में निपुण तुम्बुरु नारदादि महर्षियों ने वीणा-वादन को तत्काल त्याग दिया। किन्नर गायक देव-जाति के लोग अपने किन्नर वाद्य को आगे न छूने की शपथ कर निवृत्त हो गये।"[2]

कृष्ण की अत्यन्त मृदु उंगलियाँ मुरली के छिद्रों पर थमने लगीं। लाल कमल-सम नेत्र वक्र हो गये। वंशी बजाने के परिश्रम से मुख फेनिल हो गया। भौंहों के ऊपर पसीने की बूंदें जम गयीं। इस प्रकार अंग वैष्टित सौन्दर्य के साथ गोविन्द द्वारा वंशी बजाते समय पक्षियों का समूह नीड़ त्यागकर आ गया और कृष्ण के सामने इस प्रकार फैल गया मानों काटे हुए वृक्षों का वन ही सामने पड़ा हो। गायों के झुण्ड पैर फैलाकर सिर झुकाकर कानों को बिल्कुल हिलने भी नहीं देते थे (क्योंकि कान के हिलने से गानामृत के नष्ट होने का स्वाभाविक भय उन्हें था)।"[3]

---

१ "
मेनकैयोडु तिलोत्तमै अरम्बै
उरुप्पसियवर्कळ् वॆळ्कि मयङ्गि
वानकम् पडियिल् वाय् तिरप्पिन्ड्रि
आडल पाडल् अवै मारिनार् ताने।"
—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि ३ ६ ४

२.
तुम्बुरुवुम् नारदनुम् ओडु
नारदनुम् तम् तम् वीणै मरन्दु
किन्नर मिथुनङ्गळुम् तम् तम्
किन्नरम् तोडुकिल्लोमेन्ऱनरे।'
—वही ३ ६ ५

३ "चिर विरलगळ तडवीप्परिमारवेङ्गळ
गोडश्चेंमाय कोप्पळिप्प
कुरुवर्यप्पुरुवम् कूडलिप्प
गोविन्दन् कुऴल् कोडु ऊदिन पोदु
परवैयिन् गणङ्गळ् कूडु तुरन्दु
वन्दु सूऴ्न्दु पडुकाडु किडप्प
करवैयिन् गणङ्गळ् काल परप्पिट्टु
कविऴ्न्दिरङ्गि चॆवियाट्टा किल्लावे।"
—वही, ३-६-८

"मुरली के सुमधुर नाद को सुनने वाले मृगगण जो समीपवर्ती वनों में चर रहे थे तत्क्षण घास चरने को भी भूल गये। चबाने के लिए मुँह में पहले से रखी घास के धीरे धीरे नीचे गिर जाने का भी ध्यान नहीं करते थे। अमृतमय संगीत-जाल में फँसकर बेसुध हो गये। इधर-उधर लेशमात्र भी न हिलकर गतिहीन हो खींचे हुए चित्र की भाँति निस्तब्ध भाव से खड़े रहे।"[1]

२ रास-लीला (आळवारों की 'कुरवैकूत्तु')

यद्यपि 'प्रबन्धम्' में कहीं भी 'रास' शब्द का प्रयोग नहीं है, तथापि रास-लीला का जैसा वर्णन परवर्ती साहित्य में मिलता है, ठीक उसी का वर्णन 'कुरवैकूत्तु' प्रसंग के अन्तर्गत 'प्रबन्धम्' में मिल जाता है। तमिळ-प्रदेश में कई कथाएँ प्रचलित थीं जिनमें कृष्ण द्वारा गोपियों के साथ किये गये अनेक प्रकार के नृत्यों के उल्लेख हैं। इन नृत्यों में 'कुरवैकूत्तु' का विशिष्ट स्थान प्राचीन तमिळ ग्रन्थों में बतलाया गया है। आळवार पूर्व संघोत्तर काल की रचना 'शिलप्पधिकारम्' में इस 'कुरवैकूत्तु' का उल्लेख है जिसको आळवारों ने 'प्रबन्धम्' में अपनाया है। श्री दीक्षितार 'कुरवैकूत्तु' का परिचय देते हुए लिखते हैं —

"This Kuraval Kuttu, we proceed to identify with Rasa Krida which is described in Bhagavata (X Ch. 33) According to a description in the Silappadicaram, the celebrated Tamil classic of 2nd Century A D seven or nine Cowherdesses engage in it each joining her hands to those of another This dance is said to have been originally danced by Krishna with Cowherdesses "[2]

इसी 'कुरवैकूत्तु' का वर्णन 'प्रबन्धम्' में मिलता है जो रास-लीला से साम्य रखता है। 'प्रबन्धम्' में मिलने वाला रास-लीला-वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है — "सुन्दर सुगन्धित वनमाला श्रीकृष्ण के वक्ष पर शोभित है। मयूर-पंख से युक्त मुकुट को सिर पर धारण कर, सुन्दर मृदु वस्त्र को कमर पर बाँधकर कानों पर सुमनों के गुच्छे रखकर सौरभ युक्त कुसुमों से शोभित कुन्तलवाली गोप-कुमारिकाओं के बीच मुरली बजाते हुए[3] उन्हें मोहित कर उनके करों को अपने करों में लेकर[4] नृत्य करते

---

१ 'मरुण्डु मान् पणैनम् मेय्कै मऱन्दु
मेय्न्द पुल्लुम् कडैवाय् वऴिय चोर
इरण्डु पाडुम् तुलुङ्गाप् पुडैपेयरा
एऴुदु चित्तिरङ्गळ् पोलनिन्ऱनवे।"—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि, ३ ६-१

2. Krishna in early Tamil Literature" article by Sri V R R. Dikshitar in Indian Culture" Vol IV (37 38), pp 267 70.

३ पेरुमाळ् तिरुमोऴि ६ १

४ तिरुवाय्मोऴि, ४ २-२

करते[1] आनन्दित होते थे। सहृद दूध और अमृत का-सा आनन्द देते हुए[2] श्रीकृष्ण ने नवयौवना कुमारिकाओं के साथ खेलते-खेलते प्रेम प्रवाह बहाया था।[3]

आळवारों के कुरवैकूत्तु-वर्णन ने परवर्ती संस्कृत साहित्य में रास-लीला की संज्ञा प्राप्त की होगी।[4]

३ राधा (आलवारों की "नप्पिन्न") और कृष्ण की केलि-क्रीडाएँ

कृष्ण की प्रेमिकाओं में तमिळ ग्रन्थों में 'नप्पिन्नै' का विशिष्ट स्थान बताया गया है। प्रबन्धम् में ही नहीं बल्कि उससे पूर्व के 'चिंतामणि'' 'सिलप्पधिकारम' "मणिमेखलै", आदि ग्रन्थों में कृष्ण की प्रमुख प्रेमिका 'नप्पिन्नै' का उल्लेख है। आळवारों ने भी 'नप्पिन्नै' का वर्णन कृष्ण की प्रमुख प्रेमिका—गोपी के रूप में वर्णन किया है। कृष्ण-नप्पिन्नै की केलिक्रीड़ाओं को सूचित करने वाले अनेक प्रसंगों का वर्णन प्रबन्धम् में है। तमिळ कथाओं के अनुसार वह लक्ष्मी का अवतार है। कृष्ण ने तत्कालीन प्रथा के अनुसार सात वृषभों को वश में कर कन्याशुल्क के रूप में 'नप्पिन्नै' को प्राप्त किया था। नप्पिन्नै के अपरिमित सौन्दर्य का वर्णन अनेक स्थलों में किया गया है। "सुन्दर कुन्तलवाली मयूर जैसी कोमल देहवाली नप्पिन्न' का उल्लेख पेरियाळवार ने किया है। आंडाळ भी 'तिरुप्पावै' के पदों में जहाँ वे अपने को गोपी मानकर अन्य गोपियों को जगाने का वर्णन करती हैं वहाँ श्रीकृष्ण की प्रमुख प्रेमिका (नप्पिन्नै) का भी उल्लेख करती हैं :—

"आयो यो नप्पिन्नै" देवी !
लक्ष्मी रूपे कुम्भकुचे।
विकसमायपुष्पकुलोमे।
सुम्भक शिरो कुटिल कचे।

---

1. तिरुनेडुन्ताण्डकम १९
2. तिरुवायमोळी ८-८-४
3. पेरिय तिरुमोळी १-८-८
4. "इसके अतिरिक्त 'कुरवैकूत्तु' नामक तमिळ नृत्य-विशेष का भी इसी लीला प्रसंग में उल्लेख है। श्रीकृष्ण इस नृत्य में स्वयं भाग लेते थे। यह नाट्य श्रीकृष्ण की रासलीला का समकक्ष प्रतीत होता है। अतः पाँचवीं-छठी शताब्दी में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दक्षिण के आळवार वैष्णवों में रासलीला और राधाकृष्ण युगल केलि विनोद का कोई न कोई रूप विद्यमान था जो परवर्तीकाल में और स्पष्ट होता गया।'
—राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य डा० विजयेन्द्र स्नातक
पृ० १८१। १८२

दर्पण-दर्शन अमर-जीवन
तुम प्रियतम को दे करके ॥

॥"[1]

यही 'नप्पिन्नै' परवर्ती संस्कृत साहित्य में तथा उसके माध्यम से मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य में 'राधा' नाम धारण करती है।[2] श्री दीक्षितार ने लिखा है — 'We venture to conjecture that Nappinnai is the Tamil name of Radha.'[3]

४ भ्रमर-गीत (आळ्वारों का भ्रमर-सन्देश)

प्रबन्धम् में कृष्ण वियोग में तड़पने वाली नायिका द्वारा कृष्ण के पास सन्देश भेजने के अनेक प्रसंग हैं। जब नायिका नायक के आगमन की प्रतीक्षा कर थक जाती है तब वह कोकिल भ्रमर आदि चेतन प्राणियों से तथा मेघ आदि निर्जीव वस्तुओं से अपनी स्थिति का परिचय देकर निर्दयी स्वामी के पास सन्देश ले जाने की प्रार्थना करती है। इनमें भ्रमर द्वारा सन्देश भेजने के प्रसंगों का उपयोग "तिरुमङ्गै आळ्वार और नम्माळ्वार ने किया है।'[4] इन प्रसंगों में प्रेम-पीड़ित नायिका (गोपियाँ) निर्दयी नायक (श्रीकृष्ण) के पास सन्देश भेजती है। इस सन्देश में नायिका की दुर्दशा का हृदय-द्रावक वर्णन है नायक की निर्दयता कपटपूर्ण व्यवहार आदि का भी उपालंभ भरे शब्दों में वर्णन है। इसी प्रसंग का विस्तार कर परवर्ती कवियों ने 'भ्रमरगीत' काव्य रचा होगा।

---

१ तिरुप्पावै—२० (श्री कस्तूरी रंगाचार्य का अनुवाद)

२ इनमें कृष्ण के साथ रमनेवाली एक प्रमुख गोपी का भी वर्णन है। इस गोपी का नाम 'नप्पिन्नै' है। कल्पना की जा सकती है कि यह राधा ही है।"
—डा० शशि अग्रवाल हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव पृ० ११२।

3 V R R Dikshitar "Indian Culture" Vol. IV (37 38) pp. 267 70.

४ (१) पेरिय तिरुमोऴि ९-९ १ से १०
(२) वही, ८ ४ १ से १०
(३) तिरुविरुत्तम ५४

चतुर्थ अध्याय

'भक्ति : तुलनात्मक अध्ययन'

आलवार भक्त और १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवि

भक्ति—तुलनात्मक अध्ययन

भक्ति की व्याख्या और महिमा

'साधना' और 'उपासना' के अन्य मार्गों की अपेक्षा अधिक भक्ति-पथ की श्रेष्ठता और महत्ता का प्रतिपादन वैष्णव चिंतन-धारा का सबसे ऊँचा स्वर रहा है। 'भक्ति का मूल व्युत्पत्यर्थ है भगवान् का सेवा प्रकार"[1]। किन्तु भक्ति की परिभाषा इस अर्थ तक सीमित नहीं रही। भगवान्, भक्त और उनके सम्बन्धों की विभिन्न व्यवस्थाओं के आधार पर भक्ति के अर्थ में संकोच या विस्तार होता रहा।

भक्ति की सबसे अधिक प्रचलित और सरल परिभाषा भक्तराज शांडिल्य की है, जिसके अनुसार ईश्वर में परा अनुरक्ति ही भक्ति है। शांडिल्य ने आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग को भी भक्ति कहा है।[3] अविच्छिन्न रूप से शुद्ध आत्म स्वरूप में रत रहना ही आत्म रति है।[4] इस प्रकार जहाँ शांडिल्य की प्रथम परिभाषा ईश्वर के सगुण रूप के उपासकों की दृष्टि से है, वहाँ दूसरी में निर्गुण अव्यक्त की उपासना करने वालों के दृष्टिकोण का भी समावेश है।[5]

"नारद भक्ति-सूत्र" में बताया गया है कि ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।[6] नारद जी ने आगे लिखा है कि "भक्ति अमृत स्वरूपा है, जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध और तृप्त हो जाता है जिसे पाकर मनुष्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं

---

१ यह "भज्" सेवायाम् धातु से भाव में "क्तिन्" प्रत्यय लगाकर बना है।
२ "सा परानुरक्तिरीश्वरे"—शांडिल्य भक्ति-सूत्र २।
३ "आत्मरत्यविरोधेनेति शांडिल्य"—नारद भक्ति सूत्र संख्या १८।
४ प्रेम दर्शन—१८ वें सूत्र की व्याख्या पृ० २४।
५ प्रेम दर्शन—पृ० २४।
६ "सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा—नारद भक्ति-सूत्र २।

करता। न वह शोक करता है, न वह द्वेष करता है न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उस वस्तु से उत्साहित होता है। वह आत्मानन्द के साक्षात्कार से सांसारिक विषयों से निरपेक्ष होकर मस्त रहता है।[2] नारद जी के मत से कोरा प्रेम भक्ति नहीं है। माहात्म्य ज्ञान अपेक्षित है। कोरा प्रेम जार प्रेम सा है।[2]

श्रीमद्भागवत में भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है— 'मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान् कृष्ण में भक्ति हो भक्ति ऐसी हो जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्ति से आनन्द स्वरूप भगवान् की प्राप्ति करके भक्त कृतकृत्य हो है।[3] भागवतकार के अनुसार उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम रूप से भगवान् में लग जाय।[4]

श्री निम्बार्काचार्य का मत है कि रूपादि विषयक अर्थात् भगवान् के रूप गुण आदि के विषय में समस्त चित्त को व्याप्त करने वाली मनोवृत्ति ही उत्कृष्ट भक्ति है।[5]

श्री वल्लभाचार्य ने भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है—भगवान् में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे अधिक सरल कोई दूसरा उपाय नहीं है।[6]

नारद पांचरात्र के अनुसार प्रेम परिप्लुत मन का भगवान् के प्रति स्वार्थ रहित होकर सदा प्रवाहित होते रहना ही भक्ति है।[7] "भक्ति रसायन" में भक्ति की

---

१ अमृत स्वरूपा च (३) यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति (४) नारद-भक्ति-सूत्र।

२ यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति (५)
तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः (२२) तद्विहीनं जाराणामिव। (२३)
—नारद भक्ति-सूत्र।

३ स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति॥—भागवत १ २ ६।

४ भागवत स्कन्ध ३ अध्याय २५ श्लोक ३२ ३३।

५ "इन्द्रिय-वृत्ति सदसद्विषयप्रवणस्वाभाविक-भगवत्स्वरूप
गुणादि विषयक-व्यापकत्ववति मनोवृत्तिः"
—भागवत सम्प्रदाय पं० श्री बलदेव उपाध्याय पृ० १४८ से उद्धृत।

६ माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।
—तत्त्वार्थदीप निबन्ध ज्ञान सागर बम्बई श्लोक ४६ पृ० १२०।

७ मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता।
अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी॥ —नारद पांचरात्र

व्याख्या इस प्रकार की गयी है—"मन की उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जो आध्यात्मिक साधना से द्रवीभूत होकर भगवान् की ओर प्रवाहित होती है।"[1]

श्री रूप गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ—'हरि भक्ति रसामृत सिन्धु' में भक्ति की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने भक्ति का यह लक्षण दिया है—"श्रीकृष्ण का अनुकूल रूप में अनुशीलन जिसमें अन्य किसी प्रकार की अभिलाषा न हो और ज्ञान कर्म आदि का उस पर आवरण न हो वह भक्ति कहलाती है।"[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।"[3] वास्तव में भक्ति प्रेम का ही स्वरूप है। प्रेम में जिस प्रकार निष्ठा होती है, उसी प्रकार भक्ति में भी होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति की व्याख्या विद्वानों ने अपने अपने ढंग से की है। सारांशतः यह कहा जा सकता कि ईश्वर के प्रति भक्त का परम प्रेम (अथवा सम्बन्ध) ही भक्ति है जो अहैतुकी है और जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए सरल परन्तु राजमार्ग है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भक्ति की व्याख्या में आचार्यों ने विशेष रूप से सेवा प्रेम और अनुरक्ति को ध्यान में रखा है।

आळवार भक्तों ने और आलोच्य-कालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने भक्त-जीवन की रम्य झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। आळवारों का नित्य जीवन का क्षण-क्षण तन्मयासक्ति का सजीव उदाहरण था। 'प्रबन्धम्' इसका दिव्य प्रमाण है। अतएव आळवार भक्त भक्ति के वैज्ञानिक विवेचन के चक्कर में नहीं पड़े। आगे आने वाले भक्तों के लिए जो मार्ग उन्होंने उन्मुक्त किया उसी पर चलकर परवर्ती आचार्यों ने जीवन की कृतकृत्यता समझी। अतः 'प्रबन्धम्' को भक्ति का लक्ष्य ग्रन्थ ही मानना चाहिए। भक्ति के लक्षण विवेचन आदि का कार्य परवर्ती आचार्यों का था। फिर भी आळवारों के साहित्य तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के साहित्य में भक्ति के विभिन्न रूप के दर्शन होते ही हैं। भक्ति का शास्त्रीय विवेचन न करने पर भी आळवारों ने तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों ने भक्ति की महिमा का गायन अवश्य किया है। आळवारों ने योग तपस्या आदि को व्यर्थ सिद्ध कर

---

१ द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्ति र्भक्तिरित्यभिधीयते ॥ —भक्ति रसायन १।३

२ "अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥
—हरिभक्ति रसामृत सिन्धु पूर्व विभाग लहरी श्लोक ११।

३ चिन्तामणि (भाग १)—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० ४० संस्करण १९[illegible]।

भक्ति को ही चरम तथा निश्चित रूप से फल देने वाली कहा है।[1] सांसारिक दुःख से छूटकर परमानन्द प्राप्त करने के लिए योग तप इत्यादि सब व्यर्थ हैं, केवल भक्ति ही वैकुण्ठ-प्राप्ति करा सकती है।[2] भक्ति से जो सुख मिलता है, वह स्वर्ग के सुख से भी श्रेष्ठ है।[3] कलियुग के दुष्प्रभाव को दूर करने के लिए एक मात्र साधन भक्ति है।[4] भक्ति-पथ पर आरूढ़ व्यक्ति कभी नरक नहीं पहुँच सकता।[5] भक्ति के बिना जीवित व्यक्ति अपनी माँ के गर्भ को कलंकित करने वाला है।[6] आळ्वारों के अनुसार वह जीव जीव नहीं है जिसने हरि की भक्ति नहीं की। वह जीव अपराधी है पृथ्वी के लिए भार-स्वरूप है तथा वह जीवित ही नरक भोगी है। नम्माळ्वार ने कहा है कि भगवान् भक्तों के लिए सुलभ हैं, दूसरों के लिए दुर्लभ हैं।[7]

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों ने भी मुक्त कंठ से भक्ति की महिमा घोषित की है। सूरदास जी ने कहा है कि भक्ति के बिना भगवान् दुर्लभ हैं।[8] नन्ददास भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए भगवान् से प्रार्थना करते हैं— हे भगवान् तुम्हारी पीयूषमयी भक्ति के बिना कोई सिद्ध भी मुक्ति नहीं पा सकता। ज्ञानी योगी तथा कर्ममार्गी लोगों को परम पद पाना बहुत कठिन है। अष्टांग विधि के अनुसार कर्म करते हैं। किन्तु अन्त में तुम्हारी शरण आकर और तुम्हारी भक्ति पाकर ही

---

१ पेरिय तिरुमोळी १ २ ९।

२ नान्मुखन तिरुवन्दादि ७६।

३ तिरुवाय मोळी ५ २ १०।

४ तिरुमालै २।

५ इरण्डाम तिरुवन्दादि २१।

६ पेरियाळ्वार तिरुमोळी ४ ४ २।

७ "पत्तुडैयडियवरक्केळियवन पिरर्कळुक्करिय।
वित्तकन मलरमकळ विरुम्बुम नम अरुमपेरलडिकळ
मत्तुर कडै वेण्णै कळविनिल उरविडै यापुण्डु
एत्तिरम उरलिनोडु इणैन्दिरुन्दु एंगिय एळिवे।
—तिरुवायमोळी १ ३ १।

८ रे मन समुझि सोचि बिचारि।
भक्ति बिनु भगवंत दुर्लभ कहत निगम पुकारि।

+ + +

सूर श्री गोविन्द भजन बिनु चले दोऊ कर झारि।
—सूर सागर (प्रथम स्कन्ध) पद संख्या ३०६, ना० प्र० स० काशी।

मुक्ति-धाम प्राप्त करते हैं।"[1] श्री हित हरिवंश मनुष्य शरीर की सार्थकता भक्ति से ही मानते हैं — मानुष को तन पाई भजो रघुनाथ ना।"[2] श्री हरिराम व्यास ने भक्ति को ही भवसागर से पार जाने का एक मात्र उपाय कहा है तथा उन्होंने भक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी मार्गों को असत्य माना है— भव तारिबे को एक उपाय।"[3]— साँची भक्ति और सब झूठो।"[4]

सगुण निर्गुण ब्रह्म और भक्ति

भक्ति जिस उपास्य देव के प्रति होती है, उस आराध्य ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—निर्गुण या परब्रह्म और सगुण या अपरं ब्रह्म। सगुण सविशेष साकार और सोपाधि है निर्गुण गुण विशेषण आकार और उपाधि से परे है। निर्गुण ब्रह्म वह है जिसे किसी विशेषण, चिन्ह या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता। सगुण ब्रह्म वह है जिसको किसी गुण चिन्ह या विशेषण द्वारा पहचाना जा सकता है और जिसका स्वरूप हृदयंगम किया जा सकता है। वास्तव में ब्रह्म निराकार भी है और साकार भी। आळ्वार भक्तों ने यद्यपि ब्रह्म के दोनों रूप—सगुण और निर्गुण माने हैं तथापि उन्होंने सगुण ब्रह्म की महत्ता स्थापित की है। पोयगैआळ्वार का कथन है—"भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका रूप है जिस नाम को चाहते हैं, वही उसका नाम है। भक्त जिस ढंग से भी उपासना करें उसी ढंग से विष्णु भगवान् उनका उपास्य बन जाता है।"[5] आळ्वार अन्तर्यामी निर्गुण ब्रह्म का भी वर्णन करते हैं और

---

१ सब विधि कहत ज्ञान है कोई, भक्ति बिना सोउ सिद्ध न होई।
तुम्हरो भगति अमी रस सरवर, मोक्षादिक जाके बस निर्झर।
तिहि तजि के केवल जोग कौं, करत कलेस चित्त सोग कौं।
+ + +
हौ प्रभु बहुतक जोगी, तजि तजि जोग भये मत जोगी।
हठ अष्टांग जोग अनुसरे, ज्ञान [illegible] बहुते तप करे।
पति भग जाति कही तें फिर, तुम कहुँ कर्म समर्पन करे।
तिनकर शुद्ध भयो मन कर्म तब लीनो प्रभु तुम्हरे धर्म।
काया भवन करि पाई भक्ति, जाके संग फिरत तब मुक्ति।
ता करि आतम तत्व कौं पाई बैठे सहज परम गति पाई।
—दशम स्कन्ध अध्याय १८ नन्ददास-ग्रन्थ पृ० २६१।

२ श्रीहित स्फुट वाणी की पृ० १।

३ व्यास वाणी, पृ० ८६।

४ वही, पृ० ८७।

५ "तमरुगन्द एव्वुरुवम् अव्वुरुवम् ताने
तमरुगन्द एप्पेर् मरुप्पेरतमरुगन्द
एव्वण्णम् चिन्दित् इमैयादिरुप्परे
अव्वण्णमाळियानाम।"
—मुदल तिरुवन्दादि ४८।

साथ ही साथ रस रूप सगुण ब्रह्म का भी। किन्तु उन्होंने सगुण ईश्वर की उपासना का ही विशेष महत्व दिया है। आळ्वारों के अधिकांश गीत विभिन्न मन्दिरों में विभूषित भगवान् के अर्चावतार स्वरूपों की स्तुति में रचे गये हैं। उनके आराध्य सगुण ब्रह्म हैं जिनके विशिष्ट गुणों रूपों और शक्तियों का सांगोपांग वर्णन उन्होंने प्रस्तुत किया है। नम्माळ्वार ने सगुण साकार ब्रह्म को ही सर्वसुलभ सिद्ध किया है।[१] अधिकांश आळ्वारों ने सगुण ईश्वर की उपासना का भाव ही अपने पदों में प्रकट किया है। अनेक पदों में उन्होंने अपना यह निश्चित मत तथा अनुभूति प्रकट की है कि सगुण भक्ति व्यावहारिक रूप में सुगम और शीघ्र फल देने वाली है। पेरियाळ्वार को विभिन्न चेष्टाएँ करने वाले घनश्याम भगवान् के बाल-रूप ही अधिक प्रिय हैं। आण्डाळ लीलानायक कृष्ण के मनमोहन रूप पर मुग्ध हैं। स्पष्ट है कि आळ्वार सगुण ब्रह्म के उपासक हैं।

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने भी सगुण भक्ति पर जोर दिया है और कहीं-कहीं निर्गुण भक्ति पर व्यंग्य कसा है। सूरदास और नन्ददास के भँवर गीतों का गोपी-उद्धव-संवाद इसी सगुण-निर्गुण एवं भक्ति ज्ञान के विवाद को प्रकट करता है। इन कवियों ने सगुण ईश्वर की भक्ति को अधिक प्रभावमयी सिद्ध किया है। सूरसागर के आरम्भ में 'अविगत गति कछु कहत न आवै' वाले पद में सूरदास ने निर्गुणोपासना में होने वाली कठिनाई का उल्लेख किया है। वे कहते हैं—"निर्गुण ईश्वर की गति न तो कहने में आती है और न उस अव्यक्त पर मेरे मन की भावमयी वृत्ति ही ठहरती है। इसलिए सब प्रकार से अव्यक्त ब्रह्म तक पहुँचने में अपने को असमर्थ पाकर मैं सगुण ईश्वर की भक्ति करता हूँ और उनकी लीला के पद गाता हूँ।[२] परमानन्ददास ने भी एक पद में सगुण भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए, निर्गुण उपासना की योग-साधना का काशी में प्रचार करने को कहा है, और कहा है—"भस्म लगाकर उदासी वस्त्र धारण करने वाले संन्यासी लोग काशी में हैं। हम तो यहाँ ब्रज में सुन्दर श्याम के उपासक हैं।"[३] नन्ददास ने भी निर्गुण ईश्वर की

---

१ तिरुवायमोऴि १ ६ १ १०।

२ अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै॥"
—सूर सागर (प्रथम स्कन्ध) प० सं० २ ना० प्र० सभा काशी।

३ धनि धनि वृन्दावन के वासी।
नित प्रति चरन कमल अनुरागी स्यामा स्याम उपासी।
या रस की जो मरम न जानें जाय बसो ना काशी।
—परमानन्द सागर (सं० डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल) प० सं० ८१६।

दुर्लभता तथा उसको छोड़कर सगुण ईश्वर की भक्ति को अपनाने का भाव प्रकट किया है।[1]

मीरा के प्रभु तो गिरधर नागर हैं। मीरा ने भगवान् के सगुण रूप को ही स्वीकार किया है। वे कहती हैं —

तू नागर नन्दकुमार, तो सौं लाग्यो नेहरा।
मुरली तेरी मन हर्यो, बिसर्यो सब व्यौहारा।।[2]

और—

मेरो मन बसिगो गिरधर लाल सों।
मोर मुकुट पीताम्बर, गल बैजन्ती माल।
गउअन के संग डोलत, हो जसुमति को लाल।
कालिन्दी के तीर हो, कान्हा गउआं चराय।
× × ×
मीरा के प्रभु गिरधर हो, सुनिये चित्त लाय।
तुम्हरे दरस की भूखी हो मोहि कछु न सोहाय।।[3]

रसखान ने निर्गुण ईश्वर और भक्ति के विषय में कोई कथन नहीं किया। परन्तु उन्होंने जितना भी काव्य लिखा है उससे उनकी भक्ति सगुण ही कही जा सकती है। रसखान के निम्नलिखित सवैये से स्पष्ट है कि उनके इष्ट यही गोपी-वल्लभ कृष्ण हैं:—

'गावैं गुनी गनिका गन्धर्व और सारद सेस सबै गुन गावैं।
नाम अनन्त गनन्त गनेस सो, ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावैं।।

---

१ जब विधि कहत कि निर्गुन ग्यान, तिहिं समान दुर्लभ नहिं आन।
× × × ×
जाके रूप न रेख न चिन्ह, तिहिं लालच धावत है हिया।
सहजहिं शून्य समाधि लगाई, लेत हैं तामैं तुमको पाई।।
पै यह सगुन सरूप तुम्हारो, हर्यो मन लीयो बात हमारी।।
ये सगुन अवतार जु लेत, निजजनहिं प्रतिपालन के हेत।।
नाम रूप गुन कर्म अनन्त, गनत गनत कोऊ लहै न अंत।
× × × ×
तातें सब मर्यादहि अनुसर, तुम्हरी कृपा मनावौं करि।
रूप मोर्य नन्दनन्दन हरिहैं, मधु कटाक्ष चितै रस भरिहैं।।
—नन्ददास ग्रन्थावली (दशम स्कन्ध भाषा) सं० १४, पृ० २९६ ना० प्र० सभा, काशी।

२ मीरा की पदावली—सं० परशुराम चतुर्वेदी पद सं० १०५

३ वही, पद सं० १०५

जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरन्तर जाहि समाधि लगावत।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावत॥"[1]

भक्ति के प्रकार

भक्ति को आचार्यों ने प्रमुखतया दो भागों में विभाजित किया है : (१) गौणी भक्ति और (२) परा भक्ति। यह विभाजन भक्ति के साधन और साध्य पक्ष पर आधारित है। मन की एकाग्रता से भगवान् का श्रवण कीर्तन भजनादि भक्ति का 'साधन' पक्ष है। साधन भक्ति में बाह्य साधनों द्वारा साधक-भक्त इष्ट की ओर उन्मुख होता है। भगवान् में परानुरक्ति या सिद्ध दशा की भक्ति उसका साध्य पक्ष है। गौणी भक्ति अर्थात् साधन भक्ति के भी दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा।[2] वैधी भक्ति शास्त्रोक्त विधि विधानों द्वारा की जाती है। वैधी भक्ति को कुछ लोग मर्यादा भक्ति भी कहते हैं। इसके अनेक अंग हैं जैसे—साधु-सत्संग कृष्ण हेतु भोगादि त्याग कीर्तन आदि। जिस भाव से भगवान् के प्रेम में अपूर्व रस का आनन्द होता है और जिस प्रेम-भाव से भक्त के हृदय में परम शान्ति और आनन्द उत्पन्न होता है, उसे 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। श्री रूप स्वामी ने रागानुगा भक्ति के भी दो भेद किये हैं—काम रूपा और सम्बन्ध रूपा।[3] वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति—दोनों साधन-पक्ष की हैं।

साधन रूपा भक्ति के पाँच अंग माने गये हैं—

१—उपासक,
२—उपास्य
३—पूजा द्रव्य
४—पूजन विधि और
५—मंत्र-जप।

तन्त्र-ग्रन्थों में मंत्र जप को विशेष महत्व दिया गया है और इसके पाँच तत्व माने गये हैं :—

१—गुरु-तत्व
२—मन्त्र-तत्व
३—मनस्तत्व
४—देवतत्व, तथा
५—ध्यान तत्व।

इन तन्त्र ग्रन्थों में भक्ति का अंग योग का अंग माना है।

---

१ रसखान का अमर काव्य—दुर्गाशंकर मिश्र पृ० ५२
२ "वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।"
—श्रीभक्ति रसामृत-सिन्धु (पूर्व विभाग २) श्लोक ५
३ "सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा।"
—वही श्लोक ६१

जब सब कामनाओं से रहित होकर भक्त की भगवान् में परानुरक्ति हो जाती है तब वह पराभक्ति कहलाती है। इसमें भक्त पूर्ण शान्ति की अवस्था को पहुँचता है और उसे किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रहती। पराभक्ति साध्य स्वरूपा है। इसमें साध्य (लक्ष्य) की प्राप्ति के अतिरिक्त किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं रहती।[1] पराभक्ति ६ प्रकार की मानी गई है :—

१ सिद्धा—हर दशा में भगवान् का स्मरण करते रहना।

२ प्रेमासक्ता—भगवान् के प्रेम में मग्न, उनके संयोग में प्रसन्न और वियोग में विकल होना।

३ निष्कामा—भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी सुख या मोक्ष की चाह न करना।

४ पूर्णा—सारे संसार को ईश्वरमय देखना।

५ अनन्या—अन्य आश्रय त्यागकर एक भगवान् का आश्रय ही लेना।

६ निर्गुणा—अखिल विश्व में एक मात्र भगवान् को सब कुछ समझकर किसी भी भावना से भगवान् में रमना।[2]

परा भक्ति के ये जो ६ भेद हैं, वास्तव में ये भक्ति-भाव के ६ पहलू हैं जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं।

श्रीमद्भागवत में साधक के स्वभावानुसार भक्ति ४ प्रकार की बताई गई है—सात्विकी, राजसी, तामसी तथा निर्गुणा।[3] तामसी भक्ति निम्न कोटि की है। वह क्रोध से हिंसा, दम्भ और मत्सरता को लेकर भेद-दृष्टि से की जाती है।[4] राजसी भक्ति लौकिक विषय, यश और ऐश्वर्य की कामना से भेद-दृष्टिपूर्वक केवल प्रतिमादि के पूजन के रूप में की जाती है।[5] जो भक्त पापों के नाश के लिए अपने पाप-पुण्य सब भगवदर्पित कर देता है और अनन्य भाव से ईश्वर में आसक्ति रखता है वह सात्विक भक्त है।[6] चौथी भक्ति—'निर्गुण भक्ति' को 'सुधा-सार' भक्ति कहा गया है। इसमें किसी वस्तु की कामना नहीं रहती। यह निष्काम भक्ति है। यही अनन्य भक्ति है।

श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में साधना-पक्ष को ध्यान में रखकर भक्ति के ९ भेद माने गये हैं जो 'नवधा भक्ति' अथवा 'मर्यादा भक्ति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन 'नवधा भक्ति' के प्रकार हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन

---

१ प्रेम भक्ति बोध—श्री देवदास जी महाराज पृ० ३०।

२ वही पृ० ४४-४५।

३ श्रीमद्भागवत, (तृतीय स्कन्ध) अध्याय २९, श्लोक ७-१४।

४ श्रीमद्भागवत, ३ २९-८।

५ वही ३ २९-९।

६ वही ३-२९-१०।

दास्य, सख्य और आत्म निवेदन।[1] प्रथम तीन—श्रवण कीर्तन और स्मरण—श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति के सहायक हैं। पादसेवन अर्चन वन्दन रूप सम्बन्धी साधन हैं तथा दास्य सख्य और आत्म-निवेदन भाव सम्बन्धी साधन हैं। भक्तों ने पीछे कहे तीन भावों के अतिरिक्त वात्सल्यादि अन्य भाव भी भगवान् के साथ लगाये हैं। दास्य सख्य और आत्म निवेदन 'रागात्मिका भक्ति' से सम्बन्ध रखते हैं और श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन और वन्दन वैधी भक्ति के अंग हैं। अन्तिम आत्म-निवेदन इस नवधा भक्ति की चरम परिणति है। आत्म-निवेदन में साधन और साध्य एक हो जाते हैं। वैधी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति होता है और रागात्मिका भक्ति आत्म-निवेदन में पूर्णता को प्राप्त करती है। यही आत्म-निवेदन आत्म-समर्पण में परिवर्तित होता है जिसमें शरणागति का भाव सर्वोपरि रहता है।

ऊपर हमने भक्ति के भेद-प्रभेदों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की है। इस प्रकार भक्ति का लक्षणादि शास्त्रीय विवेचन आचार्यों का कार्य था। ऊपर कहा जा चुका है कि आळ्वार भक्तों ने इस प्रकार भक्ति का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं किया है। कहीं भी उन्होंने भक्ति के भेद-प्रभेदों को गिनाने की आवश्यकता नहीं समझी है। यह भी कहा जा चुका है कि 'प्रबन्धम्' भक्ति का लक्ष्य-ग्रन्थ है, लक्षण-ग्रन्थ नहीं। परवर्ती आचार्यों द्वारा किये गये भक्ति के विविध भेदों उपभेदों के उदाहरण प्रबन्धम् में मिल जाते हैं। मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त-कविता में से कुछ ने भक्ति के प्रकारों की चर्चा की है। सूरदास ने भक्ति के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—

१—सात्विकी	३—तामसी और
२—राजसी	४—शुद्धा सार।[2]

सूरदास ने भागवत प्रतिपादित नवधा भक्ति के अतिरिक्त एक प्रेम-लक्षणा भक्ति का भी उल्लेख वल्लभ-मत के अनुसार किया है। उन्होंने इसकी प्रेम लक्षणा भक्ति का उल्लेख इस प्रकार है —

---

१ श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्ये धीतमुत्तमम्॥

—श्रीमद्भागवत (सप्तम स्कंध) अध्याय ५ श्लोक २३ २४

२ 'भक्ति चारि प्रकार, सत रज तम गुण शुद्धासार।
भक्ति सात्विकी चाहति मुक्ति, रजोगुणी धन कुटुम्ब अनुरक्ति।
तमोगुणी चाहे या भाई मम बैरी क्यों ही मर जाई।
शुद्धा भक्ति मोक्ष को चाहे मुक्तिहू को नहि अवगाहे॥

—सूरसागर (तृतीय स्कन्ध) ना प्र सभा वाली।

'श्रवण कीर्तन स्मरण पादरत अरचन बन्दन दास ।
सख्य और आत्म-निवेदन, प्रेम लक्षणा जास ॥'

परमानन्ददास ने भी इन भक्तियों का उल्लेख किया है —

"तातें नवधा भक्ति भली ।
जिन जिन कीनी तिनके मन ते नेकु न टरत टली ।
श्रवण परीक्षित तरे राजरिषि कीर्तन करि शुकदेव ।
सुमिरन करि प्रह्लाद निर्भय भयो कमला करी पदसेव ।
पृथु अरचन, सुफलक सुत बंदन दासभाव हनुमन्त ।
सखा भाव अर्जुन बस कीन्हें श्री हरि श्री भगवन्त ।
बलि आत्म समर्पण करि हरि राखे अपने पास ।
अविरल प्रेम भयो गोपिन को बलि परमानन्ददास ॥"[2]

श्री सेवक जी ने स्पष्ट कहा है कि श्रवण कीर्तन आदि नवधा भक्ति के उपरान्त दसवीं प्रेम-लक्षणा भक्ति उपलब्ध होती है और श्री हितहरिवंश ने भी यही किया था —

"श्रवणादिक जितलक्ष योग जप तप तजे ।
छोरी कर्म सकाम सकल तजि सब भजे ।
साधन विधि प्रयास ते सकल छुड़ावहीं ।
श्रवण कथन सुमिरन सेवन चितलावहीं ।
अर्चन बन्दन अरु दासत्तम सख्य और आत्मसमर्पन ।
ये नव लक्षणा भक्ति बढ़ाई तब निज प्रेम लक्षणा भक्ति ॥
'

—श्री हित सुधा सागर (श्री सेवक वाणी जी) पृ० २६१ ।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि यद्यपि आळवार भक्तों ने भक्ति के भेद नहीं गिनाये हैं तथापि उनकी रचनाओं में भक्ति के विविध रूपों के वर्णन मिलते हैं। जिस 'नवधा भक्ति' की संज्ञा मिली है, उस भक्ति के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में 'प्रबन्धम्' में मिल जाते हैं। आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में भी नवधा-भक्ति के अनेक उदाहरण हैं। यथा—

नवधा भक्ति

श्रवण

भगवान् के नाम रूप महत्ता गुण तथा उनकी लीलाओं का श्रद्धापूर्वक सुनना या सुनाना श्रवण भक्ति है।[3] श्रवण भक्ति की चरम अवस्था वह है जब बिना

---

१ सूर सारावली तथा सूरसागर, वे० प्रे०, पृ० ५ तथा पृ० ९६ ।
२ परमानन्ददास पद-संग्रह, पद नं० ३१४ ।
३ श्रवणं नाम चरित गुणादीनां श्रुतिर्भवेत् ।
— श्रीहरि भक्ति रसामृत सिन्धु, (पूर्व विभाग) लहरी २, श्लोक १२ ।

भगवान् के गुण और चरित्र को सुने भक्त बेचैन रह जाता है। आळ्वारों की सम्पूर्ण वाणी भगवान् के नाम और लीला सुनने और सुनाने से सम्बन्ध रखती है। लीलाओं का वर्णन कर उनकी समाप्ति में उन्होंने बहुधा उनके सुनने और सुनाने का माहात्म्य बताया है। देखिए—

(१) विष्णु चित्त (पेरियाळ्वार) के इन लीला-गीतों का श्रवण करने वाले वैकुण्ठ-वास प्राप्त करेंगे।[1]

(२) कुलशेखर के इन तमिळ-गीतों का श्रवण करने वालों के कष्ट दूर होंगे।[2]

(३) परकालन् (तिरुमंगै आळ्वार) के इन गीतों का गायन करने वाले भक्तों के पाप मिट जायेंगे।[3]

(४) गोविन्द की लीलाओं का वर्णन करने वाले इन गीतों का गायन कर प्रसन्न होने वाले भक्त को भगवान् की शरण प्राप्त होगी।[4]

अन्य भी आळ्वारों ने श्रवण-भक्ति की महिमा गाई है। नम्माळ्वार का कहना है कि मेरे कान सर्वदा भगवान् की लीला के गान एवं कथा का ही सेवन करेंगे।[5] पोय्गै आळ्वार ने कहा है कि भगवान् के पावन नामों का श्रवण करने वाले नरक नहीं पहुँचेंगे।[6] तोण्डरडिप्पोडि आळ्वार कहते हैं—"अत्यन्त सुन्दर शरीर विद्रुम जैसे मुँह, कमल-दल-लोचन वाले घनश्याम भगवान् के—अच्युत 'देवों के अधिपति' गोकुल नायक आदि नामों के सुनने से जो आनन्द प्राप्त होता है उसकी तुलना में इन्द्रलोक पर शासन करने से प्राप्त होने वाले सुख को भी मैं नहीं चाहता।"[7]

१ अल्लाडिमिनंदेमलंद कारमुकिल विण्णाळुनी विट्टुचित्तन् विरित्त।
सोल्लणिन्द तन्जुडिय पाडल् इवै वल्ल म वल्लार् वीय वैकुन्तम् अमिन्दिस्मरे।
—पेरियाळ्वार तिरुमाळी २ १ १०।

२ कोमार् कोन् कुलशेखरन् सोन्न सोल्
इनु वल्लवकु इल्लैयिडुम्बये। —पेरुमाळ तिरुमोळि ८ ११।

३ कर्मोदार मनुवम वल्लान् कलियनालीमाले
सिन्नेयार पाडल् पाड वाळम् तिरुमाले। —पेरिय तिरुमाळी ६-८ १०।

४ पेरियाळ्वार तिरुमोळी २ ६ ११।

५ "वैदिकन्नाकार् तिरु कोविन्दन मेय्म्मुन कविन्नो"—तिरुवायमोळि ३ ८-६।

६ मुदल तिरुवन्दादि ८७।

७ पच्चैमामलैपोल मेनि पवळवाय् कमलच्चेङ्गण्।
अच्युता अमरर् एरे। आयर्तम् कोळुन्दे। एन्नुम्
इच्चुवै तविर यान् पोय् इन्द्रलोकम् आळुम्।
अच्चुवै पेरिनुम् वेण्डेन् अरंगमानगरुळाने। —तिरुमाले २।

सूरदास, नन्ददास तथा अन्य आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने भी कृष्ण की अनेक लीलाओं का चिन्तन किया है और उन लीलाओं की समाप्ति में बहुधा उनके सुनने और सुनाने का माहात्म्य कहा है। श्रवण भक्ति का प्रभाव सूर के शब्दों में सुनिए —

(१) "जो यह लीला सुनै सुनावै सो हरि भक्ति पाइ सुख पावै।"[1]
(२) "जो यह स्तुति सुनै सुनावै, सूर सो काम-भक्ति को पावै।"[2]
(३) "सूर कह्यो श्री मुख उच्चार, कहै सुनै सो तरै भवपार।"[3]

'रासपंचाध्यायी' की समाप्ति में श्रवण भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए नन्ददास लिखते हैं —

"जो यह लीला गावै चित दै सुनै सुनावै।
प्रेम भक्ति सो पावै अब सबके जिय भावै॥
श्रवन कीर्तन सार-सार सुमिरन को है पुनि।
ज्ञान सार हरि ध्यान सार श्रुतिसार गुथी गुनि॥"[4]

परमानन्ददास कहते हैं —

"श्रवणन कथा श्यामसुन्दर की राम कृष्ण रसना नहि कूरनि।
मानुस जनम कहाँ पावोगे व्याल धरे स्याम चतुर अति॥
जो यह लोक परम सुख राखत अरु परलोक करत प्रतिपाल।
'परमानंददास' को ठाकुर अति गंभीर दीनानाथ दयाल॥"[5]

मीराबाई के काव्य में भी श्रवण भक्ति की महिमा अनेक स्थलों पर बतायी गयी है—

"राम नाम रस पीजै मनुआ राम नाम रस पीजै।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित हरि चर्चा सुन लीजै॥"[6]

भक्त अपने प्रिय भगवान् का नाम न केवल भक्तों से ही सुनने की इच्छा रखता है, बल्कि पक्षियों की बोलियों में भी उसी का गुण गान सुनता है। आण्डाळ कहती है— 'पिंजरे में पड़े शुक भी सदा 'गोविन्द' 'गोविन्द' कह कर चिल्लाता है। अगर मैं उसका कुछ नाम को कहा हूँ तो वह बेचारा और भी जोर से 'गोविन्द, गोविन्द'

---

१ सूर सागर (प्रथम स्कन्ध) ना० प्र० सभा काशी।
२ वही, (दशम स्कंध), ना० प्र० सभा काशी।
३ वही (दशम स्कंध) ना० प्र० सभा काशी।
४ नन्ददास ग्रन्थावली रास पंचाध्यायी, पृ० ५४ ना० प्र० सभा काशी।
५ परमानन्दसागर —सं० डा० गो० ना० शुक्ल पद सं० २८१।
६ मीरा की पदावली [illegible]

कहकर भगवान् को पुकारता है।[1] इस प्रकार सूर की एक गोपी भी पपीहे के साथ प्रेम दिखाती हुई कहती है—

> बहुत दिन जीवो पपीहा प्यारो।
> बासर रैन नाम लै बोलत भयो विरहज्वर कारो।
> × × ×
> आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक नाम तिहारो।
> देखौ सकल विचारि सखी जिय बिछुरन को दुख न्यारो।
> जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम बाण अनियारो
> सूरदास प्रभु स्वाति बूंद लगि तज्यो सिंधु करि खारो।"[2]

कीर्तन

भगवान् के नाम गुण माहात्म्य लीला आदि का वर्णन गान तथा उच्च स्वर से पाठ कीर्तन कहलाता है।[3] कीर्तन की महिमा सभी भक्तों ने मुक्त कंठ से स्वीकार की है। आळ्वारों के समस्त पद स्तुतिपरक कीर्तन ही हैं। वैष्णव मन्दिरों में गाने के निमित्त ही वे रचे गये। इन कीर्तनों को गा गाकर भक्त आत्म-विभोर हो जाते थे।

गुण-गान भगवान् का ही हो सकता है। उसी में आनन्द है लौकिक पुरुषों के गुण-गान में नहीं। नम्माळ्वार ने लौकिक पुरुषों का गुण-गान करने वाले कवियों को चेतावनी दी है— हे कवि! तुम नश्वर मनुष्यों का गुण गान भूलकर भी मत करो। उस अनन्त आनन्दवाला भगवान् का गुण-गान करो।[4] पेरियाळ्वार कहते हैं—'भगवान्-स्तवन नहीं करने वाले मनुष्य जो अन्न पीते हैं, जो वस्त्र पहनते हैं उन वस्तुओं का दुर्भाग्य है।[5] भगवान् का गुण-गान (कीर्तन) करने वाले भक्तों के चरणों के स्पर्श से ही यह पृथ्वी धन्य है।[6] पेरियाळ्वार आगे कहते हैं कि मेरी

---

१ 'पूट्टिरुलिरवुम् निन्ऱि एण्णोडुम
पोम्दा। मोविम्दा। एन्ड्रोळिप्पुम
मट्टवळोडुम् पेरुम्मानिन'
उलवक्कुलनेरवामल उयरप्पुडुम" —आण्डाळ तिरुमोऴि १२ ६
२ सूर सागर, (दशम स्कन्ध) ना प्र० सभा काशी।
३ 'नाम लीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनम्।'
—श्री हरिभक्ति रसामृत सिन्धु पूर्व विभाग २ लहरी श्लोक २१
४ 'वाळ्वान पुगळ्वु पुग वाइमैइल्लपुम पुगळीरनाळ।
कोलना दुरैविमन वडिवु स्वाम तरम कोविल पुन
वस्तुम मणिवण्णन तानैत्तवि कोलवमिन्नो।
—तिरुवायमाऴि ३ ९ ५
५. पेरियाळ्वार तिरुमोऴि ४ ४ १
६ 'नापर्न नरनिगर्नं नविमु तु वारवळ सविरय
पार मुळि पडुम्पाम इनुगवम वाविरयल पेडाते।"
—पेरियाळ्वार तिरुमोऴि ४ ४ ६

जिह्वा भगवान् की स्तुति के अतिरिक्त कुछ नहीं करेगी ।[1] भूतत्ताळ्वार के अनुसार भगवान् के गुणों की सीमाओं की स्तुति करना ही तप करने के समान है ।[2] चेर राजा कुलशेखर भगवान् के नाम-संकीर्तन में सतत लगे भक्तों की सेवा करने में ही श्रेष्ठ सुख मानते हैं ।[3]

आळवारों के स्तुति-गीतों की एक बड़ी विशेषता उनमें संगीत का समावेश है । संगीत का प्रभाव विश्वव्यापी है । आळवारों के स्तुति परक भक्ति गीतों को गाते-गाते भक्त बहुधा भावातिरेक से नाच उठते थे । विभिन्न राग रागनियों में गाने योग्य आळवारों के कीर्तनों ने जनता पर अमिट प्रभाव डाला है ।

सूर आदि अष्टछाप भक्तों का सम्पूर्ण काव्य भी भक्ति के कीर्तन साधन और उसका बड़ा अंश प्रेम भक्ति के पद रूप में ही लिखा गया है । अष्टछाप-भक्त पद रचयिता ही नहीं थे, बल्कि उच्च कोटि के गायक भी थे । अतः उनकी कीर्तन भक्ति का नमूना उनका सम्पूर्ण काव्य ही है । कीर्तन की महिमा और उसके प्रभाव का वर्णन सूरदास इस प्रकार करते हैं —"गोपाल के गुण गान से जो आनन्द मिलता है उसके आगे जप तप तथा तीर्थाटन क्या चीज है ? हरि-कीर्तन से पुरुषार्थ मिलता और तीन लोक का सुख तुच्छ प्रतीत होगा ।"[4] परमानन्ददास के मत में भगवान् कृष्ण की कथा का श्रवण गुणों का कीर्तन आदि भक्ति के साधन मङ्गलदायक हैं ।[5]

---

१ 'नावकु वल्लैयल्लाल मरियादु
मानरमुकैन एन वचनम्दु
"—पेरियाळ्वार तिरुमोळि ५ १ १

२ "एती पंजिन्तवन पेरै इरिमुच एप्पोमुकुम
पाति युरैप्पत तवम् ।"—इरण्डाम तिरुवन्दादि ७७

३ मालमुम्बेळा मालमैतुम् मर्दनु मेहत्तुम्म तोळ्नु
एली इन्नुरम सौंदर पैयदी ऐली मास्तमेन नोंचमे ।
—पेरुमाळ तिरुमोळि २ ४

४ जो सुख होत गुपालहि गाये ।
सो नहिं होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये ।
दिये लेत नहिं चारि पदारथ चरण कमल चित लाये ।
तीन लोक तृण सम करि लेखत नन्दनन्दन उर आये ।
बंसी वट वृन्दावन यमुना तजि बैकुण्ठ को जावे ।
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव जल आवे ।
—सूरसागर सं० सूर समिति पद सं० ३४१ ।

५ मंगल माधौ नाम उचार ।
मंगल वदन कमल कर मंगल मंगल जन की सदा संभार ।।

मीराबाई ने कहा है— भगवान् के नाम लेने और गुणगान करने से पाप नष्ट जायेंगे और जन्म सफल होगा।"[1]

स्मरण

भगवान् के नाम उनके गुण माहात्म्य उनकी सर्वव्यापकता लीला आदि का सदा ध्यान रखना तथा उन्हीं के स्मरण में लीन रहना 'स्मरण भक्ति है।[2] इस भक्ति के साधन में भगवान् के नाम का जप विशेष महत्व रखता है। साधक की चित्तवृत्ति इस ध्यान में इतनी रम जानी चाहिए कि चलते-फिरते खाते-पीते इष्टदेव ही का स्मरण बराबर आना चाहिए। स्मरण भक्ति का उदाहरण नम्माळ्वार से सुनिए। वे कहते हैं—जो जल मैं पीता हूँ जो भात खाता हूँ जो पान खाता हूँ सभी वस्तुएँ कृष्णमयी होती हैं सभी में भगवान् का स्मरण आता है।[3] स्मरण भक्ति की महिमा प्रायः सभी भक्तों ने कही है। पेरियाळ्वार कहते हैं कि जो भगवान् का नाम स्मरण नहीं करते वे बड़े पापी हैं। जिस व्यक्ति का मन भगवान् का स्मरण नहीं करता वह व्यक्ति इस पृथ्वी के लिए भार-स्वरूप है।[4] पोयगै आळ्वार का कथन है कि प्रातःकाल से लेकर श्रेष्ठ भक्त जिसका स्मरण करते हैं जिसका जप करते हैं, वह भगवान् का ही नाम है।[5] पेयाळ्वार कहते हैं कि भगवान् का स्मरण मन में

देखत मंगल पूजत मंगल गावत मंगल चरित उदार।
मंगल चरण कमल मुनि मंगल कीरति अमल निधान।
प्रमुदित मंगल ध्यान धरत मुनि मंगल मति परमानंददास॥
—परमानन्द सागर में डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल पद सं० ९८७।

1. मेरा मन रामहि राम रटै रे।
राम नाम जप लीजै प्राणी कोटिक पाप कटै रे।
—मीरा की पदावली में परशुराम चतुर्वेदी पद सं० २००।

2. "ध्यानं रूपगुणक्रीडासेवादेः सुष्ठु चिन्तनम्।"
—हरिभक्ति रसामृत सिन्धु पूर्व विभाग लहरी २ श्लोक ११।

3. उण्णुम सोरु परुहुम नीर तिन्नुम वेट्रिलैयुमेल्लाम
कण्णन एम्पेरुमानेन्रु कण्गळ नीर मल्हि
मण्णिनुळ अवन सीर वळम मिक्कवनूर विनवि
तिण्णम एन इळमान पुहुमूर तिरुक्कोळूरे। —तिरुवायमोळी ६-७-१।

4. नेमि पेर तडक्कैयाननै निनैप्पिलावलि नेंजुडै
पूमि-पारंगळुण्णुम सोट्रिनै वाङ्गि पुल्लै तिणिमिने।
—पेरियाळ्वार तिरुमोळी ४-४-२।

5. वानै उणुमु उमब्रमरर्गळुम मण्णोरु
मेनेत्तावरवोर वेदपदुम-वीरेकम।

एक बार करने मात्र से भगवान् मन में वास कर उठते हैं।[1] कृपा-सिन्धु भगवान् का नाम-स्मरण नहीं करने वाले व्यक्तियों को मनुष्यों की कोटि में मानने को तैयार नहीं हैं।[2] उनके अनुसार वे मनुष्य निम्नकोटि के प्राणी हैं। तोंडरडिप्पोडि आळ्वार की मान्यता है कि भगवान् के नाम का स्मरण करने वाला नरक नहीं पहुँच सकता।[3]

वात्सल्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने भी स्मरण भक्ति का पर्याप्त महत्व माना है। हरि-स्मरण भक्ति के विषय में सूरदास जी का कहना है— 'सब को हरि भगवान् का स्मरण करना चाहिए। हरि-स्मरण से सब सुख प्राप्त होते हैं। श्रुति और स्मृति सब का मत है कि भगवान् के चरणों में चित्त लगाओ। हरि-स्मरण के बिना मुक्ति नहीं है। दिन रात उसी का स्मरण करो। मेरे विचार में सौ बातों की बात यह है कि हरि का स्मरण करो।"[4]

परमानन्ददास ने अपनी स्मरण भक्ति का परिचय देते हुए कहा है कि मैं सदैव यशोदा नन्दन का ही चिंतन करता हूँ।[5] परमानन्ददास जी का एक और प्रसिद्ध पद है जिसमें कवि ने कहा है— 'हे हरि मुझे तुम्हारी लीला की याद आती है।

मोरांडिप्पार्गडिमे मोतुवतुम मोर्पमतुम
पेराळी कोण्डान पेयर।" —मुदल तिरुवन्तादि ६६

1 "नैवास निमम्बरिवनेमुम निर्वपेदु एन।
नैजमे! पेवाय निर्विधुकास नेजत्
पेराद् मिर्दुन पेरुमान एन कोलो?
मोराद् निर्पंद् उर्मंद्।" —मून्ड्राम तिरुवन्तादि ८१

2 "विरमात्तु एतुतुनयाम वॅरम्मास नामम
मरन्तारै मानिडमार्वेमन।।" —इरंडाम तिरुवन्तादि ८४

3 तिरुमालै, १२

4 'हरि हरि हरि सुमिरो सब कोई हरि सुमिरत सब सुख होई।
हरि समान द्वितीय नहिं कोई, हरि चरननि रातो चित मोई।।
श्रुति स्मृति सब देखो कोई, हरि सुमिरत होई सो होई।
हरि हरि हरि सुमिरो सब कोई, बिन हरि सुमिरन मुक्ति न होई।।
—सूर सागर (द्वितीय स्कन्ध) पद सं ४९२१ ना० प्र० सभा काशी

5. जहिं जहिं चरन कमल माधो तहीं तहीं मन मोर।
× × ×
चितन करौं जसोदा नन्दन मुदित सांझ अरु भोर।
× × ×
परमानन्ददास की जीवनि गोपिनि नट नन्दकिशोर।।
—परमानन्द सागर (सं० डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल) प० सं० ८४९

तुम्हारी मोहिनी मूर्ति मेरे मन के भीतर-ही भीतर अनेक चित्र उपस्थित कर रही है। तुम्हीं बताओ जिसको तुम एक बार अपना संयोग दे देते हो वह तुम्हारी बंक अवलोकन और मृदु मुस्कान को कैसे भूल सकता है? तुम्हारी याद कभी प्रगाढ़ आलिंगन का सुख देती है तो कभी तुम्हारे मधुर स्वर में मिलकर गाने लगती है। जब तुम छिप जाते हो तो याद में मरी चेतना 'कहाँ हो, कहाँ हो' कहकर इधर-उधर दौड़ने लगती है। कभी मेरी अन्तरात्मा नैन मूँदकर तुम्हें सर्वस्व अर्पण करती हुई वनमाला पहनाती है। इसी प्रकार मैं श्याम के ध्यान में विरह की घड़ियों को बिता रही हूँ।[1]

पाद-सेवन

जो लोक-सेवा एक स्वाभाविक सेवक अपने स्वामी की करता है और श्रद्धा पूर्वक स्वामी के चरणों में अपने मन को लगाता है, भगवान् के प्रति भक्त की ठीक उसी प्रकार की सेवा पाद-सेवा है। लोक में सेवक का जो व्यवहार अपने स्वामी के प्रति होता है, वैसा कार्य भगवान् के लिए भक्त को करना चाहिए। इस सेवा के लिए भगवान् का बाह्य अथवा मानस प्रत्यक्ष स्वरूप होना आवश्यक है। पाद-सेवन की आरम्भिक अवस्था—मूर्तिपूजा, गुरुपूजा तथा वैष्णव पूजा में होती है। इन सेवा के अभ्यासों के बाद जब भक्त को दास्य प्रेम में एकाग्रता आ जाती है तब वह मानसिक जगत् में भगवान् के अलौकिक चरणों की सेवा करता है। इस प्रकार बाह्य तथा मानसिक— दोनों प्रकार के पाद-सेवन से लोकापत्य का भाव छूट जाता है और भक्त में भगवान् के प्रति दीनता और अकिंचनता का भाव जागृत होता जाता है।[2] लोक के प्रति वह उदासीन होकर नितान्त निरपेक्ष हो जाता है।

आळ्वार भक्तों ने विभिन्न वैष्णव मन्दिरों में विराजमान भगवान् के अर्चा-विग्रहों की पाद-सेवा की थी। गुरु-स्तुति में लिखे गये मधुर कवि आळ्वार के 'कण्णिनुण्

---

१ हरि तेरी लीला की सुधि आवति।
कमल नैन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावति।
एक बार जाय मिलत मयाकरि सो कैसे बिसरावति।
मृदु मुसकानि बंक अवलोकनि चाली मनोहर भावति।
कबहुक निबड़ तिमिर आलिंगन कबहुक, पिक स्वर गावति।
कबहुक सम्भ्रम क्वासि' 'क्वासि' करि संगहीन उठि धावति।
कबहुक नयन मूँदि अन्तरगति वनमाला पहिरावति।
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गंवावति।।

—परमानन्द सागर (डा० गो० ना० गुप्त) पद सं० २६४

कहा जाता है कि इस 'क्वासि' क्वासि' वाले पद को सुनकर आचार्य वल्लभ अपना देहानुसन्धान भूल बैठे थे। —लेखक

२ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५७८

तिरुताइ' के पद पुष्प पात्र सेवा भक्ति के उदाहरण हैं। इसी प्रकार कुलशेखराळ्वार[1] जैसे भक्तों ने भगवद् भक्तों के प्रति भी सेवा और श्रद्धा का भाव प्रकट किया है और उनको साक्षात् भगवान् का स्वरूप कहा है। इन भक्तों ने मानसिक पाद-सेवा-साधन में कृष्ण के चरणों को हृदय मन्दिर में स्थापित कर उनकी प्रेम और श्रद्धा से पूजा की है। पोयगै आळ्वार कहते हैं—'हे भगवान्! अगर मैं किसी की चाह करूँगा तो वह आपके चरणों की सेवा ही है। मैं आपके चरणों को अपने सिर पर धारण करूँगा (इसमें मुझे गौरव है) ।'[2]

नम्माळ्वार कहते हैं—"भगवान् के श्रीचरणों की स्तुति न करने वालों को जन्म-मरण रोग-दुःख आदि का कष्ट भोगना पड़ता है।"[3] नम्माळ्वार ने एक दूसरे पद में कहा है— 'हे भगवान्! आपके चरणों के सिवा मुझे और कोई शरण नहीं दीखती। मेरे प्राण भी आप ही के हैं।'[4] भूतताळ्वार अपने मन को संबोधित करके कहते हैं—"हे मन! तू भी वैकुंठवासी के चरण कमलों पर जाकर लग जा।"[5]

"पुरुषोत्तम के चरण ही तेरा एक मात्र सहारा है। सदा तू उसी का स्मरण

---

१ पेरुमाळ तिरुमोळि १ ३ और
'नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद्यद्भव्यं भवतु भगवान् पूर्वकर्मानुरूपम्
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्म जन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुह युगगता निश्चला भक्तिरस्तु।" —मुकुन्दमाला श्लोक ४
"नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगल ध्यानामृता स्वादिनां
अस्माकम् सरसीरुहाक्ष सततं सम्पद्यतां जीवितम्।" —वही श्लोक २०

२. "नाडिनुम निनडिये नाडुवेन नाडोरुम
पाडिनुम निन्पुकले पाडुवेन-सूडिनुम
पोन्नांगिएन्निनान पादाडिये पुरुवेङ्
एन्नाकिल एन्ने एनक्कु।" —मुदल तिरुवन्तादि ८८

३ 'पिरप्पिरप्पु मूप्पु पिणि तुरन्दु पिन्नुम
इरक्कुम इन्पुर्रवेन्नुम-मरप्पोन्नाम
एवने एक्कुम्नाम एन्नुवने ? मनक्कडवान
पादमे पेराप्पवर्।" —पेरिय तिरुवन्तादि ८०

४ "मारेनक्कु निन्पादमे सरणाकत्तोसिन्दाय उनक्कोर
माट नानोन्रिलेन एनदाविमुम उनदे।"
—तिरुवायमोळि ५ : ७ : १०

५ ' पोदु वासमे। पोदु
नविवेंकटवन मलरडिक्कु वैरुम
पनिवेंकटवन वेराय्।" —इरण्डाम तिरुवन्तादि ७२

कर, सेवा कर ।"[1] तिरुमंगै आळ्वार कहते हैं— 'हे भगवान् ! अपने गीतों की माला आपके चरणों पर अर्पित कर, अथवा आप ही का स्मरण कर, मैं आपकी शरण में आया हूँ ।'[2]

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने भी पाद-सेवा का महत्त्व बताया है । सूरदास जी ने कई पदों में दास्य भाव से भगवान् के पाद-सेवक होने का उपदेश दिया है । जिन चरणों की पाद-सेवा सूरदास जी अपने मन-मन्दिर में करते थे उनके विषय में कहते हैं :—

"भजि मन नन्द नन्दन चरन ।
परम पंकज अति मनोहर सकल सुख के करन ।
सनक संकर ध्यान ध्यावत निगम अबरन बरन ।
सेष सारद रिषि सुनारद संत चिंतत चरन ।
पद पराग प्रताप दुर्लभ रमा को हित करन ।
परसि गंगा भई पावन तिहूँपुर धर धरन ।
× × ×
सूर भज चरनारबिंदनि मिटैं न जनम मरन ।।[3]

परमानन्ददास पाद-सेवा की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं— मदन गोपाल की सेवा मुक्ति से भी अधिक मीठी है । भक्ति के रसिक इस सेवा के रस को जानते हैं । उन्होंने भगवान् की चरण-सेवा के सम्मुख सब धर्मों को बहा दिया और वे श्रवण कथन स्मरण तथा ईश्वर गुण-गान का साधन करते रहते हैं । "इन रसिक भक्तों के दृष्टान्त से प्रेरित होकर परमानन्ददास ने भी भगवान् के चरणों में तथा उनकी लीला में प्रेम बढ़ाया है ।"[4]

---

1 'उर कण्णाय अम्मेते ! उत्तमन अर्पोतम्
उदककाय तोण्ड कमलमलर्नास—उदककाय ।"
—इरण्टाम तिरुवन्तादि ७७

2 'वाविमालैर सोमचलर मलकोण्ड अन
पावये परवी मार्पणिमु एन
मार्विमाल अमु उन तिरुवडियडैन्देन ।"
—पेरिय तिरुमोऴि १ ९-८

3 सूर सागर (प्रथम स्कन्ध) पद सं० १०८ ना० प्र० सभा काशी ।

4 "सेवा मदन गोपाल की मुक्ति हू तें मीठी ।
जाने रसिक उपासिका शुक मुख जिन दीठी ।
चरन कमल रज मन बसी धर्म बहाए ।
श्रवण कथन, चिन्तन बढ्यो पावन गुन गाए ।

मीराबाई का निम्नलिखित प्रसिद्ध पद पाद-सेवा की ओर संकेत करता है —

"मन रे परस हरि के चरण ।
सुभग शीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण ।
जिण चरण प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरण ।
जिण चरण ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी सरण ।
जिण चरण ब्रह्माण्ड भेट्यो नखसिखां सिरी धरण ।
जिण चरण प्रभु परस लीने, तरी गौतम घरण ।
जिण चरण कालो नाग नाथ्यो गोपलीला करण ।
जिण चरण गोबरधन धार्यो, इन्द्र को गर्व हरण ।
दासि मीरा लाल गिरधर, अगम तारण तरण ।"[1]

अर्चन

श्रद्धा तथा आदर के साथ भगवान् के स्वरूप की पूजा अर्चन भक्ति कहलाती है। अर्चावतार रूप में भगवान् मन्दिर की मूर्ति में सद्गुरु और भक्त जनों में विराजते हैं। इन तीनों रूपों को भगवान् का स्वरूप समझकर भक्त अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु उन्हें अर्पित करता है। भक्त अपने प्रेम को प्रदर्शित करने के लिए जो भी कार्य करता है उसमें त्याग का भाव प्रधान रूप से निहित है। मानसिक अर्चना में भगवान् का ध्यान और आत्म-समर्पण पर्याप्त है। उसमें बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं है। परन्तु स्थूल रूप की पूजा में अनेक उपचारों की आवश्यकता है। चन्दन पुष्प धूप दीप, नैवेद्य ताम्बूल आदि के समर्पण द्वारा अर्चन भक्ति की जाती है। इस प्रकार की अर्चन भक्ति के उल्लेख आळ्वारों की रचनाओं में मिलते हैं। नम्माळ्वार कहते हैं— 'हे भक्तों! केवल पुष्प फल जल धूप आदि अर्पित कर भगवान् की पूजा करना भी पर्याप्त है।'[2] नम्माळ्वार का यह कथन गीता वाक्य —

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥"[3]

बेद पुरान निरखि के रस लियो निचोई ।
नाम करत आनन्द भयो डार्यो सब छोई ।
परमानन्द विचारि के परमारथ साध्यो ।
राम कृष्ण पद प्रेम बाढ्यो लीला रस बाध्यो ।"

—परमानन्दसागर पद संख्या ८३१

१ मीरा की पदावली पद संख्या १।

२ "परिवदिल ईसनैप्पाडि विरिवदुमेवलुरवीर
पिरिवकैयिन्रि नन्नीर तूय पुरिवदुम पुकै पूवे ।'
—तिरुवायमोळी १ ६ १

३ गीता अध्याय ९ श्लोक २६

से प्रभावित दीख पड़ता है। एक दूसरे पद में नम्माळ्वार का उपदेश है— 'सुन्दर सुमन जल धूप दीप समेत भगवान् की अर्चना करनी चाहिए।[1] हृदय को द्रवित कर जल चन्दन धूप दीप आदि अर्पित कर पूजा करने पर भक्त की कामना पूरी होती है।'[2] भूतत्ताळ्वार का कहना है— 'चन्दन आभूषण वस्त्र सौरभ युक्त सफेद फूल आदि अर्पित करने के साथ ही पूजा कर भगवान् के चरणों की वन्दना करनी चाहिए।[3] पोयगै आळ्वार अर्चन भक्ति का उल्लेख इस प्रकार करते हैं— वेंकट पर्वत में वेद-पारायण में निपुण ब्राह्मण जल धूप दीप पुष्प वस्त्र आदि अर्पित कर दिशा दिशा में भगवान् की पूजा करते रहते हैं।[4]

आलोच्य काल के कतिपय हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने अर्चन भक्ति का महत्व दिखलाया है। सूरदास जी ने सूरसागर के नवम स्कन्ध में अम्बरीष की कथा में अर्चन-भक्ति का उल्लेख किया है। परमानन्ददास गोपीरूप में अपने इष्टदेव को छाक (कलेऊ) अर्पित करने के लिए उनका आह्वान करते हैं और कहते हैं—'हे मोहन! मैं तुम्हारी छाक लेकर आई हूँ। तुम्हें बुलाते-बुलाते हार गई। तुम कहाँ हो? मैं राह भूल गई थी बड़ी कठिनाई से तुम्हें खोज पाई और पूछते-पूछते यहाँ तक आ पाई हूँ। उसी समय तुम्हारी बंशी का मधुर नाद मेरे कानों में पड़ा। देखो मेरे अंगों में पसीना आ गया है, और मेरा अंचल भीग गया है।'[5] इस गोपी-कथना में परमानन्ददास का ही हृदय मानसिक जगत् में अन्योक्ति रूप से अपने इष्ट देव को अर्पण भक्ति भेंट कर रहा है।

---

१ 'तोऴुदु मामलर नीर सुडर धूपम कोण्डु
एऴुदुमेन्नुम इदुमिकैयावलित
पऴुदिल तोल पुगऴ पाम्पणैप्पळ्ळियान
तऴुवुमार मरियेन तनतान्कळ।

—तिरुवायमोऴि १ ३-९

२ तिरुवाय मोऴि १ ५ २

३ 'वरैच्चन्दनक्कुऴम्बुम वान कलनुम पट्टुम
विरैय्योलिय वेण्मलर्पुम-तिरैत्त कलोन्दु
मारिपडप्प मिन्नु मणिनरडियिणये
मोरिप्पणिवुदुम।'

—इरण्डाम तिरुवन्तादि ७१

४ 'वणंगप्पेरेवन्ती वाहवारच्चळ नानुम
पूवै विळक्कुम पुगुम्पुम एरि दिसै दिसैयिम
वेदियरनाऴ वेन्दुरजुम वेंकटमे। वेन्दगम
कडियचाय मानुरम्बूर।

—मुदल तिरुवन्तादि ७०

५ तुमको टेर टेर मैं हारी।
कहाँ धौं रहे सकल मम मोहन लेहो न छाक तुम्हारी॥

नन्ददास ने भी 'श्याम सगाई' में जहाँ चरण ले कृष्ण को पूजा कराई है और 'रूप मंजरी' में रूपमंजरी के हृदय-मन्दिर में आराध्य देव कृष्ण की स्मृति द्वारा पूजा करने का उल्लेख किया है वहाँ उन्होंने अर्चन भक्ति का रूप दर्शाया है।

वन्दन

भगवान् के माहात्म्य को हृदय में धारण कर उनकी स्तुति करना नतमस्तक होकर विनय करना तथा उनको प्रणाम करना वन्दन भक्ति है। बहुधा अर्चन वन्दन साथ-साथ हुआ करते हैं। लौकिक व्यवहार में बड़ों के प्रति जो विनय और आदर सूचक प्रणाम करते हैं वही सम्मान और विनय भक्त भगवान् के प्रति प्रदर्शित करते हैं। कीर्तन करते समय जब भक्तों के हृदय में प्रेम-रस प्रवाहित होता है, तब वे नाच उठते हैं। आळ्वारों की जीवनियों से यह जाना जा सकता है कि वे भगवान् का नाम संकीर्तन तथा वन्दन कर उन्मत्त की तरह कभी रो पड़ते कभी हँसते कभी गाते और कभी नाचते थे। उनकी विचित्र प्रेम दशा को देखकर लोग उन्हें पागल तक समझ लेते थे। कुलशेखराळ्वार ने ऐसी भगवद् प्रेमोन्मत्त दशा की कामना की है[1]। पेरियाळ्वार कहते हैं— दिन रात भगवान् का ध्यान कर, नत मस्तक होकर, हाथ जोड़कर भगवान् की वन्दना करते रहने वाले भक्त जिस नगर में रहते हों, वहाँ के लोगों ने बड़ा भाग्य प्राप्त किया है।[2] राजा कुलशेखर की कामना यही है— 'श्रीरंगम के मन्दिर में शोभित भगवान् की स्तुति तब तक करूँगा जब तक जिह्वा थक न जाय। मैं उस दिन की कामना करता हूँ जब कि मैं हाथ जोड़कर पुष्प अर्पित कर भगवान् की वन्दना में लीन हो जाऊँ।[3]"

भूल परी बाबत मारग में क्यों हूँ मैं न पैंडो पायो।
घूमत घूमत यहाँ लौं आई तब तुम बेनु बजायो॥
देखो मेरे अंग को पसीना उर को अंचल भीनो।
'परमानन्द प्रभु' प्रीति बाल के चाय आलिंगन दीनो॥

—परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० शु०) पद सं० ६४

१ पेरुमाळ तिरुमोळी २ १

२ "कुरम्बमोंड्राविलालोम बेन्ड्र कूडियाडि विळाल्वेडु
विरन्डु नाममर्वोर इराप्पकल एत्ति नाळ तिरुक्कोट्टियूर
करन्दु मुकिल वण्णनैक्कंजनै कोण्डु कै तोळुम पत्तरवळ
इरन्दवूरिलिरुक्कुम मानिडर एत्तवम् सेय्दार कोलो।"

—पेरियाळ्वार तिरुमोळी ४ ४-

१

पणियरमत्तरवणैयिल पळ्ळिकोळ्ळुम
कोयिलै मायुर पजुत्ती धन तन केंवळ
कोयम्मलर तूइ एन्ड्र कोलो कूप्पुम नाळे ?'

—पेरुमाळ तिरुमोळी १ :

पेयाळवार अपने मन को संबोधित कर कहते हैं— हे मन ! नृसिंहावतार कर अपनी भक्तवत्सलता को दिखाने वाले विष्णु भगवान् के चरणों की वन्दना कर उनकी स्तुति कर।[1] पोयगै आळ्वार का कथन है कि भगवान् के सहस्र नामों का स्मरण कर हाथ जोड़कर वन्दन करने वाले भक्त कभी नरक नहीं पहुँचते, उन्हें कोई कष्ट नहीं सतायेगा वे कुमार्ग पर जा नहीं सकते।[2]

आलोच्य कालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने भी वन्दन भक्ति की महिमा का वर्णन किया है। सूर के काव्य का एक अंश उनकी वन्दन भक्ति के भाव को प्रकट करता है। विनय प्रार्थना तथा स्तुति के भावों को प्रकट करने वाले उनके पद वन्दन भक्ति के उदाहरण हैं। सूर ने निम्नलिखित पद में भगवान् की कृपा की याचना कर उनके चरणों की वन्दना की है —

"चरन-कमल बंदौं हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कौं सब कछु दरसाइ।
बहिरौ सुनै गूँग पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तिहिं पाइ।।"[3]

नन्ददास ने भी अपने कई ग्रन्थों को कृष्ण की वन्दना और स्तुति के साथ प्रारम्भ किया है। रस-मंजरी, मान-मंजरी, अनेकार्थ-मंजरी, रूप-मंजरी, सिद्धान्त पंचाध्यायी, दशम स्कन्ध भाषा आदि ग्रन्थों के प्रारम्भ में कवि ने कृष्ण की वन्दना की है।

परमानन्ददास कहते हैं— मैं जगदीश के उन चरण कमलों की वन्दना करता हूँ जो गायों के पीछे दौड़ते थे। जिन धूल से भरे पदों को गोपियों ने हृदय से लगा रखा है और शम्भु एवं चतुरानन ने हृदय-कमल में स्थिर कर रखा है। जो पद

---

१ "नरुम्बिलेनुम मॉलियोगुम तरियाय
इरणूर इरणियन आगम पुडिन्नेनुम
शितप्पियनार तिरुमाल तिरुनडिये
वॉदत्त एम्नेञ्जे ! वाळत्त।"

—मून्नाम तिरुवन्दादि ६१

२ "विर्नेयाम पळदणकार वैसरिकिल वेराद
तिर्मैयुम तीमक तिरुनाम चेल्लार-निनैवर
नरियामैक्कोयान्गे आयिरम पेर चेरुम
नरिगामैयर्के तोतुरवान।"

—मुदल तिरुवन्दादि ६१

३ सूरसागर (प्रथम स्कन्ध) पद सं० १, ना० प्र० सभा, काशी।

कमल रमा के हृदय के भूषण हैं जो तीन लोक-पावन कर्ता हैं उन चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ।"[1]

मीराबाई ने भी अपने अनेक पदों में गिरधर की वन्दना की है —

"हमारो प्रणाम बाँके बिहारी को।
मोर मुकुट माथे तिलक बिराजे कुण्डल अलकाकारी को।
अधर मधुर धर बंसी बजावै, रीझ रिझावै राधा प्यारी को।
यह छवि देख मगन भई मीरा मोहन गिरिधर धारी को।'[2]

दास्य सख्य और आत्म-निवेदन

नवधा भक्ति के अन्तिम तीन अंग—दास्य सख्य और आत्म-निवेदन भावों से सम्बन्ध रखते हैं। अतः इन भक्तियों का वर्णन आगे 'भक्ति के विभिन्न भाव' के अन्तर्गत किया गया है।

प्रेम रूपा भक्ति

आळवार भक्तों के अनुसार भगवान् सभी भावों से भजनीय हैं।[3] नम्माळ्वार और पोयगै आळ्वार का मत है कि भक्त अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार किसी भी प्रकार से भगवान् की अर्चना कर सकते हैं। पोयगै आळ्वार कहते हैं कि भक्त भगवान् के जिस रूप को चाहते हैं वही उसका रूप है। भक्त जिस ढंग से भी उपासना करें, उसी ढंग से विष्णु भगवान् उनका उपास्य बन जाता है।[4] फिर भी आळ्वारों ने भक्ति में मुख्य स्थान प्रेम को दिया है। आळवारों के लिए प्रेम भक्ति का पर्यायवाची है। भूतताळ्वार कहते हैं— प्रेम के दिये में अभिलाषा का घी डालकर स्निग्ध हृदय की बाती लगाकर स्नेह द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान-दीप जलाया।[5] आळ्वारों के द्वारा प्रतिपादित भक्ति प्रेम-रूपा

---

१ चरन कमल बन्दौं जगदीस के जे गोधन संग धाए।
जे पद कमल धूरि लपटाने कर गहि गोपिन उर लाए॥
जे पद कमल सम्भु चतुरानन हृदै कमल अन्तर राखे।
जे पद कमल रमा उर भूषन वेद भागवत मुनि भाखे॥
जे पद कमल लोकत्रय पावन बलि राजा के पीठ धरे।
सो पद कमल 'दास परमानन्द' गावत प्रेम पीयूष भरे॥
—परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० शुक्ल) पद सं० १

२ मीरा की पदावली पद सं० २

३ तिरुवायमोळी १ ३:२

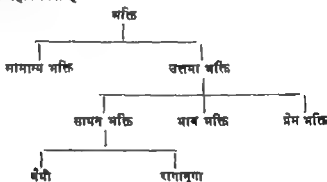
४ मुदल तिरुवन्तादि ४४

५ 'अन्बे तगळिया आर्वमे नेय्याग
इन्बुरुगु चिन्तै इडु तिरिया—नन्बुरुगि

भक्ति है। इस लोक में प्रेम-सम्बन्ध के जितने भी रूप हो सकते हैं, उतने ही भावों का प्रकट करने वाले भक्ति के प्रकार हो सकते हैं। आळ्वारों ने भगवान् के साथ सब प्रकार के प्रेम सम्बन्ध स्थापित किए हैं। भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम को प्रकट करने वाले आळ्वारों के कितने ही पद हैं। भक्ति को प्रेम-सम्बन्ध में परिवर्तित कर आळ्वार भक्तों ने मध्ययुगीन भक्त कवियों के लिए एक आदर्श छोड़ रखा था।

मध्य युग में भक्ति का विशद विवेचन करने वाले श्री रूप गोस्वामी ने प्रेम तथा भक्ति को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है। उनके दोनों ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि" तथा "भक्ति रसामृत सिन्धु' भक्ति के उत्कृष्ट लक्षण ग्रन्थ हैं।

श्री रूप गोस्वामी ने भक्ति का विभाजन निम्न प्रकार से किया है और प्रेम भक्ति को सर्वोपरि महत्व दिया है —



भक्ति मात्र सामान्य भक्ति है। उत्तमा भक्ति उत्कृष्ट भक्ति है। उत्तमा भक्ति के छः गुण हैं[1] —

१—क्लेश दूर करने की शक्ति। भक्ति के द्वारा समस्त क्लेश दूर किए जा सकते हैं जो पाप-जनित हैं अथवा अविद्या जनित हैं।

२—शुभ एवं कल्याण करने की शक्ति। इसके द्वारा सद्गुणों की और सुख की उत्पत्ति होती है।

३—मोक्ष के प्रति उदासीनता उत्पन्न करने की शक्ति।

४—प्राप्ति में कठिनाई अर्थात् ध्येय की प्राप्ति में दुर्लभता।

ज्ञानच्चुडर विळक्केट्रिनेन् नारणर्कु
ज्ञान तमिळ पुरिन्द नान।"
—इरण्डाम् तिरुवन्दादि १

१ अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग १, श्लोक १

५—सान्द्रानन्द की विशेषात्मकता के प्रति तन्मयता।

६—श्री कृष्ण को आकर्षित कर वश में रखने की शक्ति।

उत्तमा भक्ति का प्रथम सोपान साधन भक्ति है। साधन भक्ति में भक्त बाह्य साधना द्वारा इष्टदेव की ओर उन्मुख होता है। (इन साधनों की चर्चा पीछे हो चुकी है।) साधना भक्ति के द्वारा भाव रूपा भक्ति की प्राप्ति होती है। उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—परमेश्वर की ह्लादिनी, संधिनी और संवित नामक जो तीन शक्तियाँ हैं उनमें से प्रथम का दोनों से प्रेम रूप में प्रकट होने वाला अंश शुद्ध तत्व कहलाता है। वही भाव है। उससे हृदय में असंख्य अभिलाषाओं का उदय होने लगता है। भाव से अभिलाषाओं की किरणें सूर्य से सूर्य की किरणों के समान ही फूटती हैं जो समस्त वृत्तियों को अपने रंग में रंग लेती हैं।[1]

भाव भक्ति का जब परिपाक होता है तब वह रस रूप प्रेमा भक्ति में परिणत होती है। भाव जब परिपक्व हो जाता है 'सान्द्रात्मा' हो जाता है तब भाव प्रेम में बदल जाता है और चित्त सम हो जाता है और चित्त में 'अनन्य ममता' उत्पन्न हो जाती है। यह प्रेम-भक्ति या तो वैधी भाव या रागानुगा भाव—दोनों से ही उत्पन्न हो जाती है। परन्तु यह इष्टदेव के 'प्रसाद' से भी उत्पन्न हो जाती है। इष्टदेव का यह प्रसाद अथवा कृपा 'केवल' हो सकता है अथवा माहात्म्य ज्ञान से हो सकता है। प्रेम भक्ति का उदय इस प्रकार होता है—सर्वप्रथम श्रद्धा इससे साधु-संग इससे भजन क्रिया इससे अनर्थ-निवृत्ति इससे निष्ठा इससे रुचि इससे आसक्ति इससे भाव और उससे प्रेम का उदय होता है।[2]

ऊपर कही गयी भक्ति की कोटियों में प्रेम-भक्ति का सर्वोच्च स्थान है। 'नारद भक्ति-सूत्र' में प्रेम भक्ति का विशद विवेचन किया गया है। इस भक्ति को पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है अमर हो जाता है तृप्त हो जाता है और भगवान् के अतिरिक्त उसे किसी भी बात की चिन्ता नहीं रहती।[3] यह प्रेमा भक्ति परा भक्ति भी कहलाती है और इसी को 'प्रेमानन्द' कहते हैं। इसमें भक्त की चित्तवृत्ति और कर्मगति का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से भगवान् की ओर प्रवाहित होता रहता है और उसकी समस्त क्रियायें ईश्वरोन्मुख होती हैं।

'नारद भक्ति-सूत्र' में प्रेम रूपा भक्ति के सम्बन्ध में ११ आसक्तियों का उल्लेख किया गया है जिसके कारण वह एक होकर भी ११ प्रकार की होती है। यथा—

---

१ शुद्ध सत्व विशेषात्मा प्रेम सूर्यांशु साम्य भाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥
—भक्ति रसामृत सिन्धु पूर्व विभाग लहरी ३ श्लोक २

२ हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि—डा० रत्नकुमारी पृ० २७६

३ नारद भक्ति-सूत्र सूत्र ४

१—गुण माहात्म्यासक्ति
२—रूपासक्ति
३—पूजासक्ति
४—स्मरणासक्ति,
५—दास्यासक्ति
६—सख्यासक्ति,
७—कान्तासक्ति,
८—वात्सल्यासक्ति,
९—आत्मनिवेदनासक्ति,
१०—तन्मयासक्ति
११—परम विरहासक्ति।

प्रेमा भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचते हुए भक्तों में ये सभी आसक्तियाँ स्वयं ही आ जाती हैं, जैसा कि ब्रज की गोपियों में। प्रेम-भक्ति में सर्वोत्कृष्ट होने के कारण ही गोपियों का उदाहरण शाण्डिल्य नारद आदि भक्ति-आचार्यों ने प्रस्तुत किया है। परन्तु सभी अन्य भक्तों में कोई न कोई आसक्ति विद्यमान रहती है। चूँकि भक्ति का स्वभाव प्रवृत्ति है इसलिए प्रवृत्ति की प्रगाढ़ता भक्ति मार्ग का उत्कर्ष विधायक गुण है। और आसक्ति से भी प्रवृत्ति प्रगाढ़ बनती है। अतः भगवान् में जितनी आसक्ति होगी उतनी ही भक्ति श्रेष्ठ होगी। दास्य भाव से मधुर भाव की प्रगाढ़ता है। भक्ति के सभी लक्षणों में आसक्ति का समावेश है। जो आसक्ति निवृत्ति मार्ग में दोष है वही भक्ति मार्ग का गुण है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भक्ति में उक्त विविध आसक्तियों में से सबका उदय आकस्मिक और क्रमिक होता है। जब तक कि भगवदनुग्रह न हो अपनी-अपनी चित्तवृत्ति शक्ति एवं रुचि के अनुसार एक या एकाधिक आसक्तियाँ परमात्मा के प्रति प्रेम का कारण होती हैं। ये आसक्तियाँ एक ही प्रेम-बीज से प्रस्फुट भिन्न-भिन्न वल्लरियाँ हैं। सबका समान महत्व समझना चाहिए।

हमने ऊपर प्रेम-रूपा भक्ति का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। आळ्वार भक्तों और मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों में प्रेम-रूपा भक्ति की प्रधानता थी। प्रेम-रूपा भक्ति के जो विविध रूप ऊपर दर्शाये गये हैं, वे सब दोनों क्षेत्रों के भक्तों की भक्ति में देखने को मिल जाते हैं। प्रेम-रूपा भक्ति की जो ११ आसक्तियाँ नारद भक्ति-सूत्र में बतायी गयी हैं उनको व्यक्त करने वाले अनेक पद आळ्वारों के और मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के मिलते हैं। हम प्रत्येक आसक्ति के कुछ उदाहरण दोनों क्षेत्रों के भक्त-कवियों के काव्यों में से नीचे देते हैं। यथा—

---

१ शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १४।
२. नारद भक्ति सूत्र २१।

१ गुण माहात्म्यासक्ति—ईश्वर के गुण और उनकी महत्ता का ज्ञान और उनके प्रति रागात्मकता प्रेमा भक्ति में 'गुण माहात्म्यासक्ति' कहलाती है। यह प्रेमा भक्ति का प्रथम सोपान है। इस भाव को आळ्वारों ने तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने विनय भगवान् की भक्तवत्सलता दास भाव संहार-लीला आदि प्रसंगों में व्यक्त किया है। आंडाळ 'तिरुप्पावै' में भगवान् के गुणों पर मोहित होकर कहती है— हे, तीनों लोकों को मापने वाले! तुम्हारे चरणों की स्तुति करती हूँ। लंका-जाकर दाय की स्थापना करने वाले! तुम्हारी शक्ति की स्तुति करती हूँ। हे कपट, शकट के भंजनकारी! तुम्हारे शुभ-यश की जय हो। बछड़े (के रूप में आये राक्षस) को पत्थर-सम फेंकने वाले! तुम्हारे पद कमलों की वन्दना करती हूँ। गिरि को धरकर छत्र बनाने वाले! तुम्हारे अपरिमित गुणों की कीर्ति गाती हूँ। हे विक्रम धारी! तैंतीस देवगणों के भय का हरने वाले ओ महामायी! सर्वशक्तिमान्! शत्रु ताप करने वाले! विमल शुद्ध रूप धरकर भक्त-पाप हरने वाले।[२] तिरुमालिशै आळ्वार भगवान् के गुणों की महिमा गाते हैं— "भगवान् पवित्रता के आकर हैं, आदि प्रभु हैं, महान् हैं। मुझ दास को स्वीकार करने वाले विमल हैं। नीति के गिरिवर हैं। दया सिन्धु हैं।"[३]

हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के अनेक पदों में गुणमाहात्म्यासक्ति व्यक्त हुई है। सूरदास जी का निम्न पद देखिए :—

हमतो दुहूँ भाँति फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिलै तो नीको, नातरु जगत जस गायो॥
कहाँ हम या गोकुल की गोपी बरनहीन घटि जाति।
कहाँ वे श्री कमला के स्वामी मिलि बैठी इक पाँति॥
निगम ज्ञान मुनि ध्यान अगोचर, ते भए घोष निवासी।
ता ऊपर अब हो देखि धौं, मुक्ति कौन की दासी॥

---

१ "अन्रु इव्वुलकम् अळन्ताय्। अडि पोट्री
सेन्रु अ तेन्निलंकै सेट्राय्। तिरल् पोट्री
पोन्रुच्चकटम् उदैत्ताय्। पुकळ् पोट्री
कन्रु कुणिला एरिन्दाय्। कळल् पोट्री
कुन्रु कुडैया एडुत्ताय्। गुणम् पोट्री।"—तिरुप्पावै २४

२ मुप्पत्तु मूवर अमरर्कु मुन्सेन्रु
कप्पम् तविर्कुम कलिये। तुयिलेळाय
सेप्पमुडैयाय। तिरलुडैयाय। सेट्रार्कु
वेप्पम कोडुक्कुम विमला। तुयिलेळाय। —वही २०

३ अमलनादिपिरान, १

जोग कथा ऊधो पालागौं मति कहौ बारम्बार ।
सूर स्याम तजि आन भजे जो ताकी जननी छार ॥"[1]

मीराबाई के निम्न पद में आराध्य के माहात्म्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति है —

मन रे परस हरि के चरन ।
"सुभग सीतल कँवल कोमल त्रिविध ज्वाला हरन ।
जिण चरण प्रह्लाद परसे इन्द्र पदवी धरन ।
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हें राखि अपनी सरन ।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नख सिखा सिरी धरन ।
× × ×
जिण चरण गोवरधन धार्यो, इन्द्र पद को गव हरन ।
दासि मीरा लाल गिरधर, अगम तारणतरण ॥[2]

२ रूपासक्ति—गुण माहात्म्य का ज्ञान भक्त के हृदय में आस्था जगाता है। जब यह आस्था रूप-सौन्दर्य के दर्शन से अनुराग में परिणत होती है, तब वह रूपासक्ति कहलाती है। आळ्वारों की रचनाओं में रूपासक्ति का बहुत ही प्रबल रूप व्यक्त हुआ है। तिरुमंगै और तोंडरडिप्पोडि आळ्वार जैसे भक्तों की जीवनियों से प्रकट है कि उनके भक्तिमार्ग पर आने से पहले उनकी लोक-वृत्ति रूप सौन्दर्योपासिनी थी जो लोक से मुड़कर कालान्तर में आराध्य के रूप में जुड़ गयी। नन्ददास रसखान आदि हिन्दी कवियों की जीवनियों से भी यह प्रकट है। आण्डाळ और मीरा में यह आसक्ति अपनी पूर्णता के साथ व्याप्त है। प्रिय के सुन्दर वदन, उनके कमल-नयन लोचन और उनकी बाँकी चितवन ने आण्डाळ और मीरा को मोहित कर लिया है। पेरियाळ्वार की एक गोपी अपनी सखी से कहती है—हे सखी ! पावन माथे पर सिन्दूर का तिलक शोभित है। अति मनोहर कमलपाद से अलंकृत कृष्ण गगन तक पहुँचने वाली मधुर मुरली-ध्वनि को निकालते हुए आ रहा है। उसके रूप ने मुझे मोह लिया है। अनुपम सौन्दर्य वाला यह कृष्ण मेरे अत्यधिक प्रेम और प्रेम भाव को ठीक समझते हुए भी यदि वह मार्ग में आयेगा तो मैं अपने वेन्द को उसके द्वारा चोरी ले जाने का अपराध उस पर लगाकर (बहाने से ही) उसे रोक लूँगी और उसके मोती के समान सुन्दर एवं मन्दहास युक्त अधरों को देखूँगी[3]।" मीरा

---

१ सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद सं० ४८१४ ना० प्र० सभा काशी।
२ मीरा की पदावली पद सं० १
३ निमुरमिलंगत्तल निरुमेंट्रिमेल
निर्तलय कोलम्बुम तिलपुळ्ळुम

अम्मनोम्दिसाद वायम्पिळ्ळै
वरिवरितम्बु इम्मोवि पोरुमारिल
पन्नु कोणरानेल् वर्ळेत वेल
पवडवाय मुरुवलुम काण्मोम तोळी।'—पेरियाळ्वार तिरुमाळि ३ ४ ६

अन्यत्र कहती है 'कृष्ण के सौन्दर्य की समानता कौन कर सकता है ? मैंने ऐसी सौन्दर्य-रूप-राशि कहीं भी नहीं देखी। मेरे हाथ के कंकण भी नीचे गिर रहे हैं। मेरे वस्त्र[1] भी अस्तव्यस्त हो रहे हैं। (काम वश) मेरे स्तन भी मेरे वश में नहीं है।' आण्डाळ कहती है—'श्री रंगम् के मेरे प्रियतम सुन्दर केश वाले हैं, सुन्दर नयन वाले हैं, सुन्दर वदन वाले हैं। (मेरा मन उनके रूप पर इतना आसक्त है कि) मेरे हाथ के कंकण स्वयं गिर रहे हैं।[2]"

हिन्दी-कृष्ण भक्त कवि परमानन्ददास के निम्नलिखित पद में आराध्य के मोहन रूप पर आसक्ति प्रकट हुई है —

'पिय मुख देखत ही पै रहिए।
नैननि को सुख कहत न आवै या कारन सब सहिए॥
सुनहु गोपाल लाल पांइ लागौं भलो पोच सौ कहिये।
हों आसक्त भई या रूप कइ भाग तें लहिये॥
तुम बहु नायक चतुर सिरोमनि मेरी बाँह दृढ गहिये।
परमानन्द स्वामी' मन मोहन तुम ही निरवहिए॥[3]

सूरदास ने निम्नलिखित पद में हरि के रूप-सौन्दर्य का चित्र खींचा है —

(सखि री) कैसे कहौं हरि के रूप रसहि।
अपने तन में भेद बहुत बिधि, रसना जानै न नैन दसहि॥
जिन देखत वे आहि बचन बिनु जिनहि बचन दरसन न तिसहि।
बिनु बानी ये उमँगि प्रेम जल, सुमिरि-सुमिरि वा रूप जसहि॥
बार-बार पछितात यहै कहि कहा करौं जो बिधि न बसहि।
सूर सकल अंगनि की यह गति क्यौं समझाव छपद पसुहि॥[4]

मीरा तो मदन मोहन के रूप पर मुग्ध हो चुकी है। गिरधर नागर ने के रूप ने उन्हें मोह लिया है। मीरा कहती है :—

---

1. एदु म इवर्नयोप्पारे यंनाय।
कण्टरियेनडी। कमुकोनाय
शोगु म मिस्सरावले कळप्पु
तुकिलेगिवळ मुमधुम एन कमलिस्सवे।—पेरियाळ्वार तिरुमोळि, १ ८ २

2. एळिलुडैय अम्मनमीर। एन्नरगसिलमुडैय
कुळलळकर, वायळकर कण्णळकर कोप्पूळिल
एळुकमलप्पूवळकर एम्मानार एन्नुडैय
कळलवळैयैत्तामुम कळलवळैयाक्किनरे।
—नाच्चियार तिरुमोळि ११ २

3. परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० गुप्त) पृ० सं० १२२, पद सं० ३१९

4. सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद सं० ४११८ ना० प्र० सभा काशी।

निपट बंकट छब अटके।
म्हारे नैणा निपट बंकट छब अटके।
देख्यां रूप मदनमोहन री, पियत पियूख न मटके।
बारिज भवां अलक मतवारी, नैण रूप रस अटके।
टेढ्या कट टेढे करि मुरली टेढ्या पाग लर लटके।
मीरा प्रभु रे रूप लुभाणी गिरधर नागर नटके।'[1]

३ पूजासक्ति—कृष्ण की पूजा में अनुराग पूजासक्ति रूपा प्रेमा भक्ति है। आळ्वार भक्तों ने तथा आलोच्य कालीन हिन्दी-कृष्ण भक्त कवियों ने इस भाव की भक्ति स्तुतियों में की है। अर्चन वन्दन आदि में लीन होना भी पूजासक्ति है। नवधा भक्ति के विवेचन में पीछे इसका उल्लेख हो चुका है।

४ स्मरणासक्ति—निरन्तर प्रभु के ध्यान में ही लीन रहना स्मरणासक्ति रूपा प्रेमा भक्ति है। प्रिय के वियोग पर सर्वदा उसी का स्मरण कर, अन्य सब कुछ भूलकर विह्वल होने की अवस्था है। इस आसक्ति को व्यक्त करने वाले अनेक पद दोनों क्षेत्रों के कवियों के काव्यों में मिलते हैं। इस आसक्ति का वर्णन विस्तार से आगे माधुर्य भाव के अन्तर्गत किया गया है।

५ दास्यासक्ति—भगवान् के माहात्म्य की स्वीकृति का अनिवार्य परिणाम भक्ति के क्षेत्र में दास्य भाव की जागृति है। यही दास्य भक्ति है। इसमें आलंबन की महत्ता के साथ आश्रय अपनी लघुता का अनुभव भी करता है। कवियों के विनय पदों में यह भाव व्यक्त हुआ है। आगे 'दास्य भाव' के अन्तर्गत इसका विवेचन होगा।

६ सख्यासक्ति—सख्य भाव से की जाने वाली भक्ति सख्यासक्ति रूपा प्रेमा भक्ति है। 'सख्य भाव' के अन्तर्गत आगे इस भक्ति का परिचय दिया गया है।

७ कान्तासक्ति—स्त्री-पुरुष में प्रेमभाव की जैसी व्यापकता और तीव्रता है, उसी भाव से भगवान् की भक्ति करना 'कान्तासक्ति' कहलाती है। गोपी-कृष्ण संयोग तथा रास-लीला के पदों में इस भाव की अभिव्यक्ति हुई है। 'मधुर भाव' के अन्तर्गत आगे हम इसका विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

८ वात्सल्यासक्ति—यह वात्सल्य प्रेमभाव की भक्ति है। कृष्ण की बाल लीला तथा यशोदा-विरह में यह भाव व्यक्त हुआ है। वात्सल्य भाव के अन्तर्गत इस आसक्ति का विस्तृत परिचय दिया गया है।

९ निवेदनासक्ति—आळ्वार भक्तों के अनेक पद आत्मनिवेदन के रूप में ही बने हैं। दोनों क्षेत्रों के कवियों के विनय और विरह—दोनों प्रकार के पदों में इस आसक्ति की अभिव्यक्ति हुई है।

---

1 मीरा की पदावली सं० परशुराम चतुर्वेदी पद सं० १० पृ० १०३।

१० तन्मयासक्ति—प्रेम की प्रगाढ़ अवस्था में प्रेमी भक्त की समस्त चेतना प्रियतम में केन्द्रित हो जाती है। जब तक प्रेमी अपने प्रेमास्पद में अपने को इतना लीन न कर दे कि उठते-बैठते खाते-पीते सोते जागते वह उसी के ध्यान में मग्न रहे, तब तक उसे सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। यह तन्मयता प्रेमाभक्ति की जान है। गोपियों की तन्मय अवस्था को प्रकट करने वाले आळ्वारों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के पदों में तन्मयासक्ति व्यक्त हुई है। 'मधुर भाव' के अन्तर्गत आगे इसका विवेचन किया गया है।

११ परम विरहासक्ति—भगवान् से बिछुड़ने की परम दुःखपूर्ण अनुभूति और उससे पुनर्मिलन की उत्कट अभिलाषा 'परमविरहासक्ति' है। यह प्रेम भक्ति मधुर-भाव तथा वात्सल्य भाव के वियोग पक्ष में व्यक्त हुई है। कवियों के विरह भाव के पदों में प्रिय के वियोग में तड़प कर मिलन के लिए तरसने वाली आत्मा के दर्शन होते हैं।

भक्ति-रस और भक्ति के विविध भाव

भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में रसों की संख्या नौ मानी है। परन्तु उन्होंने भक्ति को कोई स्वतन्त्र रस नहीं माना। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी भक्ति को कोई रस न मानकर केवल भाव ही माना है। पण्डितराज जगन्नाथ भी भक्ति को भाव मात्र मानने की रूढ़ि को छोड़ नहीं सके। भक्ति-रस का पूर्ण विवेचन करने और भाव को रस रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य रूप गोस्वामी जी को है, जिन्होंने अपने भक्ति-विषयक ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में इस रस का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है।

भक्ति रस की निष्पत्ति किस तरह होती है और कहाँ होती है ? यह विचार णीय है। श्री रूप गोस्वामी ने भक्ति रस को दो प्रकार का माना है—

(१) मुख्य भक्ति-रस और
(२) गौण भक्ति-रस।

मुख्य भक्ति-रस के अन्तर्गत शान्त प्रीति, प्रेम वत्सल और मधुर बताये गये हैं, और गौण भक्ति-रस के उन्होंने सात भेद—हास्य अद्भुत वीर, करुण रौद्र भयानक तथा बीभत्स—किये हैं।[१] भक्ति रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में श्री रूप गोस्वामी ने कहा है—"विभाव अनुभाव आदि की परिपुष्टि से भक्ति परम रस-रूपा हो जाती है। विभाव अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों से भक्तों के हृदय में स्वादत्व को प्राप्त कराई गई जो कृष्ण रति-रूप स्थायीभाव है वह भक्ति में परिणत होता

१ हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग लहरी ५, श्लोक ८६-८८ सार पृ० १०८ १०६।

है। जिनके हृदय में पूर्व जन्म की अथवा इस जन्म की सद्भक्ति की वासना या संस्कार है, उन्हीं के हृदय में भक्ति-रस का आस्वाद होता है जिनके पाप-दोष भक्ति से दूर हो गये हैं जिनका चित्त प्रसन्न और उज्ज्वल है, जो भागवत में रत हैं, जो रसिकों के सत्संग में रंजित हैं जो जीवनीभूत गोविन्द के चरणों की भक्ति को ही अपनी मुख्य भी मानते हैं और जो प्रेम के अन्तरंग कृत्यों को करने वाले भक्त हैं उनके हृदय में जो आलम्बनरूपा रति स्थिर होती है वही दोनों प्रकार के (पूर्व और इस जन्म के) संस्कारों से उज्ज्वल बनी रति रस रूपता को प्राप्त होती है। यही रति अनुभूत कृष्णादि विभावादि के संसर्ग से उक्त भक्तों के हृदय में प्रौढ़ानन्द और चमत्कार की पराकाष्ठा को प्राप्त होती है।[1]

इस भक्ति रस की निष्पत्ति सहृदय तथा पूर्व संस्कार युक्त भक्त के हृदय में होती है। श्री रूपगोस्वामी की तरह काव्य प्रकाशकार अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने भी रस की निष्पत्ति वासना और पूर्व संस्कारों से युक्त हृदय में मानी है। लेकिन काव्य रस और भक्ति-रस में थोड़ा बहुत अन्तर है। भक्ति रस के अङ्ग इस प्रकार हैं —

१ विभाव—विभावों के द्वारा ही कृष्ण रति-स्थायी भाव 'रसास्वाद' का हेतु होता है। ये विभाव दो प्रकार के हैं—एक आलम्बन और दूसरा उद्दीपन।[2]

आलम्बन—कृष्ण रति के आलम्बन विभाव विषय रूप से कृष्ण और आधार रूप से कृष्ण-भक्त हैं। कृष्ण चाहे स्वयं रूप में हों अथवा अन्य रूप में, जैसे मोर वासव आलम्बन हैं। कृष्ण भक्त चाहे साधक हो चाहे सिद्ध—दोनों ही प्रकार से आलम्बन हैं।

उद्दीपन—कृष्ण के उद्दीपन विभाव उनके गुण चेष्टा प्रसाधन और धूप अन्य वस्तुएँ हैं।

२ अनुभाव—कृष्ण रति स्थायीभाव—नृत्य विलुण्ठित गीत अनुमोदन हुंकार जृम्भा श्वास भूमन लोकानुपेक्षित लालास्राव अट्टहास घूर्णा और हिक्का है।[3]

३ सात्त्विक भाव—ये सात्त्विक वास्तव में भाव नहीं हैं। ये तो भावों के बाह्य प्रकाश मात्र हैं। प्राचीन काव्यशास्त्र में दिये आठ सात्त्विक भाव भी रूप गोस्वामी ने भी दिये हैं। वे—स्तम्भ रोमाञ्च स्वरभंग वेपथु, वैवर्ण्य अश्रु और प्रलय हैं। रूप गोस्वामी इन्हें स्निग्ध दिग्ध और रुक्ष—तीन विभागों में विभाजित करते हैं।[4]

४ व्यभिचारी भाव—इन्हें संचारी भाव भी कहते हैं। ये संख्या में तैंतीस हैं। इनके नाम ये हैं—निर्वेद विषाद दैन्य ग्लानि श्रम मद गर्व शंका आवेग

---

१ हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग लहरी १ श्लोक ५ ११ पृ० १२० १२१
२ भक्तिरसामृतसिन्धु दक्षिण विभाग लहरी १ श्लोक ५ १
३ वही २ १-१२
४ वही ३ । १ २

उन्माद अपस्मार, व्याधि मोह मति आलस्य व्रीडा स्मृति वितर्क चिन्ता मति, धृति हर्ष औत्सुक्य अमर्ष असूया आदि। ये संचारी भाव कभी तो कृष्ण रस से स्वतन्त्र होते हैं और कभी परतन्त्र।[1]

५ स्थायी भाव—स्थायी भाव के भी भेद हैं—रति हास शोक क्रोध, उत्साह भय जुगुप्सा विस्मय और निर्वेद। वैष्णव भक्ति रस का मुख्य स्थायी भाव श्रीकृष्ण-विषयक 'रति' है।

मम्मट आदि अलंकारियों ने जहाँ भक्ति को 'भाव' की कोटि में ही रखा वहाँ वैष्णव लोग उसे 'रस' ही मानते हैं।[2]

भक्ति के विविध भाव

कहा जा चुका है कि लोक में मानव प्रेम के जितने रूप हैं उन सभी प्रीति सम्बन्धों को भक्तों ने भगवान् के साथ जोड़ा है और उसी के अनुसार भक्ति के भावों का नामकरण भी कर दिया है। इन भावों में दास्य भाव सख्य भाव वात्सल्य भाव और मधुर भाव विशेष उल्लेखनीय हैं। भक्ति के इन चार भावों के अतिरिक्त पाँचवाँ भाव 'शान्त भक्ति' का भी है। इन भावों को 'रस' की संज्ञा भी दी जाती है।

दास्य भाव की भक्ति

दास्य भक्ति के अन्तर्गत उन सभी भावों की व्यंजना होती है जिन्हें एक स्वामि भक्त सेवक आज्ञापालक पुत्र और शिष्य अपने प्रभु माता-पिता, और गुरु के प्रति विभिन्न परिस्थितियों में प्रकट किया करता है। अपने इष्टदेव को अपना दयालु प्रभु, पिता गुरु समझकर भक्त उनके सामने अपनी अज्ञानता दीनता अपने दुर्गुण दोष आदि का वर्णन करने में अपनी रक्षा और उद्धार के लिए नाना प्रकार से याचना करने में विशेष आनन्द पाते हैं। भक्त भगवान् की सर्व सामर्थ्य को ध्यान में रखकर उन पर अपनी अनन्याश्रयता प्रकट कर नाना प्रकार से उनकी कीर्ति का गान करते हुए उनकी कृपादृष्टि पाने के लिए सदा कातर रहते हैं। भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं। उनकी शरण में रहते हुए उन्हीं में विलीन हो जाने के शुभ अवसर की प्रतीक्षा में सदा रहते हैं।

आळवार भक्तों में तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्णभक्त कवियों में कुछ ने दास्य भाव से भक्ति की है। इनके पदों में दास्य भक्ति के अंग—आत्मग्लानि प्रपत्ति विनय, याचना दीनता समर्पण तथा भगवान् की सामर्थ्य की अनुभूति आदि के भाव व्यंजित हैं। जिसमें आळवार अपने को भगवान् का दास कहने में अत्यन्त आनन्द पाते हैं। वे कहते हैं—"हे मन! तुम धन्य हो। दूसरे लोगों के कथन की ओर ध्यान

1 भक्तिरसामृत सिन्धु द० वि० लहरी ४।१
2 "निबद्ध भागवतरसमाख्यम्।"—भागवत भक्ति-प्रधान ग्रन्थ है। उसमें भक्ति रस-रूप में ही प्रतिपादित हुई है।

न देकर तुमने गोपाल कृष्ण की दासता स्वीकार कर ली है। पहले निम्न मनुष्यों की संगति में रहकर भगवान् से विमुख रहने वाले मन ! आज तुमने उस भगवान् की दासता स्वीकार कर ली है जिसकी स्तुति ब्रह्मा शिव इन्द्र आदि देव सदा अनगिनत भक्त नित्य करते रहते हैं।"[1] तिरुमलिसै आळ्वार कहते हैं— हे भगवान् ! तुम मेरे लिए प्रेम-मूर्ति हो। अमृत हो। मेरे लिये सब कुछ हो। मुझ इस दास के लिये सर्वदानन्द हो। हे केशव ! मैं तुम्हारा आज्ञाकारी दास हूँ। मुझ पर तुम कृपा करते रहो। आज और कल ही नहीं सर्वदा तुम्हारा अनुग्रह ही मेरा सर्वस्व है। मैं भली-भाँति समझ गया हूँ कि तुम्हारे सिवा और कोई सहारा नहीं।"[2]

नम्माळ्वार कहते हैं— 'हम तो भगवान् के दास हैं, चिरकाल से। पीढ़ियों से उनके दास रहते आए हैं। उस परम पिता की दोष रहित सेवा करने में कल्याण है।"[3]

---

१ "सेमम सेप्पिल वियिम पेरियनेन्नुम चिलर पेशक्केट्रिरुक्क
दे एन नेंजमेन्नाय। एनक्कु मोन्नु म चोल्लाये
मामर नायकक्कु इन्रु अडिमै तोळिल पूण्डाये।"

—पेरिय तिरुमोळि २ १-८

'वानिड वानवर वणिन्गोत्ती काणिन्नार
नाडु तामरैमेनुम इंगुनुम, अमरर्गोनुम निन्रेत्तम् वेंकडत्तु
माडुदत्तवनुक्कु इन्रु अडिमैतोळिल पूण्डाये।

—वही २ १ ६

२ "अन्नायाय अत्तनुमानाय अडियनुक्कु
इन्नायाय एत्ताळुम मीनायाय पोन्नाये
केसवा ! विळ्ळरोळियेन केडवने। केडिन्री
आळ्वारक्कु अडियेन नानाळ।"

—नान्मुगन तिरुवन्दादि १६

'इन्राक नाळैयाक इनिचिन्नाळुम
निन्राक निन्नरुळ एन्पालदे-नन्राक
नान उन्नै अन्रि इलेन कण्डाय-नारणने!
नी एन्नै अन्रियिले।"

—वही, ७

३ ओळिविल कालमेल्लाम उडनाय मन्नि
वळुविला अडिमै चेय्यवेण्डुम नाम
तेळि पुरुवी तिरुवेंकडत्तु
एळिल कोळ चोति एन्दै तन्दै तन्दैक्के।"

—तिरुवायमोळि ३ ३ १

एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं—"हे भगवान्! तुम मेरे पिता हो माता हो—मेरे सब कुछ तुम्हीं हो।"[1]

आत्मदोष प्रकट कर तोण्डरडिप्पोडि आळवार दैन्य भाव से भगवान् की शरण की याचना करते हैं। तड़पते हुए भक्त-हृदय की करुण-पुकार इन पदों में हमें सुनाई पड़ती है। वे कहते हैं—"मेरा अपना कोई घर नहीं। अपनी कोई जमीन नहीं और पूछने वाला कोई बन्धु भी नहीं। फिर भी हे करुणामूर्ति! इस पार्थिव जीवन में आपके चरणों की शरण मैंने ग्रहण नहीं की। हे घनश्याम भगवान्! अब तो भारी क्रन्दन करता हूँ। कोई है मुझे अवलम्ब देने वाला?[2] मेरे मन में थोड़ी सी पवित्रता नहीं मुँह से एक भी हित वचन नहीं निकलता। क्रोध के कारण मैं द्वेषबुद्धि का दमन कर नहीं पाता हूँ। किन्तु दूसरों पर बुरी दृष्टि डालकर कटुवचन बोल देता हूँ। हे तुलसी मालाधारी! मेरी अब क्या दशा होगी? कहिये मुझ पर शासन करने वाले महाप्रभु।'[3] हे भगवान्! तुम्हारे दर्शन को प्राप्त करने के भाव से विमुख रहने वाले लोगों की संगति में मैं रहा, मैं मूर्ख हूँ। मूर्खों में भी निम्न कोटि का हूँ। अब आपकी शरण में आया हूँ।[4] सुन्दर स्त्रियों के प्रेम-पाश में, रूप-जाल में बन्द रहकर झूठे संसार में अपने सारे समय को मैंने गँवा दिया। मैं झूठा हूँ नीच हूँ। अब आपकी शरण आया हूँ।[5]

---

१ "पेट्रा ताय नी पिरप्पित्त तन्दै नी।" —पेरिय तिरुवन्दादि ५

२ ''ऊरिलेन काणियिल्लै उरवु मट्रोरुवरिल्लै
पारिलनिन्पाद मूलम पट्रिलेन परम मूर्ति
कारोळिवण्णने! कण्णने! कदरुगिन्ड्रेन!
आरुळर? कळैकण अम्मा! अरंगमानगरुळाने। —तिरुमालै, २९

३ मनत्तिल शारमिल्लै वायिलोरिन्सोलिल्लै
शिनत्तिनाल सेट्रम नोक्कि तीविळि विळिवन वाळा
पुनत्तुळाय मालैयाने। पोन्नी सूळ तिरुवरंगा।
एनक्कुरनिकदि येन्सोल्लाय? एन्नैयाळुडै कोवे। —वही ३०

४ वर्त्तिक्कळमय मैनिनळ्ळने। उम्मैक्काणुम
मार्गमोन्रुमिल्ला मनिसरिल तुरिनाय
मूर्खनेन वन्दु निन्ड्रेन मूर्खनेन मूर्खनेने। —तिरुमालै, ३३

५. मेय्येल्लाम पोकविट्टु विरिकुळलारिल पट्टु
पोय्येल्लाम पोदिन्दु कोण्ड पोय्यनेन वन्दु निन्ड्रे
ऐयने। अरंगने। उन्नरुळेन्नुम आसै तन्नाल
पोय्यनेन वन्दु निन्ड्रेन पोय्यनेन पोय्यनेने। —वही, ३४

तिरुमंगै आळ्वार दास्य भाव से भगवान् की कृपा की याचना करते हुए कहते हैं— मैं दुखी हूँ, चिंतित हूँ, व्याकुल हूँ। सांसारिक मोह-जाल में पड़कर मैंने कितने ही व्यर्थ दिन खो दिये हैं। विजय की कामना कर नश्वर पदार्थों की इच्छा कर नारी के मोह-जाल में पड़कर, चंचल मन से कितने दिन मैंने नष्ट कर डाले। ” अब क्या करूँ ? हे भगवान्! मैं चोर हूँ, कपटाचरण करने वाला हूँ, मन माने मार्ग पर चलने वाला हूँ, विद्याहीन हूँ, सत्यहीन हूँ। अब आपकी दया की कामना करता हूँ।[1] हे करुणानिधान! अन्त में मैं आपके पास आया हूँ। इस अकिंचन की रक्षा करो। ” कुलशेखराळ्वार ने भगवान् की शरण को ही एक मात्र सहारा माना है। वे कहते हैं— मैं बहुत कष्ट भोग रहा हूँ। हे भगवान्! तुम्हारी शरण के अतिरिक्त और कोई शरण नहीं। जिस प्रकार माता के क्रुद्ध होकर त्यागने पर भी शिशु माता के प्रेम पर आश्रित है उसी प्रकार मैं भी आप ही के अनुग्रह पर आश्रित हूँ।[3]

आण्डाळ ने भी एक स्थान पर स्वयं को 'गोविन्द' की दासी कहा है।[4]

दास्य भक्ति से ओत-प्रोत सूरदास के अनेक पद मिलते हैं। दास्य भाव को प्रकट करते हुए सूर कहते हैं— 'नन्दनन्दन की शरण में आकर मेरा मृत्यु भय छूट गया। मैंने अन्य भक्ति के चिह्नों को मेट कर कृष्ण भक्ति के चिह्न धारण कर लिये हैं। मस्तक पर तिलक भाल में तुलसी पत्र और कण्ठ में बनमाला आदि चिह्नों को देखकर मुझे लोग श्याम का दास कहते हैं। यह सुनकर मेरा मन प्रसन्न होता है। सबसे बड़ा

---

१ "वेमने वेडी मीडिने पेरुन्दो
तेरिवैमारवमे मरुवि
कनमार कष्ट कलविनुम पलुवाय
मोळियम कळिय यमारुकळ"   —पेरिय तिरुमोळी १ १ १
पॆन्दुमे वेडो मीळमोरु किर्दकी
पेर्दरार कलविये करुदि
तिन्दुवा तिरन्ता नेरिवनैयुडमेन एन चेय्देन ?   —वही १ १ ४
' कळ्वनेनानेन पडिरु सेय्दिरुप्पेन
कण्डवातिरितन्देनेलुम
तेळिविलेनानेन चेल्कदियमेलेन
तिरुवेनतिरवरुळ पेट्रेन।   —वही १ १ ५

२ पडुम अोन्दुयिनैन पायमे अरनु वारिवानेन
पडुमेन कर्दकेनेन तरियेन तारुकोण्डरुळाये।   —वही १-९-९

३ पेरुमाळ तिरुमोळी ५ १

४ नाच्चियार तिरुमोळी १ ८

सुख तो मुझे यह है कि मैं दासवृत्ति से भगवान् की जूठन प्रसाद रूप में पाता हूँ।'[१]
अपने दोषों को प्रकट कर सूर ईश्वर से शरण की याचना करते हुए कहते हैं —

"अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल

काम क्रोध को पहिर चोलना कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत निंदा शब्द रसाल।
भरम भर्‌यो मन भयो पखावज चलत कुसंगत चाल।
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बांध्यो लोभ तिलक दियो भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहि काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करो नन्दलाल॥"[२]

परमानन्ददास दास्य भाव से विनय करते हैं—"हे कृपावन्त स्वामी! आप मुझे भी अपने चरण-कमलों का मधुप बना लीजिये मेरी आप से यही प्रार्थना है—

'अपने चरन कमल को मधुकर हमहू काहे न करहु जू।
कृपावन्त भगवंत गुसाईं इहि बिनती चित धरहु जू।
सीतल आतपत्र की छाया वर मंजुल सुखकारी जू।
पदम प्रकास नैन अनियारे कृपा कटाक्ष मुरारी जू।
परमानन्ददास' रस लोभी भाग्य बिना क्यों पावै जू।
जाको प्रगट रमापति स्वामी सो तुम्हरे ढिग आवै जू।"[३]

मीराबाई कहती है—

हरि म्हारा जीवण प्राण अधार।
और आसिरो णा म्हारा थे बिण तीणूं लोक मझार।
थे बिण म्हाणे जग णा सुहावां, निरख्यां सब संसार।
मीरा रे प्रभु दासी रावली लीज्यो नेक निहार।[४]

सूरदास मदनमोहन इस प्रकार विनय करते हैं—

मेरी गति तुम हो अनेक तोष पाऊँ।[५]
चरन-कमल-नख-मनि पर विषै-सुख बहाऊँ।
पाहन को ऐसो प्रभु तौ न अनत जाऊँ॥

---

१ सूरसागर (प्रथम स्कन्ध) पद सं० १७१ ना० प्र० सभा काशी।
२ वही (प्रथम स्कन्ध) पद सं० १५३ ना० प्र० सभा काशी।
३ परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० गुप्त) पद सं० ८७२, पृ० ३०६
४ मीरा की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० ४ नवां संस्करण।
५ व्रज माधुरी सार, पृ० १०२

सख्य भाव की भक्ति

लौकिक व्यवहार में जो मित्रता का आदर्श उपस्थित किया जाता है, उसी आदर्श भाव को सख्य भक्ति में भक्त भगवान् के प्रति रखता है। मित्रता के उच्च आदर्श के अनुसार मित्रों में परस्पर किसी प्रकार के स्वार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। अतएव सख्य भाव द्वारा निस्वार्थ भक्ति की पुष्टि पूर्ण रूप से होती है। जिस प्रकार वात्सल्य भक्ति के अन्तर्गत भक्त भगवान् के साथ पूरी स्वतन्त्रता से व्यवहार करता है, उसी प्रकार सख्य भाव की भक्ति में भक्त भगवान् के सम्मुख अपने हृदय की बातों को व्यक्त करने में किसी भी प्रकार संकोच भय अथवा छोटे बड़े का अनुभव नहीं करता। क्योंकि दोनों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होता है उसमें समानता के भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा है। यही सख्य भाव की भक्ति का महत्व है। 'नारद भक्ति-सूत्र' में प्रमासक्ति के ग्यारह भेदों में सख्यासक्ति भी एक है जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

कृष्ण के बालोचित विभिन्न खेल तथा गोचारण समय के कृष्ण गोप और ग्वालों के परस्पर व्यवहार और उनके प्रीति भोज आदि प्रसंगों में सख्य प्रेम के चित्र भक्त कवियों ने अंकित किये हैं। आळ्वार भक्तों के काव्यों में सख्य भक्ति भाव की अभिव्यक्ति करने वाले प्रसंग बहुत कम हैं। किन्तु आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्यों में सख्य भक्ति के प्रसंग प्रचुर मात्रा में हैं।

कृष्ण सखाओं को अपनी मधुर लीलाओं में भी अपने साथ रखते हैं। माखन चोरी में वे अपने सखाओं से सहायता लेते हैं।[1] गोचारण प्रसंग में सख्य प्रेम प्रधान रूप में प्रकट होता है। सख्य प्रेम के वशीभूत होकर कृष्ण अपने सखाओं के साथ ही गाएँ चराते हैं और उनके सुख के लिए आमोद-प्रमोद भरे खेल खेलते हैं। उनके साथ गाते हैं और नाचते हैं। सखाओं के साथ बैठकर भोजन भी कर लेते हैं।[2] इन प्रसंगों में कवियों ने सख्य भक्ति की ओर संकेत किया है।

गोप बालकों के साथ वन से लौटने के प्रसंग का वर्णन करते हुए पेरियाऴ्वार कहते हैं— मुरली की मधुर ध्वनि सर्वत्र व्याप्त होकर सुनने वाले को मोहित कर रही है। विभिन्न बाजों को बजाते हुए आने वाले गोप बालकों की बड़ी गोष्ठी के साथ कृष्ण भी आ रहा है।[3] कृष्ण के मित्र—ग्वाल बालक छोटी तलवार, धनुष

---

१ पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि २ ६

२ नाच्चियार तिरुमोऴि १२ ६

३ तलैक्कुम शॅरुक्कुम तरुम्पी एंगुम
तण्णुमै एक्कम मत्तळित्ताळीली
कुऴल्कळुम गीतमुमाकी एंगुम
मोऴियम वर्तितु कुट्टम वरु
" " ।

—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि १ ४ १ ।

सीसाखण्ड एवं उत्तरीय को उसके अपेक्षित समय में देने के लिए हाथ में तैयार रखकर उसके पीछे आ रहे हैं। स्वयं कृष्ण तो अपने एक हाथ से अपने प्राण-समान मित्र किसी बालक के हाथ का अवलम्बन करते हुए और दूसरे हाथ में गायों को बुलाने के साधन शंख को धारण कर व्रज लौट रहा है। मोर पंख से शोभित केश-पाश से युक्त कृष्ण अपने गोप सखाओं की गोष्ठी में आगे ठहरकर नाना प्रकार से गान व नृत्य करते हुए आ रहा है।"[1]

हिन्दी के अष्टछाप कवियों में सख्य भक्ति के सुन्दर उदाहरण कृष्ण की बाल लीला और गोचारण-लीला के अतिरिक्त 'सुदामा दरिद्र भंजन' नामक प्रसंग में मिलते हैं। इस प्रसंग में सूर ने भगवान् को सबसे बड़ा मित्र कहा है और सख्य भक्ति की महत्ता का उल्लेख किया है। सुदामा मित्रभाव से कृष्ण के पास आये। उस समय कृष्ण ने सुदामा के साथ श्रेष्ठ मित्र का सा व्यवहार किया —

दूरि तें देखे बलबीर,
अपने बाल सखा सुदामा मलिन बसन अरु छीन सरीर।
पौढ़े हुते प्रर्यंक परम रुचि रुक्मिनी चमर डोलावत तीर।
उठि अकुलाइ अगमने लीने मिलत नैन भरि आए नीर।[2]

तथा—

ऐसी प्रीति की बलि जाऊँ।
सिंहासन तजि चले मिलन को सुनत सुदामा नाऊँ।[3]

गोचारण प्रसंग में सूर की सख्य भक्ति का और भी प्रगाढ़ रूप प्रकट हुआ है। सख्य प्रेम के वशीभूत होकर सूर के कृष्ण भगवान् सखा भक्तों के साथ गाय चराते हैं। उनके सुख के लिए आमोद-प्रमोद भरे खेल रचते हैं —

---

१ "पशिनत्तुप्पड़ाक कवेनाळ चाट्टी
पवनकच्चुन्दोप्पस तर्ळ मुवे
मुत्तं मल नवमलर वॅर्स मसारचिमु
मस्सापर चुळ्ळम मुवे
।" —पेरियाळ्वार तिरुमोली ३ ८ २

'पुरिवेपुम तेरिविस्सम मेष्टु कोमुम
मेलाडेपुम तोळमार कोष्डो
मोर कयाल मोरसन तन तोळ्मॅमिट्
मामिरयिमम मोळमुरित्त पॅगम
' —वही ३ ८ ३

२ सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद सं० ४८४६ पृ० १६८६ ना० प्र० सभा काशी।
३ " ("), " ४८४८ पृ० १६८६, "

"बरनत बन्दावन हरि माई।
सखा लिए संग सबल श्री दामा डोलत हैं सुखदाई।
क्रीड़ा करत जहाँ तहाँ सब मिलि आनन्द बढ़ाइ-बढ़ाइ।
बगरि गईं गइयाँ बन बीथिनि बैठी प्रति अकुलाइ।
कोऊ भए ग्वाल गाइ बन घेरन कोऊ भए बछरा लिवाइ।
भागुहि रहे अकेले बन में [illegible] हलधर रहे आइ।
बंसीवट शीतल जमुना तट धरतिहिं परम सुखदाई।
सूर स्याम तब बैठि बिचारत सखा कहाँ बिरमाई।[1]

नन्ददास के कुछ पद भी कृष्ण की गोचारण तथा छाक-लीला के हैं। परन्तु
म उतना प्रगाढ़ रूप नहीं है जितना सूर में है। नन्ददास के 'सुदामा चरित' के
न्तिम छन्द में सख्य भक्ति की महत्ता पर कहा गया है— जो सुदामा की तरह
ख्य भाव का मर्मज्ञ उसको सब सुख प्राप्त होगा।"

"ऐसे जो कोऊ हरि को भजै हरि उदारता से सुख लेवे।"[2]

परमानन्ददास की रचनाओं में सख्य भक्ति का भावपूर्ण वर्णन हुआ है। सख्य
क्ति का रसास्वादन करते हुए भाव रूप से परमानन्द गोचारण और छाक के पदों
अपने सखा कृष्ण से कहते हैं —

आज दधि मीठो मदन गोपाल।
भावत मोहि तिहारो झूठो चंचल नयन बिसाल।
आने पात बनाये दोना दिये सबन को बाँट।
जिन नहीं पायो सुनो रे भैया मेरी हथेरी चाट॥
बहुत दिनन हम बसे कुमुदवन कृष्ण तिहारे साथ।
ऐसो स्वाद हम कबहुँ न चाख्यो सुन गोकुल के नाथ॥
आपुन हँसत हँसावत ग्वालन मानुस लीला रूप।
'परमानन्द प्रभु' हम सब जानत तुम त्रिभुवन के भूप॥[3]

वात्सल्य-भाव की भक्ति

वात्सल्य भाव की भक्ति अन्य सब प्रकार की भक्तियों से उत्तम मानी जा
ती भी है क्योंकि वात्सल्य भाव भक्ति का शुद्ध भाव है। इसमें निष्काम प्रेम का भाव
उपस्थित रहता है। इस प्रकार की प्रीति की भक्ति के अभ्यास से साधन की आरम्भिक
अवस्था में लौकिक कामनाएँ सभी क्षीण हो छूट जाती हैं। वात्सल्य प्रेम में स्नेह-पात्र
के अबोध और अशक्त होने के कारण स्नेही को उसमें बदले में कुछ प्राप्त करने की

---

१ सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद सं० १११८ पृ० ४१४ ना० प्र० सभा काशी।
२ नन्ददास ग्रन्थावली (सुदामा चरित) पृ० ४१५ ना० प्र० सभा काशी।
३ परमानन्द सागर (सं० गो० ना० गुप्त) पद सं० ६४३ पृ० २२८

इच्छा नहीं रह जाती। वात्सल्य भाव की सुचिता, सुकुमारता तथा प्रबलता का अनुभव पितृ-हृदय की अपेक्षा मातृ-हृदय ही अधिक करता है। यही कारण है कि वात्सल्य भाव की भक्ति करने वाले भक्त ने अपने को यशोदा की स्थिति में अधिक रखा है।

आळ्वार भक्तों में पेरियाळ्वार ने वात्सल्य भाव के बहुत ही सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य जीवन का चित्रण पेरियाळ्वार ने किया है उतने विस्तृत रूप में तमिळ के किसी दूसरे कवि ने नहीं किया है। शैशव से लेकर कौमार्य-अवस्था तक के क्रम से सजे हुए बाल जीवन के जितने चित्र मौजूद हैं। पेरियाळ्वार ने केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं किया है बल्कि बालकों की अन्तःप्रकृति में पूरा प्रवेश किया है और बाल भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने महाकवि सूरदास के विषय में जो लिखा है वह पेरियाळ्वार के विषय में भी सत्य है। द्विवेदी जी ने लिखा है—"यशोदा के वात्सल्य में वह सब कुछ है जो 'माता' शब्द को इतना महिमाशाली बनाए हुए है। यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐसा स्वाभाविक सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। माता संसार का ऐसा पवित्र रहस्य है जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं। सूरदास जहाँ पुत्रवती जननी के प्रेम प्लावित हृदय को छूने में समर्थ हुए हैं, वहाँ वियोगिनी माता के करुण विगलित हृदय को छूने में भी समर्थ हुए हैं।"[1] यों कहा जा सकता है कि सूरदास हिन्दी के पेरियाळ्वार तमिळ के सूरदास हैं।

पेरियाळ्वार ने अपनी लघु रचना 'तिरुप्पल्लाण्डु' में भगवान् को शिशु रूप में कल्पित कर उन्हें वात्सल्य भाव से कई सहस्र वर्ष जीवित रहने का आशीर्वाद दिया है—जय हो प्रभो! जय हो! तुम्हारी भुजाओं ने चाणूर और मुष्टिक नामक मल्लों को पछाड़ा है। इन्द्र नीलमणि सदृश कांतियुक्त दिव्य मंगलमय शरीर धारी। तुम्हारा मंगल हो! अनेक शत सहस्र कोटि वर्षों तक तुम्हारे चरण-कमलों की शोभा बनी रहे! तुम, चिरायु हो।"[2]

माता यशोदा के हृदय में प्रत्येक व्यापार का उसके प्रत्येक उच्छ्वास को पेरियाळ्वार ने बड़ी मार्मिकता के साथ दर्शाया है। कृष्ण-जन्म के कुछ दिनों के बाद यशोदा अपनी सहेलियों से कहती है—पालने में छोटा ऐसा पद प्रहार करता है कि

---

१ सूर साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १२६ १३०।

२ "पल्लाण्डु पल्लाण्डु पल्लायिरत्ताण्डु
पल कोटि नूरायिरम
मल्लाण्ड तिण्तोळ मणि वण्णा। उन
सेव्वडि शेव्वितिरुक्काप्पु।"

—तिरुप्पल्लाण्डु, १।

सहसा टूटने का भय होने लगता है। गोद में उठा लूँ तो कमर तोड़ देता है। छाती से लगा लूँ तो पेट फाड़ देता है। हे सखि! मुझसे नहीं होती इस शिशु की सार-सँभाल! मैं क्या करूँ?"[1]

शिशु के प्रत्येक अंग के सौन्दर्य पर माता मुग्ध हो जाती है और अपनी सहेलियों से आकर देखने को कहती है—"शिशु के प्रत्येक अंग के सौन्दर्य को देखो। शिशु के अपने पैरों की उँगली को मुँह में लेकर चूसते समय उसके कोमल अधरोष्ठ बिम्बों की सुन्दरता को आकर देखो। हे सखि!"[2] माता चन्द्रमा को सम्बोधित कर कहती है—"मेरे लाल के माथे पर आभूषण डोल रहा है। सोने की किंकिणी रुनझुन निनाद कर रही है। मेरा लाल गोविन्द जमीन पर धूल में घुटने के बल रेंगता हुआ खेल रहा है। ... मेरा नन्हा जो मेरे लिए अमृत के समान मधुर है, तुम्हें बुला रहा है, अपने नन्हे कोमल करों से तुम्हारी ओर संकेत कर। अगर तुम इस नन्दलाल के साथ खेलना चाहते हो तो मेघों के पीछे छिपो मत।"[3] "हे चन्द्र! ज्योतिर्मय रथ पर विराजमान होकर सर्वत्र प्रकाशमान होने पर भी तुम मेरे लाल के मुख की आभा के सामने फीके पड़ जाते हो।"[4] मेरा लाल मेरी कमर पर बैठकर तुम्हें बुला रहा है।

---

१ किडन्दिरुन्द तोट्टिल किळिय उदैत्तिडुम्
 एडुत्तुक्कोळ्ळिल् मरुङ्गैयिरुत्तिडुम्
 ओडुक्कि पुल्किल् उदरत्ते पायन्दिडुम्
 मिडुक्किल्लामैयाल नान् मेलिन्देन् नङ्गाय्।
 —पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि १ २-९

२ [illegible]
 [illegible]
 [illegible] । [illegible] ।
 —वही १-२ १

३ [illegible]
 [illegible] ।
 —वही १ ४-१

 [illegible]
 [illegible]
 [illegible]
 [illegible] मामती ! [illegible] ।
 —वही १ ४ २

४ [illegible]
 [illegible] ।
 —वही १ ४ ३

इसे दुःख मत दो। हे पुष्पहीन भ्रमरो जल्दी आ जाओ।[1] "मेरे लाल के सुन्दर मुख से अमृत सम सार टपक रही है। मेरा बालक तोतली बोली से तुम्हें पुकार रहा है। मेरे सर्वप्रिय दुलारे के या बुलाने पर भी तुम नहीं आओगे तो तुम्हें मैं बहरा समझूँगी।"[2]

माता की लोरी गाकर शिशु के सुलाने में कितना आनन्द है! कान्हा धीरे धीरे पैरों पर चलने लगा। यशोदा बैठी है। कान्हा खिलखिलाकर हँसता हुआ आकर उससे लिपट जाता है और उसे प्यार करता है। उसके मुँह से मधु-रस की धार की धारा प्रवाहित है। वह शिशु-मुस्कान माँ के हृदय में अमृत प्रवाहित कर देता है।[3] बच्चे को स्तन-पान कराने के लिए माता बुलाती है—"मेरे लाल! कमल-पत्र पर मोती सम पड़ी ओस-बूँदों की तरह तुम्हारे मुख-कमल पर पसीने की बूँदें हैं। फिर भी तुम धूल में खेल रहे हो। जल्दी दूध पीने आ जाओ। दौड़ते हुए आओ जिससे कि तुम्हारी किंकिणी निनादित हो उठे। गाते हुए, झूमते हुए, नाचते हुए आओ। लौट मत जाओ। दूध पी लो।"[4]

---

१ मोरसलै मेसिरन्नु उम्मेये तुन्दि वासहुम काल
तरुक्तीरिविवैल चन्विरा। वामल पेय्यावे
मवक्कुवेराव ममलमालेयेल वा कम्बाय।

—पेरियाळ्वार तिरुमोळी १४४

२ मळलिमवायिम मधुवपूरल तेळिवुरा
मळमेमुद्राव इळ मोल्माल कमेवकुबुकिन्नुल
कुळकम विरीवरम कूवकूल मी पोविवेल
पुर्ठ पिलावाकाले लिन पेबीपुकर मामती।

—वही, १४५

३ कमकुदम सिरम्वालोत्‌री कणु कण विरल्‌वसु
मुम्मनु मिण्डु मुतम तम्म पन मुविल कम्मन तिरुमावंम
तन्नेम्मेइ कु तन मामसुवम तन्नु एम्मैराळिपिविकन्ड्रान

—वही १-७-४

४ पंकमसप्पोवकलिल अलि कोठ मुत्तम सिन्तिमार्पोल
चेंकमल मुखम वियर्पतीम वेरनु इम्मुदुरल्‌ दे
मदमेल्नाम पुळ तियाक मळय वेंटाम ग्रम्म! शिम्म
मदमरंकु मधुवळित ममरर शोवे। मुल मुनावे।

—वही, २२१

और—

पोरपोव किंकिणीवळ ओलिवकुमोळप्पाणियाले
चाहिप्पाही वरविमकुर्ये पर्वानापमेकु इरम्वेन

बाल-सुलभ चेष्टाओं का तो पेरियाळ्वार ने सूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत किया है। कान्हा पड़ोस के बच्चों से झगड़ा करने के बाद चुपके से घर आ जाता है। पड़ोसिनें अपने रोने वाले बच्चों को साथ लेकर यशोदा को घेर लेती हैं और शिकायत करती हैं। कान्हा हँस रहा है। कान्हा पड़ोस के घरों से मक्खन चुराकर ही नहीं खाता बल्कि खाने के बाद खाली घड़ों को पत्थर पर दे मारता है और उनके टूटकर बिखरने की आवाज पर खुश होकर तालियाँ बजाता हुआ नाच उठता है। पड़ोसिनें यशोदा से इसकी शिकायतें करती हैं।[1]

पहली बार जब कान्हा गौएँ चराने के लिए वन की ओर जाता है, तब यशोदा का तड़पना और सायंकाल को ठीक समय बालक के लौटने तक उसकी चिन्ता और घबराहट का वर्णन हृदय-द्रावक है। पुत्र वियोग एक क्षण के लिए भी माता को असह्य है। यशोदा अपने को कोसती हुई कहती है— 'अंजनवर्ण वाले मेरे दुलारे को मैंने बड़े सवेरे ही स्नान कराकर वन भेज दिया। गायों को चराने के लिए वन में चलते समय उसके कोमल चरणों को कष्ट पहुँचेगा। उसको वहाँ रखकर उसकी नाना चेष्टाओं को देखते ही रहने के बदले मुझ पापिनी ने उसको वन भेज दिया हाय![2] उसके वहाँ रहने पर भले ही सुन्दर केशवाली गोपिकाएँ आकर उसकी क्रूर चेष्टाओं की शिकायत मुझ से करें मैं उसकी परवाह नहीं करती। नयन-प्रिय पुत्र को मैंने अनजाने वन में बछड़ों को चराने भेज दिया। पापिनी हूँ मैं हाय![3] जब कान्हा वन से लौटता है, तो माता के आनन्द की सीमा नहीं रहती और वह गर्व के साथ कहती है कि इस पुत्र को प्राप्त कर मैं धन्य हूँ।[4]

> माणिक्माडी मनैविल्मयु मनगुणेनु हूर्तवाळी
> कोवीरोडी पोय विड्डारे। अन्तो। नी पुनैगुवाये।
>
> —पेरियाळ्वार तिरुमोळी २-२ १०

---

१ पेरियाळ्वार तिरुमोळी ३-२ १

२ अंजनवण्णनै आयर् कोलक्कोळुन्दिनै
मञ्जनमाट्टी मनैकळ् तोऱुम् तिरियामे
कञ्जनैक्काय्न्द कऴलडि नोवक्कन्ऱिन् पिन्
एन् पेयप्पिरन्द कोवलैप् पोक्किनेन् एल्ले पावमे।

—वही ३-२ १

३ वण्णक्करुङ्कुऴल् मादर् वन्दु अलर् तूऱ्ऱिड
पण्णिप्पलचेय्दु इप्पाडि एङ्गुम् तिरियामे
कण्णुक्कु इनियानैक् कानदरिडैक् कन्ऱिन् पिन्
एण्णरुञ्जीर् पिरानैप् पोक्किनेन् एल्ले पावमे।

—वही ३ २ २

४ पेरियाळ्वार तिरुमोळी, ३-३ १

माता यशोदा के मातृ हृदय का चित्र तो अनेक कवियों ने अंकित किया है। परन्तु उस अभागिनी देवकी की ओर जिसको विधि की विडम्बना से पुत्र को जन्म देते ही पुत्र से बिछुड़ना पड़ा कवियों का ध्यान कम गया है। उस (काव्य-क्षेत्र में) उपेक्षिता नारी का मन पुत्र वियोग में किन बातों का स्मरण कर तड़पता होगा इसका बड़ा ही हृदय-द्रावक वर्णन कुलशेखराळ्वार ने प्रस्तुत किया है। देवकी विलाप करती है—'हे प्रिय पुत्र ! तुम्हें पालने में लिटाकर लोरी गाते-गाते सुलाने का भाग्य मुझे नहीं मिला। मैं अभागिनी हूँ। अंजन लगे हुए सुन्दर नयन आभूषण से अलंकृत कोमल कांति युक्त शरीर वाले बालक का आलिंगन करने का भाग्य मुझे नहीं मिला।" तुम्हारे कोमल करों से खिलखाकर 'बाबा" कहकर पुकारते हुए सुनने का भाग्य नन्द को मिला, मेरे पतिदेव (वसुदेव) को नहीं मिला। तुम्हारी बाल-चेष्टाओं को देखकर पुलकित होने का सौभाग्य यशोदा को मिला मुझे नहीं। मैं अभागिनी हूँ।' (इत्यादि)[1]

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास और परमानन्द ने विशेष रूप से बाल-लीला के पद बहुत गाये हैं। सूर सागर में कृष्ण की बाल-लीला तथा कृष्ण वियोग में यशोदा विरह के संपूर्ण पद सूर की वात्सल्य भक्ति के प्रमाण हैं। सूर का मातृ-हृदय बाल रस की अभिलाषा कर कह उठता है —

"मेरो माखुरियो गोपाल बेगि बड़ो किन होई
इहि मुख मधुर वचन हँसि कबहुँ जननि कहोगे मोहि।

---

१ ऐनयोर पुळ्ळैन मळन तालेलो
एन्ड्रेन्नु अम्म एनकारिवै मिरव
तालोलित्तिरुम तिरुविल्लियित्तान
वायरित्त कजयारिन तावे। —पेरुमाळ तिरुमोळी ७ १

...

मळस्थिर चोविळ विरलमेस्म
मळ्योर, समन्नु मालेमिकिरळ
शिवर्वे कणिवाम्मैप्पुरैमेन अम्मे।
वेळना ! केवुवेन केवुवेने। —वही ७ २

उलीयालमेन्दुरैम्म शिवोरेळ।
विरलिनुस पळवळन्मिनुस नाद्र
नम्बन पेरुमन मनिवळैयित्ता
म वळवोम अनुवेवन पेट्रिलने। —वही ७ ३

निरविसेल थोम्न म पेट्रिनेन एन्नाव
वेवर्तर्म यशोद पेट्रुळ्ळ।

—वही ७ ५

यह लालसा अधिक दिन दिन प्रति कबहुँ ईस करै,
मो देखत कबहुँ हँसि माधव पगु द्वै धरनि धरै।
हलधर संग फिरैं जब आँगन चरन शब्द सुख पाऊँ
छिन छिन क्षुधित जान पय कारन हौं हठि निकट बुलाऊँ।
आगम निगम नेति करि गायो शिव उनमान न पायो,
सूरदास बालक रस लीला मन अभिलाष बढ़ायो।"[२]

कृष्ण का बाल-सौन्दर्य भी अनोखा है। यशोदा ही नहीं बल्कि ब्रज की सभी माताएँ उस सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। सूर कहते हैं कि उस अपार सुन्दरता-सिन्धु की केवल एक बूँद ग्रहण करने की शक्ति ही उनकी अकिंचन अनुभूति में है —

'सजन हौं या छबि ऊपर वारी
बाल गोपाल लगौ इन नैननि रोग बलाइ तुम्हारी।
लट लटकनि मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलि शावक पंगति उड़त मधुप छबि न्यारी।
लोचन ललित कपोलनि काजर छबि उपजत अधिकारी।
सुख में सुख की छबि बाढ़ति हँसत दै दै किलकारी।
अल्प दसन कलबल करि बोलनि बुधि नहिं परत बिचारी।
निकसति जोति अधरनि के बीच ह्वै मानौ बिधु में बीजु उज्यारी।
सुन्दरता को पार न पावति रूप देखि महतारी
सूर सिन्धु की बूँद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी॥[1]

सूर के वियोग-वात्सल्य-वर्णनों में वात्सल्य भक्ति अगाध रूप में प्रकट हुई है। कृष्ण के अक्रूर के साथ मथुरा चले जाने पर पुत्र-वियोग में यशोदा छटपटाने लगीं। उनकी स्थिति का वर्णन सूर के शब्दों में सुनिए—

"जसोदा बार बार यौं भाखै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारौ चलत गुपालहिं राखै।
कहा काज मेरे छगन मगन कौं नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक-सुत मेरे प्रान हरन कौं काल रूप ह्वै आयौ।
बरु यह गोधन हरौ कंस सब मोहिं बंदि लै मेलौ।
इतनोई सुख कमल नयन मेरी अँखियनि आगे खेलौ।
बासर बदन बिलोकत जीवौं निसि निज अंकम लाऊँ।
तिहिं बिछुरत जौ जियौं कर्मबस तौ हँसि काहि बुलाऊँ।
कमल नयन गुन टेरत-टेरत अधर बदन कुम्हिलानी।
सूर कहाँ लगि प्रगटि जनाऊँ दुखित नंद जू की रानी॥"[२]

---

१ सूरसागर (दशम स्कन्ध) ना० प्र० सभा काशी।
२ वही (दशम स्कन्ध) पद सं० ७६, पृ० २९२ ना० प्र० सभा काशी।
३ " (") पद सं० ३९९१ पृ० १२७३ ना० प्र० सभा काशी।

बाल-कृष्ण की छवि पर मुग्ध परमानन्द दास कहते हैं —

बाल विनोद गोपाल के देखत मोहि भाव ।
प्रेम पुलकि आनन्द भरी जसुमति गुन गावै ॥
बलि समेत मन साँवरो आँगन में आव ।
बदन चूमि गोद लियो मुख आनि खिलावै ॥
सिव विरंचि मुनि देवता जाको पार न पावै ।
सो 'परमानन्द' ग्वाल कौं हँसि भलो मनाव ॥[1]

सूर के समान ही वात्सल्य के विरह की अनुभूति परमानन्द दास को भी होती है । वे कहते हैं —

'गोपाल बिन कैसे रहिबो ।
दूभर मन उठाइ गोद ले लाल कौन सों कहिबो ॥
श्री मधुपुरी बिलम नायत हैं सोच दुख तन सहिबो ।
'परमानन्द स्वामी' कों तजिकै सरन कौन की गहिबो ॥"[2]

मधुर भाव की भक्ति

लोक में प्रीति के विभिन्न सम्बन्धों में स्त्री-पुरुष के प्रेम में विशेष आकर्षण है । स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति को काव्य शास्त्र में 'शृङ्गार रस' की संज्ञा दी गई है और उसका स्थायी भाव 'रति' माना गया है । लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध की व्यापकता को देखकर भक्तों ने भी ईश्वर के प्रति अपने आध्यात्मिक सम्बन्ध की अनुभूतियों को लौकिक शृङ्गार की भाषा और अन्योक्तियों में प्रकट किया है । लोक-पक्ष में जो शृङ्गार रस है वह भक्ति-शास्त्र में 'मधुर रस' कहलाता है । भाव विभाव अनुभाव, व्यभिचारी आदि शृङ्गार के जितने भी अंग हैं, वे मधुर रस के भी अंग माने गये हैं । अन्तर इतना है कि मधुर रस' के अन्तगत आलम्बन लौकिक नायक न होकर ईश्वर का कोई अवतार होता है । एक और अन्तर यह है कि शृङ्गार रस तथा शृङ्गार रसाभास—ये दोनों मधुर रस के अन्तर्गत हैं । श्री रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में विस्तार से इस मधुर रस की व्याख्या की है । शृङ्गार रस के दोनों पक्षों (संयोग और वियोग) की अवस्थाएँ भी मधुर रस के अन्तर्गत स्वीकृत हुई हैं । तात्पर्य यह है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर शृङ्गार रस और मधुर रस में विशेष अन्तर नहीं रह जाता । दोनों प्रकार के रसों के परिपाक के लिए जिस चित्तवृत्ति की आवश्यकता है, वह एक ही है । मनुष्य की मनोवृत्ति स्वभाव से ही अन्य प्राणियों की तरह इन्द्रिय-सुख की ओर आकृष्ट रहती है । भक्तों ने इसी मनोवृत्ति

---

१ परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० शुक्ल), पद सं० ८०
२ वही („ „) पद सं० २४० पृ० १०२

को इन्द्रिय सुख से हटाकर ईश्वर की ओर उन्मुख किया है। माना है कि लौकिक वस्तु या व्यक्ति के संसर्ग से जो सुख इन्द्रियों को मिल सकता है, उसका मूल-स्रोत ईश्वर में ही विद्यमान है। इसी कारण भक्ति-साधना में मधुर भाव को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

भारतीय मनीषियों का मत है कि भक्त में परमात्मा के प्रति उतना तीव्र प्रेम होना चाहिए जितना स्त्री के हृदय में पुरुष के प्रति। स्त्री भाव के प्रेम में ही आत्मोत्सर्ग और आत्म विस्मृति की अवस्था पूर्ण रूप में आती है। पाश्चात्य विद्वानों का भी यही मत है। श्री जेराल्ड वान लिखते हैं —

"In the male mind there is predominances of reason concern with active the practical, with doing direction is centrifugal, looking to external achievement In the female mind there is predominances of intuition receptivity concern for being rather than doing direction is centripetal, the well-doing of the object of love rather than well-doing of other external things"[1]

यही कारण है कि भक्ति में स्त्री भाव की बड़ी प्रतिष्ठा हुई है। आळ्वार भक्तों तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में स्त्री-भाव से होने वाली भक्ति का अधिक परिचय मिलता है। भक्त कवियों ने अपने को स्त्री-रूप में कल्पित कर परमात्मा-पुरुष के प्रति तीव्र प्रेम प्रकट किया है। इन कवियों के लिखे अनेकानेक पदों में इस स्त्री भाव की भक्ति की अभिव्यक्ति हुई है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य में कृष्ण से माधुर्य भाव का प्रेम करने वाली दो प्रकार की गोपियां वर्णित हैं। एक तो वे कुमारिकाएँ थीं जिन्होंने आरम्भ से ही कृष्ण पर मुग्ध होकर उन्हें अपना पति माना था और उनमें से कुछ का उनसे वरण भी हो गया था। दूसरी वे थीं जो विवाहिता थीं और जिन्होंने पर पुरुष कृष्ण से प्रेम किया था। गोपियों को आळ्वार भक्तों ने तथा विशेषकर पुष्टिमार्गीय अष्टछाप-कवियों ने बहुधा स्वकीया ही चित्रित किया है। यद्यपि कुछ गोपियों का कृष्ण से विवाह नहीं हुआ था, तो भी वे लोक लाज कुल-कानि छोड़कर कृष्ण से प्रेम करती थीं। और अपने मनोराज्य स्वाराज्य में अपने को कृष्ण-कान्ता ही मानती थीं। जहाँ गोपियों के मान और खण्डिता के भाव कवियों ने प्रकट किये हैं, वहाँ भी उन्होंने गोपियों को स्वकीया ही रखा है। आळ्वारों की राधा 'नप्पिन्नै' तथा हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों की राधिका भी कृष्ण की विवाहिता पत्नी के रूप में ही चित्रित है।

आंडाळ तो स्वयं को कृष्ण की पत्नी के रूप में मानती थीं। वे कहती हैं— 'यौवन सुषमा से पूरित मेरा यह शरीर उस चक्रधारी पुरुषोत्तम के लिए ही अर्पित है। उस पुरुषोत्तम पतिदेव को लक्ष्य करके उभरे हुए मेरे उरोजों को यदि दूसरे के

1 *"St. Thomas Aquinas"* : Gerald Vann, p 5 ff (London, 1940)

उपभोग्य बनाने की (दूसरे के साथ विवाह होने की) बात चली तो मैं जीवित नहीं रहूँगी।"[1] आंडाळ ने स्वप्न में 'माधव' के साथ होने वाले अपने विवाह का भी बड़ा ही सरस वर्णन किया है— 'दुंदुभियों का नाद उठ रहा था। शंख ध्वनि सुनाई दे रही थी। उस समय जगमगाती मुक्तावलियों से अलंकृत मण्डप में पुरुषोत्तम ने आकर मुझे अपनाया।'[2] हिन्दी कवयित्री मीरा के अनेक पद स्वकीया प्रेम को प्रकट करते हैं। मीरा स्पष्ट रूप से कहती हैं —

मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥[3]

और—

मैं तो गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥
× × ×
मेरी उनकी प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ।
× × ×
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बार-बार बलि जाऊँ॥[4]

एक स्थान पर स्वकीया भाव से सूर की गोपी उद्धव से कहती है—

हम अलि गोकुल नाथ अराध्यो।
मन, बच, क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेम जोग तप साध्यो॥
मातु-पिता हित, प्रीति, निगम पथ तजि दुख सुख भ्रम नाख्यो।
मानापमान परम परितोषी सुस्थल थिति मन राख्यो॥[5]

प्रेम में पूर्वराग की अवस्था नायक के गुण-श्रवण अथवा स्वप्न चित्र या साक्षात् रूप-दर्शन से होती है। जब नायिका के हृदय में रति उत्पन्न होती है, तब उसे प्रिय-मिलन की लालसा होती है। इस अवस्था में विरह की दशाएँ भी नायिका के मन में उपस्थित होती हैं। कभी प्रिय की रूप-माधुरी उसे लुभाती है। कभी प्रिय की स्मृति कभी आठ-आठ की चिन्ता उसे सताती है। कभी सहज उन्माद और विह्वलता आदि भाव मन को मथ डालते हैं। इन दशाओं को चित्रित करने वाले अनेक पद आळ्वारों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के मिलते हैं।

किशोर-कृष्ण के रूप लावण्य ने व्रज की गोप-कुमारियों को मुग्ध कर डाला है। पेरियाळ्वार की गोपी कहती है—'हे सखि! मुरली में मधुर ध्वनि निकालते

---

१ नाच्चियार तिरुमोळि १ ४

२ वही, ६ १

३ मीरा की पदावली पद सं० १८

४ वही पद सं० ३०

५. सूर सागर (दशम स्कन्ध), पद सं० ४१४८, ना० प्र० सभा, काशी।

हुए आते घनस्याम के अतुल सौन्दर्य पर मैं इतनी मुग्ध हो गयी हूँ कि अनजाने ही मेरे हाथ के कङ्कण स्वयं गिर रहे हैं। मेरे वसन भी अस्त-व्यस्त हो रहे हैं और मेरे स्तन भी मेरे वश में नहीं हैं।"[1]

कृष्ण के रूप-माधुर्य पर मुग्ध गोपी की दशा का वर्णन उसकी माँ करती है— "कमल दल लोचन सुन्दर वदन कृष्ण को गली में मुरली बजाते हुए गाते-नाचते आते देखकर उसके सौन्दर्य पर मेरी पुत्री इतनी मोहित हो गयी कि उसका शरीर अब क्षीण हो रहा है।"[2]

कुलशेखराळ्वार की एक गोपी कहती है— 'सुन्दर सुरभित सुमनों से सदा अलंकृत केशवाली कई सुन्दरियों से युक्त इस गाँव में जब मैंने तुम्हारे आलिंगन की लालसा प्रकट की थी तो तुमने यमुना तट पर मिलने को कहा था। तुम्हारी बात पर विश्वास कर अब इस ठंडक में यमुना-तट पर मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। हे घनस्याम! तुमने झूठ ही कहा था?"[3]

सूर की गोपी कहती है—

आवति ही जमुना भरि पानी।
स्याम बरन काहू को ढोटा निरखि बदन घर-गैल भुलानी॥
मैं उन तन मन मोहन चितयौ, तबही तें उन हाथ बिकानी।
उर धकधकी टकटकी लागी, तन व्याकुल मुख फुरति न बानी॥
कह्यौ मोहन मोहिनि तू को है, मोहि नाहीं तोसौं पहिचानी।
सूरदास प्रभु मोहन देखत, जनु बारिद बूँद हिरानी॥[4]

और—

सुन्दर बोलत आवत बैन।
ना जानौं तिहि समय सखी री सब तन स्रवन कि नैन॥

---

१ पॆरियाळ्वार तिरुमोळी ३-७-४

२

कोल चॆन्तामरैक्कण् मिळिर
कुनुकुनुत्तियिसैपाडि कुनित्तु आयरोडु
आलित्तु वरकिन्ऱ आयप्पिळ्ळै
अळकु कण्डु एन मकळयर्किन्ऱते॥ —पॆरियाळ्वार तिरुमोळी ३ ४-७

३ एर्मलर् पूङ्कुळलायर् मादर् एनैप्पलरुळ्ळ इव्वूरिल् उन तन
मार्वु तळुवतर्कु आसैयिन्मै अरिन्दरिन्दे उन तन पॊय्यै कॆट्टु
कूर्मळै पोल पनिक्कुळत्तेरी कूति नडुङ्गि यमुनै आट्रिल्
वार्मणर्कुन्ऱिल् पुलर निन्ऱेन् वासुदेवा। उन वरवु पार्त्ते।
—पॆरुमाळ तिरुमोळी ६ १

४ सूरसागर (दशम स्कन्ध), पद सं २०१० ना० प्र० सभा काशी।

रोम रोम में मग्न सुरति की, नख सिख लौं चख ऐन।
हते नाम बानी चपलता, सुनी न समुझी सैन॥
तब तजि लाज कहूं चित सों पल न लगत चित चैन।
सुनहु सूर यह सांच कि सजनी, सुपन किधौं दिन रैन॥[1]

शृङ्गार रति की उत्कट पूर्वराग-अवस्था में प्रेमी लोग लोक-लाज और कुल मर्यादा का भी उल्लंघन कर देते हैं। पहले कहा जा चुका है कि तिरुमंगै आळ्वार तथा नम्माळ्वार ने लौकिक प्रेमकाव्य की सभी रूढ़ियों के सहारे अलौकिक प्रेम की पद्धति चलाई थी। जब नायक को नायिका की प्राप्ति करने में बाधा आ पड़ती है, तो वह 'मडल'[2] पर चढ़कर अपने तीव्र प्रेम की परीक्षा देकर नायिका को प्राप्त करना चाहता है। यह तमिळ लौकिक प्रेम-काव्य की एक रूढ़ि है। इसके अनुसार केवल पुरुष ही 'मडल' पर चढ़ सकता है। इस अवस्था में वह लोक-लाज, कुल-मर्यादा का ही अतिक्रमण करता है। भक्त कवियों ने इस स्थिति का वर्णन नायिका के विषय में भी कर दिया है। नायिका लोक-लाज कुल-मर्यादा की परवाह न कर अपने प्रेम को प्रकट करने के लिए 'मडल' पर चढ़ने को तैयार हो जाती है। तिरुमंगै आळ्वार की दो रचनाएँ 'चिरिय तिरुमडल' और 'पेरिय तिरुमडल' नायिका की इस स्थिति का वर्णन प्रस्तुत करती हैं।

व्रज की गोपिकाओं ने भी प्रेम की उत्कट अवस्था में पूर्ण रूप से लाज-लाज का त्याग कर दिया। हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने भी गोपी प्रेम' द्वारा अपनी प्रेम लक्षणा भक्ति का परिचय देते हुए लोक-लाज और कुल-मर्यादा की उपेक्षा का भाव प्रकट किया है। इस आशय को प्रकट करने वाला सूर का निम्न पद द्रष्टव्य है:—

माई री गोविन्द सों प्रीति करत तब ही काहे न हटकी री,
यह तौ अब बात फैलि गई बीज बर कीरी।
घर घर नित यहै घैर बानी घट घट की
मैं तो यह सबै सही लोक लाज पटकी।
मद कैसे हस्ती समान फिरति प्रेम लटकी,
खेलत में चूकि जाति होति कला नट की।
जल रजु मिलि गांठ परी रसना हरि रट की,
छोरे ते नहीं छूटति कहक बैर भटकी।
मेटे क्यौंहू न मिटति छाप परी टटकी,
सूरदास प्रभु की छबि हिरदै मेरे अटकी।[3]

मधुर प्रेम की उत्कट अवस्था में मीरा भी सूर आदि की गोपियों की तरह

---

१ सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद सं० २१२८ ना० प्र० सभा काशी।
२ 'मडल' का परिचय पीछे दिया जा चुका है।
३ सूरसागर, (दशम स्कन्ध) वे० प्रे०, पृ० २६६

कुल-मर्यादा का त्याग कर देती है। मीरा के कुटुम्बियों के 'कुलनासी' तक कहने में भी वे विचलित नहीं होती। मीरा को ऐसी बदनामी भी प्रेम की तीव्रता में मीठी लगती है—

"राणा जी म्हाने या बदनामी लगे मीठी।
कोई निन्दो कोई बिन्दो, मैं चलूंगी चाल अपुठी।"[1]

मधुर प्रेम का संयोग-सुख

प्रेम की पूर्वराग-अवस्था में जब प्रेम परिपक्वता और दृढ़ता को प्राप्त करता है, तब प्रेमियों का मिलन होता है। यह संयोगावस्था वास्तविक मिलन में अथवा मानसिक जगत् के काल्पनिक मिलन में प्रकट हो सकती है। गोपीकृष्ण मिलन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के मनन और अपने व्यक्तित्व के गोपीभाव में आरोप द्वारा भक्त कवियों ने इष्टदेव के सान्निध्य तथा संयोग की अनुभूति पाने का अभ्यास किया है। प्रेम के जो उत्कर्षक भाव होते हैं, जो संचारी रूप से मुख्य भाव के सहायक होते हैं तथा कुछ वस्तुएँ और व्यापार भी जो उद्दीपन विभाव रूप में प्रेम की वृद्धि करते हैं, उन सबका समावेश दोनों वर्गों के भक्त कवियों (आळवार और हिन्दी कृष्ण-भक्त कवि) ने अपने काव्यों में किया है।

आण्डाळ संयोग-सुख की इच्छा से प्रेरित होकर शंख को सम्बोधित कर कहती है— 'लालसावश मैं पूछती हूँ। हे सफेद शंख ! जरा बताओ तो मेघ वर्ण 'माधव' के अधर रस का स्वाद है कैसा ? कापूर या कमल सा सुगन्ध युक्त अथवा मधुर मिठास भरा ? बताओ तो हे धवल ! माधव के प्रवाल सम अधर का रस है कैसा ?

संयोगावस्था में मानकर बैठने वाली गोपी कहती है— 'सुन्दर केशवाली एक कुमारिका पर कटाक्ष कर, दूसरी एक को मिलन का वादा देकर, तुम अन्य किसी के प्रेम-पाश में संयोग-सुख प्राप्त करते हो। तुमने जो वचन मुझे दिया था वह झूठा है। कैसी है तुम्हारी माया ?[2] बिजली सम पतली कमर वाली सुन्दरी का साथ लेकर गली में तुम चले छिप छिप के। उसके घूँघट हटा कर चूमने को भी मैंने देखा।

---

१ मीरा की पदावली (सं परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० ३१ नवाँ संस्करण।

२ करुप्पूरम नारुमो ? कमलप्पूनारुमो ?
तिरुप्पवळ चेव्वाय तान तित्तित्तिरुक्कुमो ?
मरुप्पोचित्त माधवन तन वाइच्चुवै नारुम
विरुप्पुट्रुक्केट्किन्रेन चोल्लाळी वेण्शंगे।

—नाच्चियार तिरुमोळी ७ १

३ करुमलर्क्कूंतलोरुत्ती तन्नै कडैक्कणित्तु आंगे योरुत्ती तन पाल।
मरुवि मन वैत्तु मरुपोरुत्तिक्कु उरैत्तु ओरु पोय्यैक्कु पोय् कुरित्तु

उस समय संयोगानन्द के लिये किसी दूसरी को आँखों से बुलाते भी मैंने देखा। क्यों उसे छोड़कर मेरे पास आये हो? वहीं जाओ।[1] तुमने मुझसे कुंज में आने को कहा था। जब मैं आयी तो किसी दूसरी के प्रेम-पाश में तुम्हें देखा। मुझे देखकर तुम कुछ गुनगुनाने लगे। तुम्हारा हीला-हवाला मैं समझती हूँ। आगे जब तुम मेरे पास आओगे, तब मैं इसका बदला लूँगी।[2]

चीर-हरण के प्रसंग में भी कृष्ण के वात्सल्यपूर्ण लीला कौतुक और गोपियों के प्रेमपूर्ण उपालम्भ आदि के द्वारा गोपियों के माधुर्य भाव की व्यंजना की गई है।[3]

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त-कविता में प्रेम के संयोग-पक्ष का वर्णन आळ्वारों की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया है। नीचे उद्धृत पद मधुर भक्ति के संयोग-सुख को प्रकट करने वाले सूरदास जी के पद हैं —

> राधा सकुच स्याम मुख हेरति
> चमकावली दैन के आवति जब ही को प्रिय फेरति।
> बाहु-बाहु मुख तें कहि भाषत, कर तें कर नहिं छूटत।
> उतहि सखी भावत सकुचानी इतहि स्याम मुख जूटत।
> सुख दुख हरष कछु नहिं जानति स्याम महारस माती,
> सूर उतहि चमकावलि इक टक उनही के रंग राती।[4]

तथा—

> स्याम हँसि बोले प्रभुता डारि
> बारम्बार विनय कर जोरत कोटि पट गोद पसारि।

पुरिकुळल् नंगै मोरुत्ति तन्नै पुनरी अवळुडुय मेयुपवत्तं
मद तिरत्ताय ? उनक्कतीपुरे कळ्ळक्कुताल उन तम मार्य ताले।

—पेरुमाळ तिरुमोळी ६ १

१ मिमोल पुण्णैयवळ् क्कोण्डुवोविक्कळ् वाय तन मीविपुरे
पामोल वाईवु पुळनिट्टु पोविन्दु पोतु नाल कष्णु निमुंज
कण्पुद्वळ् मो कण्णलिट्टु कै विलिविकण्डुम कण्णेन
एमक्कु अवर्ळ विट्टु इगु वमा इमम मगे मइ नम्बी।

—वही, ६ : ५

२ एम्मे वरकवेन पुरिलित्तु इममामु स्न विम वरर मित्तळ
भमि अवर्ळ पुसरम्पुरु मई नवणु उळरा मैविळ साय
पोमिर वाईयं ऍ विम तांपी वोपुपवणमकाट्टी की पोविपेनुम
इमम एन कयकत् ईमोव माळ वदवियेम एन विमन सीवम माने।

—वही, ६ : ८

३ नाचियार तिरुमोळी ३। १—१०

४ सूरसागर (दशम स्कन्ध), पद सं० २७७६, ना० प्र० सभा, काशी।

तुम सम्मुख मैं विमुख तुम्हारो मैं अपराध तुम साध
बन्ध-बन्ध कहि-कहि युवतिन की आप करत अनुराध।
मोको भयो एक चित हूँ के मिवरि लोक कुल कानि
सुरपति मैं तोरि तिनका सों मोहीं मिल कर आनि।
जाके हाथ पैर पस जाको सो पल आह्यो कुमारि,
सुर कृपा पुरुष सो बोले गिरि गोवर्धन धारि॥[1]

मीरा बाई ने अपने प्रियतम-मिलन के अनेक चित्र अंकित किये हैं। वे कहती हैं —

सहेलियाँ साजन घरि आया हो।
बहुत दिना की जोवती विरहणि पिव पाया हो॥

और—

म्हारा ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया हिलमिल मंगल गाया जी॥[2]

नन्ददास ने भी गोपी-कृष्ण के संयोग का वर्णन कुछ पदों में किया है :—

आज मेरे धाम आए री नागर नंद किशोर।
धन्य दिवस अब रात री सजनी धन्य भाग सिरमोर।
मगल गाओ चौक पुराओ बन्दनवार सजावहु पौर।
नन्ददास प्रभु संग रस बसकर जागत करहु भोर॥[3]

मधुर भक्ति का वियोग-पक्ष

प्रेम की परीक्षा वियोग में होती है। प्रेम की संयोगावस्था के सुख का महत्त्व विरह की वेदना ही कराती है। प्रेम की तीव्रता प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण उसके अभाव में सर्वत्र उसका ध्यान और मिलन-लालसा की पुष्टि इस विरह भाव की भिन्न भिन्न अवस्थाओं की अनुभूति से होती है। लौकिक प्रेम से कहीं अधिक बड़ी चढ़ी व्याकुलता की मधुर भावना पतित पावनी गंगा की तरह भक्त की हृदय-भूमि में उसके भावों को, उसके कर्मों को पवित्र करती है।[4] नारद भक्ति-सूत्र" में भी भक्ति की ग्यारह आसक्तियों में 'परम विरहासक्ति' अधिक महत्त्व की बतायी गयी है।

आळवार भक्तों ने काव्य में प्रेम के संयोग-पक्ष की अपेक्षा वियोग-पक्ष का वर्णन बहुत अधिक है। आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास आदि ने प्रेम की वियोगावस्था का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। दोनों क्षेत्रों के कवियों में

---

१ सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद सं० १६२१
२ मीराबाई की पदावली—पद सं० ११२
३ नन्ददास ग्रन्थावली, पदावली—पद सं० १२
४ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ६८०।

विरह की तीव्रता प्रदर्शित करने के लिए काव्य-शास्त्र में कही हुई वियोग की सभी अवस्थाओं जैसे—अभिलाषा चिन्ता स्मृति प्रलाप उन्माद व्याधि जड़ता आदि तथा विरह-वेदना से प्रभावित शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों जैसे—मलिनता, पाण्डुता, कृशता अरुचि दीनता तन्मयता आदि के बड़े ही हृदयग्राही वर्णन किये हैं। विस्तार भय से केवल कुछ ही उदाहरण नीचे देते हैं —

आंडाळ वियोग में कोकिल से कहती है— मेरे शरीर की हड्डियाँ पिघल रही हैं। भाले के समान ये लम्बे-लम्बे नयन कभी बन्द नहीं होते। निशि-दिन इनसे अश्रुधारा बहती है। दुःख-सागर में डूबकर बिना गोविन्द नामक नाव के मैं कष्ट भोगती हूँ। हे कोकिल! तू कदाचित् इस व्याधि से परिचित है जिसका जन्म प्रियजन विच्छेद से होता है। कांचन-सम कांति युक्त शरीर वाले मेरे प्रियतम को यहाँ आने का निमन्त्रण दे दे।[1]

नम्माळ्वार तथा तिरुमंगै आळ्वार ने मातृ-वचन द्वारा विरह में नायिका की दशा का वर्णन कराया है —

'मेरी पुत्री का मन द्रवित हो गया है। उसकी आँखें भर आती हैं और वह दीर्घ निःश्वास लेती रहती है। खाना-पीना तो वह बिलकुल भूल गयी है। नींद का त्याग तो वह पहले ही कर चुकी है। वह सर्वदा प्रियतम के नाम को ही रटती रहती है। वह अपनी सहेलियों से कहती है कि मुझे मेरे प्रियतम के पास ले जाओ। हाय री भाग्यहीनता! ऐसी पुत्री मेरी है जो मेरे शासन में सीमित नहीं रह सकती और इस कारण लोक में मुझ पर कलंक सा लग गया है।[2]

"वियोग दुःख में वह अपनी सहेलियों तक से मुस्करा कर बातें नहीं करती। अपने स्तनों पर चन्दन नहीं लगाती। नयनों में अंजन नहीं लगाती। अपने कुन्तल को पुष्पों से अलंकृत नहीं करती। सदा प्रियतम का ही नाम रटती रहती है।'[3]

—

१ एन्बुरुगि इनवेल नेडुङ्कण्गळ् इमै पोरुन्दा पल नाळुम्
तुन्बक्कडल पुक्कु वैकुन्दनेन्बदोर् तोणी पेरादु उऴल्किन्ऱ न
अन्बुडैयारै पिरिवुऱु नोय् अदु नीयुम् अऱिदि कुयिले।
पोन्पुरै मेनिक्करुळक्कोडियुडै पुण्णियनै वरक्कूवाय्।

—नाच्चियार तिरुमोऴि ५ ४

२ आविलुम् उम पेरगी मलोरवळ्
उणवुम् निनैत्तिल् सुक निनैम्नु
कारणं पेरिदु वैयार कुडियाळ्
कमल नेडु कण् तुयिल मरन्ताळ्।

—पेरिय तिरुमोऴि २ ७ २

३ कुळम्बु पुरवम् सोऴियु मरन्ताळ्
नुम मुग वामु कोण्डु अणियाळ्

नम्माळ्वार की नायिका कहती है — 'हे मन्द मारुत ! अब मुझे तुम्हारे प्रति कोई आकर्षण नहीं रहा। मेरे हृदय को तो प्रियतम ले गया। अब तुम काहे को सताते हो ? शीतल होकर भी जलाते क्यों हो ?'[1] (वियोग में) एक-एक क्षण एक-एक युग के समान लगता है। हृदय वियोग में टुकड़ा-टुकड़ा हो जाता है। मेरा शरीर क्षीण होता जाता है। आश्चर्य है कि मैं प्रिय वियोग में कैसे जीवित हूँ ?'[2]

नायिका समुद्र को देखकर कहती है — 'हे समुद्र ! दिन रात तुम गरजते रहते हो मानो हृदय को द्रवित कर वेदना-तरंगों को लहराकर रोते रहते हो ? क्या तुम्हारी भी मेरी जैसी दशा हो गयी है ? तुम किस के वियोग में इस तरह रोते हो ?'[3] वियोगिनी नायिका कहती है— 'सारा जगत् दीर्घ निद्रा में मग्न है। सर्वत्र सन्नाटे का साम्राज्य है। विशाल सागर की तरह अन्धकार मेरे चारों ओर फैला हुआ है। इस नीरव रजनी में मैं ही केवल जाग रही हूँ। अगर मेरा प्रियतम न आए तो कौन मुझे सान्त्वना दे सकेगा ?'[4]

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास ने मधुर भक्ति के वियोग पक्ष का पर्याप्त वर्णन किया है। विरह की महत्ता बतलाते हुए सूर कहते हैं —

मुडक्कुष्ठ कुदर्द वरुम्बिमी एमुवळ
कोल मम्मलर कुळ्कु मामियाळ। —पेरिय तिरुमोळि ८-७-२

१ तनि नेंजम मुन्नवर पुळ्ळ कवर्न्दनु तन्नवुळ्ळाद
इनि नेंजम इङु कवर्वदु यामिलम नी नडुवे
मुनिवल मेरुन्दी मुळै मुवताम मुदि मुडु मुळारन्दु
पनिवलमारुदमे ! एम्मदाविपनिप्पियदवे ?

—तिरुविरुत्तम ४

२ पनिनिप्पियस्वाक उयम तम वाडै इत्ताम इन्नूर
पनिप्पियत वेत्ताम तनियु एरियीयुम ।”

—वही ५

३ कामुरुवंमरवोडु एनने ! इराप्पकल
नी मुट्रुकुम तुयिलसाय नेंजुरुकि एंगुतियाल
ती मुट्रुप्पिलंकै कडिनाम ताळ नवम्
या मुट्रुम उरुवायो ? वाळी कनै कडले।

—तिरुवायमोळि २ १ : ३

४ मरेत्ताम तुञ्जी उलकेल्लाम नळियिरुळाय
मीरेत्ताम तेरी ओर नीळिरवाय नीण्डताल
पारेत्ताम उण्ड अम्मान्यवाल वाराताल
यार ? एन्नै ! वल्वमपेन प्राविकाप्पार इनि।

—वही २ ४ १

ऊधौ बिरही प्रेमु करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौं, रंग न रसै परै॥
ज्यौं धर दहै बीज अंकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै॥
ज्यौं रन सूर सहै सर सन्मुख तौ रवि रथहु अरै।
सूर गुपाल प्रेम-पथ चलि करि क्यौं दुख सुखनि डरै॥[1]

विरहावस्था में गोपियों की भाव-दशा को सूर का निम्नलिखित पद स्पष्ट करता है —

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा रितु हम पर जब तें स्याम सिधारे॥
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भये कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ उर बिच बहत पनारे॥
आँसू-सलिल सबै भइ काया पल न जात रिस टारे।
सूरदास प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहें बिसारे॥[2]

विरहोन्माद में उनको नाना प्रकार की भावनाओं से रंजित होकर कभी-कभी एक ही वस्तु भिन्न भिन्न रूप में दिखाई देती है। उमड़े हुए बादल विरहिणियों के लिए कैसे भीषण दीख पड़ते हैं —

देखियत चहुँ दिसि तें घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियनि बलकरि बंधन तोरे॥
स्याम सुभग तन चुवत गंडमद, बरषत थोरे-थोरे।
रुकत न पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥
मनौ निकसि बग-पाँति-दंत, उर अवधि सरोवर फोरे।
बिनु बेसा बल निकसि नयन जल, कुच कंचुकि बंद बोरे॥
तब तिहिं समय आनि ऐरावति, ब्रजपति सौं कर जोरे।
अब सुनि सूर कान्ह-केहरि बिनु, गरत गात जसें ओरे॥[3]

परमानन्ददास ने विरह के विषय में कहा —

बिरह अगिनिदहित प्रीति को चोज,
बिनु लागे कैसे जानत है इन नैननि को रोज।
स्याम मनोहर बिछुरे सखी री बैरी भयो मनोज
परमानन्द बिछुरे जे मर ते हैं राजा भोज।

१ सूरसागर (दशम स्कन्ध), पद सं० ४६०४ ना० प्र० सभा काशी।
२ वही („) पद सं० ३८५४ ना० प्र० सभा काशी।
३ वही („), पद सं० ३९२१, ना० प्र० सभा काशी।

परमानन्ददास के निम्नलिखित पद में गोपियों के विरहोद्‌गार प्रकट हुए हैं—

मारग माधो को जोवै,
यह अनुहारि न देख्यो कोऊ जो नैनन दुख खोवै।
बाल विनोद किये नवनन्दन सुमिरि सुमिरि गुन रोवैं,
बासर पति गृह काज न भावै निस भरि नींद न सोवै।
प्रन्तरगति की बिथा मानसी सो तन अधिक बियोवै।
परमानन्ददास गोविन्द बिन गोकुल जननु उजोवै।[1]

मीरा का समस्त काव्य एक प्रकार से विरह-काव्य है। मीरा के विरह में आन्तरिक वेदना का समावेश अधिक है :—

प्रभु जी थे कहाँ गया नेहड़ो लगाय।
छोड़्या म्हाँ विस्वास संगाती, प्रेम री बाती बलाय॥
विरह समंद में छोड़ गया छो, नेह री नाव चलाय।
मीरा रे प्रभु कबरे मिलोगे, थे बिन रह्या न जाय॥[2]

× × ×

और—

रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवै विरह सतावै प्रेम की आँच डुलावै।
बिन पिया जोत मन्दिर अंधियारी दीपक दाय न आवै।
पिया बिन मेरी सेज अलूनी जागत रैण बिहावै।[3]

× × ×

पीया बिन रह्यों ण जावां।
तन मन जीवन प्रीतम वार्‌यां।
निस दिन जोवां बाट कब कब पुकारां।
मीरा रे प्रभु आसा थारी दासी कंठ लगावां॥[4]

शान्ता-भक्ति

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में श्री रूपगोस्वामी ने कहा है कि जहाँ सुख-दुख न हो, द्वेष और मत्सरता नहीं हो, समस्त प्राणियों में सम-भाव हो—वहीं शान्त रस रहता है।[5]

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृ ६८१ से उद्धृत।
२ मीरा की पदावली—पं परशुराम चतुर्वेदी, पद सं ९४ (नवाँ संस्करण)।
३ वही " ७४ (")
४ वही " , ७१ (,)
५. नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग लहरी १ पृ० ३२१

'संसार की अनित्यता, आत्मभाव का त्याग और ईश्वर भक्ति अथवा ज्ञान द्वारा प्राप्त की गई चित्त की स्थिर अवस्था से जिस परमानन्द को भक्त अथवा ज्ञानी पाता है, वही शान्त भाव है और काव्य में व्यक्त होकर काव्य शास्त्र के अनुसार शान्त रस है। सत्संग उपदेश भक्ति अथवा ज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों का विचार इस रस के उद्दीपन विभाव हैं। चित्त शान्ति को बढ़ाने वाले पवित्र विचार और भाव जैसे निर्पेक्षता निरहंकारिता आदि संचारी हैं और रोमांच प्रकम्पादि हर्ष-द्योतक चिह्न अनुभाव हैं।'[1]

आळवार भक्तों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के सूरदास आदि के पदों में जहाँ वैराग्य, आत्म प्रबोध, विनय, आत्म विवेचन आदि भावों की अभिव्यक्ति हुई है वहाँ शान्त रस की धारा प्रवाहमान है। प्रथम तीन आळवार—पोयगै आळवार, भूतत्ताळवार, पेयाळवार की भक्ति प्रमुखतया शान्ता भक्ति है। शान्ता भक्ति के कुछ उदाहरण नीचे देते हैं —

पेयाळवार कहते हैं—'रे मन! भगवान् के नामों का उच्चारण करो तुम्हारा उद्धार अवश्य होगा।'[2]

तोंडरडिप्पोडि आळवार कहते हैं—"मेरे मन में थोड़ी सी पवित्रता नहीं है। मुँह से मधुवचन ही निकलता है। क्रोध के कारण मैं ईर्ष्या का दमन नहीं कर पाता। मुझ पर शासन करने वाले महाप्रभु! मेरा उद्धार हो सकता है?"[3]

तिरुमंगै आळवार कहते हैं—"मैं आज समझ गया कि बीबी-बच्चे और बन्धु मेरी सहायता नहीं कर सकते। हे भगवान्! तुम्हारे अनुग्रह रूपी तलवार से सांसारिक बन्धनों को मैंने काट दिया। पंचेन्द्रियों से लड़कर मैंने विजय प्राप्त की। अब मैंने अपने को आपकी सेवा में अर्पित कर दिया है।"[4] 'सुन्दरियों की संगति में रहकर सुख भोगने वाले तथा बड़े-बड़े राज्यों पर शासन करने वाले सभी मर गये। लौटकर नहीं आये। तब मैं क्यों वैवाहिक जीवन के सुखों की कामना करूँ? अब मैं आपके पास आया हूँ।"[5]

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ६१०।

२ मुन्द्राम तिरुवंतादि ८। ३ तिरुमालै ३०।

४ पिरिन्देन पेटूमक्कळ पेन्टिरेन्रिवर पिन्नुवनायु
अरिन्देन नी पणित्त अरुळ मुम पोरुळाळ् एनि
एरिन्देन ऐम्पुलन्कळ् कडर् तीर पुरिन्दु अन्नु
शेरिन्देन तिरुवडिक्के तिरुविण्णकर मेयवने।
— पेरिय तिरुमोऴि ६-४

५ पाण्डेन वण्डरयुम कुळलार्कळ् पल्लायिरवर
मीण्डार वंयवेर्मणाल मरुवरिय तूलमुटैय
माण्डार्गळ् मण्डार मण्णो। मर्म वाळ्क्कै तम्मे
वेण्डेन तिरुनरैयूर निन्ऱाय् तिरुविण्णकर मेयवने।
—वही १२२

तिरुमंगै आळवार उपदेश देते हैं—"रे मन ! याद रखो ! बुढ़ापा आयगा। कुन्तल वाली ललनाएँ मिलकर तुम पर हँसेंगी। तुम्हें खाँसते देखकर वे तुम्हारा परिहास करेंगी।' [1] शरीर क्षीण हो जायगा और मुँह से शब्द कठिनाई से निकल पायेंगे। पीठ कूबड़ हो जायगी और तुम्हें लाठी के सहारे चलना पड़ेगा। तब तुम पर सुन्दरियाँ ताना मारेंगी।" "ऐसी दशा के आने के पहले ही अभी से भगवान् का स्मरण कर मुक्त बन जाओ। रे, मन ! समझ लो।' [2]

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों में अन्य भक्तों की अपेक्षा सूरदास और परमानन्ददास ने शान्ता भक्ति के भाव को व्यक्त करने वाले पद अधिक संख्या में लिखे हैं।

सूरदास कहते हैं—

नमो-नमो हे कृपानिधान।
चितवत कृपाकटाक्ष तुम्हारी मिटि गयौ तम-अज्ञान।
मोह निसा कौ लेस रह्यौ नहिं भयौ बिबेक बिहान।
आतम रूप सकल घट दरस्यौ उदय कियौ रबि-ज्ञान।
मैं-मेरी अब रही न मेरैं छुट्यौ देह-अभिमान।
भावै परौ आजुही यह तन भावै रहौ अमान।
मेरैं जिय अब यहै लालसा लीला श्री भगवान।
स्रवन करौं निसि-बासर हित सौं सूर तुम्हारौ गान।[3]

और—

सकल तजि भजि मन चरन मुरारि।
स्रुति सुमृति मुनि जन सब भाषत मैं हूँ कहत पुकारि।
जैसे सुपने सोइ देखियत तैसी यह संसार।
जात बिलै ह्वै छिनक मात्र मैं उघरत नैन-किंवार।
बारम्बार कहत मैं तोसौं जनम-जुआ जनि हारि।
पाछैं भई सु भई सूर जन अजहूँ समुझि सम्हारि।[4]

१　कोंगुकुळलार कुडिमियैक्कॊण्डु सिरित्तु ईर
इरुमिन् ? इरुमि एन्बार् मुन्नेनिन्नु ओरुमूक
सिरुक्कॆरिकाल वॆण्डुरैयाल् तेंबुरै
मरुल् मरेंपुर वाम तोळ्पुम एगुनेंजमे।　　—पेरिय तिरुमोळि ९ ४-२

२　कणि वेन्दिसंकुममय नक्कापर कावन्दीमिरिक्क
कुनिवेन्दु नम कोलित तळन्दु दर्दू वायमुम।
　　　　　　　　　　　　—वही ९ ४-६

३　सूरसागर (द्वितीय स्कन्ध) पद सं० ३७६ पृ० १२४ ना० प्र० सभा काशी।
४　वही (　　) ३७४ पृ० १२४ 〃 〃

परमानन्ददास के निम्नलिखित पद में शान्ता भक्ति का भाव व्यक्त हुआ है—

त मन का पुरान सुनि कीना।
अनपायनी भगति नहिं उपजी भूखे दान न दीना ।।
काम न बिसर्यौ क्रोध न बिसर्यौ लोभ न छूट्यौ देवा।
मोह मलिनता मनै नहिं छूटी निफल भई सब सेवा ।।
बाट पारि घर मूसि बिरानो पेट भरे अपराधी।
जेहि परलोक जाय अपकीरति सोइ अविद्या साधी ।।
हिंसा तो मनतें नहिं छूटी जीव दया नहिं पाली।
परमानन्द साधु संगति मिलि कथा पुनीत न चाली ।।[1]

भक्ति में शरणागति तत्त्व

तृतीय अध्याय में हम मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले "प्रपत्तम्" के सामान्य तत्त्वों के अन्तर्गत शरणागति तत्त्व का उल्लेख कर चुके हैं। अनन्य साध्य भगवत्प्राप्ति में विश्वासपूर्वक भगवान् को ही एक मात्र उपाय समझ कर प्रार्थना करते रहने वाले साधनहीन व्यक्ति की प्रार्थना में निहित निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्ति या शरणागति का स्वरूप है। आळ्वारों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के अनेक पदों में इस शरणागति तत्त्व की अभिव्यक्ति हुई है। इस भक्ति में भगवत्प्राप्ति के लिए भक्त साधन पर नहीं बल्कि भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर रहता है। भूतत्ताळ्वार कहते हैं— मनुष्य एक खेत को जोत सकता है। परन्तु भगवान् के अनुग्रह के बिना वह खेत भर नहीं सकती अर्थात् भगवान् के अनुग्रह रूपी वर्षा-जल के बिना वह खेत भर नहीं सकती। (इसी तरह भगवान् के अनुग्रह पर ही मनुष्य के प्रयत्न सफल होते हैं।")[2]

तिरुमलिसै आळ्वार का कथन है— हे भगवान्! समस्त विश्व में तुम्हीं हो। सब तुम्हारे अनुग्रह पर ही निर्भर है। कृपासिन्धु भगवान् तुम हो। तुम्हीं भक्तों के हृदय में भक्ति के बीज बोते हो।"[3]

विस्तार भय से शरणागति तत्त्व को व्यक्त करने वाले आळ्वारों के केवल एक-दो पद ही नीचे देते हैं। तोण्डरडिप्पोडियाळ्वार कहते हैं— मेरा अपना कोई घर नहीं जमीन नहीं दूसरे नाता बन्धु नहीं। फिर भी हे करुणामूर्ति! इस पार्थिव जीवन में आपके चरणों की सुदृढ़ शरण मैंने ग्रहण नहीं की। अब मैं निराश्रय हूँ। भारी क्रन्दन करता हूँ। मुझे आप अपनी शरण में लीजिए।"[4] कुलशेखराळ्वार ने

१ परमानन्दसागर (सं० डा० गो० ना० शुक्ल) प० सं० ६० ।
२ इरण्डाम तिरुवन्तादि १९ ।
३ नान्मुखन तिरुवन्तादि ९० और ३ ।
४ तिरुमालै—२१

भगवान् की शरण को ही एक मात्र सहारा कहा है— हे भगवान्! मैं बहुत कष्ट भोग रहा हूँ। तुम्हारी शरण के सिवा और कोई शरण मुझे नहीं है। जिस तरह माता के क्रुद्ध होकर त्यागने पर भी शिशु माता के प्रेम पर ही आश्रित है उस तरह मैं श्रीआप ही के अनुग्रह पर आश्रित हूँ।'[1]

भगवान् से शरण पाने के लिए प्रार्थना करते हुए सूरदास कहते हैं— हे प्रभु! मैं आपकी शरण में आया हूँ। मैं साधनहीन हूँ अपने पापकर्मों के भार से भयभीत हूँ। अब आपके द्वार पर आकर खड़ा हूँ। अब मुझे आपकी शरण का ही भरोसा है। शरण आये की लज्जा रखिए।[2]

एक दूसरे पद में सूर कहते हैं—"हे प्रभु! मेरे गुण अवगुणों की ओर ध्यान न दीजिए। मैंने योग यज्ञ जप तप व्रत आदि कोई शुभ कर्म नहीं किया। आपके भजन का भी मुझे बल नहीं है। परन्तु आप दयानिधि हैं कृपासिन्धु हैं। मुझे आप अपनी शरण में लें।'[3]

---

१ पेरुमाळ तिरुमोळि ५ : १

२ सरन आए की प्रभु लाज धरिए।
सच्यौ नाहिं धर्म सुचि सील, तप व्रत कछू, कहा मुख लै तुम्हें बिनै करिए।
कछू चाहौं कह्यौं, सकुचि मन मैं रहौं, आपने कर्म लखि त्रास आवै।
यहै निज सार, आधार मेरौ यहै, पतित-पावन बिरद बेद गावै।
जन्म तैं एक टक लागि आसा रही, बिषय-बिष खात नहिं तृप्ति मानी।
जो छिया छरद करि सकल संतनि तजी, तासु तैं मूढ़-मति प्रीति ठानी।
पाप-मारग जिते सबै कीन्हें तिते, बच्यौ नहिं कोउ जहँ सुरति मेरी।
सूर अवगुन भर्यौ, आइ द्वारैं पर्यौ, तकै गोपाल अब सरन तेरी॥
—सूरसागर (प्रथम स्कन्ध) पद सं० ११ ना० प्र० सभा काशी।

३ प्रभु मेरे अवगुन न बिचारौ।
कीजै लाज सरन आए की रबि-सुत त्रास निवारौ।
जोग-जग्य-जप-तप नहिं कीन्हौ बेद बिमल नहिं भाख्यौ।
अति रस-लुब्ध स्वान जूठनि ज्यौं अनत नाहिं चित राख्यौ।
जिहिं-जिहिं जोनि फिर्यौ संकट-बस तिहिं-तिहिं यहै कमायौ।
काम-क्रोध-मद-लोभ-ग्रसित ह्वै बिषय परम बिष खायौ।
जो गिरिपति मसि घोरि उदधि मैं लै सुरतरु बिधि हाथ।
मम कृत दोष लिखै बसुधा भरि, तऊ नहिं मिति नाथ।
तुमहिं समान और नहिं दूजौ काहि भजौं हौं दीन।
कामी कुटिल कुचील कुदरसन अपराधी, मतिहीन।
तुम तौ अखिल, अनंत दयानिधि अबिनासी सुख रासि।
भजन-प्रताप नाहिं मैं जान्यौ, पर्यौ मोह की फाँसि।

परमानन्ददास शरणागति की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—"जो भगवान् की शरण में गये, उनको भगवान् ने अंगीकार कर लिया। उनके सभी विघ्नों को भगवान् ने दूर किया और उन्हें अभय कर दिया। भगवान् अपनी शरण में आये हुए भक्तों की रक्षा अवश्य करते हैं।"[1]

भगवान् के सामीप्य की कामना

भगवान् की सेवा में प्रस्तुत होकर किसी भी रूप में भगवान् के सामीप्य को प्राप्त करने के भाव कुछ आळवार भक्तों ने तथा हिन्दी के कुछ कृष्ण भक्त कवियों ने व्यक्त किये हैं। कुलशेखराळ्वार अगले जन्म में ही सही, भगवान् की सामीप्य प्राप्ति की कामना कर प्रार्थना करते हैं—

'मुझे पुन' मांस-संपुष्ट नश्वर नर जीवन धारण करने की कामना नहीं है। मैं अपने को धन्य समझूँगा यदि उस वेंकटाचल में जिसमें कि चिपधारी भगवान् का निवास है अगले जन्म में एक बगुला बनने का सौभाग्य प्राप्त हो।[2]

मुझे चाह नहीं कि असीम अनुपम सुख सम्पत्ति अथवा अप्सर रमणियों के विलासलास्यों से पूर्ण मादक स्वर्गीय आनन्द प्राप्त करूँ। मुझे चाह नहीं कि नितान्त चिरायु व अतुलतम राज भोग प्राप्त करूँ। मैं अपने को धन्य समझूँगा अगर उस

तुम सरवग्य सबै बिधि समरथ, असरन-सरन मुरारि।
मोह-समुद्र सूर बूड़त, लीजै भुजा पसारि।
—सूरसागर (प्रथम स्कन्ध) पद सं० १११ ना० प्र० सभा, काशी।

१ जाको तुम अंगीकार कियो
तिनके कोटि बिघन सब टारे अभय प्रताप दियो।
यह लालसा भई प्रहलादै सबहि निसंक कियो।
निकसे खम्भ मध्य तें नरहरि आसुर दलि लियो।
× × ×
मृतक भये हरि सबै जिवाए दृष्टिहि अमृत पियो।
परमानन्द भगत के बस सो उपमा कौन दियो।
—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ६७४ से उद्धृत

२ ऊनेर् सेल्वत्तु उडम्पिरवि यान् वेंडेन्
आनेरेळ्वेन्ड्रान् अडिमैतिरमल्लाल
कूनेर् चंगमिडत्तान् तन् वेंकडत्तु
कोनेरि वाऴुम् कुरुकाय् पिरप्पेने।
—पेरुमाळ तिरुमोऴी ४ १

वेंकटाचल की जिसमें मधु रसोज्ज्वल मादक कुसुम मंजरियों से पूर्ण नन्दन वनोपम उद्यान हैं, निर्मल निर्झरिणी में एक मीन होने का परम सौभाग्य प्राप्त हो।"[1]

"क्षीर सागर की धवल तरंगों को परिपूत करके प्रोत्साहित भगवान् वेंकटवासी के पावन पद-कमलों के दर्शनार्थ गीत-रस-लहरी में निमज्जित भ्रमर-समूह के झंकार गुंजित वेंकट गिरि की वाटिका में एक चंपक कुसुम बन जाऊँ।"[2]

महापापियों को भी अपनी शरण में लेने वाले कृपा-सिन्धु भगवान्! हे अनाघन्त श्रेष्ठ महान् वेंकटवासी! मैं तुम्हारे मन्दिर का वह सोपान बन जाऊँ जिस पर चढ़कर अप्सराएँ देव और मरुद्गण तुम्हारे दर्शनार्थ मन्दिर में प्रवेश करते हैं।[3]

'संसार भर का शासक होने पर भी अथवा उर्वशी जैसी अप्सर-रमणियों को प्राप्त करने पर भी मुझे सन्तोष न होगा। मुझे केवल चाह इस बात की है कि अगले जन्म में वेंकटवासी भगवान् की सेवा में प्रस्तुत कुछ भी हो जाऊँ।"[4]

कुलशेखराळ्वार के पदों में निहित यही भाव रसखान के निम्न पदों में द्रष्टव्य है। देखिए, कितनी समानता है :—

---

१ आनाद चेल्वत् तरम्बैयरकळ्तर्कुळ
वानाळुम् चेल्वमुम मण्णरसुम याम वेंडेम
तेनार पूञ्चोलै तिरुवेंकटच्चुनैयिल
मीनाय पिरक्कुम विदियुडैयेनावेने।
—पेरुमाळ तिरुमोळी ४ : ?

२ कोोलमदमळियैक्कुलमु तन्मार्कळ्कुळ
कम्पुयिलुम मायोन कळलिणैकाण कान्तरकु
पम्पकरम वरिवण्डाल पण्णाकुम वेंकटत्
चेम्पकमाह तिरुं'म तिरुडयेनावेने।
—वही ४ ४

३ वेडियाय वल्विनेकळ तीर्क्कुम तिरुमाले
नेडियोने! वेंकटवा! निन्कोयिलिनि वाचल
अडियारुम वानवरुम अरम्बैयरुमकिडन्तियंकुम
पडियाय किडन्तु उन्पवळवाय काण्बेने।
—वही ४ : १

४ उम्बरुलकाण्डु ओरु कुडैक्कीळ उरुप्पसि तन
अपोर्कलैयल्कुल पेरुम आदरियेन
चेंपवळवायान तिरुवेंकटमेन्नुम
एम्पेरुमान पोन्मलै येल एतेनुमावेने।
—वही ४ १०

"मानुष हौं तो वही 'रसखान', बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥[1]
"जो रसना-रसना बिलसै तेहि देहु सदा निज नाम उचारन।
मो कर नीकी करैं करनी, जु पै कुंज कुटीरन देहु बुहारन॥
सिद्धि समृद्धि सबै 'रसखान' लहौं ब्रज रेनुका अंग सँवारन।
खास निवास मिलै जु पै तौ वही कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥[2]
"या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँपुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥
'रसखानि' कबौं इन आँखिन सौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥"[3]

अनन्याश्रय और भगवान् की भक्तवत्सलता

केवल अपने एक इष्ट का ही आश्रय ग्रहण करना अनन्याश्रय कहलाता है। भक्तों का विश्वास है कि एकान्त प्रेम के बिना प्रेम की उत्कृष्ट स्फूर्ति नहीं होती। अनन्याश्रय भाव को व्यक्त करने वाले पद आळवारों ने तथा हिन्दी-कृष्ण भक्त कवियों ने लिखे हैं। तोंडरडिप्पोडियाळवार का कथन है— हे मतिहीन मनुष्य लोगो! गोविन्द के अतिरिक्त कोई अन्य देवता भी है क्या? किसी संकट-ग्रस्त समय के सिवाय अन्य समयों में तुम लोग एक ही जगन्नाथ को पहचान नहीं पाते। समझ लीजिए, कोई उनसे महान् नहीं है। उनके अतिरिक्त अन्य देवता वास्तविक नहीं है। जिस भगवान् ने संकट-ग्रस्त अवसर पर गायों का संरक्षण किया था उस गोपालक पुरुषोत्तम मेरे प्रभु के चरणों की ही वन्दना कीजिए।"[4]

सूरदास अनन्याश्रयता प्रकट करते हुए कहते हैं —

तुम बिनु भूलोइ भूलो डोलत।
लालचि लागि कोटि देवनि के फिरत कपाटनि खोलत॥

---

१ रसखानि का अमर काव्य (सं० दुर्गाशंकर मिश्र) पृ० ४५
२ वही पृ० ४५
३ वही, पृ० ४५
४ 'मट्टुम् ओर् दैवमुण्डो? मतियिला मानिडङ्गाळ्।
उट्रपोदन्ऱि नीङ्गळ् ओरुवनॆन्ऱुणरमाट्टीर्
अट्रमे ओन्ऱरियीर् अवनल्लाल् दैवमिल्लै
कट्रिनम् मेयत्त ऎन्दै कळलिणै पणिमिन् नीरे॥
—तिरुमालै, ८

> जब लगि सरबस दीजै उनकौं, तबहीं लगि यह प्रीति।
> फल मोचत फिरि जात मुकर ह्वै यह दैवन की रीति॥
> एकनि कौं जिय-बलि दै पूजै पूजत नैकु न तूठे।
> तब पहिचानि सबनि कौं छाँड़ि, नख-सिख लौं सब झूठे॥
> कंचन-मनि तजि काँचहिं सैंतत या माया के लीन्हे।
> चारि पदारथ हू कौ दाता सु तौ बिसर्जन कीन्हे॥
> तुम कृतज्ञ करुनामय केसव अखिल लोक के नायक।
> 'सूरदास' हम दृढ़ करि पकरे, अब यह चरन सहायक॥[1]

परमानन्ददास कहते हैं —

> कहुते देवी कहुते देवा कौन कौन को मनाऊँ।
> हौं अधीन स्यामसुन्दर कौ चरन कमल पावन चितु गाऊँ॥
> लोक लोक प्रति सब कोऊ ठाकुर अपने अपने के सुखदायक।
> मोहि बड़ु अवर और मुरली गोपी बल्लभ गोकुल नायक॥
> देव मधुर मानव मुनि ग्यानी हरि को दियो सबै कोऊ पावै।
> हौं बलिहारी 'दास परमानन्द' अपना ठाकुर काहे न भावै॥[2]

जब भक्त अनन्य भाव से भगवान् को भजता है, तब वह निश्चिन्त होकर उन पर निर्भर भी होता है। भक्त को यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि भगवान् पर निर्भर होने से वे उसे अंगीकार कर लेते हैं। फिर उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। भक्त को भगवान् की भक्तवत्सलता का बड़ा सहारा है। भक्त उनकी दया और कृपा पर भरोसा रखता है। इन भावों को व्यक्त करने वाले अनेक पद आळ्वारों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के मिल जाते हैं।

कुलशेखराळ्वार ने लिखा है कि भक्त को किस प्रकार भगवान् पर निर्भर रहना चाहिए जिससे कि वह भक्तवत्सल भगवान् की दया का पात्र हो सकता है। कुलशेखराळ्वार का कहना है —

"अत्यधिक क्रोध से शिशु को जन्म देने वाली माता के त्यागने पर भी माता का ही स्मरण कर रोने वाले (माता के प्रेम पर आश्रित बच्चे के समान) बच्चे के समान।"[3]

---

१ सूर विनय पदावली (सं० प्रभुदयाल मीतल), पद सं० पृ० २१
२ परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० शुक्ल) पद सं० ८७७
३ "अरिविलमत्ताल ईन्ऱताय अकर्ऱिडिनुम मऱ्ऱवळ तन।
अरुळ्निनैन्दे अऴुम् कुऴविअदुवे पोन्ऱिरुन्देने।"
—पेरुमाळ तिरुमोऴी ५ : १

'अपने पति के द्वारा बहुत सताने पर भी उसका त्याग नहीं कर उसी की सेवा में तत्पर रहने वाली सत्कुलोत्पन्ना पत्नी के समान।'[1]

"राजा के द्वारा बहुत अन्याय और कष्ट भोगने पर भी उस पर निर्भर रहने वाली प्रजा के समान।"[2]

"आयुधों से चीर-फाड़कर कष्ट देने पर भी अपनी ही भलाई के लिए करने वाले वैद्य के प्रति स्नेह रखने वाले रोगी के समान।'[3]

यह विचार पाश्चात्य कवि श्री टी॰ एस॰ इलियट की एक कविता में भी देखने को मिलता है। देखिए, कितनी समानता है। प्रसंग वश श्री इलियट की कविता की उन पंक्तियों को उद्धृत करते हैं :—

> 'The wounded surgeon plies the steel
> That questions the distempered part,
> Beneath the bleeding hands we feel
> The sharp compassion of the healers art
> Resolving the enigma of the fever chart.
>
> —East Coker ' *Four Quartrets*",
> by T S Eliot, p 20

'सघन समुद्र ही समुद्र को पाकर, किनारे को देख न सकने के कारण निराश होकर बार-बार जहाज के खम्भे पर ही लौटने वाले (जहाज के) पक्षी के समान।'[4]

"अत्यधिक प्रकाश और गरमी लगाने पर भी केवल सूरज की किरणों पर ही खिलने वाले कमल के समान।"[5]

—

१ कण्डारिकळ्वनवे कादलन ताम चेय्दिडिनुम
कोण्डानैयल्लाल अरियाक्कुलमकळ पोल।"
—पेरुमाळ तिरुमोळि ५ : २

२ "तान नोक्कादु एत्तुयरम चेय्दिडिनुम तारवेन्दन
कोल नोक्कि वाळुम कुडि पोन्दिरुन्देने।'
—वही ५

३ "वाळाल अरुत्तु चुडिनुम मरुत्तुवन पाल
माळाद कादल नोयाळन पोल मायत्ताल"
—वही ५ ४

४ "एङ्गुम पोय करै काणादु एरिकडल वाइमीण्डेयुम
वंगत्तिन कूम्बेरुम मापरवै पोन्रेने।"
—वही ५ ५

५ चेन्दळले वन्दु अळलैच्चेय्दिडिनुम चेङ्कमलम
अन्तरम्चेर वेङ्कदिरोर्कल्लाल अलरावाल

मैं केवल हूँ भगवान्! आपकी दया पर निर्भर हूँ। मेरा मन अन्यत्र सुख नहीं पायेगा।"

कुलशेखर ने जितनी उपमाओं से अपने और भगवान् के सम्बन्ध को प्रकट व्यक्त किया उनके दर्शन अन्यत्र दुर्लभ हैं। हिन्दी के कृष्ण भक्त-कवियों में केवल सूरदास जी के एक पद में उपर्युक्त प्रकार के विचार व्यक्त हुए हैं। सूरदास कहते हैं:—

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसें उड़ि जहाज कौ पच्छी, फिरि जहाज पर आवै॥
कमल-नैन कौ छाँड़ि महातम और देव कौं ध्यावै।
परम गंग कौं छाँड़ि पियासौ दुरमति कूप खनावै॥
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यों करील-फल भावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥"[1]

भक्ति की सार्वजनीनता

आळ्वार भक्तों की यह मान्यता थी कि भक्तों में जाति विद्या रूप कुल धन और क्रियादि का भेद नहीं होना चाहिए और भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच का विचार त्यागना चाहिए। आळ्वार भक्तों ने अपनी इस विचारधारा को व्यावहारिक जगत् में भी प्रकट किया है। बारह आळ्वारों में कुछ निम्न जाति के थे कुछ बहुत ही गरीब थे। उस प्राचीनकाल में अगर मधुर कवि जैसे ब्राह्मण भक्त नम्माळ्वार जैसे निम्न जाति के व्यक्ति को गुरु रूप में स्वीकार कर सकता था तो इससे और उच्च आदर्श क्या हो सकता है?

तोंडरडिप्पोडी आळ्वार कहते हैं— 'विशुद्ध भक्ति-मार्ग पर चलने वाले निर्मल भक्त लोग चाहे निम्न जाति के क्यों न हों अगर वे भगवान् के भक्त (दास) हैं तो उनकी सेवा अवश्य कीजिए, उन्हें दीजिए और उनसे लीजिए। वे लोग भगवान् के सदृश पूजनीय हैं।"[2] चारों वेदों में प्रवीण होकर, मनुष्यों के नेता बनकर फिरने

वेन्तुयरवीडुमिविडुम विदुवसकोटुन्मा ! उन
अन्तमिल सीर्कस्माल अकमुर्ळय मोहूँगे ।

—पेरुमाळ तिरुमोळी ५ ६

---

१ सूर विनय पदावली—सं० प्रभुदयाल मीतल पद सं २१ पृ० ९७

२ पळुदिला वोळुकलाट्टुप्पल चतुप्पेदिमार्गळ !
इळिकुलत्तवर्गळेलुम एम्मडियार्गळागिल
तोळुमिनीर कोडुमिन कोळ्मिन एन्ड्रु निन्नोडुम वोक्क
वळिपड अरुळिनायपोल मदिळ तिरुवरंगत्ताने ।

—तिरुमालै, ४२

वाले ब्राह्मण लोग भी अगर भक्तों (निम्न जाति के) की अवहेलना करेंगे तो वे उसी क्षण (भक्तों की अवहेलना करते समय) नीच से नीच जाति के हो जाते हैं।"[1]

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने भी भक्तों में ऊँच नीच के विचार को त्याज्य को कहा है। सूरदास जी कहते हैं —

"कहौ शुक श्री भागवत विचार।
जाति पाँति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार।"[2]
'बैठत सबै सभा हरि जू की ! कौन बड़ो को छोट ?
सूरदास पारस के परसे मिटति लोहे की खोट॥'[3]

भक्तवर हरिराम व्यास के अनुसार भक्ति और जाति में बैर है।

"व्यास जाति तजि भक्ति कर, कहत भागवत टेरि।
जातिहि भक्तिहि ना बनै ज्यों केरा ढिग बेरि॥"[4]

श्री हित हरिवंश भक्ति के क्षेत्र में विप्र-शूद्र का भेद नहीं मानते। वे कहते हैं —

"जहाँ श्री हरिवंश प्रेम उन्माद।
कुल बिन ग्रहौं कौन सौ बाद।
सहज प्रेम रस लखि पावक।
रंक ईश समुझत नाहीं।
विप्र शूद्र न कौन कुल जात।
सुनहु रसिक हरिवंश विलास।"[5]

गुरु महिमा, सत्संग और वैराग्य

आळ्वारों भक्तों ने भक्ति-साधना में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान माना है। उन्होंने गुरु को ईश्वर सदृश बताया है। सत्संग और वैराग्य की आवश्यकता पर भी उन्होंने जोर दिया है। (तृतीय अध्याय में मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के सामान्य तत्वों का विवेचन करते समय आळ्वारों के शरणागती

---

१ अमरवोरंगमाऱुम् वेदमोर् नान्गुम् ओदि
तमर्गळिल् तलैवराय चातियन्तणर्गळेलुम्
नुमर्गळैप् पऴिप्परेल नोडिप्पोऴुदाळविस अगि
अवर्गळ् नाम पुलैयर पोलुम अरंगमानगरुळाने।

—तिरुमालै, ४३

२ सूरसागर (प्रथम स्कन्ध), पद सं० २३१ ना० प्र० सभा काशी।

३ वही (") पद सं० २३२ " "

४ व्यासवाणी, पृ० १८६

५. श्री हित चौरासी सेवक वाणी, पृ० ५२

विचारों पर प्रकाश डाल चुके हैं। अतः यहाँ संक्षेप में आळ्वारों के विचारों की तुलना आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के तत्सम्बन्धी विचारों से करेंगे।)

गुरु महिमा

मधुर कवि गुरु की स्तुति करते हुए कहते हैं—"गुरु (नम्माळ्वार) का नाम लेते ही मेरी जिह्वा अमृत का आस्वादन सा आनन्द प्राप्त करती है। वेद के गूढ़ से गूढ़ तत्वों को गुरु ने ही मुझे सरलता से समझाया। श्रेष्ठ गुरु की दासता स्वीकार कर मैं अपने को धन्य समझता हूँ। मुझ में वास करने वाले समस्त दोषों को गुरु ने ही दूर किया। मैं श्रेष्ठ गुरु की महिमा दिशा-दिशा में फैला दूँगा। मैं गुरु की कृपा की भावना करता हूँ।"[1]

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने भी गुरु की महिमा स्वीकार की है। सूरदास जी कहते हैं—

> गुरु बिनु ऐसी कौन करै ?
> माला-तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै।
> भवसागर तें बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
> सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ छिन में लै उधरै ॥[2]

और—

> हरि गुरु एक रूप नृप जानि। यामैं कछु सन्देह न आनि।
> गुरु प्रसन्न हरि परसन होइ। गुरु के दुखित दुखित हरि होइ।[3]

हितहरिवंश मनुष्य के कल्याण के लिए गुरु-चरणों का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक समझते हैं—

> जय श्री हितहरिवंश विचारि के अनुसर वेद गुरु चरण गहि।[4]

सत्संग

सत्संग की कामना कर राजा कुलशेखर ने कहा है—"अमृत-सम भगवान् की स्तुति कर, भगवान् को अन्तःकरण में धारण कर, भगवान् का गुण-गान कर नाचते नाचते थक जाने वाले भक्तों के मंडल में जा मिलने का सौभाग्य मुझे कब प्राप्त होगा ?"[5] भगवान् की दिव्य लीलाओं का आनन्दाश्रु बहाकर, अश्रुधारा से भीगने वाले भगवान् के मन्दिर के प्रांगण में नाचने वाले श्रेष्ठ साधुजनों की चरण धूलि को मैं अपने मस्तक पर लगाऊँगा।"[6]

---

१ कण्णिणुण् सिरुत्ताम्बु १ ८, ७।
२ सूरसागर, (षष्ठ स्कन्ध) पद सं० ४१७ ना० प्र० सभा काशी।
३ वही ( ) पद सं० ४१६ द्वितीय संस्करण।
४ श्री हित स्फुट वाणी श्री पृ० ९।
५ पेरुमाळ तिरुमोळि २ १
६ वही २ १

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने भी सत्संग की आवश्यकता बताई है। सूरदास जी ने एक पद में साधु-संगति को मुक्ति का अंश कहा है—

> सुवा चलि ता बन को रस पीजै।
> जा बन राम-नाम अमृत-रस श्रवन पात्र भरि लीजै।
> बन बारानसि मुक्ति-क्षेत्र है, चलि तोकों दिखराऊँ।
> सूरदास साधुनि की संगति बड़े भाग्य जो पाऊँ॥[1]

हितहरिवंश जी ने भी सत्संग की महिमा स्वीकार की है—

> तबहिं राख सतसंग में जबहिं प्रेम रस भेव।
> सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण कल्पतरु सेव।[2]

हरिराम व्यास सत्संग को महत्त्व देते हुए कहते हैं—

> करौ सेवा साधुन ही सौं संग।
> पलि पलि जाय असाधु संग ते काम करत चित भंग।
> हरि ते हरिदासनि की सेवा परम भक्ति को अंग॥[3]

और—

> साधु सरोवरहु को सो फूल।
> जिनकी संगति भक्ति देति, हरि हरत सकल भ्रमसूल।[4]

वैराग्य

भक्ति-पथ के पथिक के लिए सांसारिक विषयों को तथा उन विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों का त्याग कर उनके प्रति वैराग्य भाव रखना परमावश्यक है। आळ्वारों ने वैराग्य की आवश्यकता पर बहुत कहा है। वे सभी स्वयं वैराग्यपूर्ण जीवन बिताते थे। (इसका विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में हो चुका है।)

हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों ने भी भक्ति-पथ में वैराग्यपूर्ण जीवन बिताने की आवश्यकता प्रकट की है। सूर ने अनेक पदों में सांसारिक सम्बन्धों की निस्सारता प्रदर्शित की है—

> हरि हौं महापतित अभिमानी।
> परमारथ सौं विरत, विषय रत भाव भगति नहिं नेकहु जानी।
> निसि-दिन दुखित मनोरथ करि-करि, पावतहूँ तृष्ना न बुझानी।[5]

---

१ सूरसागर (प्रथम स्कन्ध) पद सं० ३४०, ना० प्र० सभा काशी।
२ श्री हित स्फुटवाणी जी, पृ० ११।
३ श्री व्यासवाणी पृ० ६४।
४ वही पृ० ६५।
५ सूरसागर (प्रथम स्कन्ध), पद सं० १८६ ना० प्र० सभा द्वितीय संस्करण।

हितहरिवंश ने सांसारिक विषय रस का प्रपंच छोड़ने का आग्रह किया है—

'सकहि तौ सब परपंच तजि, कृष्ण-कृष्ण गोविन्द कहि।'[1]

स्वामी हरिदास ने माया मद, गुन मद तथा यौवन मद—सभी को मिथ्या कहा है और संसार की नश्वरता का परिचय दिया है—

जौलौं जीवै तौलौं हरि भजि रे मन और बात सब बादि।
दिवस चारि के हलाभला में तू कहा लेइगो लादि।
माया मद, गुन मद जोबन मद भूल्यो नगर विवादि।
कहि "श्री हरिदास" लोभ चरपट भयो काहे की लगै फिरादि।[2]

---

१ श्री हित स्फुटवाणी जी, पृ० ६
२ निम्बार्क माधुरी, पृ० २०४

पंचम अध्याय

"दार्शनिक विचार और रहस्यात्मक दृष्टिकोण"

तुलनात्मक अध्ययन

दार्शनिक विचार और रहस्यात्मक दृष्टिकोण

तुलनात्मक अध्ययन

भारत 'अध्यात्म' और 'दर्शन' का देश रहा है। यहाँ चिरकाल से वेदान्त अथवा ब्रह्मज्ञान की एक अजस्र धारा प्रवाहित होती आयी है जिसमें अवगाहन कर विभिन्न युगीन भारतीय ऋषि मुनियों, धर्मात्माओं और दार्शनिक विद्वानों ने आनन्द और शांति का अनुभव किया है। इस देश में अनेक दार्शनिक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने दार्शनिक तत्वों का शास्त्रीय निरूपण प्रस्तुत कर अलग-अलग संप्रदायों का संगठन किया है। प्रायः सभी आचार्यों ने "प्रस्थान त्रयी" पर भाष्य प्रस्तुत करके अपने अपने भक्ति-संप्रदायों की प्रामाणिकता से पुष्टि किया। ईश्वर, जगत्, जीव, माया आदि के विषय में अपने तर्क-सम्मत विचारों को व्यक्त कर अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए विविध ग्रन्थों को रचकर संप्रदाय का संगठन करना ही आचार्यों का लक्ष्य रहा। भक्त के लिए दार्शनिक होना अनिवार्य नहीं है। भक्त के भावाविष्ट उद्गारों में निःसृत भक्ति-भावों में ईश्वर, जगत् सम्बन्धी विचारों का आभास अनायास ही मिल जाता है। किन्तु भक्तों का झुकाव शास्त्रीय धरातल पर सिद्धान्तों के विवेचन की ओर नहीं होता। यही भक्त और एक दार्शनिक आचार्य में सामान्य अन्तर है।

आळ्वार वस्तुतः दार्शनिक नहीं थे। वे भक्त और रस-सिद्ध कवि थे। उनका लक्ष्य—दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना नहीं था। भगवान् की भक्ति में विभोर उनके हृदय की तन्त्री से जो गान स्वतः प्रस्फुटित हुए, उनका संकलन ही प्रबन्ध है। प्रबन्धों में ब्रह्म, जीव, जगत आदि के विषय में सिद्धान्तपरक विवेचन नहीं है। परन्तु यत्र-तत्र आनुषंगिक चर्चा है। आळ्वारों का काव्य—भाव और भक्ति-प्रधान है। उनके पदों में ईश्वर का निरूपण है। उन्होंने ब्रह्म के भावगुणों का पुनः गान किया है। उन्हीं पदों के उल्लेखों से आळ्वारों के विचारों की दार्शनिक स्थिति का परिचय मिल जाता है। यह स्पष्ट रखना आवश्यक है कि आळ्वारों का ज्ञान निश्चित रूप से आचार्य

चतुष्टय के काल से पर्याप्त पूर्व का है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि आळ्वारों की भक्ति-प्रधान विचारधारा ने परवर्ती आचार्यों को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित किया हो। परवर्ती आचार्यों की भक्ति संबलित दार्शनिक विचारधारा का मूल-स्रोत आळ्वार साहित्य में देखा जा सकता है। चूँकि श्री रामानुजाचार्य का काल आळ्वारों के ठीक बाद में पड़ता है अतः उनके विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन पर तो आळ्वारों का सीधा प्रभाव है ही।[1] परवर्ती भक्ति-सिद्धान्तों पर उनका उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन पर। वैसे तो विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन की नींव भी नाथमुनि के समय में ही पड़ चुकी थी। श्री नाथमुनि ने ही प्रथम बार 'प्रबन्धम्' का संपादन कर उसकी विचार-धारा का कुछ शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया था। नाथमुनि के पश्चात् आने वाले आचार्यों ने उस विचारधारा को सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर उसे एक दार्शनिक भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया जिसके फलस्वरूप विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन का स्वरूप स्थिर हुआ। यहाँ हमारा उद्देश्य यह स्पष्ट करना मात्र है कि सभी दार्शनिक संप्रदायों का आविर्भाव आळ्वारों के पश्चात् ही हुआ है और आळ्वारों ने किसी विशिष्ट संप्रदाय की विचार-धारा की चहारदीवारी में बन्द रहकर कविता नहीं की थी।

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य विभिन्न भक्ति-संप्रदायों[2] की छाया में पल्लवित हुआ है। सम्प्रदाय और उसके अनुयायी कवियों में अंगांगि भाव रहता है,

---

1 "The Alvars provided the soil out of which Ramanuja s teaching naturally sprang and in which later it could bear frint. He is not really (as has been erroneously asserted) the 'morning star of the Bhakti movement, that is a name far more fitly given to Alvars; but in him bhakti shines in the full splendour of a great philosolchical exposition.
—J S M Hooer *"The Hymns of Alvars* pp 7-8.

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत् द्विजः।
सरहस्यं सकल्पं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥"

अथवा

आचार्यवान्पुरुषोवेद।"

उपर्युक्त परिभाषा के कारण आळ्वार भक्त यद्यपि आचार्यों की कोटि में नहीं आते तो भी उन्हें भक्त्याचार्य मानने में कोई हानि नहीं है। भक्ति-सिद्धान्त के स्वरूप को सुस्पष्ट करने में उनका बड़ा भारी हाथ रहा है। उनसे परवर्ती संतों, भक्तों और आचार्यों को भक्ति लाभ हुआ। अतः आळ्वारों को भक्त्याचार्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

"भक्त्याचार्योऽपि निर्दिष्टो भक्तिप्रचार्यसंभवात्"—सुद्धाद्वैत मार्तण्ड ८८।

२ वल्लभ संप्रदाय राधावल्लभ संप्रदाय निम्बार्क संप्रदाय गौड़ीय संप्रदाय आदि।

सर्वथा अभेद नहीं। अतः संप्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं में और कवियों द्वारा व्यक्त सिद्धान्तों में समानता के साथ कहीं-कहीं असमानता भी देखने को मिलती है। मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से अनुप्राणित अवश्य रहा किन्तु सबका सर्वथा अनुयायी नहीं। यह आचार्य और कवि के व्यक्तित्व की भिन्नता का स्वाभाविक परिणाम है। अनेक कवि ऐसे हैं जिन्होंने मान्यताओं के आग्रह को दृढ़ता के साथ ग्रहण किया है। कुछ कवि ऐसे भी हैं जो सिद्धान्त पक्ष के प्रति उदासीन रहे हैं और अंशतः स्वतन्त्र भी। यही कारण है कि विभिन्न सम्प्रदायों की छाया में पलने पर भी कवियों की विचारधाराओं में बहुत कुछ समानता देखने को मिलती है।

ब्रह्म

आळवारों के ब्रह्म-सम्बन्धी विचार

यों तो बारह आळवार भक्तों ने ही ब्रह्म के स्वरूप गुण आदि के विषय में कुछ न कुछ अवश्य कहा है फिर भी नम्माळवार और तिरुमलिशै आळवार ने जितने विस्तार से ब्रह्म के विषय में कहा है उतने विस्तार से अन्य आळवारों ने नहीं। सामान्यतः सभी आळवार भक्तों ने अपने इष्टदेव कृष्ण को परब्रह्म विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है। वे ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही इस विश्व के कारण हैं। वे आदि-अनादि अन्तर्यामी हैं। वे अंश और कला रूप में असंख्य रूप धारण करते हैं। ब्रह्म होकर भी भक्तों का उद्धार करने के निमित्त देह धारण करते हैं। अतः आळवारों द्वारा वे अवतारी और अवतार—दोनों ही रूपों में ग्रहण किए गये हैं। जीव रूप में तथा जगत् में जो कुछ है, वह उन्हीं का अंश है। वे ही अक्षर ब्रह्म रूप हैं। आळवार भक्तों ने ब्रह्म के रस रूप और सौन्दर्यतम रूप का भी वर्णन किया है। उन्होंने ब्रह्म के सगुण और निर्गुण—दोनों रूप माने हैं।

आळवार भक्तों के इष्टदेव 'ब्रह्म' सर्वशक्तिमान् हैं अद्वितीय हैं। सब देवताओं से श्रेष्ठ वे ही हैं। नम्माळवार कहते हैं—"मेरे भगवान् ही सर्वलोक रक्षक हैं वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं उनकी तुलना किसी से नहीं हो सकती। उनके अतिरिक्त और कोई देव ही नहीं है। शिव ब्रह्मा इन्द्र आदि सबों के पालक वे ही हैं।"[1] वही परञ्ज्योति हैं,

---

१ नऴ्न्मति चर्ङ्ङम नाल्मुखक्कडवुळ, तळिरीळियिमयवर तलैवनुम मुदला। यावकुलहुम यावरम तनप्पाल, निममनीर तीकाम धुरर्िदविनुमुम। मलर सुडर मिरवम विरितुकम ममक मोद वोक्ळ पुम्पाळिन्दी मुळुदुम। परप्पळक्कतमु योरानितेयोर्र एन
वैत्मामामनेमस्लाघु
योरमारेषम् मर्ड्रमोमामे ?"—तिरुवाय्मोळि एट्ट ७

जगत् के कर्त्ता हैं, गोविन्द हैं। उनके गुणों का वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ।[1] वे ही महान् से महान् हैं। वे ही पूर्ण ब्रह्म हैं। वे षष्ठ गुणों के आकार हैं, अच्छाई के सागर हैं। वेद उन्हीं की स्तुति करते हैं। वे ही सर्वज्ञानी हैं।[2] वे ही सभी चिद्-अचिद् प्राणियों के आधार हैं।[3] वे देवों के अधिपति हैं। तीनों लोकों की सृष्टि पालन और संहार वे ही करते हैं।[4]

तिरुमलिशै आळ्वार का कथन है— 'परब्रह्म एक है। वे ही प्राणियों का एक मात्र सहारा हैं। उनकी महिमा किसी से भी वर्णित नहीं हो सकती। विस्तृत उन सभी का अन्त उसी में लीन होता है।[5] भगवान् आदिपुरुष के भी आदि पुरुष हैं। अन्त में केवल वे ही रहेंगे।'[6]

---

१ तिरुवाय्मोळी १ १ १

२ पत्तुम् पत्तम् तानाय पवरवर समयन्तोरुम्
तोय्विलन् पुलनैन्दुक्कुम् चोलप्पडान् उणर्विन् मूर्त्ति
आविचेर्वुयिरिनुयिरान् आनुमोर् पडियान
पावनैयदिर्नीक्कुडिल पवनैयुम् कुडक्कुमे।—तिरुवायमोळी ३ ४ १०

३ The idea of Brahman as adhara of cit—acit is the life-blood of visistadvaita"—P N Srinivasachari : "*The Philosophy of Visistadvaita.* p 121
मन्नुम् नीरुम् एरियुम् नल वायुवुम्।
विण्णुमाय् विरियुम् एम्पिरानैये। —तिरुवायमोळी १ १० २

४ नीकु मुडुलकुम् नडैत्तलिंकुम्
नीरन्नु मुडुवान एन्नानन
आदिपनन्तान
मावर मद्. एन मावर तुर्कीय?"
—तिरुवायमोळी ८ ४

५. तेव कान देवन ओरुवनेयेन्नुरप्पर
आदनरियार अवन पेरवे—ओरुवन
नीरम मुडिवुम् इरानीये एतनम् पेरनारुम
अरुळ मुडिवालियान पाल।
—नानमुखन तिरुवन्तादि २

६ आदियान मानकुम अवनमाय अप्पुरत्त
आदियान मानकुम आदियान आदिनी
आदियान वाम वानर अन्त वानम नी उरैती
आदियान वानम निन्न मावर अन्तवान्दै।
—तिरुच्चन्दविरुत्तम, ८

तिरुमंगै आळ्वार ब्रह्म के विषय में कहते हैं—'भगवान् वेदों के सार हैं।[1] वही सबके आदि हैं[2] वही अन्त हैं और वे ही सर्वलोक रक्षक हैं।[3] पेरियाळ्वार के इष्टदेव केशव पुरुषोत्तम भगवान् हैं। परम ज्योति हैं।[4] वे महान् हैं, वेदों के अधिपति हैं। सम्पूर्ण लोकों के रक्षक हैं।[5] क्षीर सागर में शयन करने वाले परम मूर्ति हैं। जगत् की सृष्टि करने के लिए ब्रह्मा की सृष्टि की संहार करने के हेतु यम की सृष्टि की।[6] वे ही कारण हैं, अविनाशी हैं और परम पुरुष हैं।[7]

आण्डाळ कहती हैं—"चारों वेदों में वही वर्णित हैं। वही वेदों के अभीष्ट हैं।[8] वे सब वस्तुओं से परे हैं। उन्हें पूर्ण रूप से समझने की शक्ति किसी में नहीं है। वही वेदों के सार-तत्व हैं एक मात्र सत्य-तत्व हैं।[9]

---

१ 'पन्नुलासमरप्पम पोरुळानिय
परमनिडम ।" —पेरिय तिरुमोळी १-१२

२ "मौलियानिय वेदमामुनिवासर तोट्टाम उरेस ।
मदुककु आदियायिरुन्दाय ।" —वही १ १-२

३ "अन्तमाय अन्तमाकी अमररैयुमनाकी ।
अन्तमाय आदियाकी अरुमरैयवयुम आनाय ।" —वही ४ ६-२

४ "केशवा ! पुरुषोत्तमा ! किळ कोत्तियाय ।"
—पेरियाळ्वार तिरुमोळी ४ ४ १०

५ वेदरक्ष नायकने ! एम्माने !
एवलिसेम्पुरेयिम्मुदे ।
एळ लकुम्मुडयाय ! एम्मप्पा ।" —वही ४ १० ७

६ "पेयरविनर्च पार्कडलुळ
पल्लिकोमृन्तिन्नू परम मूर्ति ।
उय्य उलकु पडक्क वेंडो
उन्तियिल तोट्टिनाय नान्मुखर्न
वयलनिवर्रे पीयेन्ट्रपी
कालमैयुम उडने पडैत्ताय ।" —वही ८ १ ५

७ 'उळिप्पताय ! कालि मुळ्ळेती
कप माकरी कोम विडुत्ताने ।
कारका ! कळलेकडक्ताले !
एम्पिराय ! " ।" —वही ४ १० १

८ नाच्चियार तिरुमोळी ४ १०

९. "एप्पोरुट्टुम निन्ट्र आकुम एरुतान्नु नाम्मरैयिन ।
चोपोरुळाय निन्नार एन मेय्प्पोरुळुम कोंडारे । —वही, ११ ६

कुलशेखराळवार का कथन है— "देव असुर और पिशाचों के सृष्टि-कर्त्ता वे ही हैं। सबों की स्तुति के पात्र वे ही हैं।"[1] वे महान् हैं। ब्रह्मा शिव इन्द्र उन्हीं की स्तुति करते हैं। वेदों द्वारा उन्हीं की महिमा गायी जाती है।[2]

आळवार भक्तों के अनुसार ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी इसी को भगवान् का विरुद्ध धर्माश्रयत्व कहा है। नम्माळवार कहते हैं—"मेरे इष्टदेव सर्वत्र व्याप्त हैं, अन्तर्यामी हैं। नरक स्वर्गों के अधिपति हैं। मित्रता शत्रुता से परे हैं। अमृत सम हैं। मेरे रक्षक हैं। वे अपने सगुण रूप में तिरुविण्णगर (स्थान विशेष) में विराजमान हैं।[3] सुख-दुःख कलह-सन्तोष सबसे परे अव्यक्त भगवान् अपने सगुण रूप में तिरुविण्णगर में विराजमान हैं।[4] पुण्य-पाप मिलन वियोग आदि के प्रभाव से परे सत्य तत्त्व भगवान् अपने सगुण रूप में तिरुविण्णगर में विराजते हैं।[5]

पेरियाळवार कहते हैं—"जिनकी स्तुति करने में वेद भी नहीं सकते वही यशोदा द्वारा ऊखल से (अपने सगुण रूप में) बंधे जाते हैं।[6] नम्माळवार 'पेरिय तिरुमन्तादि' के एक पद में इस प्रकार भगवान् से प्रश्न करते हैं— आकाश भूमि सबको अपने में धारण करने वाले हे भगवान्। इतने बड़ होकर भी मेरे मन

१ 'देवरैयुम असुररैयुम पिशेश्कळैयुम पडैत्तवने।
यावरुम वन्दु अडि वणंक अरंगनगरत् तुयिन्रवने।"
—पेरुमाळ तिरुमोळी ८ १

२ "पिरैमेय चडैयानुम पिरमनुम इन्दिरनुम
मुरयाय पेरुवेळ्वी कुरै मुडिप्पान मरैयानान।" —वही ४ ८

३ 'नल्कुरवुम चेल्वुम नरहुम सुवर्क्कमुमाय।
वेल्पगैयुम नट्पुम विडमुम अमुदमुमाय
पल्वकैयुम परन्द पेरुमान एन्नैयाल्वान
चेल्वम मल्कुडि तिरुविण्णगरर् सेर्न्द पिरान।"
—तिरुवायमोळी ६ ३ १

४ 'कट्ड इन्बम तन्बम कलवकळक्क म तेयुमाय
तुन्बमुम तन्मैयुम तक्कमुम निलैयुमाय
कम्बुमोडैयरिम पेरुमान एन्नैयाल्वानूर
तेन्तिरैप्पुनल् सूळ तिरुविण्णगर नन्नगरे।"
—वही ६ ३ २

५ वही ६ ३ ३

६ 'मारायुम वेदम यवनु तुदव मार्क्कमिल
देरार पर्व कल्पिट्टात् कट्टुण्ट एम्पेरुमान।"
—"भगवानै नळर्त मकर" (पी पी भी आचार्य कृत) पृ० १२
से उद्धृत।

मार्ग से मेरे अन्दर आपने प्रवेश कर लिया है। अब बताओ मैं बड़ा हूँ कि तुम ?[1]

पोयगै आळ्वार का कथन है कि भगवान् अन्तर्यामी है। जो उसका स्मरण करता है वह उसके मन में वास करता है।[2] पेयाळ्वार कहते हैं कि भगवान् के रूप, रंग को कोई नहीं जानता है (अर्थात् ब्रह्म रूप, रंग से परे निर्गुण है)।[3] इसके अतिरिक्त आपका कहना है—"भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका रूप है। भक्त जिस ढंग से उपासना करे, उसी ढंग से ब्रह्म उसका उपास्य बन जाता है।"[4]

पेयाळ्वार कहते हैं—"वह ईश्वर है। पृथ्वी आकाश आठों दिशाओं में वैसाई सर्वत्र अन्तर्निहित है। पर आश्चर्य है कि उसका निवास मेरे हृदय में है।[5] नम्माळ्वार तो सारे जगत् को कृष्णमय देखते हैं। वे कहते हैं— जो जल हम पीते हैं जो भात हम खाते हैं, जो पान हम खाते हैं—सब में भगवान् की आभा झलकती है।[6]

ब्रह्म का आनन्द (रस) रूप

आळ्वार भक्तों ने ब्रह्म को आनन्द रूप या रस रूप माना है।[7] पेरियाळ्वार अपने इष्टदेव को 'सुन्दर मूर्ति' कहकर पुकारते हैं।[8] तिरुमंगै आळ्वार

---

१ पेरिय तिरुवन्तादि ७५

२ उळन्कण्डाय नन्नॆञ्जे। उत्तमनॆन्ऱुम
उळन्कण्डाय-उळ्ळुवारुळ्ळत्तु उळन्कण्डाय।" —मुदल तिरुवन्तादि ९९

३ 'तिरम वैक्किनुं पिरंगु पनियुं करितेम्,
इऱैयुरुवम यामऱियोम ।" —मून्ड्राम तिरुवन्तादि २६

४ तमरुक्कर ताम काम परिन्तावारेली
इमरिओरुम्यैरमानैन्दु पुनरमिर्प
नातिपुम वैत्त म तोळ्वार उत्ताक्ळ्ळ
मूर्तिपुणे मुदल।" —मुदल तिरुवन्तादि १४

५ इऱैयाय निलमागी एलित्तगिमुम तागाय
मऱैयाय मरुवीरुळाय तागाय—
उळ्ळितिमुळ्ळे उळ्ळन।" —मून्ड्राम तिरुवन्तादि ११

६ उण्णुम सोऱु परुकु नीर तिन्नुम वेट्रिलैयुमेल्लाम
कण्णन एम्पेरुमान् एन्ऱु कण्कळ नीर मल्गी
मण्णिनुळ अवन नीर कळुम तिरुनगरुर तिरुवी
तिण्णम एन इळमान पुकुवर तिरुक्कोळूरे ॥" —तिरुवायमोऴी ६ ७ १

७ "Visistadvaita is the only philosophy of religion that recognises the eternal value of beauty and recognises Brahman as the beautiful and blissful. —*The Philosophy of Visistadvaita,* Prof P N Srinivasachari, p. 219

८ 'वण्णम अऴकिय नम्बी' —पेरियाऴ्वार तिरुमोऴी १ ४ ६

कहते हैं कि भगवान् आनन्द रूप हैं, शहद के समान मधुर रस रूप हैं।[1] तिरुप्पाण आळ्वार कहते— मेरे जिन नयनों ने अमृत-तुल्य रस रूप भगवान् के दर्शन किये हैं वे किसी दूसरी वस्तु को नहीं देखेंगे।[2]

अवतार

आळ्वारों के अनुसार परब्रह्म विष्णु विभिन्न युगों में लोकोद्धार के लिए अवतार लेते हैं। जब पृथ्वी में अधर्म फैल जाता है और अज्ञान अन्धकार पृथ्वी को कवलित करता है तब कृपासिंधु भगवान् अपनी करुणा को प्रकट करने के हेतु अवतार लेते हैं। आळ्वार भक्तों ने अपने इष्टदेव कृष्ण को परब्रह्म विष्णु के अवतार के रूप में ही वर्णन माना है। कृष्णावतार के कारण बताते हुए आळ्वार कहते हैं— देवलोक के देवगणों की वेदना को दूर करने के लिए[3] पृथ्वी तथा पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों के उद्धार के लिए,[4] पृथ्वी के बोझ को कम करने के लिए[5] भूदेवी के कष्ट को दूर करने के लिए,[6] देवगणों की प्रार्थना पर[7] साधु सज्जनों को सताने वाले कंस का वध करने के लिए[8] क्षीरसागर वासी श्री विष्णु का श्रीकृष्ण के रूप में अवतार हुआ।

ब्रह्म के पाँच रूप (उपासना और ध्यान हेतु)

आळ्वार भक्तों के भक्ति-साहित्य का आद्योपान्त अध्ययन करने से यह जाना जा सकता है कि उन्होंने उपासना और ध्यान के लिए ब्रह्म के पाँच रूप माने हैं।

१ परब्रह्म रूप—आळ्वारों ने ब्रह्म का विवेचन निम्न प्रकार से किया है—

"ब्रह्म अमर है, आदि पुरुष है[9] तीन देवों (त्रिमूर्ति) में श्रेष्ठ है।[10] मुनिजन आदि उन्हीं की स्तुति करते हैं।[11] वे पवित्र हैं, परम मेधावी हैं, परमात्मा हैं।[12] श्रेष्ठ गुणों से युक्त महान् हैं। स्तुति के पात्र केवल वही हैं।[13]

---

१ 'पाविनै पञ्चवत्तै पेय्योनै ।"—तिरुक्कुरुन्ताण्डकम् ६
२ "कण्डर कोन अणियरङ्गन एन्नमुदिनैक
 कण्ड कण्कळ मट्रोन्ट्रिनैक् काणावे।"—अमलनादिपिरान १०
३ पेरियाळ्वार तिरुमोळी ४-६ १
४ पेरुमाळ तिरुमोळी १ १०
५ पेरिय तिरुमोळी ५ १०-८   ६ वही, ७-८-२
७ तिरुवाय्मोळी ९-४ ५   ८ वही ९-२ ५
९ अमलनादिपिरान १
१० मूवरिल मुदल्वनाय मुरुवर्"—तिरुनेडुत्ताण्डकम् ६
११ विळ मिय मुनिवरात विळु मुम कीर्तिर्मनिपाय"—पेरिय तिरुमोळी २ १ २
१२ पवित्रने परमयेष्टि परमात्माने। —तिरुप्पल्लाण्डु, १२
१३ "पारात्तुम पारातुं याळी""""।"—तिरुच्चन्दविरुत्तम् ९६

२ व्यूह रूप—आळ्वार ब्रह्म के व्यूह-रूप की ओर इस प्रकार संकेत करते हैं—"मुनि श्रेष्ठ ज्ञानी—परमात्मा ने तीन बनकर पवित्र रूप धारण किये जिनकी स्तुति वेद करते हैं।[1] प्रथम बार ब्रह्म के पवित्र रूप तीन बताते हैं।"[2]

३ अन्तर्यामी रूप—निम्नलिखित उद्धरण ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप को स्पष्ट करने वाले हैं —

(क) शरीर में प्राण के समान मिलकर वास करने वाले भगवान्।"[3]

(ख) 'जो उनका स्मरण करते हैं, उनके हृदय में भगवान् वास करता है।'[4]

(ग) 'अपने रूप को ही मेरे रूप में धारण करने वाले मेरे पिता।"[5]

"हृदय में वास करने वाले ब्रह्म।'

४ विभव रूप—यह भगवान् के विभिन्न अवतारों से सम्बन्ध रखता है। आळ्वारों ने विष्णु भगवान् के विभिन्न अवतारों का वर्णन किया (इसका पहले उल्लेख किया जा चुका है)।

५ अर्चावतार रूप—इस रूप में ब्रह्म मूर्तियों में वास करता है। आळ्वार भक्तों ने विभिन्न मन्दिरों में स्थित भगवद् विग्रहों को ब्रह्म के अर्चावतार-रूप में ही देखा था।[6] तिरुमंगै आळ्वार कहते हैं— वही भगवान् जिसकी स्तुति वेद और सुर लोक करते हैं वही भगवान् जिसने कच्छप मत्स्यावतार धारण किए, वट्ट पुयङ्कर (स्थान विशेष) के मन्दिर में वास करता है।[7] वाराहवतार जैसे वामन तीनों लोकों को मापने वाले महाबली का उद्धार करने वाले चारों वेद से स्तुति प्राप्त करने वाले

---

१ 'मनिवममूर्ति मूवराकि वेदम विरित्त ऐंत पुनितन—पेरिय तिरुमोळि २ -८

२ "मूवराय निन्र ऒरुवन मून्रुरुवाय"—पेरिय तिरुवन्तादि ७२

३ "उडलमिसै उयिरेन करन्तेंगुम परन्दुळान"—तिरुवायमोळि, १ १ ७

४ "विन्त तलिवा मुनिन निन्दीर"—पेरिय तिरुमोळि ४-६ १

५ 'तम्मुरुवे एम्मुरुविल निन्दु एन्तै' —तिरुनेडुन्ताण्डकम १

६ "The Visistadvaitin equates the Brahman and the Antaryamu of the Upanishads with Vasudeva of Pancharatra, the Bhagawan of the Puranas, the Avatar of Ithihasas and the arca of the Alvars — *The Philosophy of Visistadvaita*' Prof P N Srinivasachari, p 162.

७ वेदमुरैत इमयोर वणंगुम
　तम्मु पुरुट्टुरवाय मिनिमयु मायनी वेलविदित मयपडुत्त
　समरणार व स इवरार वोल ? पुम पडुवपरत्त एम्बुरे ॥
　　　　　　　　　　—पेरिय तिरुमोळि २-८ २

भगवान् श्रीरामविण्णगर (स्थान विशेष) में विराजते हैं।"[1] नम्माऴ्वार कहते हैं कि वेदों से वर्णित ब्रह्म तिरुमालिरुञ्चोलै के मन्दिर में विराजमान हैं।[2] आऴ्वार भक्तों के इन कथनों से उनके द्वारा ब्रह्म के अर्चावतार स्वरूप को मानने की बात स्पष्ट होती है।

ब्रह्म का विराट् रूप

'ब्रह्म' शब्द के तात्पर्य में ही उसके बृहत् और विराट् होने का अर्थ निहित है। ब्रह्म के इस विराट् रूप का वर्णन ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त, अनेक उपनिषदों और गीतादि ग्रन्थों में मिलता है। कृष्ण को ब्रह्म स्वीकार करने वाले आऴ्वार भक्तों ने भी कृष्ण के विराट् रूप का वर्णन किया है। पेरियाऴ्वार ने यशोदा के द्वारा कृष्ण के मुँह में सम्पूर्ण लोकों के दर्शन करने का उल्लेख किया है।[3] मृत्तिका भक्षण तथा जमुहाई लेने के समय भी कवि ने समस्त सृष्टि को उनके मुख के अन्तर्गत प्रदर्शित किया है जो ब्रह्म के विराट् रूप का ही प्रतिपादन करता है। पोय्गै आऴ्वार आश्चर्य चकित होकर कहते हैं— 'पृथ्वी पर्वत समुद्र मारुत आकाश—सबको निगलने वाले हे असीम भगवान्! क्या उस दिन आपका मुँह इतना बड़ा था?'[4] पोय्गै आऴ्वार अन्यत्र कहते हैं— जो भगवान् पृथ्वी वायु, अग्नि आदि विराट् रूप वाले हैं, वही गजेन्द्र के कष्ट को दूर करने दौड़ चले थे।'[5]

अन्य उपाधियाँ

आऴ्वार भक्तों ने ब्रह्म की अनेकानेक उपाधियों का मुक्त हृदय से वर्णन किया

---

१ वीर कुरुक्स्य इव निलम मुक्ते मल वैभ्ती
  हलकनैत म ईरविमालोरुन्को सोम्ब्रुम
  —पेरिय तिरुमोऴि १ ४-१

२ "वेद मुम विरित्ताम विळम्बिय कोयिल
  मालुम ममिल वेर मालिव चोलै।"
  —तिरुवायमोऴि २ १०-१०

३ वैयुम वानुम विमित्, वटार नीरे
  वैय वाट्टी पसु विर पोक्कनात
  ऐय मायक्किसाळ्न्कु मंगीतिह
  यमम्किन्न म कंडलव विवर्ळ वायुळे।'
  —पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि १ १ ६

४ मण्णुम मलैयुम मरिकडलुम मारुतमुम
  विण्णुम विळ्ङ्गियदु मेय्योम्पर-एन्निल
  अत्तनाव्दु यन्द श्रीरामीयामनाकु वन्द्र एन
  पुनरक्कुम उन्दो ? उन वाय।"
  —मुदल तिरुवन्तादि १०

५ इरैयुम निलनुम इरुविसुम्बुम कालुम
  अरैपुनलुम चेंतीयुमायान—पिरैमरुप्पिन

है, जिनमें दार्शनिक दृष्टि के अतिरिक्त भावात्मकता का भी पर्याप्त योग है। तिरुप्पाण ब्रह्म के विषय में कहते हैं—"ब्रह्म अमल है, आदि पुरुष है भक्तों के रक्षक है, विमल है, देवों के अधिपति है, निर्मल है शीतल है।"[1] तिरुमंगै आळवार कहते हैं—"भगवान् पवित्र है, महात्मा है, पुण्यमूर्ति है देवाधिपति है, अकेले रहने वाले है, भक्तों के लिए मधुर है, मेरे स्वामी है।'[2] तिरुमलिसै आळवार कहते हैं—'हे भगवान्! आज मैं समझ गया हूँ समस्त सृष्टि के कारण तुम हो। जो कुछ ज्ञान मैंने प्राप्त किया है, तुम उसका सार हो। आगे जो कुछ मैं सीखूं वा वह भी तुम्हीं हो। अच्छे कर्म करने वाले तुम नारायण हो।'[3] नम्माळ्वार कहते हैं— ज्ञानी लोग सब हरि की स्तुति करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि भगवान् ही समस्त रोगों को दूर करने वाली औषध है।"[4] नम्माळ्वार भगवान् को बड़े दानी, भक्त-वत्सल भी कहते हैं।[5]

वैकम माल यानी पडु तुयरम कात्तळित्त
वैकम माल कण्डाय तैळी ॥"

—मुदल तिरुवन्तादि २६

१ 'अमलनादिपिरान अडियार्कु एन्नैयाट्पडुत्त
विमलन विण्णवर कोन विरैयार पोळिल वेंकटवन
निमलन निम्मलन नीतियानवन नोल मदिळ रंगत्तम्मान तिरु
कमल पादम वन्दु एन कण्णिनुळ्ळनवोक्किन्नवे।"

—अमलनादिपिरान पद १

२ 'पुनितन पूविनाकि पुकराकि वेदम विरित्तुरैत्त
पुनितन पूर्वकल्यान अण्णल पुण्णियम विण्णवर कोन
तनियन वेयन तानोरुवना नित्तुम तन्नडियार्कु
इनियन एन्नै एम्पेरुमान एन्नुळ्ळ निकल्लामे।'

—पेरिय तिरुमाळ्ळी २ २ ८

३ "इनियरिन्तेन ईचर्कु म नान्मुखर्कु म देवम्
इनियरिन्तेन एम्पेरुमान। उन्नै-अतियरिन्तेन
कारणन नी कट्रवै नी कर्पवै नी नर्किरिवे
नारणन नो नन्किरिन्तेन नान।'

—नान्मुगन तिरुवन्तादि ९९

४ "परिमनर एल्लाम अरियै वणंगी
परिमनर ओडवल वल्लुम मरुन्ने।"

—ज्ञान तिलकम् (श्री पी० श्री० आचार्य कृत पृ० ४ से उद्धृत)

५ "वल्लने! मधुसूदना! एन मरकतमलैये उन्नै मिनैन्तु
एळ्ळल तनत एंतय! उन्नै एवनन विलुवेन?"

—तिरुवायमोळी, २ ६ ४

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के ब्रह्म-सम्बन्धी विचार

१ कविवर सूरदास जी के इष्टदेव पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। उनके सगुण और निर्गुण—दोनों रूप हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण समस्त विश्व के कारण हैं। वे आदि अनादि अनूप और सर्वान्तर्यामी हैं।[1] वे ही अंश और कला-रूप में असंख्य रूप धारण करते हैं। जीव रूप में जगत् रूप में और सम्पूर्ण देवता रूप में जो कुछ भी इस जगत् में है वह सब उन्हीं का अंश है। वे ही अक्षर-ब्रह्म रूप हैं और वे ही ब्रह्मा विष्णु और शिव हैं। वे सम्पूर्ण रूप उन्हीं से अंश रूप बनकर प्रसूत हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म रस-रूप है। ब्रह्म को सगुण और निर्गुण—दोनों बताकर सूर ने ब्रह्म के विरुद्ध-धर्मत्व के भाव को स्वीकार किया है। सगुण रूप में वे युगल रूप से नित्य रास-विहार करते हैं। उनका सौन्दर्य अमित है। उनके अनेक रूप हैं। सूर ने ब्रह्म प्रकृति पुरुष आदि की अभिन्नता स्वीकार करते हुए कृष्ण और परब्रह्म का एकीकरण किया है।[2] सूर के अनुसार आत्मराम ब्रह्म ने ही अपनी इच्छा से अपनी अंश रूप सृष्टि का प्रसार किया। सूर कहते हैं —

अविगत, आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनासी।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी॥
जहँ वृन्दावन आदि अजिर जहँ कुंज-लता विस्तार।
तहँ विहरत प्रिय-प्रीतम दोऊ निगम भृंग गुंजार॥

---

१ (क) अविगत आदि अनंत अनूपम अलख पुरुष अविनासी।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी।—(सूरसागर)
(ख) आदि सनातन परब्रह्म प्रभु घट-घट अन्तरयामी।
सो तुम्हरे अवतरे आनि कै, सूरदास के स्वामी।"
—(वही १।८६ पृ २१०)
(ग) आदि सनातन, हरि अविनासी। सदा निरन्तर घटघट वासी।
पूरन ब्रह्म, पुरान बखानें। चतुरानन सिव अन्त न जानें॥
—(वही १।१ पृ० २५१)
(घ) 'पूरन ब्रह्म सनातन वेई मैं मुख्य संसार।"
—(वही १०।१७४ पृ० ५५५)

२ 'सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटिकल्प बीतत नहिं जानत विहरत युगल-स्वरूप।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब हैं अंश गुपाल।'
—सूर सारावली (वे प्रे पृ० १८) अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ४७ से उद्धृत।

जहँ गोवर्धन पर्वत मनिमय, सघन कंदरा सार।
गोपिन मंडल मध्य विराजत निसि दिन करत बिहार॥
खेलत-खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार।
अपने आप करि प्रकट कियो है हरि पुरुष अवतार॥[1]

जिस ब्रह्म के सगुण और निर्गुण—दोनों रूप हैं, वही इस जगत् में अवतार भी धारण करता है। निर्गुण ब्रह्म ध्यान की वस्तु है परन्तु उपासना की नहीं।[2] वह ज्ञान से जाना जा सकता है, पर उससे प्रेम किया नहीं जा सकता। बिना प्रेम के भक्त को सन्तोष नहीं। अतः निर्गुण ब्रह्म भक्तों के लिए सगुण बनकर आता है। वेद-उपनिषद् जिसे निर्गुण बताते हैं वही सगुण होकर नन्द की दाँवरि में बँधता है।[3] कृष्ण पूर्णावतार हैं, जब-जब दानव प्रकट हुए हैं तब-तब कृष्ण ने अवतार धरकर असुरों का संहार किया। यद्यपि वे परम हंस अच्युत अबगति अविनाशी परमानन्द हैं, तो भी शरीर धारण करके भू का भार हरते हैं।[4]

सूरदास ने परब्रह्म कृष्ण के विराट् रूप का वर्णन किया है और विराट् आरती की भी योजना की है —

नैननि निरखि स्याम स्वरूप।
रह्यो घट-घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप।

---

१ सूर सारावली, १

२. अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥

मन-बानी को अगम-अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै॥
सब बिधि अगम बिचारहिं तातें सूर सगुन पद गावै॥—सूरसागर १।२ पृ० १

३ (क) वेद उपनिषद् जासु कौं निगुनहिं बतावै।
सोई सगुन ह्वै नन्द की दाँवरी बँधावै।"— वही १।४ पृ० २
(ख) "हँसत गोपाल नन्द के आगे नन्द स्वरूप न जान्यौ।
निर्गुन ब्रह्म सगुन लीलाधर सोई सुत करि मान्यौ॥
—वही १०। ६१ पृ० १४९

४ (क) जब जब हरि माया तें दानव प्रगट भये हैं आय।
तब तब धरि अवतार कृष्ण ने कीन्हों असुर संहार।'
—सूर सारावली (सू० सा० व प्रे०) पृ० २
(ख) तुम अच्युत अविगत अविनासी। परमानन्द सदा सुख रासी।
तुम तनु धारि हर्यौ भुव भार, नमो नमो तुम्हें बारम्बार॥
—सूरसागर १०।४२९७ पृ० १३०९

चरन सप्त पताल जाके सीस है आकास।
सूर चन्द्र नक्षत्र पावक सर्व तासु प्रकास।[1]

और—हरि जू की आरती बनी।
मही सराव सप्त सागर घृत बाती शैल घनी।
रवि ससि ज्योति जगत परिपूरण हरत तिमिर रजनी।
उड़त फूल उडुगन नभ अन्तर अंजन घटा घनी।[2]

परब्रह्म युक्ति से अगोचर और समस्त विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। वे अणु से भी सूक्ष्म हैं और महान् से भी महान् हैं। वे सर्वव्यापक अचल तथा कूटस्थ होते हुए भी चल, अन्दर होते भी बाहर, निकट होते हुए भी दूर, फल प्रदाता होते हुए भी एक रस और सर्व समर्थ हैं। भक्त-कवि सूर की यह धारणा उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होती है—

अक्षर, अच्युत निराकार, अविगत है सोई।
मानि मनत नहिं जाहि, जाहि जानहिं प्रभु कोई॥[3]

और—

कोटि ब्रह्माण्ड करत छिन भीतर हरत बिलम्ब न लाव।
ताको लिये नन्द की रानी नाना रूप खिलावै॥[4]

२ परमानन्ददास के अनुसार श्रीकृष्ण ही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, कृष्ण ही एक से अनेक रूप धारण करते हैं और उन्हीं को वेद नेति-नेति कहते हैं।[5] परब्रह्म गुण रहित और सगुण—दोनों हैं। निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप धारण करता है।

परमानन्ददास ईश्वर के रस-रूप के उपासक थे। वे कहते हैं— 'कृष्ण रस रूप हैं अर्थात् उनका संपूर्ण विग्रह रस-निर्मित है। उनका नाम भी रस-रूप है। उसी रस-रूप का उपासक परमानन्ददास है, जिसके हृदय में उस कृष्ण के प्रति प्रेम का

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ३७०, पृ १२१
२ वही ( ) ३७१ पृ १२१
३ सूरसागर पद सं० १०६३ पृ १११
४ वही पद सं० ७४४ पृ० २ १
५ मोहन नन्दराय कुमार।
प्रकट ब्रह्म निकुञ्ज नायक भक्त हित अवतार।
...
'दास परमानन्द' प्रभु हरि निगम बोलत नैन॥
—परमानन्द सागर (सं डा गो ना० शुक्ल) पद सं० ५७

प्रवाह बह रहा है।[1] परमानन्द दास कहते हैं— 'कृष्ण गुण के सागर हैं और सन्तों के सर्वस्व हैं। ब्रह्मा रुद्र इन्द्र आदि देव उनका मनन करते हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सबके स्वामी हैं वे ही इस जगत में लीला अवतार रूप में आते हैं।'[2] परमानन्द आगे यह भी कहते हैं— 'ये मुख्य तीन देवता—ब्रह्मा विष्णु महेश—कृष्ण के ही गुणावतार हैं और ये अनेक प्रकार के वर देने में समर्थ हैं। परन्तु मेरे तो उपास्य देव राधिका वल्लभ श्रीकृष्ण ही हैं।'[3]

नन्ददास के इष्टदेव श्रीकृष्ण परमब्रह्म हैं, परमात्मा और स्वामी हैं।[4] यह ब्रह्माण्ड ज्ञान-विज्ञान के प्रकाशक सच्चिदानन्द नन्दनन्दन हैं। कृष्ण प्रकट पुरुषोत्तम पूर्ण ब्रह्म अविनाशी अलख पुरुष हैं। इनकी शोभा अपार है वे अविगत हैं आदि अन्त

---

१ रसिक सिरोमनि नंदनंदन।
रसमय रूप अनूप बिराजति गोपबधू जन जीवन धन॥
नैननि में रस चितवनि में रस बातनि में रस उमगत अंग अंगु।
गावनि में रस मिलवनि में रस बेनु मधुर रस प्रगट पावन बनु।
जिहि रस मत फिरत मुनि मधुकर सो रस संचित ब्रज वृन्दावन।
स्याम धाम रस रसिक उपासित प्रेम प्रवाह सु "परमानन्द" मन।
—परमानन्द सागर, पद सं० ८२६

२ संतन को सरबसु गुन सागर नागर नंद कुमार।
परम कृपाल जसोदा नंदन जीवन प्रान आधार।
ब्रह्मा, रुद्र इन्द्रादि देवता जाको करत विचार।
पुरुषोत्तम सबही के ठाकुर यह लीला अवतार॥
सरन-गच्छ को भव डर नाहीं बिधि निषेध नहिं भार।
—वही पद सं० ८२

३ मोहि भावै देवाधिदेवा।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन गोकुलनाथ एक है सेवा॥
जो जानिये सकल अरदायक गुन विविध कीजिये सेवा।
तीन मुख्य देवता—ब्रह्मा, विष्णु अरु महादेवा॥
सदा चक्र सारंग गदा कर वर अनुभुज आनन्दकन्दा।
गोपीनाथ राधिका वल्लभ ताहि उपासत "परमानन्दा"।
—वही पद सं० ८५६

४ कृष्ण सनातन परम ब्रह्म परमातम स्वामी।
—नन्ददास सिद्धान्त-पंचाध्यायी पृ० १८६

से हीन है।[1] कृष्ण अद्भुत रूप वाले हैं, परमात्मा हैं, सर्वान्तर्यामी हैं।[2] वे प्राणियों के रक्षक पालक और उनके कर्मों को देखने वाले हैं। वे अवतार लेकर भू का भार हरण करते हैं।[3]

नन्ददास के अनुसार ईश्वर अजन्मा है—"अज कहिए, जगदीश।"[4] और वह अनन्त रूप होते हुए एक है—'हरि अनन्त अरु एक।'[5] वह जगत् का निमित्त और उपादान—दोनों कारण है—

"जो प्रभु ज्योति जगतमय कारन करन अभेव।
विघन हरन सब सुख करन नमो-नमो तिहि देव॥"[6]

४ मीराबाई ने कृष्ण को 'अविनाशी' की संज्ञा दी है। मीरा ने एक स्थल पर लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण मेरे हृदयेश हैं। चाहे सूर्य चन्द्र पृथ्वी जल आकाश का नाश हो जाय परन्तु कृष्ण स्थिर ही रहेंगे।[7] और अन्यत्र कहती हैं—

"प्रभु तुम पूरन ब्रह्म हो पूरन पद दीजै हो।
मीरां व्याकुल विरहिणी अपनी करि लीजै हो॥"[8]

---

१ जैसेई कृष्ण अखण्ड रूप, चिद्रूप उदारा।
—नन्ददास सिद्धान्त-पंचाध्यायी पृ० १६१

(क) परम धाम श्रीकृष्ण ध्यान निवास प्रकासी।
—वही पृ० १८४

(ख) सघन सच्चिदानन्द नंद नंदन ईश्वर बात।
—वही, पृ० १८४

२ मोहन अद्भुत रूप
परमात्मा परब्रह्म, सबन के अन्तर्यामी।
नारायन भगवान धर्म करि सबके स्वामी।
—वही अ० १ पृ० १९६

३ यद युग युग अवतार धरत नारायन सोई।
सबको आश्रय अवधि-भूत नंद नन्दन सोई॥
—वही पृ० १८३

४ नन्ददास ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा काशी) अनेकार्थ मंजरी

५ वही („ „)

६ वही „ ( ), पृ० ४६

७ मेरा पिया मेरे हिय बसत है, ना कहुँ आती जाती।
चंदा जायगा सूरज जायगा जायगी धरणि अकासी।
पवन पाणी दोनूं ही जायेंगे अटल रहे अविनासी॥
—मीरा की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पृ० ८ प्रथम संस्करण

८ मीरा की पदावली। (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० १२६

५ स्वामी हरिव्यास जी अपने इष्टदेव को ही परमात्मा परब्रह्म मानते हैं—

'परमातम परब्रह्म करि बिस्तारन जगजाल ।
जगपालन जय-जय सदा रास बिहारीलाल ।''[1]

हरिव्यास जी ने ब्रह्म को रस-रूप और नित्य माना है—

नित्य बिहरत जहाँ नित्य कीसोर दोउ
नित्य सहचरिन संग नित्य नवरंग ।
नित्य रस रास उल्लास आनन्द जय
नित्य प्रतिकास परकास अंग-अंग ।[2]

६ रसखान के कृष्ण भी विष्णु के अवतार ब्रह्मा और शिव से श्रेष्ठ तथा पूर्ण ब्रह्म हैं। उन्होंने अपने काव्य में अनेक स्थानों पर श्रीकृष्ण को परब्रह्म के रूप में चित्रित किया है। उनके आराध्य श्रीकृष्ण सर्वोपरि हैं। कई स्थानों पर उन्होंने 'शंकर से सुर जाहि भजें' आदि कहा है। एक स्थान पर वे कृष्ण का महत्त्व दिखाते हुए कहते हैं—

गावै गुनी गनिका गन्धर्व और सारद सेस सबै गुन गावत ।
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यों ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावत ॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरन्तर जाहि समाधि लगावत ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत ॥[3]

७ नरोत्तमदास ने श्रीकृष्ण को परम दयालु और अन्तर्यामी ब्रह्म के रूप में चित्रित किया है—

अन्तरयामी आप हरि जानि भक्त की पीर ।
सोचत न ठाढ़ो कियो नहीं धोमती तीर ॥[4]

और वे वही ब्रह्म हैं जिनके चरण से समस्त जगत् का संताप नष्ट होता है—

जिनके चरनन को सलिल हरत जगत संताप ।
पाय सुदामा विप्र के, धोवत हैं हरि आप ॥[5]

निष्कर्ष

आळवारों के और आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के ब्रह्म सम्बन्धी विचारों के अनुशीलन तथा परीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों का क

१ निम्बार्क माधुरी पृ० ६१
२ वही पृ० ६०
३ रसखान का अमर काव्य—(दुर्गाशंकर मिश्र) पृ० ९१
४ सुदामा चरित—नरोत्तमदास (के० प्र०) दोहा सं० १२
५ वही दोहा सं० २१

कवियों के विचारों में बहुत दूर तक साम्य है। आळ्वारों की अपेक्षा हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में दार्शनिक विवेचन की मात्रा अधिक है, क्योंकि आळ्वारों के पश्चात् ही दार्शनिक विवेचन की पद्धति प्रबल हुई। आळ्वारों के और हिन्दी के अष्टछापी कवियों के ब्रह्म-सम्बन्धी विचारों को मोटे तौर पर देखने से यह अन्तर देखा जा सकता है कि जहाँ आळ्वारों के अनुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म विष्णु के अवतार हैं, वहाँ हिन्दी के अष्टछापी कवियों ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म माना है और विष्णु को उन्हीं का अंश माना है।[1]

जीव

आळ्वारों के जीव विषयक विचार

आळ्वार भक्तों ने जितने विस्तार से ईश्वर के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं, उतने विस्तार से उन्होंने जीव के विषय में विवेचन प्रस्तुत नहीं किया है। फिर भी उनके कुछ पदों से ईश्वर और जीव के सम्बन्ध जीव-स्वरूप और जीव की शक्ति-सामर्थ्य आदि के विषय में कुछ परिचय अवश्य मिल जाता है। आळ्वार भक्तों ने जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अंश और अंशी शेष-शेषी शरीर शरीरी के रूप में माना है। आळ्वारों के ये जीव-ब्रह्म सम्बन्धी विचार विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन में मिलते हैं।

श्री पी एम० श्री निवासाचार्य अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि फिलासफी आफ विशिष्टाद्वैत' में लिखते हैं—"The truth of Brahman as the Sarivin of all beings is clearly intuited by the Alvars."[2]

नम्माळ्वार के अनुसार जीव सब भगवान् से उत्पन्न किये गये हैं। वही उनके स्वामी है।[3] सभी जीव भगवान् की अपनी संपत्ति हैं। ये जीव भगवान् पर आधारित हैं। वही इन जीवों में वास करता है।[4]

---

१ "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्
इन्द्रारि व्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे-युगे।" —भागवत १।३।२८

2 *The Philosophy of Visistadvaita*
—Prof P N Srinivasachari p 246.

३ "तिरुमिन मुदलुम शीवु वेहलु उम्मुयिर
शीवुडयानिदे शीवु शेहमिले।" —तिरुवाय मोऴि १ २ १
"नीर नुमदॆन्ड्रिवै वेर मुदल माय्त्तु इरै
सेर्मिन उयिरुक्कु अदन् नेर निऱैयिल्लै।" —वही १ २ ३

४ "शिल मीतिरुप्पाय। मलैमेल निर्पाय कडऱ्चेर्प्पाय।
मण मीतुऱप्पाय। इवट्रुळ् उम् मरैन्तुऱैवाय।
एण मीतुयन्द् पुरत्तप्पाय। एनतावी
यळ मीतावी उणामुडी वोऴिप्पायो ?" —वही ६-९ ५

तिरुमलिसई आळ्वार ने जीव और ब्रह्म के बीच अंश और अंशी का सम्बन्धी बताते हुए कहा है—"समुद्र में तरंग उठती हैं और वे उसी में समा जाती हैं। तरंगों का समुद्र से अलग अस्तित्व नहीं है।[1] उसी तरह जीव भी भगवान् से जन्म लेते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। उनका अलग अस्तित्व नहीं है। जीव भगवान् के अंश-रूप हैं।[2]

नम्माळ्वार ने सभी वस्तुओं में भगवान् के निहित रहने का भाव अपने एक पद में प्रकट किया है—"जो जल हम पीते हैं, जो भात हम खाते हैं जो पान हम हम खाते हैं—सबमें उसी का समावेश है। सारा जगत कृष्णमय है।"[3]

अंश रूप जीव अन्त में अंशी रूप ब्रह्म में लीन हो जाता है इस तत्व को स्पष्ट करते हुए मधुर आळ्वार कहते हैं —

"जिस तरह सरिता सागर की ओर प्रवाहित है सुमन सूर्य की किरणों की प्रतीक्षा में है उसी तरह जीव भी भगवान् में लीन होने के लिए उन्मुख है।"[4]

तिरुमर्ग आळ्वार का कहना है कि "जिस प्रकार परम तपे हुए लोहे पर पानी की बूँदें डालने से वे स्वयं आकृष्ट होकर लोहे में विलीन हो जाती हैं (और फिर उनका अलग अस्तित्व नहीं रहता) उसी प्रकार मैं (जीव) भगवान् में लीन हो जाना चाहता हूँ।"[5]

---

१ सामुद्रोहि तरङ्गः क्वचनसमुद्रो न तारंगः।

—आचार्य शंकर कृत 'षट्पदी'

२ "तन्नुळ्ळे तिरैत्तेळुम् तरंगवेण्तडकडल
तन्नुळ्ळे तिरैत्तेळुन्दु अडङ्गुकिन्र् तन्मैपोल
निन्नुळ्ळे पिरन्दिरन्दु निर्पवुम् तिरिपवुम्
निन्नुळ्ळे यडङ्गुकिन्र नीर्मै निन् कण् निन्रते।"

—तिरुच्चन्दविरुत्तम् १०

३ "उण्णुम् चोरु परुगुनीर तिन्नुम् वेट्रिलैयुमेल्लाम्।
कण्णन्" ... ॥

—तिरुवायमोळि ६-७-१

४ "वेयरम् कडकडसे धाद्र योरुपू
उयरम् कतिरवने नोक्कुम्-उयिरम्
तरमनये नोक्कुम् योग सार्मैयान केळ कम
धोरवनेये नोक्कुम् उणर्वु। ... ..."

—मुदल तिरुवन्दादि ९७

५. "इरुम्बनन्गुळ नीर पोल एन्नेण्णाकुलम् एन तम।
मरुम्बेराप्पुरुविल्लुदु पतिमै कुमुदु अरुगु पोलेन॥"

—तिरुक्कुरुन्दाण्डगम् ५

परब्रह्म का अंश-रूप जीव इस संसार की माया में पड़कर अपने सत्य स्वरूप को विस्मृत कर जाता है। यह जीव अपनी आत्मा में स्थित किन्तु प्रच्छन्न आनन्दांश और ईश्वरीय ऐश्वर्यादि गुणों को भूल जाता है। घट-घट में व्याप्त ईश्वर के अन्तर्यामी स्वरूप से यह अनभिज्ञ रहता है। वह यह भी नहीं जानता कि मैं परब्रह्म का अंश हूँ। अविद्या के कारण वह यह ज्ञान नहीं पाता कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।[1] यदि किसी प्रकार से ज्ञान से भक्ति से अथवा भगवान् की कृपा से यह माया-यवनिका छूट जाती है तो जीव फिर अपने आनन्द स्वरूप में आ जाता है।

हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के जीव-सम्बन्धी विचार

आळवार भक्तों के और आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के जीव सम्बन्धी विचारों में बहुत समानता है। हिन्दी कृष्ण भक्त कवि भी आळवारों की तरह जीव और ईश्वर के बीच अंश-अंशी सम्बन्ध को मानते हैं। कविवर सूरदास जी का मत है कि ब्रह्म ही अपने चित् अंश से अनेक जीव रूप में स्थित है। जीव और ईश्वर की अद्वैतता का भाव सूर ने कई स्थानों पर व्यक्त किया है।[2] सूर ने जीव को भगवान् की चेतन-शक्ति का ही स्वरूप माना है। एक ही भगवान् की ही चेतन-ज्योति घट-घट में व्याप्त है। सूर कहते हैं कि समस्त तत्त्व प्रकृति पुरुष देवता तथा सम्पूर्ण जीव गोपाल कृष्ण के अंश हैं।[3] स्पष्ट है कि सूर ने ईश्वर और जीव के अंशी—अंश सम्बन्ध का समर्थन किया है।

श्रीकृष्ण का अंश रूप जीव इस संसार की माया में पड़कर अपने सत्य स्वरूप को भूल जाता है। यह भ्रम और अविद्यावश अपने ईश्वरीय अंश-रूप सत्य रूप को विस्मृत कर इन्द्रिय धर्म आदि को अपनी आत्मा का धर्म समझने लगता है। यही भ्रम उसके दुःख और राग द्वेष का कारण है। सूरदास कहते हैं— 'जीव का दुःख सुख तो तनु के संग होता है। ज्ञानी जीव अपने को असिप्त मानता है। जीव कर्म बन्धन में पड़कर अनेक शरीर धारण करता है। अज्ञानी इन देहों को देखकर भुलावे

---

१ "इवॅयप्पु` नरुल इवॅयप्पु` तीय
इवॅयेप्पीवै पजिमेलुम-इवॅयेल्लाम
एसाल्ल मर्दप्पु मीक्कोमाघु इवॅयवने
एम्मान्न पेयर्पालघु एन ?" —पेरिय तिरुवन्दादि १

२ 'सहस रूप बहुरूप पुनि एक रूप पुनि दोय।
—सूर सारावली सूरसागर (वें प्र०) पृ १४

३ 'सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गुपाल।
—सूर सारावली, (सू० सा० वें० प्रे) पृ० १८

में पड़ जाता है। परन्तु ज्ञानी शरीर के भेदों को नहीं मानता सब जीवों को एक रस मानता है। आत्मा तो अजन्मा और अविनाशी है, उसके लिए सबसे बड़ी फाँसी अहंता, ममता ही है।"[1]

सूर कहते हैं— ईश्वर के अंश रूप जीव का स्वरूप पाँच भौतिक शरीर नहीं है। ईश्वर के समान ही यह जीव नित्य है और जन्म-मरण के बन्धन में नहीं पड़ता है। जीव चेतन है वह प्रत्येक घट में है। घट उत्पन्न होते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं। किन्तु चेतन जीव नित्य रहता है, जिस प्रकार प्रत्येक घट में सूर्य का प्रकाश रहता है, परन्तु उस घट के नष्ट हो जाने पर सूर्य नष्ट नहीं होता वह नित्य ही रहता है। ईश्वर का अभिन्न अखेद रूप जो है वही सब घटों में एक रूप से स्थित है। जो आत्मा इन्द्रियों को चेतन करती है वह ईश्वर का ही रूप है।"[2]

नन्ददास ने जीव को ब्रह्म के अंश-रूप में मानकर एक पद में कहा है— "व्यक्त-अव्यक्त का अनुपम विश्व है, उसमें के सब भूतों के तुम विस्तार हो। तुम सब के परमेश्वर और स्वामी हो। समस्त विश्व तुम्हारे हाथ है। तुमसे हम सब उसी

१ जिम करि कर्म जन्म बहु पावै। फिरत-फिरत बहुते श्रम आवै॥
जब कबहूँ न क्रम परिहरै। जाते भाजो फिरिबो टरै॥
तन स्थूल अरु दूसर होई। परमातम कौ पै नहिं दोइ॥
तनु मिथ्या छन भंगुर जानो। चेतन जीव सदा थिर मानो॥
जिम की सुख-दुख तन सम होई। जो बिचारे तन के सब सोई॥
देह अभिमानी जीवहिं जानै। ज्ञानी तनु अनित्य करि मानै॥

× × × ×

जीव कर्म करि बहु तन पावै। अज्ञानी तिहिं देखि भुलावै॥
ज्ञानी सदा एक रस जानै। तन के भेद भेद नहिं मानै॥
आतम अजन्म सदा अविनाशी। ताकौं देह-मोह बड़ फाँसी॥
—सूर सागर ३।४ पद सं० ४११ पृ० १२१ १२४

२ (क) चेतन घट-घट है या भाइ। ज्यों घट-घट रवि प्रभा लखाइ।
घट उपज बहुरो नसि जाइ। रवि नित रहै एकहीं भाइ॥
—वही पद सं० १९४, पृ० ११४

(ख) अभिन्न अखेद रूप मम जान। जो सब घट है एक समान।
मिथ्या तन की मोह निवार। जासु रही भावै गृह-बार।
करत इन्द्रियनि चेतन जोइ। मम स्वरूप जानौ तुम सोइ।
—वही, पद सं० १९४ पृ० ११२

प्रकार उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं। मैं तुम्हारा दास हूँ। मेरा जन्म तुम से है।"[1]

परमानन्ददास भी ईश्वर-जीव की अद्वैतता और उनका अंशी-अंश सम्बन्ध मानते हैं। वे कहते हैं— लोगों ने अपने अंशी गोपाल की स्मृति भुला दी और उन्होंने संसार को ही सत्य मान लिया है। जो योगी हैं वे योगाभ्यास करें, ज्ञानी ज्ञान करें कर्ममार्गी कर्म में लगें किन्तु हमारा व्रत तो अपने गोपाल का गुणगान करने का है।"[2] इससे ईश्वर-जीव की अद्वैतता और उनके अंशी-अंश सम्बन्ध का भाव प्रकट होता है।

एक स्थान पर मीराबाई ने भी जीव और ईश्वर की अद्वैतता स्वीकार कर कहा है—

"तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा।"[3]

मीरा ने आत्म-समर्पण और आत्म-विस्मृति के द्वारा अपने इष्ट की सहानुभूति को आमन्त्रित करते हुए उस अज्ञात तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। मीरा के अनेक पदों में जीव को परमात्मा से मिलने की तीव्र आकांक्षा प्रकट होती है—

'प्रभु जी थे कहाँ गया नेहड़ा लगाय।
× × ×
मीरा रे प्रभु कबरे मिलोगे थे बिन रह्या न जाय।"[4]

---

१ (क) व्यक्त-अव्यक्त जु विश्व अनूप, वेद कहत प्रभु तुम्हरो रूप।
तुम सब भूतनि को विस्तार, जिहु प्राण इन्द्री अहंकार॥
—नन्ददास दशम स्कन्ध पृ० २४१

(ख) तुम परमेश्वर सबके नाथ, विश्व समस्त तिहारे हाथ।
तुम ते हम सब उपजत ऐसे, अगिनि तें विस्फुलिंग गन जैसें॥
—वही पृ० २०८

(ग) सब कहत कि हौं तुम्हरी चेरी तुमतें प्रगट जनम यह मेरो॥
—वही पृ० २११

२ माई हौं अपने गुपालहि गाऊँ।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन देखि-देखि सुख पाऊँ॥
जे ग्यानी ते ग्यान बिचारौ जे जोगी ते जोग।
करमठ होंई ते करम बिचारौ जे भोगी ते भोग॥
× × ×
अपने मन की भुगति राखी है मांगि लियौ संसार।
परमानन्द गोकुल मथुरा में बस्यौ न यहै बिचार॥
—परमानन्द सागर, पद सं० १०५, पृ० ११८

३ मीराबाई की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० ११४, नवाँ संस्करण

४ वही (" ") पद सं० १४

जगत्

आळ्वारों के जगत् विषयक विचार

आळ्वार भक्तों ने अपनी रचनाओं में इस बात को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है कि यह जगत् जीव तथा सम्पूर्ण देवगण परब्रह्म के ही अंश हैं। उनके अनेक पदों में परब्रह्म के अंश-रूप जगत् की उत्पत्ति के विषय में विस्तार से कहा गया है। नम्माळ्वार कहते हैं— समस्त देवता समस्त जीव सम्पूर्ण जगत्, वायु, आकाश आदि को अपने अंश-रूप में रखने वाले ब्रह्म से बढ़कर और कौन-सा देव हो सकता है ?[1]" अन्यत्र नम्माळ्वार कहते हैं— हे भगवान् ! समस्त जगत्, वायु आदि को अंश रूप में रखने वाले महान् से महान्, तुमने कैसे मेरे अन्तःकरण में वास कर लिया ![2]"

कई स्थानों पर आळ्वार भक्तों ने ईश्वर को ही इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण कहा है। नम्माळ्वार कहते हैं— सबसे पहले (अति प्राचीन काल में) कोई जगत् नहीं था न कहीं जीव था। केवल ब्रह्म ही था। ब्रह्म को अपनी लीला के विस्तार की इच्छा हुई तब उसने ब्रह्मा की उत्पत्ति की—(विष्णु ब्रह्म के नाभि कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ)। ब्रह्मा ने अन्य देवों तीना लोक (जगत्) आदि की सृष्टि की।"[3] तिरुमलिशै आळ्वार ने भी यही कहा है कि ब्रह्म ने सृष्टि-विकास की

१ 'यावर्पुलकमुम यावरुम अकप्पट
निलम नीर ती काल सुडरिरुविसुम्मुम
मलर सुडर पिरवुम शिरिदुम मर्वाद
मोर पोरुळ मुरुम्विडिवुडै मुळुवदुम
अकप्पड करन्दु ओरादिमिर्न्द शेर्न्द एम
पेरुमानैयल्लादु ओर मादैवम
मर्रुदुमोयामे ?'

—तिरुवाचिरियम पद ७

२ पुविमुम इरु विसुम्मुम निन्नकत्त नीयन्
चेविमिनवळि पुकुन्दु एन्नुळ्ळाय-अविविडु
याम पेरियम नी पेरियै एन्पदनैयारऱिवार ?

—पेरिय तिरुवन्दादि ७५

३ 'यावर्पुलकमुम यावरुमिल्ला
मेवरुम पेरुम्पाळ कालत्, इरुम्पोरुळ्
केल्लाम अरुम्पेरल तनि वित्तु ओरुत्ता
नारी वेदव नाम्मुगन् कोळ मुदल्
दुरु मुरुपोरुळाळु तेवुरुमुनानो
मूवुलकम शिरुळ्त्त उरुवो
मायवरदुट नामदनरिवे।

—तिरुवाचिरियम ...

इच्छा से ब्रह्मा की उत्पत्ति की, जिसने ब्रह्म के आदेश पर समस्त जगत्, देव आदि की सृष्टि की।[१] ब्रह्म और जगत् की अद्वैतता को स्पष्ट करते हुए तिरुमलिशै आळ्वार ने कहा है—'तुम्हीं जगत् हो जगत् तुम्हीं में है। तुम्हीं देवों के अधिपति हो! तुम्ही वायु, अग्नि दिशा आदि हो।"[२]

नम्माळ्वार कहते हैं—"ब्रह्म ही इस जगत् का सर्जन इसका पालन और संहार करते हैं।[३]" पोयगै आळ्वार का कहना है कि ब्रह्म जगत् की रक्षा इस प्रकार करता है, मानों कोई वस्तु पेटी के अन्दर सुरक्षित हो।[४] नम्माळ्वार ने एक पद में जगत् और ब्रह्म की अद्वैतता को बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि भगवान् ने अपने अन्दर से इस विशाल जगत् की सृष्टि की जिस कारण उस परमज्योति की आभा समस्त जगत् में व्याप्त है।[५] एक अन्य स्थल पर नम्माळ्वार कहते हैं—'हे भगवान्! तुम्हीं इस जगत् का आधार हो तुम्हीं जगत् हो जगत् के प्राण तुम्ही हो।"[६]

जगत् सम्बन्धी आळ्वारों के विचारों से यह विदित होता है कि उन्होंने

---

१ 'नान्मुगने नारायणन् पडैत्तान्-नान्मुगनुम
तान् मुगमाय् चंकरनैत्तान् पडैत्तान्' ।" —नान्मुगन तिरुवन्तादि १

२ 'नीये उलकेल्लाम निन्नरुळे निर्पनवुम
नीये तवत्तेवदेवनुम—नीये
एरिचुडरुम माल वरयुम एन दिसैयुम अण्डत्त
इरुचुडरुमाय इवै।" —वही २०

३ "पोंरुमूवुलगुम पडैत्तळित्तळिक्कुम
पोरुन्दु मूवुरुवन एम्मरुवन।" —तिरुवायमोळी ८४२

४ "मुन्नैय मूवियतन—तनमाल
पेरकत्तुळ्ळोमुलगुम वेरारवालार
वोरकनत्तुळ्ळु वसदु।" —मूण्ड्राम तिरुवन्तादि ४१

५. "परंज्योति नी परमाय निन्निकळ्न्दु निन महीर
परंज्योतियिन्नियिल पडियोवि निकळ्न्दु
परंज्योति निन्नुळे पडैत्तकम पडैत्त एम
परज्योति। गोविन्दा। पण्णुरैक्कमोड्ंगे।" —तिरुवायमोळी ३११

६ "उलगिल्ल तिरियुम करुमकतियाय उलकमाय
उलगुक्के ओरुयिरुमानाय।"---- -- —वही १-१-७

जगत् को सत्य और नित्य माना है।[1] चूँकि जगत् सत्य और नित्य ब्रह्म का अंश है, अतः वह भी सत्य और नित्य है।[2]

आळ्वार भक्तों ने जहाँ इस जीवन को अनित्य तथा माया से युक्त कहा है, वहाँ उनका अभिप्राय जगत् से नहीं संसार से है। आळ्वार भक्तों ने जगत् और संसार का शास्त्रीय ढंग से कोई भेद नहीं किया है जैसे कि सूर आदि हिन्दी-कृष्ण भक्त-कवियों ने जगत् और संसार का भेद स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। परन्तु उनके विचारों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने जगत् और संसार का भेद अवश्य माना है। जहाँ वे जगत् को ब्रह्म का अंश मानते हैं वहाँ उनका अभिप्राय नित्य और सत्य जगत् ही है और जहाँ वे अनित्य माया प्रभावित जगत् का वर्णन करते हैं, वहाँ उनका तात्पर्य संसार से ही है। संसार की असारता और नश्वरता का कवियों ने वर्णन किया है। अज्ञान के कारण माया के वश होकर संसार को जीव नित्य मानता है और उसे ही आनन्द-निकेत मान लेता है। वह भ्रम में पड़ा रहता है। नम्माळ्वार कहते हैं—' हाय ! मैं क्या कहूँ इस संसार की 'गति' के विषय में। जगत् के सृष्टा एक मात्र भगवान् के होते हुए भी उसका स्मरण न करके लोग अपने अन्य भाव (अज्ञान) से हत्या अत्याचार आदि क्रूर कृत्य कर सर्वदा सुख-दुःख की चिन्ता लिये माया के वश में होकर भ्रम में पड़े रहते हैं।[3]"

कुलशेखराळ्वार कहते हैं— इस मिथ्यापूर्ण सांसारिक जीवन को शाश्वत और सत्य मानकर इस संसार में लीन रहने वाले लोगों से मैं संगति नहीं करूँगा।[4] तोंडरडिप्पोडी आळ्वार का कथन है— सत्य को भूल कर (मायावश) नारी के मोह जाल में पड़कर मिथ्यापूर्ण इस संसार को सत्य मानकर मैंने समय गँवा दिया। मेरे स्वामी ! अब केवल आपके अनुग्रह की आशा रखकर आपके पास आया हूँ। मैं क्रूर

---

1 "The Philosophy of Saragopa —R Ramanujachari
Annamalai University Journal 1933 p 20

२ स्मरण रहे कि आळ्वारों ने जगत् को सत्य और नित्य माना है जब कि श्री शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या कहा है। (जगन्मिथ्या) शंकर के मायावाद का खण्डन करने वाले परवर्ती सभी आचार्यों ने आळ्वारों के उपर्युक्त विचार का ही समर्थन किया है।

३ "ओ ओ ! उलकिनतियल्बे ! इन्नोलिरक्क
मर्वमीदत्तु नलिकिन्न्नु उन्नुमिन्नु
तडम्नु देम्नु पलकळिनुम पुलनॅरर्दनुम
नि्र्वे पुरैम्पलतामरो देवम पेतुलल तगालु" ‥ ।"
पम मायमताळन्नु माळ्ळिन्लॅ —तिरुवायमॉळि, ९

४ "मैम्मिन वाळ्वरवे मेय्येनरुळोल्ल प [illegible]
वैयमल्लोदुम क्कुवितिरवै नान ।" —पेरुमाळ तिरुमोळी, ३ [illegible]

हूँ, मैं झूठा हूँ।"[1] तिरुमलिशै आळ्वार ने कहा है— यह संसार अनित्य है। यहाँ कोई वास्तविक सुख नहीं है। मायावश जीव इस सांसारिक सुख को स्थायी सुख समझ बैठा है। यह जानकर भी कि आज नहीं तो कल इस संसार को अवश्य छोड़ना ही पड़ेगा मूर्ख मनुष्य क्यों इस देह के मोह में पड़े रहते हैं?[2] तिरुमंगै आळ्वार ने इस संसार के माया-मोह से अपने को बचाने का आदेश दिया है।

आलोच्यकालीन हिन्दी-कृष्ण-भक्त कवियों में सूर आदि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि यह जगत्, जीव सम्पूर्ण वेद आदि गोपाल के अंश हैं।[3] सूर के अनुसार इस जगत् का सर्जन इसका पालन और संहार ईश्वर ही करते हैं। वे कहते हैं कि 'यह जगत् उनसे इस प्रकार निकला है और इस प्रकार उन्हीं में समा जायगा जैसे पानी का बुलबुला पानी से ही बनता है और पानी में विलीन हो जाता है।'[4] इस प्रकार अनेक पदों में सूरदास जी ने ब्रह्म के अंश रूप जगत् की सत्यता का प्रतिपादन किया है। कई स्थानों पर उन्होंने ईश्वर को इस जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण बताया है।[5]

सूर ने जगत् और संसार में भेद दिखाया है। जहाँ वे जगत् को सत्य और नित्य मानते हैं, वहाँ वे संसार को मिथ्या मानते हैं। सूर ने कहा है—

---

१ मेय्येल्लाम पोकविट्टु विरिकुळलारिलपट्टु
पोय्येल्लाम पोदिन्दु कोण्ड पोय्क्कुरम्बेय् इतु निन्दु
ऐयने! अरंगने! उन्नरुळेन्नुम् आसैतन्नाल्
पोय्यनेन वन्दु निन्ऱेन पोय्येनो वन्दवारे!"
—तिरुमालै ३३

२ इन्ड्रु नालै निन्ड्रु नालै इन्निराक्कै पिरन्दन्
पोन्ड्री निन्ड्रु आक्कैयिन्नै कन्ड्रुम नीवर एन कोलो?
कुन्ड्रु नाट्टम्बाल पाकपोरैयोन्ड्री नानिल मेल
वेन्ड्रु वेन्ड्रु वेरराम इरुक्किलाद वण्णमे?"
—तिरुच्चन्दविरुत्तम ६६

३ सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल
प्रकृति पुरुष श्री पति नारायण सब हैं अंश गोपाल।
—सूरसागर सूर सारावली (वें० प्रे०) पृ० [illegible]

४ प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परै।
जग सिरजत पालत संहारत पुनि क्यों बहुरि करै॥
ज्यों पानी में होत बुदबुदा पुनि ता माहिं समाइ।
त्योंही सब जग प्रगटत तुम तें पुनि तुम माहिं बिलाइ॥
—सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ४६२० पृ० १०११

५ कर्म शुभ रु दीन्हि बिचार, कारन करन हार करतार।
—सूरसागर (प्रथम स्कन्ध) वें० प्रे० पृ० २१

'मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया।
तुम जाने बिन जीव सब उत्पत्ति प्रलय समाहिं।
दारुन मोहिं प्रभु राखिये चरन कमल की छाँहीं।''[1]

झूठा संसार मन और माया की करतूत है। एक पद में सूरदास जी कहते हैं— हे माधव! मेरा मन सब प्रकार से पोच है। यह अज्ञानी मन अविद्या-अन्धकार में पड़कर अनेक प्रकार के विषम कृत्य करता है। उसके ये मायिक कृत्य ऊपर से बड़े रमणीय सेंमर के फूल के समान सुन्दर और रंगीन ज्ञात होते हैं, परन्तु वस्तुतः हैं वे सारहीन और दुःखदायी। यह मन दुःख-कूप में गिरता है। इसकी करतूत का कहाँ तक बखान करूँ। हे प्रभु! आप ही इसका उद्धार कर सकते हैं।''[2]

नन्ददास ने भी ब्रह्म और जगत् की अद्वैतता को मानते हुए ब्रह्म को ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण बताया है। वे कहते हैं— जो ब्रह्म ज्योतिर्मय और चिन्मय है, वही अभेद रूप से जगत् का उपादान कारण है और वही उसका करने वाला निमित्त है।' 'दशम स्कन्ध भाषा' में नन्ददास कहते हैं— 'इस जगत् का आधार ब्रह्म की सत्ता अथवा सद्रूप है, जब यह जगत् ब्रह्म की माया में लीन हो जायगा उस समय केवल एक ब्रह्म ही रह जायगा।'[3]

नन्ददास ने जगत् और संसार में भेद माना है। संसार मिथ्या है और अनित्य

---

१ सूरसागर (दशम स्कन्ध—वें० प्रे०) पृ० १५८

२ माधौ जू, मन सबही बिधि पोच।
अति उनमत्त निरंकुस, मैगल, चिन्ता-रहित असोच॥
महामूढ़ अज्ञान तिमिर महँ, मगन होत सुख मानि।
तैसी ये कूप को नित भरमत, भजत न सारंगपानि॥

× × ×

ज्यों कपि सीत-हरन-हित गुँजा सिमिटि होत लौलीन।
त्यों सठ वृथा तजत नहिं कबहूँ, रहत विषय-आधीन॥
सेमर फूल सुरंग अति निरखत, मुदित होत खग-भूप।
परसत चोंच तूल उघरत मुख परत दुःख के कूप॥

× × ×

और कहाँ लौं कहौं एक मुख या मन के कृत काज।
सूर पतित तुम पतित-उधारन, गहौ बिरद की लाज॥
—सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद सं० १०२, पृ० ३३

३ नन्ददास ग्रन्थावली (दशम स्कन्ध—भाषा) ना० प्र० सभा

है। उन्होंने 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में संसार को बहाने वाली धारा तथा प्राण घोंटने वाला फंदा कहा है।[1]

आळ्वारों के उपरान्त जगत् और संसार में स्पष्ट विभेद वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों ने ही किया है। अन्य सम्प्रदाय के कवियों में यह भेद स्पष्ट नहीं मिलता। साधारणतः शंकर की भाँति सभी ने जगत् और संसार को पर्यायवाची माना है और उसकी नश्वरता, असारता और मिथ्यात्व का वर्णन किया है।

राधावल्लभीय-सम्प्रदाय के कवि हरिराम व्यास ने लिखा है।

'एक पसारे सब जग भूल्यो।
माया रचित प्रपंच कुटुम्ब की मोह-जाल सब भूल्यो।'[2]

स्वामी हरिदास लिखते हैं—

हरि को ऐसो ही सब खेल।
'मृग तृष्णा जग व्यापि रह्यो है कहूँ बिजौरो न बेल।
धनमद जोबनमद राजमद ज्यों पंछिन में डेल।
कह हरिदास यहै जिय जानी तीरथ को सो मेल।"[3]

माया

आळ्वारों के माया-विषयक विचार

आळ्वार भक्तों ने दो प्रकार की माया की चर्चा की है। एक भगवान् की शक्ति स्वरूपा माया है। भगवान् की यही माया सृष्टि (जगत) का कारण है। एक दूसरी माया है जिसके अधीन जीव हैं। भगवान् उस माया के अधीन नहीं हैं जो माया मनुष्य को अपने वश में कर लेती है। इस माया से जीव संसार में बंधता है। यह भगवान् की माया से भिन्न है। आळ्वार भक्तों ने माया के इन दोनों भेदों के अलग-अलग नाम नहीं दिये हैं। परन्तु परवर्ती आचार्यों ने (वल्लभ जैसे) इन्हीं को 'विद्या माया' और 'अविद्या माया' की संज्ञा दी है। आळ्वार भक्तों ने कुछ पदों में विशेष रूप से सृष्टि विकास के प्रसंगों में भगवान् की शक्ति स्वरूपा माया का उल्लेख किया है। अधिकांश आळ्वारों ने भगवान् को अनेक स्थानों पर 'मायन्' अर्थात् 'माया मय' कहकर भक्ति-भाव से पुकारा है।

नम्माळ्वार कहते हैं— *'जब कोई जगत् नहीं था कोई जीव नहीं था केवल ब्रह्म ही था, तब ब्रह्म ने अपनी शक्ति स्वरूपा माया से प्रेरित होकर सृष्टि विकास के*

---

१ बहै जात संसार धार जिम फाँसे फन्दन
परम तरन करना करि प्रकटे श्रीमद्वल्लभनन्दन।
—सिद्धान्त पंचाध्यायी नन्ददास शुक्ल पृ० १८१

२ व्यास वाणी (उत्तरार्ध) पृ ४११

३ निम्बार्क माधुरी, पृ० ५०४

हेतु पहले ब्रह्मा की उत्पत्ति की, जिसने समस्त जगत् और जीव की सृष्टि ब्रह्म के आदेश पर की। वही 'माया युक्त' आदि देव ही मेरे स्वामी हैं।[1]

तिरुमलिशै आळ्वार कहते हैं—"हे भगवान्! तुम आदि देव के रूप में ज्योति रूप में उसके उच्च रूप में वेद रूप में आकाश के साथ पृथ्वी के रूप में गोपालक के रूप में न जाने कितने रूपों में तुम दृष्टिगोचर होते हो। यह कैसी है तुम्हारी माया?[2] गोपालक के रूप में गोपिका के प्रेमी के रूप में देव और मनुष्य के रूप में तुम आते हो। हे माया युक्त! तुमने सर्वत्र अपनी माया को ही दर्शाया है।[3] तिरुमलिशै आळ्वार अन्यत्र कहते हैं—"हे भगवान्! तुम पृथ्वी में हो आकाश में हो हमारी चिन्तन-शक्ति की पकड़ में नहीं आते हो। तुम्हारी यह कैसी माया है?"[4]

नम्माळ्वार कहते हैं—"हे तीनों लोकों को मापने वाले भगवान्! तुम्हारी विचित्र माया शक्ति के फलस्वरूप उत्पन्न मैं तुम्हीं से अपने पाप-दोषों को दूर कर

---

१ 'पावकैयुलकमुम पावकमिरुन्ता
मेरुवम मेरुम्मान् आसत् इरुम्पीरुट्
वेरुनाम यरुम वेरम तनि विरु चोरुता
मानी देहव नाम्मुवकोपुमुळ
ईषु, मुरुकुरोत्तमोवु देवुवनतुलमी
मूवरुम विळैत उन्नी
मायमकरुतुक मामुवलवियै।"

—तिरुवाशिरियम, ४

२ "पारियावरि नी चोरनमाविशालमाल
ज्योतियार ज्योति नी कनुवर्वयित विलसिलनाय
वेदमानी वेविनुवानी विन्नितवोवु मन्नुमाय
मादियामी मायमाय मायम एन मायमे?"

—तिरुचन्दविरुत्तम १४

३ मायमामी मायरमनेवेय तोन्न विरुम्मिनाय
माया! निन्नैयावर वल्लर? मवरत्तोवु इम्पराय
माया! मायमार्य चोन! मनान्री नी मनुरत्तुम
मम्मा मायमालिरुनाय उन मायपुतुम मायमे।"

—वही ४१

४ "मन्नुळाय चोल? विन्नुळाय कोल? मन्नुळ मयदी निन्नु
एन्नुमेन्नवन्नराय कोल। एन मायै?"

—वही, ४२

शरण में लेने की प्रार्थना करता है। 'सुख-दुःखपूर्ण संसार, क्लेशपूर्ण नरक, आनन्दपूर्ण स्वर्ग, नाना जीव आदि विविध सृष्टि रचकर खेल ही तुम दिखाते हो। तुम्हारी माया विचित्र है।'[2]

आळ्वार भक्तों ने जिस दूसरी माया की चर्चा की है, वह जीव को भ्रम में डालने वाली है। यही माया जीव को लौकिक विषयों में फँसाकर उसको अज्ञान में डालती है। व्यामोह द्वारा जीव शोक, मोह, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि भावों की संसृति में भ्रमता है। इसी माया को श्री शंकराचार्य जी ने अविद्या माया कहा है और उसके अनेक नाम दिए हैं, जैसे—अज्ञान, अध्यास, भ्रम, स्वप्न आदि। आळ्वार भक्तों ने इस अविद्या रूपिणी माया का बहुत चित्रण किया है। यही माया जीव को अनेक नाच नचाती है और उस जीव से भ्रमपूर्ण संसार की सृष्टि कराकर दुःख-जाल में उसे बाँधे रहती है। नम्माळ्वार कहते हैं— 'अज्ञान के कारण मैं समझ बैठा था कि सब कुछ मैं हूँ, सब कुछ मेरा ही है। मैं अपने वास्तविक स्वरूप को भी भूल गया था।'[3] अहंता ममतात्मक संसार की सृष्टि करने वाली माया का वर्णन जैसा कि नम्माळ्वार ने किया है, अन्य आळ्वार भक्तों ने भी किया है। इस माया को उन्होंने सत्य को भुलाने वाली, मिथ्या में मोह उत्पन्न करने वाली बताया है। इस माया के अनेक रूप हैं, जैसे—धन की भूख, तृष्णा, ममता, मोह, अहंकार, काम-क्रोध, लोभ तथा अनेक मानसिक विकार। इस माया के विविध रूपों का आळ्वारों ने वर्णन किया है और कहा है कि अनन्य भक्ति अथवा भगवदनुग्रह से ही इस माया से जीव छूट सकता है। वैराग्यपूर्ण जीवन से भी इस माया के फन्दे से कोई बच सकता है।

नम्माळ्वार कहते हैं— क्या नहीं, माया-जन्य इस संसार के विषय में। समस्त जगत् की सृष्टि कर उसका पालन करने वाले सर्वशक्तिमान् भगवान् का

---

१ "अन्नमेयक्कन्दप्पमवात्मका। निन
पन्नामाय पल्पिरविधियिल पडिक्किनु पाल
तोन्मायल विसैत्तोडक्कि पुक्किरिन्नु
निन्मायल पेन्नु निर्पानु एनक्कु, कोलो ?"

—तिरुवाय्मोऴि १ ३-२

२. 'तुन्पमुम इन्पमुमाकिय सेय्विनैयाय उलकङ्कळुमाय
इन्पमिल वेन्नरकाकी इनिय नल्वान स्वर्कङ्काय
मन्पल्लुयिरकळुमाय पल-पल मायमयक्कुक्काळ
इन्पुरुम इव्विळैयाट्टुडैयाने पेनु एङ्ङुन कण्डुकोळ्वने ?"

—वही १-१०-७

३ "यानी एन्नी अरियकिलाती
यानी एन तनती एन्‌रिरुन्तेन।"

—वही, २-९-९

स्मरण नहीं कर जीव अपने अज्ञान (अज्ञान) के कारण हत्या अत्याचार आदि कृत्य कर सुख-दुःख की चिन्ता किये माया के वश होकर माया में ही भटकते फिरते हैं।'[1]

तिरुमंगै आळ्वार का कथन है— 'माता-पिता पत्नी सन्तान आदि के मोह पाश में पड़कर मैंने कष्ट भोगा है। मृगनयनियों के मोह-जाल में पड़कर मैंने नरक में ही नरक पहुँचाने योग्य नाना पाप-कर्म किये हैं।[2] माया-बन्ध इस संसार में मैं लक्ष्यहीन भटकता रहा। सज्जनों से कोई हितवचन बोल नहीं सका। अज्ञान में पड़े मैंने बालक के रूप में कई निन्दनीय कार्य किये हैं।[3] अब मेरे लिए कोई सहारा नहीं है। पाप ही पाप करके मैं महापापी बन गया। हे मायामय माधव! तुम्हीं मुझे अपनी शरण में ले लो।'[4] तिरुमंगै आळ्वार आगे उपदेश देते हैं— संसार के प्रतिपाद्य (जो नाश पहुँचाने वाला मोह है) छोड़कर भगवान् की भक्ति में लीन हो जाओ। ०

१ पो पो। उत्तमिकतिपत्ते।

वेहवम वेमुतल तनामु
तुस्तरिवाम्म पोरुमावकाट्टी
कोल्वन मुवमा मलनमुयपुम
इनैयवेहर्द इम्युम्बी
तोल मामायम्मिरविपुळ मीळा
पल्मामायत्ताळ तुममानिल्मी।'

२ "तावे तर्त्तयेन्ड्र म तारमे किळै मक्कळेन्ड्र म
मोये पट्टोळिन्तेन ... ।" —तिरुवाचिरियम्, ६

३ "मानेय कण्मडवार मयक्किल पट्टु मानिलत्त
नाने नानाविद नरकम्, पुगुम पावम् सेय्तेन्।' —पेरिय तिरुमाटी १६१

४ "पट्ट म थोण्ड्र मिलेन पावमे सेय्तु पाविया नेन
मट्ट नोन्ड्रारियेन मायने। एंक्ट मायवने।" —वही १६२

मट्ट म कल्लाईल्लम महियेने यातूनोन्ड्रणाये।

५ "मानमान पाधम् विट्ट मल्लेरि मोरुमुरिल
वाधम्मनु पुरामान वक्ती अर्थुमुमे।' —वही १६६

नम्माळ्वार कहते हैं— 'विचित्र है इस माया-जन्य संसार की हालत। बुरे लोग सुख भोगते हैं और अच्छे लोग दुःख भोगते हैं और यह संसार उन्हीं को नाना कष्ट पहुँचाता है।'[1] आमोद-प्रमोद को धन को स्त्री-सुख को, जीवन को शाश्वत् देखकर भी यह सांसारिक जीव मोहवश कुछ समझ नहीं पाता।'[2] इसी प्रकार अन्य आळ्वार भक्तों ने भी अविद्या रूपिणी माया का जो जीव को भ्रमपूर्ण संसार की सृष्टि कराकर अनेक दुःख-जाल में बाँधे रहती है बहुत चित्रण किया है।

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने माया के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं वे आळ्वारों के विचारों से बहुत मिलते-जुलते हैं। सूरदास नन्ददास आदि अष्टछापी कवियों ने आचार्य वल्लभ के अनुसार माया के दो भेद—विद्या और अविद्या-माने हैं। विद्या माया ब्रह्म की वशवर्तिनी एवं शक्ति है। उसके द्वारा ब्रह्म समस्त जगत् का निर्माण करता है। अविद्या माया जीव को काम क्रोध लोभ मोह आदि के द्वारा वशीभूत कर उसे पथ भ्रष्ट करने वाली है। सूरदास और नन्ददास ने माया के दोनों रूपों का चित्रण किया है।

विद्या के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सूर कहते हैं—

> बहुरि जब हरि की इच्छा होय।
> देखें माया के दिसि जोय।
> माया सब तबही उपजावै।
> ब्रह्मा सो पुनि सृष्टि उपावै।

नन्ददास विद्या का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

> सो माया जिनके अधीन रहत मृगी बस।
> विश्व प्रभाव प्रतिपाल प्रलयकारक आयुस बस।

अविद्या माया का वर्णन हिन्दी भक्त-कवियों ने विस्तार से किया है। यही माया जीव को भ्रम-जाल में बाँध रखती है। उसका बाह्य स्वरूप आकर्षक है, परन्तु आन्तरिक रूप असत्य है। उसकी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि वह जीव को अपने पाश में जकड़ लेती है, जिससे छूटना अत्यन्त कठिन हो जाता है। केवल भगवान् की कृपा से ही उसका प्रभाव छूट सकता है।

सूर ने इस माया का वर्णन निम्नलिखित पद में कि सुन्दर ढंग से किया है—

---

१ 'मण्णतार मुडवतिप्प नल्लुद्दार करैलोक
एण्णरात्त वर विर्ळ मुम इवैयेन्न उलकियर्के ?

—तिरुवायमाळी ४-६ १

२ 'कोण्डाट्टुम कुलम् पुनैयुम तमरुद्दार विळ्ळूनितियुम
वण्डार् नु कुळमाळ्ठुम मनैयोळियुम माइतल
कण्डाट्टेन उलकियर्के कडम कण्णा।'

—वही ४-६ १

बिनती सुनौ दीन की चित दै, कैसें तुव गुन गावै ?
माया नटी लकुटि कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै ।
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति नाना स्वांग बनावै ।
तुम सौं कपट करावति प्रभु जू मेरी बुधि भरमावै ।
मन अभिलाष-तरंगनि करि करि, मिथ्या निसा जगावै ।
सोवत सपने मैं ज्यौं संपति, त्यौं दिखाइ बौरावै ।
महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहिं लगावै ।
ज्यौं दूती पर-बधू भोरि कै लै पर-पुरुष दिखावै ।
मेरे तौ तुम पति तुमहीं गति, तुम समान को पावै ?
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै ।'[1]

सूर ने इस माया को त्रिगुणात्मिका कहा है—

माया जो त्रिगुणात्मक जानो । सत-रज-तम ताके गुन मानो ।
तिन प्रथमहिं महतत्व उपायो । तातैं अहंकार प्रगटायो ।
अहंकार कियो तिनि प्रकार । सत तैं मन सुर सात प्रकार ।
रजगुन तें इन्द्रिय बिस्तारी । तमगुन तें तन्मात्रा सारी ।
तिनतें पंचतत्त्व उपजायो । इन सबको इक अंड बनायो ।

× × ×

'यह अंडा चेतन नहिं होइ । जबहुँ हरि सो चेतन होइ ।
तामैं शक्ति आपनी धरी । ब्रह्मादिक इत्यादि बिस्तरी ।
कोटिन अंड भये ता माहिं । इत्यादि ।'[2]

वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के कवियों ने भी माया के विषय में ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं । निम्बार्क सम्प्रदाय के हरिव्यास जी कहते हैं— माया त्रिगुन प्रबल पवन की प्रीति न जाय तास ।"[3]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवि श्री हरिराम व्यास ने लिखा है—

१—"माया रचित प्रपंच कुटुम्बी मोह जाल सब छूट्यो ।"
२—"जीवत मरे न माया छूटै काम कर्म कुल टूटे ।
[illegible] बलाय तजन सुत देखा तिनहि ठगन सब लूटे ।
कबहुँ रंक राजा कबहूँ है चित बिकार न छूटे ।
साधु न सूझे गुन नहिं सूझे हरि जन रस नहिं घूटे ।
व्यास आस पर भारे आन को दुख सागर नहिं छूटे ।"[4]

स्वामी हरिदास जी का माया के विषय में कहना है—

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ४२ पृ० १७
२ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ३९४ पृ० ११४
३ निम्बार्क माधुरी पृ० ३१
४ श्री व्यास वाणी पृ० २३१

"तुमरी माया बाको पसारी विविध मोहि मुनि गुनि करके सुने कोइ।"[1]

मोक्ष

आळ्वार भक्तों के विचार

संसार-दुःख से छूटकर आनन्द-प्राप्ति की मुक्ति-अवस्था लगभग सभी दर्शनों को मान्य है, यद्यपि भिन्न-भिन्न मतों में इस आनन्द भोग की स्थितियाँ और लोक भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। आळ्वारों के अनुसार भक्ति का फल ही मुक्ति है।[2] आळ्वार भक्तों ने कहीं भी मुक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया है, जैसा कि परवर्ती भक्ति-साहित्य में मिलता है। भक्ति-ग्रन्थों में साधारणतया चार प्रकार की मुक्ति का निर्देश मिलता है। वे हैं—सालोक्य सामीप्य सारूप्य और सायुज्य।[3] इन मुक्तियों का सैद्धान्तिक रूप 'प्रबन्धम्' में देखने को नहीं मिलता। किन्तु इन चारों मुक्तियों की अनुभूति आळ्वार भक्तों ने पूर्ण रूप से की है इसमें कोई सन्देह नहीं।

मोक्ष का सुख दो प्रकार से हो सकता है—देह रहते अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था का सुख और देह त्यागने के पश्चात् ईश्वर कृपा के बल पर प्राप्त मोक्ष अवस्था के सुख। 'प्रबन्धम्' में इन दोनों प्रकार के मोक्ष का वर्णन हुआ है। जीवन्मुक्त अवस्था का सुख देह-त्याग के बाद के मोक्ष-सुख की अपेक्षा अधिक उत्तम माना गया है। आळ्वार भक्तों ने अपने अनेक पदों में जो मानसिक प्रबोधन संसार की अनित्यता और माया मोह की निन्दा से सम्बन्धित है, जीवन्मुक्त-अवस्था प्राप्त करने के उपायों को बताया है। इस अवस्था के अपूर्व आनन्द के सामने उन्होंने जीवन मुक्ति-अवस्था के बाद के मोक्ष-सुख की उपेक्षा कर दी है।

नम्माळ्वार कहते हैं—"हे भगवान्! मेरी एक मात्र प्रार्थना है—जो मोक्ष तुम अपने भक्तों को देना चाहते हो क्या वह तुम्हारे स्मरण मात्र से मुझे मिलने वाले आनन्द से अधिक सुखपूर्ण है?"[4] (मैं मोक्ष नहीं चाहता केवल आपका स्मरण

---

१ निम्बार्क माधुरी पृ० २ २

२ 'माइन्दु कोन्डु मादिप्पेरमाले शरणमाक
 वाइन्द मनत्त इरत्तकरुमार्कल
 वैकुन्तम काप्पार विरैन्दु।" —नान्मुगन तिरुवन्दादि ७६

३ सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
 दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ —श्रीमद्भागवत ३ २९ १३

(i) सालोक्य—भगवान् के नित्य धाम में निवास (ii) सामीप्य—भगवान् की नित्य समीपता (iii) सारूप्य भगवान् का सा रूप तथा (iv) सायुज्य—भगवान् के विग्रह में समा जाना।

४ 'पोमृग्नु वैकुन्तत्त। यानुरैप्पतु उनक्कियानुं
 एन वाइनेमुं इरुत्ति नी निप्पुकलिल
 वैकुम तम चिन्तयिनुम मट्टिनितो ? नी अवनु
 वरुन्त मेम्पुवनुमवान।" —पेरिय तिरुवन्दादि ५१

करते रहने में ही मुझे अपूर्व सुख प्राप्त है।) श्रेष्ठ भक्त भक्ति से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसकी तुलना में मोक्ष के सुख को तुच्छ समझते हैं। नम्माळ्वार का कहना है—"सर्व जगत् की सृष्टि कर उसकी रक्षा सतत् करते रहने वाले मेरे पिता भगवान् हैं, जिनके चरण कमलों को अपने सिर पर धारण करने की इच्छा से प्रेरित मेरा मन उनका स्मरण कर प्रेम से द्रवित होकर दिव्यानन्द प्राप्त करता है। अन्य पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा से दूसरे लोग भले ही मारे मारे फिरें भले ही दूसरे लोग मोक्ष-पद प्राप्त करने की इच्छा रखें परन्तु श्रेष्ठ भक्त इन चीजों की कामना नहीं करते। वे तो केवल भक्ति में ही परमानन्द प्राप्त करते हैं।"[1]

तोंडरडिप्पोडि आळ्वार कहते हैं—'सुन्दर शरीर युक्त घनश्याम भगवान् का गुण गान करते रहने में मुझे जो सुख उपलब्ध होता है उसके बदले अमर इन्द्रलोक पर शासन करने का सुख (मोक्ष का सुख) दिया जाय तो भी मैं उसे नहीं चाहूँगा।'[2] तिरुमलिशै आळ्वार कहते हैं—'भगवान् से मिलने की इच्छा के अतिरिक्त मुझे किसी दूसरे मोक्ष-सुख की कामना नहीं।'[3]

नम्माळ्वार के अनुसार मोक्ष कोई स्थान है परन्तु अनुभूति मात्र है। वे कहते हैं—"ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् इन्द्रियों को वश में कर संसार के स्वरूप को समझते हुए, सुख-दुख की चिन्ता को एवं सांसारिक चाह को त्यागने पर मोक्ष का मा

---

१ 'उलगु पडैत्तुण्ड एन्दै अरैकऴल
सुडर्प्पूत्तामरै सूडुदर्कु अवावुरु
उळ्पुगुन्दुरुगि नैरियान
तन्निलिनमीनलेरम अमुद
वेळ्ळत्तानाम चिरप्पु विट्टु ओरु पोरुट्
कसैवोर कविक सिवप्पोरुमकविय
इमर्य मन्नाम्बेरविरलुमरुम
पुलिप्पोरु मण्णेरु वेरिनुम
कोळ्ळवेण्डुमो सिरिदोर पुरिवे ?	—तिरुवाचिरियम् ७

२ "अच्युता ! अमररेरे ! आयर तम कोळुन्दे ! एन्नुम
इच्चुवै तविर यान् पोय् इन्दिर लोकम् आळुम्
अच्चुवै पेरिनुम वेण्डेन् ।

—तिरुमालै २

३ 'मीडिलाद दोरमैदरी वीट्टिरुम्पोनिनुम
इडुम आनयननोडु कोळ्ळवेरो ? पुरिविने ।"

—तिरुच्चन्द विरुत्तम १०८

आळ्वार भक्तों ने सर्वत्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए भगवान् के अनुग्रह की आवश्यकता बतायी है ।

आलोच्यकालीन हिन्दी-कृष्ण-भक्त कवियों ने चार प्रकार की मुक्ति (सामीप्य, सालोक्य सारूप्य और सायुज्य) का निर्देश किया है ।

सूरदास कहते हैं—

'सेवत सगुण स्याम सुन्दर को मुक्ति नहीं हम चाही ।"[1]

हरिराम व्यास कहते हैं—

"लोक वेद कर्म धर्म छाँड़ि मुकुति चारि ।"[2]

आळ्वार भक्तों की तरह कुछ हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने भी जीवन मुक्ति-अवस्था के भाव के मोक्ष-सुख की उपेक्षा कर दी है । एक पद में सूर जीवन मुक्त-सुख के आगे वैकुण्ठ के सुख को हीन बताते हुए कहते हैं— 'जो सुख गोपाल के गुण-गान में है वह जप तप कर्म आदि के करने में नहीं । ब्रज निवास के सामने वैकुण्ठ का सुख भी त्याज्य है । हरि के सुमिरन से संसार-दुःख छूटता है, और जीवन मुक्ति का परमानन्द मिलता है ।"[3]

श्री हरिराम व्यास ने मोक्ष की भक्ति के समक्ष उपेक्षा की है —

'ताके बल गर्व भरे रसिक व्यास से न डरे
लोक वेद कर्म धर्म छाँड़ि मुकुति चारि ।"[4]

नन्ददास ने जीवन-मुक्ति के सुख का वर्णन किया है । संसार की माया के दुःख से छूटकर प्रेम-भक्ति की संयोग और वियोग अवस्थाओं की आनन्दावस्था में भक्त ईश्वर के सतत ध्यान में जिस सान्निध्य का अनुभव करता है, वह स्वर्ग (मोक्ष) सुख से भी श्रेष्ठ है । यह नन्ददास जी की रास पंचाध्यायी की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होता है —

---

१ सूर सागर, वें० प्रे० १७४
२ व्यास वाणी, पृ २६६
३ जो सुख होत गुपालहिं गाएँ ।
सो सुख होत न जप-तप कीन्हें कोटिक तीरथ न्हाएँ ।
दिएँ लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाएँ ।
तीनि लोक तृन-सम करि लेखत नंद-नंदन उर आएँ ।
बंसीवट वृन्दावन, जमुना तजि बैकुण्ठ न जाव ।
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव-जल आव ।
—सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ३४६, पृ० ११९
४ व्यास वाणी, पृ० १४९

'पुनि रंचक धीर ध्यान धीय परिरम्भ दियो जब ।
कोटि सरग सुख भोग, छिनक मंगल मुयलें तब ।'[1]

परमानन्द का मन मोक्ष की कामना नहीं करता । किन्तु वह श्रीकृष्ण के पद-पंकजों में ही रहकर आनन्द पाता है । वे गोपी-रूप से कहते हैं— 'भगवान् सन्यासियों को मुक्ति देते हैं, लोक-कामना करने वालों को काम-राशि देते हैं, मर्यादा-धर्म के रक्षकों को धर्म-मार्ग का सुख देते हैं । परन्तु मेरा मन सदा कृष्ण के पद-पंकजों में ही रहता है । यदि कोई कहता है कि योगाभ्यास से ज्योतिरूप की लयात्मक मुक्ति मिलती है तो मुझे ऐसी मुक्ति नहीं चाहिए । मैं तो एक श्याम-रंग में रंगी हुई हूँ । इस एक से मिलकर मैं सबका अपवाद सह लूँगी ।'[2]

विरहासक्ति में ही चारों प्रकार की मुक्ति का आनन्द सूर की गोपियाँ लेती हैं । सूर का निम्न पद द्रष्टव्य है —

"ऊधौ सुनो नैकु सिहारौ ।
हम अबलनि को सिखवन आए, सुन्यौ स्याम विहारी ॥
निरगुन कह्यो कहा कहियत है तुम निरगुन अति भारी ।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ, मुक्ति लही हम चारी ॥
हम सालोक्य, सरूप सायुज्यौ, रहित समीप सदाई ।
सो तजि कहत और की औरै, तुम अलि बड़े अदाई ॥
हम मूरख तुम चतुर हौ, बहुत कहा अब कहिए ।
है ही काज फिरत भटकत कत, अब मारग निज गहिए ॥
तुम अजान कर्जाहु उपदेसत ज्ञान रूप हमहीं ।
निसि दिन ध्यान सूर प्रभु को अलि, देखत जित तितहीं ॥"[3]

मीराबाई का भी इस संसार में ही उनके गिरिधर गोपाल से साक्षात्कार हो जाता है और आनन्द ही आनन्द का अनुभव होता है—

म्हारो ओलगिया घर आज्यो जी ।
तनरी ताप मिट्यां सुख पास्यां, हिलमिल मंगल गास्यां जी ।

---

१ नन्ददास ग्रन्थावली रास पंचाध्यायी अ० १ (ना० प्र० सभा)

२ — —

मुकति देहु सन्यासिन को हरि कामिनि देहु काम की रास ।
धरमिन देहु धरम को मारग मो मन रहै पद-अम्बुज पास ॥
जो कोऊ कहै जोति लय मार्गें लयेहु छिनो न निहारौं ओर ।
'परमानन्द' स्याम रंग राती सबै सहौं मिलि इक संग लोग ॥
—परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० शुक्ल), पद सं० २११

३ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ४२१८, पृ० १२९२

घनरी धुन सुन मोर मगन भयां, म्हारे आनन्द छायो जी।
चंदा देख कमोदण फूलां, हरख भयां म्हारे छायो जी।
रूम-रूम म्हारो सीतल सजनी मोहन आंगण आयो जी।
सब भगतारां कारज साध्यां म्हारा परण निभायो जी।
मीरा बिरहण गिरधर नागर मिल दुख दंदा नसायो जी।[1]

हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने सायुज्य और सारूप्य मुक्ति की अपेक्षा सालोक्य और सामीप्य मुक्ति की कामना विशेष रूप से प्रकट की है। सूरदास ने अपने पदों में एक चिरन्तन आनन्दमय लोक में बसने की कामना प्रकट की है। सूर की निम्नलिखित पंक्तियों को देखिए—

१ चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होति नहिं कबहूँ, सोई सायर सुख जोग॥[2]

२ चलि सखि तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल, कमला, रवि, बिना बिकसाहिं॥[3]

३ सुवा चलि ता बन को रस पीजै।
जा बन राम नाम अम्रित-रस, स्रवन-पात्र भरि लीजै॥[4]

रसखान ने किसी भी रूप में कृष्ण के सम्पर्क में रहने की कामना की है। यह एक प्रकार से सामीप्य मुक्ति ही है। कृष्ण के सम्पर्क से जो आनन्द आता है वही उनके लिए मोक्ष का सुख है—

मानुस हौं तो वही रसखानि
बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को
जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन॥
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥[5]

---

१ मीरा की पदावली (नवीं संस्करण)—सम्पादक परशुराम चतुर्वेदी पद सं० १११
२ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ३३७
३ वही ( ) ३३८
४ वही ( ) ३४०
५ रसखान का अमर काव्य—संपादक दुर्गाशंकर मिश्र पृ० ४५

रहस्यात्मक दृष्टिकोण

'व्यक्त जगत् के सम्बन्ध में सोचने से व्यक्ति' उसके कारण रूप 'अव्यक्त' पर स्वभावतः आ पहुँचा। अपनी दिव्य कल्पना-शक्ति को केवल अपने चतुर्दिक् कल्पित न कर उसने उस अज्ञात और अनन्त शक्ति की कल्पना को स्थिर करके उससे शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। अपने अपूर्ण जीवन में पूर्णता लाने के लिए उसने अपने को ही उस ब्रह्म का अंश समझा। क्षणिक एवं नश्वर पदार्थों में उसने अविनाशी और शाश्वत सत्ता की खोज की। उस सत्ता के साथ उसने भिन्न भिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये। मानवीय सम्बन्धों में सबसे मधुर और तीव्र सम्बन्ध 'दाम्पत्य भाव' का होता है। इसलिए उसने उस परमात्मा को पुरुष या स्त्री और अपनी आत्मा' को स्त्री या पुरुष मानकर मिलन-विरह सम्बन्धी प्रेमोद्गारों से पूर्णता पाने का प्रयत्न किया। उस आध्यात्मिक सत्ता का एकान्त मिलन क्षणों में आभास पाकर उसके विरह में मानव मन तड़प उठा और ब्रह्म और आत्मा के तादात्म्य की अवस्था को जब वाणी मिली तब वह भावात्मक या साधनात्मक 'रहस्यवाद' कहलाया।

मानवीय सम्बन्धों को लेकर ब्रह्म की परम सत्ता का बोध तथा साक्षात्कार के भावात्मक पथ का नाम ही 'रहस्यवाद' है। वस्तुतः रहस्यवाद की अनुभूति की अभिव्यक्ति वाणातीत है। उसका विषय गूंगे के गुड़ की तरह वाणी से परे है। वह एक अलौकिक अनुभव है और अनुभूति का विषय है। फिर भी कुछ विद्वानों ने रहस्यवाद की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। एवलिन अण्डरहिल के अनुसार रहस्यवाद परमसत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला है। रहस्यवादी वह व्यक्ति है जिसने किसी न किसी सीमा तक एकता को प्राप्त कर लिया है अथवा जो उसमें विश्वास करता है और जिसने इस एकता-सिद्धि को ही अपना चरम लक्ष्य बना लिया है।"[1]

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अन्तर भी नहीं रह जाता।[2] डा० श्यामसुन्दरदास लिखते हैं— अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति जिज्ञासा भाव प्रकट किया जाए, वही कविता रहस्यवाद की कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति की अभिव्यंजना 'रहस्यवाद' है। काव्य के क्षेत्र में यह एक शैली विशिष्ट है, जिसमें इस विविध चराचर के मूल में विद्यमान कारण रूप रहस्यमयी चेतन-सत्ता पर मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके प्रति अनुराग जनित आत्म-समर्पण की भावना का अभिव्यंजन किया

1 Practical Mysticism p. 3

२ कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६

जाता है।"[1] श्री गंगाप्रसाद पांडेय के अनुसार 'मनुष्य जब से अपनी मानवीय विवशता में अथवा प्राकृतिक व्यापारों की विशालता में किसी एक अलक्षित शक्ति के प्रभाव तथा अस्तित्व की कल्पना करने लगा तभी से रहस्यवाद का बीजारोपण हुआ। रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं अपार्थिव महा-अस्तित्व के साथ एकात्म्य का अनुभव करने लगता है।"[2]

उपर्युक्त मतों से परमात्मा के प्रति जीवात्मा के आत्म निवेदन मिलन के प्रयत्न और मिलन की ध्वनि ही निकलती है। इस प्रकार रहस्यवाद के विषय—आत्मा, परमात्मा और जगत हैं। इसका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि से उदासीनतापूर्ण आध्यात्मिक है। दार्शनिक क्षेत्र में आत्मा-परमात्मा की एकता का सिद्धान्त प्रतिपादन किया जाता है। जब उसी की साहित्य में अभिव्यक्ति होती है तो वह अस्पष्ट और रहस्यमय होने के कारण रहस्यवाद कहलाती है।

रहस्यवाद की सत्ता दर्शन और काव्य—दोनों में ही रहती है। परन्तु "रहस्यवाद" शब्द केवल काव्य में ही प्रयुक्त होता है; क्योंकि दर्शन का रहस्यवाद बुद्धि-प्रधान होता है और काव्य का भाव-प्रधान। काव्य में ज्ञान और भाव—दोनों का समन्वय होते हुए भी भाव की प्रधानता रहती। दर्शन में भाव के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए दर्शनादि को शास्त्र कहा जाता है। भाव-प्रधान रहस्यवाद के मूल में सांसारिक अनित्यता की उदासीनता माया की छलना से भय तथा आत्म-चिन्तना आदि प्रमुख तत्व होते हैं। भावना का रहस्यवाद अपने प्राणों में तीन मुख्य तत्व लेकर चलता है—१ मानव-प्रेम २ आश्चर्य का भाव और ३ आत्मा की परमात्मा से विरहानुभूति। तुलसी और कबीर के रहस्यवाद में इसी मानव प्रेम से अभिसिक्त रहस्य की भावना है।[3]

---

१ हिन्दी साहित्य और विविधवाद—पृ० १२७ से उद्धृत।

२ देखिए— 'छायावाद और रहस्यवाद'—गंगाप्रसाद पांडेय।
विशेष विवरण—"रहस्य" शब्द अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु आज हिन्दी में जिस रहस्य भावना और रहस्यवाद की चर्चा होती है, वह अर्थ की दृष्टि से अंग्रेजी में "मिस्टिसिज्म" का पर्याय है। 'Mystic" शब्द ग्रीक "Mus धातु से बना है जिसका अर्थ है अधर और आँखें बन्द करना।" बाद में यह जीवन और मृत्यु की गहराई के चरम तत्वों को समझने वालों के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और अर्थ-विकास पाकर "रहस्यवाद' परमोच्च के साथ प्रत्यक्ष मिलन के परम प्रयास के अर्थ से विभूषित हो गया। हिन्दी में इसी अर्थ को लेकर व्याख्याएं हुई हैं।

३ साहित्यिक निबन्ध—श्री राजनाथ शर्मा, पृ० १४८

आळ्वार भक्तों के काव्य में रहस्यात्मक दृष्टिकोण

आळ्वार भक्तों के ऐसे अनेक पद हैं, जो रहस्यानुभूति-परक हैं। नम्माळ्वार, तिरुमंगै आळ्वार और आण्डाळ के ऐसे पद हैं जिनमें रहस्यानुभूति झलकती है, जीवात्मा-परमात्मा के विरह-मिलन की ओर संकेत है। इन कवियों ने नायिका (जीवात्मा) के माध्यम से नायक (परमात्मा) के सौन्दर्य, नायिका की नायक से मिलने की तीव्र उत्कंठा, विरह की वेदना और अन्त में प्रिय-मिलन से सुख प्राप्ति आदि का वर्णन किया है। इसी कारण से विद्वान् इन पदों को उच्चकोटि की रहस्यानुभूति से ओतप्रोत मानते हैं। हम पहले कह चुके हैं कि आळ्वार भक्तों ने तमिळ की प्राचीन लौकिक प्रेम-पद्धति का प्रयोग कर अलौकिक प्रेम का वर्णन किया है। इस प्रेम-पद्धति में और सूफी प्रेम-पद्धति में बहुत कुछ साम्य है। अन्तर यह है कि आळ्वार भारतीय परम्परा के अनुसार परमात्मा को पुरुष (नायक) और जीवात्मा को स्त्री (नायिका) मानकर चले हैं। उस प्रेम-पथ की कठिनाइयों और विरह की वेदनाओं और मिलन-सुख आदि का वैसा ही हृदय-ग्राहक वर्णन आळ्वार काव्य में मिलता है जैसा कि सूफी काव्य में मिलता है। प्रेम की परीक्षा "मडल" पर चढ़ने की दशा में होती है। 'मडल' प्रेम की अग्नि परीक्षा है जिसमें उत्तीर्ण होने पर प्रिया को प्रिय मिल सकता है। अपनी रचना "तिरुविरुत्तम" में नायिका की विरह-दशाओं का वर्णन मात्र करना नम्माळ्वार का उद्देश्य नहीं। वह आध्यात्मिक आशय भी रखता है। नम्माळ्वार तो उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि माने गए हैं।[1] कवि की आलंकारिक शैली ऐसी उच्च कोटि की है कि कविता और दर्शन की धाराएँ उसमें समानान्तर होकर बहती हैं, कोई विरोध नहीं पड़ता। जैसे अन्तः सलिला सरस्वती गंगा और यमुना के बीच हो ऐसा ही नम्माळ्वार और तिरुमंगै आळ्वार की कविता सरिता के उभय उपकूलों के बीच उनका आध्यात्मिक अर्थ है। काव्य के क्षेत्र में इसी का दूसरा नाम "रहस्यवाद" है।

सन्तों ने साधना द्वारा साध्य की प्राप्ति के लिए अनुभूति की जितनी अवस्थाओं का वर्णन किया है उतनी ही अवस्थाएं रहस्यवाद की हो सकती हैं—

१ परमात्मा के प्रति आश्चर्य, कुतूहल और जिज्ञासा की भावना

'मानव' विस्तृत प्रकृति की गोद में पला है। सृष्टि के आदिकाल से ही प्रकृति उसकी चिर सहचरी रही है। प्रकृति में ही उसने सबसे पहले अव्यक्त शक्ति के दर्शन

1 "Some of his (Nammalvar's) poems, couched in the language of human love reveal beautiful depths of mystical passion and longing for which there are few parallels in any Indian vernacular —"*A Metaphysique of Mysticism*

A Govindacharya, p 422.

किये। प्रकृति के उपादानों में ही मानव ने अद्भुत शक्ति के दर्शन किये। अतः कवि हृदय में सर्वप्रथम कुतूहल आश्चर्य विस्मय और जिज्ञासा की भावनाएँ अंकुरित हुईं। प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व एक महाशक्ति से स्पंदित दिखाई दिया। आळ्वार भक्तों के कुछ पदों में यही भाव व्यंजित हुए हैं यथा—

१— 'युग बीतते जाते हैं। हम केवल निवेदन करते रहते हैं। हे परमात्मन्! तुम मधुर मन्दहास लिए चिर काल से विराजमान हो। हम निस्सहाय तुमको पुकारते रहते हैं। अब तक तुम्हारे नाम और स्वरूप रहस्यमय ही बने रहे हैं।'[1]

—पोयगै आळ्वार

२— 'मैं सर्वदा उसकी अथक खोज में रत हूँ। तब वह मुझे नहीं मिल पाता। पर वह मेरे निवेदन के बिना भी मुझे अपना लेता है और मेरे हृदयकुञ्ज में विहार करता है। फिर भी हाय! मैं उसको देख नहीं पाता।'[2] —पेयाळ्वार

३— 'वह अज्ञात परमात्मा पुरुषोत्तम युग-युगों से चिर-यौवन में ही दीखता है। काल का कराल प्रभाव भी अपने चिह्नों को उस पर अंकित नहीं कर सकता। उनकी ओर को आनन्द की एक अक्षुण्ण धारा प्रवाहमान है जो शब्दों में अवर्णनीय है। वर्तमान भूत, भविष्य के भेद से दूर चिरन्तन और चिरकाल से वह अपनी लीलाएँ करता आ रहा है। उस अज्ञात विशाल पारावार में मैंने डुबकियाँ लगायीं।'[3]

—तिरुमंगै आळ्वार

४— 'क्या आप राज मुकुट पर शोभित शोभायमान कांतियुक्त मोती-सम हैं? क्या आप अथाह रत्नाकर की गहराई में पड़े हुए अमूल्य रत्न हैं? क्या आप वह अमर दीपक हैं, जो युगों से अन्धकार को चीरकर जलता रहता है? क्या आप वह आदिम प्रकाश हैं, जिसने इस पृथ्वी की सृष्टि के उषाकाल को आलोकित किया था? क्या आप जीवन-धारा के उद्गम-स्थान हैं, जिससे सृष्टि की धारा निरन्तर बहती रहती है? आप क्या हैं?'[4]

—नम्माळ्वार

---

१ "उर्वार मार उन पेर्मै? अकिलोवकि
उर्वारार उण्णुरुक्काळ्? उर्वारार?
विण्णकत्ताय! मण्णकत्ताय! वेंकत्ताय! नाल्वेद
पण्णकत्ताय! नी किडक्क पाल।" —मुदल तिरुवन्तादि ६८

२ मून्ड्राम तिरुवन्तादि, पद सं०

३ पेरिय तिरुमोळि पद सं०

४ "आळिमाणिक्कमेन्को? अविकोळ मुत्तमेन्को?
वाळि नल्वयिरमेन्को? तविविल सीर विळक्कमेन्को?
आदियंजोति एनको? आरियमुदमेन्को?
मातुमिल्ल कातलर्नं वनुतल यमतमेये।"

—तिरुवायमोळि १४४

२ अखिल विश्व में परम सत्ता की झाँकी तथा व्यापकता

साधक में कुतूहल विस्मय और जिज्ञासा की भावना के अनुसार परम सत्ता के अस्तित्व का विश्वास दृढ़ हो जाता है। उसके बाद अनुभूति अधिकाधिक तीव्र होती जाती है। फलतः उस विश्व की प्रत्येक वस्तु में प्रकृति के कण-कण में परम सत्ता की अनुभूति होती है। अन्त में इस परम सत्ता की व्यापकता इतनी बढ़ जाती है कि समस्त सृष्टि परम सत्ता के रंग में रंजित और प्रकाश से प्रकाशित दिखाई देती है। आळ्वारों के कुछ पदों में ये भाव द्रष्टव्य हैं —

१— विशाल व्योम गूँज उठा बिजली कड़की। वज्रपात का भयानक नाद हुआ। वह था, वर्षा-काल। मैं गगन की ओर देखता रहा। उसकी अनुपम आभा की रेखाएँ कौंध पड़ीं और वह यह श्याम-ग्रीवा में मेघ-मणि-रथ पर चढ़कर आया।"[1]

—भूतत्ताळ्वार

२— 'सरसोरुहवासिनी सौदामिनी रूपी विजय-पताका फहराती हुई और निनादित वज्र रूपी विजय-दुंदुभी बजाती हुई गगन-मंडल-बीच भ्रमण करने वाली नीरद-राशि मेरे मनः-पटल पर आप ही के स्मृति-चित्र अंकित करती है।"[2] —पेयाळ्वार

३— सुषमा भरी उषा की नीरव-वेला में चिड़िया की मधुर सुरीली तान में प्रभु के शुभागमन का सन्देश मैं पाती हूँ। मैं आशा युक्त नयनों से देखती हूँ। पर जानती नहीं कि प्रियतम कब आयेंगे।'[3] —आण्डाळ

४—"मेरे प्रिय का स्वर तो सब पक्षियों में गूँज उठता है और उसकी आवाज प्रत्येक लहर में और पवन में सुनाई पड़ती है। सर्वत्र उसकी आभा व्याप्त है। समस्त विश्व के समान विशाल, उस प्रभु को मैं रेत के कण-कण में देखता हूँ असीम सागर के समान व्यापक उस प्रभु को सागर की प्रत्येक बूँद में देखता हूँ।'[4] —नम्माळ्वार

---

१ इरण्डाम तिरुवन्तादि, पद सं०

२ "एट्टिन तोण्डु मिन कोडियेडुत्त वेडत्त।
तोट्टिन रोम्बु वान मुळकी तोम्बु म एट्टिड चोल्ट।
नीरमेघ्यमेघ मेघुमान तिरमपान।
कार वानम काट्टुम कालमु।।" —मूण्डाम तिरुवन्तादि, ८६

३ "कार्ने पैडलिरम्बु कलियय कुरवि कर्णडळ।
मानिम वरु कोटटी मल्ळ पापुनल पेरुम्बे कोना?
नीलमर्मरेरयान गुवरापतियेम्मेरमान।
मालिनि..रेरयान वरम कार्मपुरेरिरम्पुन।।"
—नाच्चियार तिरुमोऴि ९ ।

४ तिरुविरुत्तम, पद सं० १०

३ दर्शन-लालसा और सम्बन्धों की स्थापना

जब साधक को सृष्टि के कण-कण में उसी परमसत्ता की अनुभूति होने लगती है, तो उसे उस परम सत्ता का साक्षात्कार करने की लालसा होती है। साधक को साध्य अत्यन्त निकट ही प्रतीत होता है—इस निकटता से अनेक प्रकार के सम्बन्धों की सृष्टि होने लगती है। इन सम्बन्धों में नायक-नायिका (पुरुष-स्त्री) सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ माना गया है। पुरुष और नारी के सम्बन्ध द्वारा वियोग और मिलन के जितने भी विचारों की अभिव्यक्ति होती है, वे सच्ची अनुभूति हैं। विरहानुभूति की व्यंजना आळ्वारों के अनेक पदों में हुई है यथा—

१—"कोयल ! मेरे शरीर की समस्त इन्द्रियाँ द्रवित हो रही हैं। निशि-दिन मेरे प्यासे नयन जागते ही रहते हैं। (नींद को पास भी फटकने नहीं देते)। प्रभु के दर्शन अनुग्रह से वंचित मैं व्यथा-सरिता में बह रही हूँ। प्रेम भरे हृदय की विरह-वेदना को तो तू भली-भाँति जानती है। तू कृपया मेरे प्रभु के पास जाकर मेरी इस दीन दशा का समाचार दे आ।[1]

—आण्डाळ

२—"(मेरे मन रूपी) उस प्रेम वियोग विदग्ध विरहिणी की क्या दशा हो गयी है। वह पागल सी इधर-उधर फिरती है। अपने प्रियतम के आगमन का आनन्द पूर्ण सन्देश सुनकर वह हर्षोन्मत्त हो रही है। राका-रजनी में वह अकेली ही अपने करों को (उस असीम आकाश) स्वर्ग की ओर बढ़ाकर चिल्लाती है—मैं देखती तो नहीं हूँ कि प्रभु अपने स्वर्ग के द्वार पर खड़े मुझे पुकार रहे हैं।[2]

—तिरुमङ्गै आळ्वार

३— 'प्रभो ! उस विरहिणी को आप अपने दर्शन से वंचित रखते हैं, क्यों ? (माता का वचन) मेरी सुन्दर, मृगनयनी पुत्री के विद्रावरों से मधुर मुस्कान और हँसी अब विदा ले चुकी है। अपनी सखियों तक के लिए वह उदास और वेदनामय दीख पड़ती है। वियोग-व्यथा से विदग्ध होकर वह अपने कोमल अङ्ग पर चन्दन नहीं लगाती और न अपने मीन-नयनों में अंजन लगाती है। उसके केश भी सौरभयुक्त नव

---

१ "इन्पुरवि इनवेल मेंदुयंन्दड।
इमैप्पोरुन्दा पल नाळ म।
तुन्पक्कडल पुक्कुवैकुन्तनेन्पतु ओर
तोणी पेरादु उळल्किन्ड्रेन।
अन्पुडैयारै पिरिवुरु नो
यदु नीयुम अरि कुयिले।
पीन्पुरैमेनियरुळ तन्दवने
पुन्निपनी वरक्कूवाय।" —नाच्चियार तिरुमोळी ५४

२ पेरिय तिरुमोळी पद सं० ७-३-५

कुसुमों से समालंकृत होते थे अब शोभा शून्य दीख रहे हैं। यह आपके नाम को ही रटती है आपके विलाप में तड़पती है।" "प्रभो! आप उस विरहिणी को अपने दर्शन से वंचित रखते हैं क्यों? १

—तिरुमंगै आळ्वार

४—"मेरी प्रिय तनया जो आम के नवल किसलय के समान स्वर्ण कान्ति युक्त थी अब विरह-व्यथा में पीली पड़ गयी है। क्षीण होकर इतनी पतली हो गयी है कि उसके हाथ के कंकण भी स्वयं नीचे गिर जाते हैं। अब मुक्ता खचित चारु चन्द्रहार तथा सुगन्धित चन्दन भी उसके विरहानल में तप्त वक्ष पर बड़े आघात कर देते हैं। अमृत शुभ्र शीतल किरणों को फैलाने वाला चन्द्र भी मानों मेरी पुत्री के लिए धधकने वाली आग की ज्वाला ही बरसा रहा हो। दूर के समुद्र-गर्जन की तरह इसका हृदय भी वियोग-विलाप में आन्दोलित है। प्रभो! आप इस विरहिणी को अपने दर्शन से वंचित रखते हैं क्यों?"२

—तिरुमंगै आळ्वार

५—"सारा जगत दीर्घ निद्रा में मग्न है। सर्वत्र सन्नाटे का साम्राज्य छाया है। विशाल सागर की तरह अन्धकार मेरे चारों ओर फैला हुआ है। इस नीरव

---

१ 'तुळम्बु तुळ्ळल तोळिमुडु मळ्ळाळ।
तुम मुम चाय्यु कोपुडु वाय्याळ।
तुळम्बु तुवळ्‌मकळ्ळाळ एळुवाळ।
कोल नम्मसर तुनडुं वनियाळ।
वळम्बु तुम्नीवंगम मुम्मळ्ळ।
मामेमुम मामिम मीळ्ळियाळ।
इलम्पडीयिवळ्‌गुडु एन निनम्मिरुम्माम?
इरवेसं एनं पिराने।' —पेरिय तिरुमोळी २-७-२

२ वान्तमुम मुनुम वम्मनपुळम्पुम।
वळमुरसंगु मर्णिमिमुम तट्माम।
धीम्न वेम्बिाळ्ळ वरिर पुत्तमेम्मिमुम।
पोरुळल पुनम्मिमुम पुनम्पुम।
मान्नामिर मेनि वन्नमुम वोम्नाम।
वळंवळम इरं निम्ना एन तम।
इन्निळं पिवळ्‌गु एन निनैमिरुम्माय?
इरवेसं एन्न पिराने।"

—वही, २-७-१

रजनी मे मैं ही एकांतता में जाग रही हूँ । अगर मेरा प्रियतम नहीं आए तो कौन मुझे सांत्वना दे सकेगा ?"[१]
—नम्माळ्वार

४ मिलन

अन्त में साधक और साध्य का महामिलन ही अहम् और परम की एकाकारिता है । आत्मा और परमात्मा के एक रूप होने पर परमानन्द की प्राप्ति स्वाभाविक ही है । लम्बी प्रतीक्षा के बाद जब अन्त में प्रियतम से प्रिया का मिलन हो जाता है, तब उसके आनन्द का भी पारावार नहीं । इस मिलन पर युगों की वेदना दूर हो जाती है—

'युगों से मैं अपने प्रियतम की बाट जोहती हुई उसकी प्रतीक्षा में अविराम खड़ी रही । एक दिन अचानक एक आगन्तुक मेरे द्वार पर आया और खट-खटाने लगा । कैसी विलक्षण प्रभावपूर्ण दृष्टि थी उसकी ! मुझे पुलकित कर देने वाला जादू भरा था उसके कटाक्ष मे ! आश्चर्य और भय से चकित मैं मंत्र-मुग्ध सी रह गयी । यह पूछने की शक्ति मुझ में नहीं थी कि आप कौन हैं । परन्तु मेरे कौतूहल को शान्त करने वाला मुझे हर्षोन्मत्त कर देने वाला चिर काल से प्रत्याशित यह उत्तर उनके मुँह से निकला—मैं हूँ तुम्हारा प्रभु, जिसकी प्रतीक्षा में तुम विकल हो गयी थी ।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आळ्वार भक्तों के अनेक पद सांसारिक अर्थ से युक्त हैं । उनमें उच्च कोटि की रहस्य भावना या रहस्यानुभूति निहित है । अतः आळ्वार भक्त सफल रहस्यवादी कवि भी ठहरते हैं ।

आलोच्यकालीन

हिन्दी-कृष्ण-भक्ति-काव्य में रहस्यात्मक दृष्टिकोण—महाकवि सूरदास के कुछ पदों में उनके रहस्यात्मक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है । रहस्यवादी भक्त की

१ "ऊरेल्लाम तुञ्जी उलकेल्लाम नळिरुळाय ।
नीरेल्लाम तेरी ओर नीळिरवाय नीण्डाल ।
पारेल्लाम उण्ड नम पाम्बणैयान वारानाल ।
आर ? एन्ने ? एन्निलैमैयेन आविकाप्पार इनिये । —तिरुवायमोळि ५ ४ १

२ 'इनि एप्पावम वन्तेइदुम ? सोल्लीर
एमक्कु इन्नये वन्तु पेरुमेयाल-वादुम
तुनियेत्तीतु इन्नमे तळत्तिम्मुतु ओर
तोळुत्तीम्मैरियै वयम तोळन्तवुम
मुनियै वानवराल वणङ्गप्पडुम
मुत्तिनै पत्तर ताम मुक्कियत्तु ओर
कनियै कातल सेय्तु एन्नुळ्ळम कोण्ड
कळ्वनै इन्नु कण्डुकोण्डेने ।" —पेरिय तिरुमोळि, ७-१ ८

आत्मा की सबसे ऊँची उड़ान है जब वह परमात्मा की ओर अग्रसर होता हुआ उसके अत्यन्त निकट पहुँच जाता है। यों तो भगवान् की सारी लीला ही रहस्यात्मक है।[1] जीव को अनन्त (ब्रह्म) का अनुभव अचरज की बात अवश्य है। किंतु भगवत्कृपा या भगवदनुग्रह से यह अचरज सम्भव हो जाता है वह स्वयं इस रहस्य को समझ नहीं है। अतः अपने अनेक पदों में सूर ने भगवान् की लीला और उनकी अनुकम्पा के प्रति आश्चर्य प्रकट किया है। वर्तमान प्रसंग में हमारा तात्पर्य उन पदों से ही है जिनमें रहस्यवादी अनुभूति की झलक मिलती हो अर्थात् भगवत् वियोग से कातर भक्त की आत्मा एक अलौकिक रहस्य-लोक की सृष्टि करती हो। जहाँ निर्गुण सन्तों का रहस्यवाद मूर्त चित्रों की उपेक्षा करता है वहाँ सूर के रहस्यात्मक पदों में मूर्त चित्र स्पष्ट रूप से आते हैं। इस प्रकार के रहस्यवाद को कुछ विद्वानों ने "सगुण रहस्यवाद" की संज्ञा दी है। इसमें नाम रूप और गुणों का सहारा मात्र लेकर रूप गुण का अतिक्रमण करने की चेष्टा होती है। सन्तों के रहस्यवाद में तो एकदम उनका तिरस्कार होता है।

सूरदास जी ने जहाँ अन्योक्ति-पद्धति का प्रयोग किया उसमें उनके रहस्यात्मक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। रूपक के आश्रय से भावनात्मक चित्रों को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। निम्नलिखित प्रसिद्ध पद में सूर ने एक आदर्श रहस्य-लोक की कल्पना की है—

"चकई री। चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होति नहिं कबहूँ सोइ सायर सुख जोग।
जहाँ सनक-सिव हंस मीन मुनि, नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर गुंजत निगम सुबास।
जिहिं सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल सुकृत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम इहाँ रहि कहा कीजै॥"[2]

उपर्युक्त पद में अन्योक्ति के आश्रय से अपने मन को 'चकई' और 'विहंगम' नाम से पुकारा गया है।

निर्गुण रहस्यवादी कवि ब्रह्म को रहस्यमय देखते हैं। सूर जैसे सगुण रहस्यवादी कवियों के लिए कृष्ण वैसे ही रहस्यमय लगते हैं। सूर का निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है—

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।

---

१ रहस्यवाद—डा० रामरतन भटनागर पृ० १९५
२ सूरसागर (ना० प्र० सभा) प० सं० ३३७ पृ० १११

मन-बानी कौं अगम अगोचर, सो जानै जो पावै ।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालम्ब कित धावै ॥"[1]

सूर ने कृष्ण की आनन्द लीलाओं में रहस्यात्मक संकेत दिये हैं। काली कमरी का रहस्य कृष्ण स्वयं बाल-लीला में बताते हैं—

"यह कमरी कमरी करि जानति ।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति ॥
या कमरी के एक रोम पर, वारौं चीर पटम्बर ।
सो कमरी तुम निंदति गोपी जो तिहुँ लोक अडम्बर ॥
कमरी कै बल असुर संहारे, कमरिहिं तें सब भोग ।
जाति-पाँति कमरी सब मेरी सूर सबै यह जोग ॥"[2]

यह कमरी कृष्ण की योग-माया है जिसे हम अपनी बुद्धि से विभिन्न रूपों में समझते हैं।

श्रीकृष्ण और राधा के मिलन-सुख और संयोग के वर्णन में सूर ने इस प्रकार के आध्यात्मिक संकेत दिये हैं। राधा-कृष्ण के प्रेम की वही पूर्णता साधक का लक्ष्य है, जब मिलने पर भी मिलने का विश्वास नहीं होता जब प्रेमी प्रेमिका कुछ न कुछ अपूर्णता का अनुभव करते रहते हैं।[3]

इस प्रकार हम देख सकेंगे कि राधा-कृष्ण के प्रेम की कथा पूर्णतः रहस्यवादी भित्ति पर खड़ी है। सौन्दर्य प्रेम मिलन और विरह—सभी पक्षों में इस प्रेम में अलौकिकता है और वही अलौकिकता उसे रहस्यवादी रूप प्रदान करती है। सूर ने राधा-कृष्ण की लोककथा में अन्य प्रकार से भी अलौकिकता भरने का प्रयत्न किया है। श्री वल्लभाचार्य जी के अनुसार लीला ही मोक्ष है। यद्यपि इस लीला का रंग-स्थल संसार है, तथापि संसार और सांसारिकता से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। श्री वल्लभाचार्य तथा पुष्टिमार्गीय भक्तों ने ब्रज को संसार से अलग माना है और उसे गोलोक की प्रतिच्छाया अथवा गोलोक ही समझा।

गोपी

एक पद में सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण गोपी और श्याम में अन्तर नहीं है—

'गोपी-स्याम कान्ह दुइ नाहीं ये कहुँ नैक न न्यारे।"

एक अन्य स्थान पर स्पष्ट होता है कि गोपियाँ ब्रज-बालाएँ नहीं हैं, वरन् श्रुति हैं। सुबोधिनी टीका में श्री वल्लभाचार्य जी ने गोपियों को श्रुति माना है। एक

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० २, पृ० १
२ वही („) २१११ पृ० ७८६
३ वही („) „ २७०१ पृ० ९०४

दूसरे स्थान पर आचार्य जी ने गोपियों को शक्ति का ही प्रतिरूप बताया है। गोपियों को ब्रह्म की शक्ति भी समझा जा सकता है। जो लीला के लिए प्रतिरूप हो गई हैं। भगवान् और उनकी शक्ति में कोई भेद नहीं है—अतः कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न हैं, वे ब्रह्म के ही अंश हैं। कृष्णलीला का अन्योक्ति-रूप लेने वाले विद्वान् यह भी कहते हैं कि गोपी 'आत्मा' है और कृष्ण 'परमात्मा'। आत्मा भगवान् का अंश होने के कारण अपने अंशी से मिलने का प्रयत्न करती है और आत्मा-रूप गोपियों का कुञ्ज में कृष्ण-मिलन ही आत्मा का भगवान् से मिलन है।[1]

राधा भगवान् की शक्ति है, प्रकृति या माया का प्रतीक है। भक्ति-काव्य में वर्णित होने के कारण राधा का दूसरा प्रतीकार्थ भी निकाला जा सकता है। राधा अनुग्रह प्राप्त भक्त का प्रतीक है जो आसक्ति की अनेक दशाओं को प्राप्त होता हुआ परम विरहासक्ति हो जाता है। उस समय वह इन्द्रियों के विषयों से ऊपर उठ जाता है और उसका अस्तित्व केवल 'विरह की पीर' रह जाता है। सूरदास जी ने जिसको राधा के प्रतीक से स्पष्ट किया है, उसी बात के स्पष्टीकरण के लिए जायसी ने नागमती की कल्पना की थी और कबीर जैसे संतों ने स्वयं को 'राम की बहुरिया' कहकर विरह की चरमावस्था प्राप्त करने की चेष्टा की थी। भक्त का लक्ष्य भी राधा की तरह विरहासक्ति की इसी चरम दशा को प्राप्त करना है। एक स्थल पर भी सूर राधा को 'प्रकृति' और कृष्ण को 'पुरुष' कहते हैं। सूर यह भी कहते हैं कि दोनों—राधा और कृष्ण एक हैं। इनमें कुछ भी अन्तर नहीं। वे अभिन्न हैं—

'ब्रजहिं बसे आपुहि बिसरायौ।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु बातनि भेद करायौ।
जल-थल जहाँ रहौ तुम बिनु नहिं वेद उपनिषद गायौ।
द्वै-तन जीव-एक हम दोउ सुख-कारन उपजायौ॥
ब्रह्म-रूप द्वितिया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायौ।
सूर स्याम-मुख देखि अलप हँसि आनन्द-पुंज बढ़ायौ॥'[2]

मुरली

सूर की सबसे अधिक रहस्यात्मक उक्तियाँ मुरली के सम्बन्ध में हैं। मुरली कृष्ण की अन्यतम शक्ति है, जो स्वयं उन्हें प्रेरित करती है। दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों में मुरली को भगवान् की माया कहा गया है। यहाँ माया से तात्पर्य भगवान् की शक्ति से है। इस शक्ति के दो पक्ष माने जाते हैं—एक पक्ष 'भेद' की उत्पत्ति करता है, और दूसरा 'अभेद' की। इन्हीं को 'विद्या' और 'अविद्या' कहा गया है। इन्द्रियों और संसार तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं का ज्ञान 'अविद्या' है। ब्रह्म का ज्ञान 'विद्या' है। जो माया अविद्या को उत्पन्न करती है, वह भगवान् का

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त पृ० २०९
२ सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद सं० २१०५, पृ० ८८१

का अनुग्रह होने पर विद्या को उत्पन्न करती है और भक्त को ईश्वर से मिलाने का साधन बनती है। वर्धम में इसी माया को "योग माया" कहा गया है। मुरली की इसी अति प्राकृत विशिष्टता का वर्णन सूर के अनेक पदों में मिलता है—

मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी। सुनि सिद्ध-समाधि टरी।
सुनि थके देव विमान। सुर-बधु चित्र-समान॥
ग्रह नखत तजत न रास। बाहन बँधे धुनि-पास।
जल थाके पवन टरे। मुनि आनन्द-उमग भरे।
चर-अचर-गति विपरीति। सुनि बेनु कल्पित गीति।
झरना न झरत पषान। गन्धर्व मोहे गान।
सुनि खग-मृग मौन धरे। फल तृन की सुधि बिसरे।
सुनि धेनु धुनि थकि रहति। तृन दंतहु नाहिं गहति।
बछरा न पीवैं छीर। पंछी न मन मैं धीर॥

इत्यादि[1]

अगर हम मुरली की दार्शनिक व्याख्या करना चाहें तो कह सकते हैं कि मुरली के रूपक के द्वारा सूर ने शब्द-ब्रह्म की महत्ता स्पष्ट की है।

रास-लीला

'रास' कृष्ण-लीला का प्रधान अंग है। यह भगवान् की क्रीड़ा है। दार्शनिक पक्ष में यह सृष्टि के आविर्भाव और तिरोभाव को सूचित करता है। उस चिदानन्द सत्ता के लिए सृष्टि और प्रलय का कोई अर्थ नहीं है। जिस प्रकार समुद्र में बुद्बुद उठते हैं और लोप हो जाया करते हैं, उसी प्रकार उस सत्ता से जड़ और चेतन का जन्म और विकास होता है। अन्त में सब दृष्टि-जगत् उसी में लुप्त हो जाता है। वास्तव में यह सब लीला मात्र है। रास-लीला में कृष्ण परब्रह्म हैं और गोपियाँ और राधा उन्हीं से विकसित जीवात्मा के रूपक हैं। लीला मात्र के लिए उनका जन्म होता है। तत्पश्चात् वे उसी में लय हो जाते हैं। यह रास सारी सृष्टि में व्याप्त है और दिक्कालावनवच्छिन्न है। ब्रह्म से जीव उत्पन्न होता है और अन्त में उसी में लय हो जाता है। साधारण मनुष्य इस भेद को समझ नहीं पाता। अतः भगवान् गोपियों की उत्पत्ति करके रूपक के रूप में अपनी लीला भक्त के सामने रखते हैं। जो इस लीला के वास्तविक रूप को समझ लेता है, वह उसमें रमता है और वह भगवान् से अभिन्न रहता है। लीला द्वारा वह भगवान् को प्राप्त करता है।

रास की यह लीला अलौकिक है। इसका सुख अनिर्वचनीय है। जो एक बार भगवान् की लीला में भाग लेते हैं, वही इसको समझ पाते हैं। भगवान् के मिलन का सुख इन्द्रियेतर है। उसका अनुभव भगवत्कृपा के बिना नहीं हो सकता। इसलिए

---

1 सूरसागर (ना० प्र सभा), पद सं० १२४१ पृ० ४८१

महा रास की रंगस्थली वृन्दावन यमुनातट तमाल-कुञ्ज और उन गोप-गोपिकाओं को धन्य कहते हुए नहीं थकता। जो इस रास में भाग लेते हैं और जिन्हें भगवान् का अनुग्रह प्राप्त हुआ है, उनका लक्ष्य यह है कि वे उन गोपियों से तादात्म्य स्थापित कर लें और रास में भाग लें। अतः कृष्ण-भक्त-कवि रास होली आदि में मानसिक भाग लेकर भगवत् मिलन के आनन्द की प्राप्ति करता है। भगवान् की लीला की नित्यता और उसकी अलौकिकता को घोषित करते हुए सूर ने लिखा है—

नित्य धाम वृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजधाम।।
नित्य रास जल नित्य बिहार। नित्य मान खण्डिताभिसार।।
ब्रह्म-रूप येई करतार। करन हरन त्रिभुवन येई सार।।
नित्य कुञ्ज-सुख नित्य हिंडोर। नित्यहिं त्रिबिध-समीर झकोर।।
सदा बसंत रहत जहँ बास। सदा हर्ष, जहँ नहीं उदास।।[1]

सूरदास ने जिस वृन्दावन की कल्पना की है वह पार्थिव होते हुए भी अपार्थिव है। अलौकिक लीला का रंगस्थल लौकिक नहीं हो सकता। इसी वृन्दावन में कृष्ण की लीला सर्वदा चलती रहती है। स्पष्ट है कि कृष्ण भक्तों का रास वास्तव में ईश्वर स्वीकृति का रूप है। रास के इस आध्यात्मिक रहस्य से सूर अवश्य परिचित थे। उन्होंने लिखा है—

रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै।।
जो कहौं, कौन मानै, जो निगम-अगम-कृपा बिनु नहिं या रसहिं पावै।
भाव सौं भजै बिनु भाव मैं ये नहीं भावही माँहि ध्यानहिं बसावै।।
यहै निज मंत्र यह ज्ञान यह ध्यान है दरस-दंपति भजन सार गाऊँ।
यहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के, नैन दोउ रहैं, नर-देह पाऊँ।।[2]

रास की आध्यात्मिकता से नन्ददास भी परिचित थे। "रास-पंचाध्यायी" के अन्त में नन्ददास ने लिखा है—

नित्य रास रमनीय, नित्य गोपी जनवल्लभ।
नित्य निगम यौं कहत नित्य नवतन अति दुर्लभ।।
यह अद्भुत रसरास कहत कछु कहिं नहिं आवै।
सेस सहस मुख गाय अजहुँ अंत न पावै।।

भक्त-कवयित्री मीराबाई के अनेक पदों में हमें रहस्यवाद की झलक मिलती है। मीरा जहाँ एक ओर "निर्गुण" की अर्चना करती दिखाई देती है वहाँ दूसरी ओर

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० १४११ पृ० १२०४ १२०५
२ वही (") पद सं० १६२८ पृ० ६०८

"मूर्तिमान सौन्दर्य" भी गिरधरलाल (सगुण ब्रह्म) के प्रेम में डूबी सामने आती है। इस प्रकार मीरां में सगुण और निर्गुण रहस्यवाद का भी निराकरण हो जाता है। कभी वे कहती हैं—

रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवे बिरह सतावै प्रेम की आंच डुलावै।
बिन पिया जोत मंदिर अंधियारो, दीपक दाय न आवै।
पिया बिन मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बिहावै।
× × ×
मीरा के प्रभु कबरे मन मोहन मोहि मिलावै।[1]

मीरा 'गिरधरलाल' को प्रिय के रूप में मानकर उनसे तादात्म्य स्थापित कर सदा आनन्द-विभोर होना चाहती है—

पिया अब घर आज्यो मेरे, तुम मोरे हूँ तोरे।
मैं जन तेरा पंथ निहारूँ, मारग चितवत तोरे।
अवध बदीती अजहुँ न आये दुतियन सू नेह जोरे।
मीरा कहे प्रभु कबरे मिलोगे, दरसन बिन दिन दोरे।"[2]

और—

"म्हारे आज्यो जी रामां, थारे आवत आस्यां सामां।
तुम मिलियां मैं बोहो सुख पाऊँ, सरैं मनोरथ कामां।
तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं जैसे सूरज घामां।
मीरा के मन अवर न माने चाहे सुन्दर स्यामा।[3]

मीरा यही लालसा रखती है कि कभी न कभी अवश्य ही उस प्रिय के 'पर्लंग' पर 'पौढ़' कर 'हरिरंग' में पूर्णतः रंग जायेगी—

म्हां गिरधर आगां नाच्यारी।
नाच नाच म्हां रसिक रिझावां, प्रीत पुरातन जांच्यारी।
स्याम प्रीति री बांधि घुंघरयां मोहन म्हारो सांच्यारी।
लोक लाज कुलरा मरज्यादां जगमां नेकणा राख्यांरी।
प्रीतम पल छन णा बिसरावां, मीरा हरि रंग राच्यांरी।[4]

प्रिय की प्रतीक्षा में वे प्रतिक्षण खड़ी हैं। सम्पूर्ण संसार सुप्तावस्था में है। पर उनकी विरहिणी आत्मा किसी की याद की टीस में आँसुओं की माला पिरोती रहती है। रात के एक-एक पल तारे गिन-गिनकर कटते हैं —

---

१ मीरा की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी)—पद सं० ७४ नवां संस्करण
२ वही („) „ ११४
३ वही („) १७
४ वही ( ) „ १७

बिरहिन बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै ।
एक बिरहिन हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै ॥
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिलके बिछुड़ न जावै ॥[1]

मीरा को सारी प्रकृति हरि के संयोग-वियोग में रमी दीख पड़ती है—

मतवारो बादर आए रे हरि को सँदेसो कबहुँ न लाये रे ।
दादुर मोर पपइया बोले, कोयल सबद सुनावे रे ।
(इक) कारी अँधियारी बिजली चमकै बिरहनि अति डरपावे रे ।
(इक) गाजै-बाजै पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लावे रे ।
(इक) कारो नाग बिरह अति जारी मीरा मन हरि भावे रे ।[2]

दीर्घ कालीन प्रतीक्षा के बाद अन्त में 'पिय' से मिलन होता है और सुख की सीमा नहीं रहती—

म्हारो ओलगिया घर आज्यो जी ।
तनरी ताप मिट्यो सुख पास्यौ हिलमिल मंगल गास्यो जी ।
घणरी धुण सुण मोर मगन भयां म्हारे आँगण आज्यो जी ।
चन्दा देख कमोदण फूलां हरख भयां म्हारे छातयो जी ।
रग रग म्हारो सीतल सजनी मोहन आँगण आज्यो जी ।
सब भगतारा कारज साधो म्हारा परण निभाज्यो जी ॥[3]

विरहिनी मीरा के ऊपर उद्धृत पदों में रहस्यात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से हमें देखने को मिलता है । 'गिरधर' को पति मानकर उनसे मिलने के लिए तड़पती रहती है । यह जीवात्मा के परमात्मा से मिलन की ओर स्पष्ट संकेत है ।

---

१ मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—डा० सावित्री सिन्हा, पृ० ११६ से उद्धृत ।
२ मीरा की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० ८१ तथा मल्हार राग ।
३ वही, पद सं० ११८ ।

षष्ठ अध्याय

काव्य-कला

१

भाव-पक्ष

आलवार भक्त और १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवि

काव्य-कला

(भाव-पक्ष)

तुलनात्मक अध्ययन

भाव-पक्ष का सामान्य विवेचन

काव्य की जितनी भी परिभाषाएँ की गयी हैं, काव्य के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न विद्वानों ने किया है और अपने-अपने ढंग से उसका विवेचन भी किया है। काव्य-कला के विषय में पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है। भारतीय परम्परा में काव्य को पाश्चात्य ढङ्ग से विभाजित नहीं किया गया है। यहाँ के आचार्यों ने काव्य की परिभाषा, प्रयोजन, गुण-दोष तथा विविध अङ्गों पर पर्याप्त मात्रा में विचार किया है। यहाँ रस और अलंकारों को विशेष महत्त्व दिया गया है और मूल-वृत्ति काव्य की आत्मा की ओर रही है। भामह ने *'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'*, मम्मट ने *'तददोषौ शब्दार्थौ'*, विश्वनाथ ने *'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'* तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने *'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'* माना है। इन परिभाषाओं में बाह्य अन्तर होते हुए भी वास्तविक अन्तर नहीं है, क्योंकि प्रायः सभी आचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा अङ्गीकार किया है और अलंकार को उसका सहायक तथा गुणों को उत्कर्ष हेतुक माना है।

काव्य का मुख्य आधार 'भाव' है। इस भाव की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है। इन्हीं दो तत्त्वों के आधार पर विद्वानों ने काव्य के दो पक्ष माने हैं—'अन्तरंग' और

'बहिरंग'। इसी को भाव-पक्ष और कला-पक्ष अथवा अनुभूति-पक्ष और रूप-पक्ष भी कहते हैं। जिस प्रकार आत्मा और शरीर का पारस्परिक सम्बन्ध अमिट है, उसी प्रकार भाव और कला परस्पर सम्बन्धित हैं। एक के अभाव में दूसरे की स्थिति असम्भव है। जिस प्रकार जीवन शरीर और आत्मा के एकत्व पर निर्भर है, उसी प्रकार काव्य का जीवन भी भाव और कला के पारस्परिक योग पर आधारित है।

भाव-पक्ष का प्रधान अङ्ग 'रस' है। भाव और रस में अन्योन्याश्रय-भाव सम्बन्ध है। काव्य का लक्ष्य ही रस-परिपाक होता है। रस-परिपाक में भाव महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने लिखा है— 'न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित' रस की निष्पत्ति भावों के विविध स्वरूपों के सम्मिश्रण से होती है। 'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रस निष्पत्तिः' भरत मुनि के इस सूत्र में विभाव अनुभाव व्यभिचारी-भाव आदि शब्द भाव के ही विविध रूपान्तर हैं। इन्हीं के उचित सम्मिश्रण से काव्य में हृदय सम्वादी गुण का विकास होता है। एक के हृदय का दूसरे के हृदय के अनुरूप होना ही हृदय सम्वाद कहलाता है। आलोचकों ने हृदय सम्वाद और साधारणीकरण को पर्यायवाची माना है। साधारणीकरण रसानुभूति की पराकाष्ठा है। इसी स्तर पर आकर कवि की भाव-धारायें सर्वसाधारण की भावनायें हो जाती हैं। कवि की भावनाओं का यथार्थ रूप में अनुभव होने पर रसानुभूति होती है।

काव्यानन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर कहलाता है। उस काव्य से क्या प्रयोजन है, जो आनन्द का उद्रेक न करे, रस-वर्षा द्वारा सहृदय को आनन्द से आप्लावित न कर दे? आनन्द या रस हृदय-पक्ष अथवा भाव-पक्ष की अमूल्य निधि है। जिस काव्य में यह निधि वर्तमान है, वही श्रेष्ठ काव्य है।

भावानुभूति और रसानुभूति में बहुत कम तात्त्विक भेद है। भावानुभूति की स्थिति कलाकार में मानी जाती है और रसानुभूति पाठक या श्रोता को होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि कलाकार रसानुभूति से और पाठक भावानुभूति से वंचित रहते हैं। दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप हैं। कवि में विधायक कल्पना की अपेक्षा रहती है और पाठक में ग्राहक की सौन्दर्यानुभूति भावों को जन्म देती है। भाव के उदय होने पर कलाकार अपने काव्य की सृष्टि करते हैं। पाठक या श्रोता काव्य रूप में परिणत इन्हीं भावों की रसानुभूति करते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-भावना भावानुभूति की जननी सिद्ध हुई और काव्यानुभूति रसानुभूति की।[1]

काव्य सम्बन्धी उपर्युक्त सामान्य विवेचन के पश्चात् आळ्वार भक्तों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के काव्य के विषय में हमें यह कहना है कि भक्ति भाव से प्रेरित होकर काव्य के क्षेत्र में प्रवृत्त होने वाले इन कवियों के काव्य में

---

१ भारतीय समीक्षा के सिद्धान्त (प्रथम भाग)—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ७७

विविध भावों का सुन्दर चित्रण हुआ है। जब भाव तन्मयता के कारण सान्द्र एवं सघन रूप धारण करता है और मानव हृदय देर तक आस्वादन करता हुआ उसमें रमण करने लगता है तब रस की सृष्टि होती है। आलोच्य काव्य में विविध रसों की सुन्दर व्यंजना हुई है। आगामी पृष्ठों में आळवार तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के काव्य के भाव पक्ष का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

भाव-चित्रण और रसानुभूति

वात्सल्य

'वात्सल्य' मानव की मूल मनोवृत्तियों में एक है। वात्सल्य में वत्सलता का भाव है। वत्सलता सामान्य रूप से संतति प्रेम की ओर संकेत करती है परन्तु वास्तव में हृदय की जितनी तन्मयता इस भाव में अभिव्यक्त होती है उतनी दूसरे किसी भाव में नहीं। यह भाव कृष्ण भक्तों का सर्वस्व है, उसकी अपनी मौलिकता है। वात्सल्य भाव में जिस विषय की ओर संकेत है वह भी अपने में अद्भुत है। यों तो माता तथा पिता का अपनी संतति से प्रेम स्वाभाविक है। परन्तु यह सामान्योन्मुख प्रेम वात्सल्य में जहाँ एक ओर विषयगत विरक्ति का भाव है दूसरी ओर इसमें पूर्ण तन्मयता और समर्पण का भाव है। यही इस भाव का वैशिष्ट्य है।

आळवार भक्तों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में वात्सल्य-भाव का उच्चकोटि का चित्रण हुआ है। इन कवियों ने बाल-चेष्टा, बाल स्वभाव के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम चित्रण द्वारा वात्सल्य को रस-कोटि तक पहुँचा दिया है। बाल-स्वभाव की रोचक जो क्रिया अथवा चेष्टाएँ और बाल्यकाल की जो उमंग भरी निश्छल तथा भोली क्रीड़ाएँ होती हैं, उन सबका विशद तथा मार्मिक मनोवैज्ञानिक चित्रण इन कवियों के काव्य में हुआ है।

वात्सल्य का सजीव, सरस और आकर्षक वर्णन करने में हिन्दी के कृष्ण भक्त-कवियों में महात्मा सूरदास का स्थान सबसे ऊँचा है। बाल-वर्णन की नवीनता, मार्मिकता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से जो स्थान हिन्दी में सूर को प्राप्त है, वह तमिळ में पेरियाळ्वार को मिला है। तमिळ के पेरियाळ्वार ही ऐसे प्रथम कवि हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम विशाल पटल पर कृष्ण की बाल-लीलाओं के सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। पेरियाळ्वार ([illegible]) ने बाल-सुलभ चेष्टाओं और अन्तर्दशाओं का जैसा सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण अपने काव्य में प्रस्तुत किया है वैसा आज तक तमिळ में कोई कवि प्रस्तुत नहीं कर सका। अपने आराध्य के बाल रूप का वर्णन करने की जो पद्धति तमिळ में "पिळ्ळै-त्तमिळ्" के नाम से प्रसिद्ध है उसके जन्मदाता पेरियाळ्वार ही हैं। पेरियाळ्वार ने अपने आराध्य बाला-गोपाल कृष्ण की बाल चेष्टाओं का वर्ष-क्रमानुसार जो सूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत किया, उसकी सजीवता और

बहिरंग । इसी को भाव-पक्ष और कला-पक्ष अथवा अनुभूति-पक्ष और रूप-पक्ष भी कहते हैं। जिस प्रकार आत्मा और शरीर का पारस्परिक सम्बन्ध अमिट है उसी प्रकार भाव और कला परस्पर सम्बन्धित हैं। एक के अभाव में दूसरे की स्थिति असम्भव है। जिस प्रकार जीवन शरीर और आत्मा के एकत्व पर निर्भर है उसी प्रकार काव्य का जीवन भी भाव और कला के पारस्परिक योग पर आधारित है।

भाव-पक्ष का प्रधान अङ्ग 'रस' है। भाव और रस में अन्योन्याश्रय-भाव सम्बन्ध है। काव्य का लक्ष्य ही रस-परिपाक होता है। रस-परिपाक में भाव महत्व पूर्ण स्थान रखते हैं। दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने लिखा है— न भाव हीनोस्ति रसो न भावो रसवर्जितः" रस की निष्पत्ति भावों के विविध स्वरूपों के सम्मिश्रण से होती है। 'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रस निष्पत्तिः" भरत मुनि के इस सूत्र में विभाव अनुभाव व्यभिचारी-भाव आदि शब्द भाव के ही विविध रूपान्तर हैं। इन्हीं के उचित सम्मिश्रण से काव्य में हृदय सम्वादी गुण का विकास होता है। एक के हृदय का दूसरे के हृदय के अनुरूप होना ही हृदय सम्वाद कहलाता है। आलोचकों ने हृदय सम्वाद और साधारणीकरण को पर्यायवाची माना है। साधारणीकरण रसानुभूति की पराकाष्ठा है। इसी स्थल पर आकर कवि की भाव-धाराएँ सर्वसाधारण की भावनाएँ हो जाती हैं। कवि की भावनाओं का यथार्थ रूप में अनुभव होने पर रसानुभूति होती है।

काव्यानन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर कहलाता है। उस काव्य से क्या प्रयोजन है, जो आनन्द का उद्रेक न करे, रस-वर्षा द्वारा सहृदय को आनन्द से आप्लावित न कर दे? आनन्द या रस हृदय-पक्ष अथवा भाव-पक्ष की अमूल्य निधि है। जिस काव्य में यह निधि वर्तमान है वही श्रेष्ठ काव्य है।

भावानुभूति और रसानुभूति में बहुत कम तात्विक भेद है। भावानुभूति की स्थिति कलाकार में मानी जाती है और रसानुभूति पाठक या श्रोता को होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि कलाकार रसानुभूति से और पाठक काव्यानुभूति से वंचित रहते हैं। दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप हैं। कवि में विधायक कल्पना की अपेक्षा रहती है और पाठक में ग्राहक की सौन्दर्यानुभूति भावों को जन्म देती है। भाव के उदय होने पर कलाकार अपने काव्य की सृष्टि करते हैं। पाठक या श्रोता काव्य रूप में परिणत इन्हीं भावों की रसानुभूति करते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-भावना काव्यानुभूति की जननी सिद्ध हुई और काव्यानुभूति रसानुभूति की।[१]

काव्य सम्बन्धी उपर्युक्त सामान्य विवेचन के पश्चात् आळ्वार भक्तों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों के काव्य के विषय में हमें यह कहना है कि भक्ति-भाव से प्रेरित होकर काव्य के क्षेत्र में प्रवृत्त होने वाले इन कवियों के काव्य में

---

१ शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त (प्रथम भाग)—डा० गोविन्द त्रिगुणायत पृ० ७७

विविध भावों का सुन्दर चित्रण हुआ है। जब भाव तन्मयता के कारण सान्द्र एवं सघन रूप धारण करता है और मानव हृदय देर तक आस्वादन करता हुआ उसमें रमण करने लगता है तब रस की सृष्टि होती है। आलोच्य काव्य में विविध रसों की सुन्दर व्यंजना हुई है। आगामी पृष्ठों में आळ्वार तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के काव्य के भाव पक्ष का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

भाव-चित्रण और रसानुभूति

वात्सल्य

'वात्सल्य' मानव की मूल मनोवृत्तियों में एक है। वात्सल्य में वत्सलता का भाव है। वत्सलता सामान्य रूप से समष्टि प्रेम की ओर संकेत करती है, परन्तु वास्तव में हृदय की जितनी व्यापकता इस भाव में अभिव्यक्त होती है उतनी दूसरे किसी भाव में नहीं। यह भाव कृष्ण भक्तों का सर्वस्व है, उनकी अपनी मौलिकता है। वात्सल्य भाव में जिस विषय की ओर इंगित है, वह भी अपने में अद्भुत है। यों तो माता तथा पिता का अपनी संतति से प्रेम स्वाभाविक है। परन्तु यह छाया व्योन्मुख प्रेम वात्सल्य में जहाँ एक ओर विषयेतर विरक्ति का भाव है दूसरी ओर इसमें पूर्ण तन्मयता और समर्पण का भाव है। यही इस भाव का वैशिष्ट्य है।

आळ्वार भक्तों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में वात्सल्य भाव का उच्चकोटि का चित्रण हुआ है। इन कवियों ने बाल-चेष्टा बाल स्वभाव के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम चित्रण द्वारा वात्सल्य को रस-कोटि तक पहुँचा दिया है। बाल-स्वभाव की द्योतक जो क्रिया अथवा चेष्टाएँ और बाल्यकाल की जो उमंग भरी निश्छल तथा भोली क्रीड़ाएँ होती हैं, उन सबका विशद तथा अत्यन्त मनोवैज्ञानिक चित्रण इन कवियों के काव्य में हुआ है।

वात्सल्य का सजीव सरस और मार्मिक वर्णन करने में हिन्दी के कृष्ण भक्त-कवियों में महात्मा सूरदास का स्थान सबसे ऊँचा है। बाल-वर्णन की सजीवता मार्मिकता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से जो स्थान हिन्दी में सूर को प्राप्त है, वह तमिळ में पेरियाळ्वार को मिला है। तमिळ में पेरियाळ्वार ही ऐसे प्रथम कवि हैं, जिन्होंने सर्वाधिक विशाल पटल पर कृष्ण की बाल-लीलाओं के सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। पेरियाळ्वार ([illegible]) ने बाल-सुलभ चेष्टाओं और क्रीड़ाओं का जैसा सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण अपने काव्य में प्रस्तुत किया है वैसा आज तक तमिळ में कोई कवि प्रस्तुत नहीं कर सका। अपने आराध्य के बाल रूप का वर्णन करने की जो पद्धति तमिळ में "पिळ्ळै-तमिळ" के नाम से प्रसिद्ध है, उसके जन्मदाता पेरियाळ्वार ही हैं। पेरियाळ्वार ने अपने आराध्य बाल-नायक कृष्ण की बाल चेष्टाओं का वय-विकासानुसार भी सूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत किया उसकी सरसता और

मार्मिकता को देखकर परवर्ती कवियों ने इस विशिष्ट पद्धति को आदर्श रूप में अपनाया और उस शैली को 'पिळ्ळै-तमिळ' के नाम से अभिहित किया।

आळ्वारों तथा आलोच्य हिन्दी कवियों द्वारा अंकित बाल-स्वभाव चित्रों के तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि तमिळ के पेरियाळ्वार ने 'पिळ्ळै-तमिळ' की पद्धति में बाल-चेष्टाओं का वय-विकासानुसार जो मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, उसका संक्षेप में परिचय दिया जाय। तभी पेरियाळ्वार के वास्तविक महत्व को जाना जा सकता है। पेरियाळ्वार ने दैवी-दान से आण्डाळ को शिशु-रूप में प्राप्त किया था और उसका पालन-पोषण किया था शिशु की बाल-चेष्टाओं का अत्यन्त निकट से अवलोकन करने के कारण ही पेरियाळ्वार का बाल-वर्णन सजीव और मार्मिक बन सका है। यही कारण है कि उनके वात्सल्य में कहीं भी कृत्रिमता दिखाई नहीं देती। पेरियाळ्वार ने अपने आराध्य लीला-नायक कृष्ण के बाल्यकाल को दस वय-खण्डों में विभाजित कर प्रत्येक में होने वाली विशिष्ट बाल-सुलभ-चेष्टा का चित्रण किया है, जो बाल-मनोविज्ञान की कसौटी पर भी खरा उतरता है। "पिळ्ळै-तमिळ" में वर्णित दस वय-खण्ड इस प्रकार हैं— 'काप्पु, चेंकीरै, ताल चप्पाणी मुत्तम वारानै अम्बुलि चिरुपरै, चिट्रिल चिरुदेल और चिरु तेरोट्टम।" काप्पु' का अर्थ है 'रक्षा'। यह शिशु के दो मास की अवस्था को सूचित करता है।[1] माता कभी अपने बालक के सलोने रूप पर न्यौछावर होती है तो कभी दृष्टि लगने के भय से विश्वम्भर से उसकी रक्षा की प्रार्थना करती है। चेंकीरै परुवम्" अथवा वय-खण्ड शिशु की वह अवस्था है जब वह (चेंकीरै पौधे के समान) सिर को ऊपर उठाकर हिलाता है। यह शिशु की वह चेष्टा है, जबकि उसकी अवस्था पाँच महीने के लगभग होती है। 'ताल' वह वय-खण्ड है जब माता शिशु को पालने में लिटाकर लोरी गाकर उसे सुलाती है। शिशु लोरी की मीठी तान के वशीभूत हो सो जाता है। 'चप्पाणी' अवस्था में शिशु अपने दोनों हाथों को मिलाकर ताली बजाता है और हर्षित होता है। 'मुत्तम' शिशु की वह अवस्था है, जबकि वह दूसरों की प्रार्थना पर चुम्बन के लिए अपने मुख को आगे बढ़ाता है। दूसरे लोग शिशु-चेहरे पर चुम्बन कर पुलकित होते हैं। वारानै' वह वय-खण्ड है जब माता पिता शिशु को अपने पास बुलाते हैं और शिशु घुटनों के बल पर रेंगता हुआ उनके पास जाता है। यह लगभग एक वर्ष की आयु है। अम्बुलि में शिशु के चन्द्र-खिलौना माँगकर हठ करने का वर्णन होता है। बालक रेंगता हुआ आँगन में पहुँचता है और आकाश पर स्थित चन्द्र को देखकर उसे पकड़ कर उसके साथ खेलना चाहता है। 'चिरुपरै' बालक की

---

1 "Koppu —Section of Pillai Tamil describing the stage of childhood in which deities beginning with Vishnu are invoked to protect the child in about 2nd month of its birth, one of ten paruvams —*Tamil Lexicon*

उस अवस्था को सूचित करता है जब बालक आवाज पैदा करने वाली चीजों पर हाथ मारकर ध्वनि पैदा करता है और अस्पष्ट रूप से कुछ कहता है। 'चिट्टिल चिरुदल' में दूसरे बालकों या बालिकाओं द्वारा रेत पर या जमीन पर रेखाएँ खींचकर बनाये गये छोटे घरों को बालक के द्वारा तोड़ने पर उन्हें चिढ़ाने का वर्णन होता है। 'चिरुतेरोट्टम' अवस्था में बालक में खड़े होने की शक्ति आ जाती है। वह धीरे-धीरे चलने लगता है। इस अवस्था में बालक छोटे रथ (लकड़ी से बना खिलौना) को रस्सी से बाँधकर उसे खींचता हुआ गली में चलाने लगता है। पेरियाळ्वार ने इस प्रकार वय-विकासानुसार शिशु की विभिन्न चेष्टाओं का मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है जो मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रतीत होता है। इन बाल-चेष्टाओं के अतिरिक्त पेरियाळ्वार ने कृष्ण की शैशव किशोर-अवस्थाओं की न जाने कितनी ही लीलाओं का वर्णन किया है। तमिल के आळ्वार भक्तों में केवल पेरियाळ्वार ने ही इतने विस्तार से कृष्ण के बाल-रूप का वर्णन किया है। कुलशेखराळ्वार, आण्डाळ तथा अन्य आळ्वारों के पदों में बाल-प्रसंगों की ओर संकेत मात्र है।

हिन्दी के कृष्ण भक्त-कवियों ने यद्यपि पेरियाळ्वार की तरह बाल-चेष्टाओं के वर्णन के लिए किसी एक विशिष्ट प्रणाली को नहीं अपनाया तो भी सूरदास परमानन्ददास आदि के काव्य में वे सब शैशव के चित्रण मिल जाते हैं जो पेरियाळ्वार के काव्य में हैं। कहीं-कहीं तो सूर पेरियाळ्वार से भी आगे बढ़े हैं। तमिल के पेरियाळ्वार और हिन्दी के सूरदास अपने-अपने क्षेत्र में बाल भाव के अमर चितेरे हैं। इनके समरस का कवि अभी तक नहीं हुआ है। वात्सल्य की अजस्र धारा इन दोनों कवियों के काव्य में प्रवहमान है।

बच्चों की अत्यन्त साधारण चेष्टाएँ भी माता-पिता के प्रमोद का कारण बन जाती हैं। यशोदा रानी जब अपने नन्हे से बालक की शिशु-सुलभ क्रीड़ाएँ देखती हैं, तब उनके आनन्द का ठिकाना नहीं रहता। सूरदास जी के शब्दों में—

चलत देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमुकि-ठुमुकि पग धरनी रेंगत जननी देखि दिखावै।
देहरि लौं चलि जात, बहुरि फिरि फिरि इतहीं कौं आवै।
× × ×
काठी लिए नंद की रानी, नाना भेस दिखावै।
तब जसुमति कर टेकि स्याम कौ क्रम-क्रम करि उतरावै।
सूरदास प्रभु देखि-देखि, सुर-नर-मुनि-बुद्धि भुलावै॥[1]

बालक कृष्ण मणिमय आँगन में अपने प्रतिबिम्ब को पकड़ने की कोशिश में हैं। कभी वे अपनी छाँह को पकड़ना चाहते हैं और कभी किलक-किलककर अपनी दँतुलियों का सौन्दर्य दिखाते हैं। यशोदा सुत की क्रीड़ाओं को देखकर फूली नहीं

---

१ सूरसागर (ना॰ प्र॰ सभा), पद सं॰ ७४४, पृ॰ ३०३

समाती । बार-बार नन्द को इस सुख में शामिल होने के लिए बुलाती है ।[1] पेरियाळ्वार (यशोदा के स्थान पर) तो बालक की अनुपम छवि को देखने के लिए गोकुल के समस्त नर-नारी को बुलाते हैं और बाल-सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन करते हैं। उल्लासपूर्ण शब्दों में वे कहते हैं—'आकर देखिए ! शिशु कितने भोलेपन के साथ अपने पैर की उँगलियों को मुँह में लेकर चाटता है ? इसके पाद-कमल का सौन्दर्य देखिए—हे सुन्दर ललनाएँ । इसके पैर की उँगलियाँ इस प्रकार शोभित हैं मानों मोती और रत्न एक सूत्र में ग्रथित हों । घुटनों के बल पर आँगन में रेंगने वाले बच्चे का सौन्दर्य देखिए । कोमल नन्हें-नन्हें करों की अनुपम छवि देखिए । सुन्दर विकसित सा मुख-कमल को आकर देखिए । नन्हें के प्रकाश युक्त नयनों को देखिए । पतली छोटी भृकुटियों को देखिए । छोटे काले बालों का सौन्दर्य देखिए ।"[2]

इस प्रकार पेरियाळ्वार ने कृष्ण को पालने में सुलाने के प्रसंग पर कई पद रचे हैं, जिनमें माता यशोदा के मातृ-हृदय का भाव सौन्दर्यपूर्ण प्रभा के साथ प्रकट हुआ है । पेरियाळ्वार की यशोदा प्रिय सुत को पालने में लिटाकर उन्हें सुलाने के लिए लोरी गाती है— 'मोती तथा रत्न खचित सुन्दर पालने को ब्रह्मा ने तुम्हारे लिए भेजा है । हे सुत ! 'तावेलो' (सो जाना) इन्द्र ने भी तुम्हारे लिए किंकणी भेजी है । हे मेरे राजा ! देवताओं ने तुम्हारे लिए सुन्दर-सुन्दर फूल चुनकर भेजे हैं । तुम

---

१ किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत ।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन बिंब पकरिवैं धावत ।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं कर सौं पकरन चाहत ।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत ।
× × ×
बाल दसा सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति ।
—सूरसागर (सभा) पद सं० ७२८ पृ० २९९

२ "पैत्तुळ्ळवी सिरित्तुवेंत्तवनुम
पादक्कमलंकळ काणीरे पवळवायीर । वन्दु काणीरे ।"
—पेरियाळ्वार तिरुमोळि १-२ १

३ 'मुत्तुम मणियुम वयिरमुम नन्पोन्नुम
तत्तिप्पतित्तु त्तलै पेय्तार पोल एङ्गुम
पत्तु विरलुम मणिवण्णन पादङ्गळ
योत्तिरुन्दवा काणीरे योण्णुदलीर । वन्दु काणीरे ।" —वही १ २-२
"पळन्ताम्पालोळ्ळ पयताय तवत्ताल
मुळ्ळ्ताळ इरुन्तवा काणीरे । मुकिल मुलैयीर । वन्दु काणीरे ।"—वही १ २-४
"कण्कळ इरुन्तवा काणीरे कनवळैयीर । वन्दु काणीर ।" —वही १ २-११
"पुरुवम इरुन्तवा काणीरे, पुण मुळै यीर । वन्दु काणीरे" —वही १ २ १०

रोओ मत । सो जाओ । भूदेवी तुम्हारे लिए अंजन और सिन्दूर लेकर आयी है । ए नारायण ! तामे लो—सो जाओ ।'[१]

सूर का पद और भी सुन्दर है—

"जसोदा हरि पालनै झुलावै ।
हलरावै दुलराइ, मल्हावै जोई-सोई कछु गावै ।
मेरे लाल कौ आउ निंदरियाँ काहै न आनि सुवावै ।
तू काहैं नहिं बेगहिं आवै तोकौं कान्ह बुलावै ।
कबहुँक पलक हरि मूँद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै ।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै ।
इहिं अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुर गावै ।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ सो नन्द भामिनि पावै ।"[२]

इन पंक्तियों में कैसा स्वाभाविक तथा मनमोहक चित्र सूर ने उपस्थित किया है ।

पेरियाळ्वार की यशोदा अपनी सहेलियों से शिकायत करती है—"पालने में छोड़ो तो ऐसा पद-प्रहार करता है कि टूटने का डर होने लगता है । गोद में उठा लूँ तो कमर तोड़ देता है । छाती से लगा लूँ तो पेट फाड़ देता है । मुझ से नहीं होती—इसकी सार-संभाल सखी मैं क्या करूँ ?"[३] इस शिकायत में भी माता की ममता बोल रही है ।

---

१ 'माणिक्कम कट्टि वयिरम इडैकट्टि
आणि पोन्नाल सेय्द वण्णच्चिरु तोट्टिल
पेणि उनक्कु पिरमन विडुतन्दान
माणिक्कुरळने । तालेलो । वैयमळन्दाने तालेलो ।"
'उडैयार कनमणियोडु ओण्मादुळम्पू
विडुविडुवे पिणैत्तु इडैविरवि कोर्त्त
उडैमणि नरणाळ्मुम् कोण्डु ...
... तालेलो । तामरैक्कण्णने तालेलो ।'
"वय्य तडङ्कण्णुक्कु अञ्जनमुम् सिन्दूरमुम्
वेय्य कलैप्पाकि कोण्डु उवळाय निन्राळ्
ऐया । अळेल अळेल । तालेलो । अरङ्गत्तणैयाने । तालेलो"
—पेरियाळ्वार तिरुमोळि १ ३ १ ३ और ६

२ सूरसागर (ना॰ प्र॰ सभा) पद सं॰ ६६१, पृ॰ २७६

३ "किडक्किल तोट्टिल किडिय उदैत्तिडुम
एडुत्तुक्कोळ्ळिल मरुङ्गै इरुत्तिडुम
ओडुक्कि पुल्गिल उदरत्ते पाय्न्दिडुम
मिडुक्किल्लामैयाल नान् मेलिन्देन् नङ्गाय ।"

—पेरियाळ्वार २।६

चन्द खिलौने का वर्णन दोनों भाषाओं के कवियों ने किया है। सूर के बाल कृष्ण कहते हैं—

'मैया, मैं तो चंद खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं तेरी गोद न ऐहौं।
सुरभी को पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वैहौं पूत नंद बाबा को तेरौ सुत न कहैहौं।'[1]

× × ×

'मैया री मैं चंद लहौंगौ।
कहा करौं जलपुट भीतर कौ बाहर ब्यौंकि गहौंगौ।
यह तौ झलमलात झकझोरत कैसें कै जु लहौंगौ।
वह तौ निपट निकटहीं देखत बरज्यौ हौं न रहौंगौ।[2]

पेरियाळ्वार की यशोदा पुत्र की भाव पर चन्द्र को सम्बोधित कर कहती है— "हे विशाल चन्द्र! मेरा 'सिरुकुट्टन (छोकरा) जो मेरे लिए अमृत के समान अमूल्य है जो मेरा सौभाग्य है अपने नन्हे कोमल करों से तुम्हारी ओर लक्षित कर तुम्हें बुला रहा है। यदि तुम इस श्यामवर्ण बाले के साथ खेलना चाहते हो तो मेघों के पीछे छिप मत जाओ। पर उछलते-कूदते आ जाओ।[3] (पेरियाळ्वार ने 'सिरुकुट्टन' शब्द के प्रयोग द्वारा मानों वात्सल्य रस की धारा प्रवाहित की हो) माता का हृदय बच्चे को किंचित् भी कष्ट होते नहीं देख सकता। यशोदा चन्द्र से कहती है— हे चन्द्र जल्दी आ जाओ! देर मत करो जिससे इस सिमित नन्हें के चाव कर तुम्हें बुलाते थक न जायें।"[4] चन्द्र का सौन्दर्य भी माता के लिए अपने पुत्र के सौन्दर्य के सम्मुख कुछ भी नहीं है। यशोदा चन्द्र की खिल्ली उड़ाती कहती है—"ज्योतिमय रथ पर विराजमान होकर सदा प्रकाशमान चन्द्र! क्या तुम्हारा सौन्दर्य मेरे सुत के मुख की कांति की बराबरी कर सकता है? देखो—मेरे लाल के सुन्दर मुख से अमृत सम लार टपक रही है और मेरा लाड़ला तोतली बोली से तुम्हें बुला रहा है। मेरे

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा०) पद सं ८११ पृ० १२७
२ वही („) पद सं० ८१२ पृ १२७
३ एन सिरुकुट्टन एनक्कोर इन्नमुदु एंपिरान
तन सिर कैक्ळाल काट्टि-काट्टि यळैक्किन्ऱान
अंजन वण्णनोडु आडलाड उरुदियेल
मंजिल मऱैयादे मामदि। मकिळ्न्दोडी वा।"

—पेरियाळ्वार तिरुमोळि १ ४-२

४ "एत्तनै सेय्युम एन मकन मुकम नोक्किनाय
वित्तकन वेंकटवाणन उन्नै विळिक्किन्ऱ
कत्तलम नोवामे अम्बुली। कडितोडी वा" —वही १ ४ १

सर्वप्रिय के यों बुलाने पर भी तुम नहीं आओगे तो मैं तुम्हें बहरा ही समझूँगी।"[1] फिर वह चन्द्र से प्रार्थना करती है— "मेरे लाल को नींद आ रही है। वह जमाई ले रहा है। यदि वह अब सो नहीं पायेगा तो उसका अभी पिया हुआ दूध नहीं पचेगा और पेट को बिगाड़ देगा। इसलिए तुम उसकी मांग पर जल्दी आ जाओ।"[2] जब चन्द्र पर माता के शब्दों का असर पड़ता नहीं दीखता तब वह उसे चेतावनी दे जाती है— "मेरे पुत्र का तिरस्कार मत करो कि यह छोटा बालक है। समझ लो यह वह बालक है जो एक बार वट-पत्र पर सोया था। यदि वह अपनी शक्ति दिखाना चाहे तो अभी उठकर तुम्हारे ऊपर कूदकर तुम्हें पकड़ सकता है। अतः इस ओर जल्दी आ जाओ।"[3]

माता अपने बालक के मनोहर रूप पर कभी न्यौछावर होती है तो कभी दृष्टि लगने के भय से 'राई-नोन' उतारती है। कभी विश्वम्भर से रक्षा की प्रार्थना करती है। परमानन्ददास का निम्नलिखित पद देखिए—

'यह तन वारि डारौं कमल नयन पर सांवलिया मोहि भावै रे,
चरन कमल की रेनु जसोदा लै-लै सिरहि चढ़ावै रे।
लै उछंग मुख निरखन लागी राई राई लोन उतारे रे,
कौन निगोड़ी दृष्टि लगाई लै लै अचरा झारै रे।
ए मेरो बालक हो। नारायन तोहि विश्वम्भर राखे रे,
'परमानन्द' स्वामी चिर जीवहु बार-बार यों भाखे रे।[4]

पेरियाऴ्वार की यशोदा भी कृष्ण को 'दृष्ट-दोष' से बचाने के लिए उनके हाथ कप्पु (मंत्र फूंककर कंकण पहनाने का रिवाज) पहनाने के लिए, अपने पास बुलाती है—"हे लाला! ऐसी गोधूलि वेला में चौराहे पर मत जाओ। लोगों की

---

१ "मऴॆयिवऴ्वायिल् मधुसूदन तेऴिमुरा
मऴॆमुऴुम् इलवोल्ताल उन्नै कुरुमिन्नुऴाम
कुऴुवन सिरीचरन कूवतून नी पोरियेल
पुऴ्‌ विलवाडलो निलयेनिनुकर मामती।'
—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि १४-१

२ "तम कुणिल कोल्क्कररति कोट्टावी कौऴिक्कुऴाम
उन्न कुर्लम्पालरत्ताविरंकाविलिल
विलामिल अमिय मामती। विरैन्दोडि वा"
—वही १४६

३ "बालकनेन् ऍरिपरम कायेल पचोरनाऴ
पत्तिनिर्न्द वडत्त विरक्कनवन इवन
मेलेऴुन्तयुम् पिदित्तुकोल्ऌम वेकुऴ मैल
माने मनियाने मामती। विरैन्दोडि वा"
—वही १४७

४ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—पृ० ७०२ से उद्धृत

नजर लग जायगी। मेरे पास आओ। 'दृष्टि-दोष' परिहार के लिए यह कंकण पहन लो।"[1]

कृष्ण का उलट जाना, घुटनों चलना, देहली पार करना, यशोदा द्वारा चलना सीखना, डगमगाकर चलना, फिर दौड़ने लगना, दूध के दाँत निकलना, तोतली बोली बोलना आदि उनके वय-विकास के साथ घटित होने वाली अनेकानेक बातों को तमिळ में पेरियाळ्वार ने तथा हिन्दी में प्रमुख रूप से सूरदास और परमानन्ददास ने अत्यन्त स्वाभाविक और भावपूर्ण ढङ्ग से व्यक्त किया है। इस प्रकार इन कवियों के बाल जीवन के चित्रण में सर्वाङ्गीणता और सम्पूर्णता पाई जाती है। पेरियाळ्वार द्वारा अंकित बाल-कृष्ण के कुछ चित्र देखिए—

कान्हा का एक दाँत फूटा है और वह मधुर हँसी हँस रहा है। यशोदा उस छवि को देखकर कहती है— 'कालिम आकाश में चमकने वाले दीज के चाँद की नोक की भाँति हँसने वाले लाल-लाल नन्हें मुँह के अन्दर से सुन्दर दन्त अंकुर फूट रहा है।"[2] बालक जब घुटनों चलता है तब किंकिणी की ध्वनि निकलती है। माता बच्चे को अपनी पीठ से लगाती है और स्पर्श मात्र से पुलकित हो उठती है।[3] कान्हा धीरे-धीरे चलने लगा। यशोदा बैठी है। कान्हा खिल-खिलाकर हँसता हुआ आकर उनसे लिपट जाता है और उनसे प्यार करता है। उसके मुँह से मधु रस की लार की धारा प्रवहमान है। वह शिशु चुम्बन माँ के हृदय में अमृत-प्रवाहित करता है।[4] बच्चे के विकास के प्रति माँ के हृदय में अदम्य उत्साह रहता है। उसकी समस्त क्रियाएँ और भावनाएँ उसी में केन्द्रित हो जाती हैं। माँ का प्रत्येक क्षण बालक के साथ कटता है।

बालक दूध पिये बिना ही रात को सो गया। माता यह प्रतीक्षा करती है कि वह स्वयं जागेगा। परन्तु बालक थकावट के कारण जागा नहीं। माँ का हृदय यह मान नहीं सकता कि बच्चा भूखा सोये। पेरियाळ्वार की यशोदा बहुत चिंतित होती

---

१ पेरियाळ्वार तिरुमोळि, २-८-१

२ 'वेरकरिय मुनिर्कोषिम तोष्नु व चिरचिरै मुळैप्पोल।
नयक वेन्नुवर वाइत्तिन्ने मोति नळिर देयन मुळै चित्तल।"

—पेरियाळ्वार तिरुमोळि १-५-२

३ "किन्नी कट्टिय किरि कदिर वयिमिल।
कंकणमिरट्ट कळ तिरु तोटर चुट्टिय।
तन कमलताले चतिरावि नडन्तु वन्तु।
एन कन्नन एनी मुरुव पुरुपुलान।"

—वही १-९-२

४ "कन्नु इम तिरुकालोल्दी कम-कम चिरल वन्तु।
मुग वन्नु निन्दु मुलाव तरम एन मुदिवा अन्नन तिरुमार्डल।

—वही, १-७-४

है। सबेरा होते ही वह कृष्ण को जगाती है। यह शंका करके कि दूध पिये बिना ही अन्य बालकों के साथ खेलने चला न जाय वह कृष्ण से कहती है—"लाला तू भूला खेलने मत जा। दूध पीकर जाना।"[1] खेलकर कृष्ण धूल-धूसरित होकर लौटता है। उसके चेहरे पर पसीने की नन्हीं बूँदें मानो मोती के समान शोभित हों।[2]

कृष्ण द्वारा दूसरों को 'हाऊ' का भय दिखाने का पेरियाळ्वार ने बड़ा ही सरस चित्रण किया है। कृष्ण जल्दी से आँखें खोल-खोलकर बन्द करता है। हाथ की अङ्गुलियों को एक विचित्र प्रकार से रखकर मुख से विचित्र ध्वनियाँ पैदा कर दूसरों को 'भय' दिखाता है। यशोदा बच्चे को देखकर फूली नहीं समाती।"[3]

बाल-सुलभ चेष्टाओं का वर्णन करने में अष्टछाप के सूरदास और परमानन्द दास ने अद्भुत सूक्ष्मता प्रदर्शित की है। इनके पदों की विशेषता यह है कि वे हमारे कल्पना-जगत् में भी थोड़ी देर के लिए उसी वात्सल्य भाव का वातावरण और चल-चित्र उपस्थित कर देते हैं।

धूल धूसरित कृष्ण का सूर ने बहुत ही सुन्दर चित्र अंकित किया है—

'सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन मंडित मुख दधि लेप किए।"

बच्चे को दूध न पीता हुआ देखकर समवयस्कों के प्रति उसके स्पर्धा के भाव को उद्बुद्ध कर दूध पिलाती हुई माता का चित्र देखिए —

'कजरी को पय पियहु लाल जासौं तेरी बेनि बढ़ै।
जस देखि अरु बालक, त्यौं बल-बल चढ़ै।
यह सुनि कै हरि पीवन लागे ज्यौं-त्यौं लयौ लढ़ै।"[4]

बच्चों के नामकरण और अन्नप्राशन आदि संस्कारों के अवसर पर माता का हृदय फूला नहीं समाता। कर्णछेदन में उसके हृदय में मोद के साथ धुक-धुकी भी होती रहती है उसके बच्चे को कान छिदाने में कष्ट भी तो होगा और जब कान छिदे गये तो यशोदा की क्या दशा थी—

---

१ 'अरवणैयाय। आयरे। अम्मम्मुण्ण तुयिलेऴाये।
इरु मुलैयुं मुरैयिल पीय इन्दु मुलिय कोण्डामो।"
—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि २ २ १

२ पेरमणल्पोवरत्तिन पनिवोल मुत्तम विळिम्बार पोल।
चेंगमल मुत्तम विळम्ब
पवळत्ताम पुऴुदियाऴ वर्ळय वेण्ण सम्मा। सिम्म
मरमरपु मुवाक्ति चमरर कोवे। मुमपुमाये। —वही २ २-८

३ पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि १ १ से १०।

४ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ७६२ पृ० ३१६।

"सोचन बोल भरि भरि माता कनछेदन देखत जिय मुरकी ।"[1]

पेरियाळ्वार ने भी कनछेदन प्रसंग का वर्णन किया है। बच्चों से कोई कार्य करवाने के लिए साधारणतः या तो उनकी प्रशंसा की जाती है या उन्हें मिठाई या पकवान खिलाने का प्रलोभन दिया जाता है। 'कनछेदन' के कष्ट से कृष्ण भयभीत होकर भाग न जाय इसके लिए पेरियाळ्वार की यशोदा नाम्ह से कहती हैं— हे लाल ! मैं तुम्हारी मांगी सभी चीजें दूँगी। आज तुम कनछेदन करालो। तुम्हें मीठे मीठे फल खिलाऊँगी मीठे पकवान खिलाऊँगी। (यहाँ पेरियाळ्वार यशोदा के द्वारा फलों और पकवानों की एक लम्बी सूची दे देते हैं।) तुम्हारे कानों में सुन्दर गहने पहनाऊँगी। देखो ! तुम्हारे जैसे सभी बालक कनछेदन कर गहने पहने हुए हैं, तुम भी पहन लो।"[2]

बालक कृष्ण ज्यों-ज्यों बड़ा होता है उसकी लीलाएँ भी व्यापक होती जाती हैं। कृष्ण के जन्म के बाद यशोदा के घर में न भी कहीं सुरक्षित रह पाता न दूध न दही न मक्खन।[3] 'कृष्ण पड़ोस के बच्चों से झगड़ा कर चुपके से चला आता है। पड़ोसिनें अपने बाल-बच्चों को साथ लेकर यशोदा को घेर लेती हैं और शिकायत करती हैं। इधर यशोदा इस हो-हल्ले से परेशान हो रही है और इधर महाधम इसका मजा लेते हुए हँस रहे हैं।

शाम को गायें घर लौटती हैं और दूध दुहने के लिए बछड़े खोल दिये जाते हैं। पर कृष्ण नहीं मानता। वह चिउँटियाँ पकड़-पकड़ कर बछड़ों के कानों में डाल देता है और वे घबराकर भाग जाते हैं। तो यशोदा कहती है—"अब तुझे मक्खन मिल चुका।"[4] कृष्ण दूसरे बच्चों की आँखों में धूल झोंककर दौड़ पड़ता है।[5] वह पड़ोस

---

१ सूरसागर (ना० प्र सभा) पद सं०७१८ पृ ३२१

२ "वेम्बे नारिल तिरि इडुवन।
नी वेंडियतेल्लाम तरुवन ।" —पेरियाळ्वार तिरुमोळि २ १ ३
"इनिय पलाप्पळम् तन्दु" —वही २ १ ४
"वेस म पेरिय अप्पम तरुवन।
पिराने। तिरि इड ओट्टिल" —वही २ १ ५
"पेरियिन पिल्ळे पळ्ळमाम काडु।
पेरलिक तिरियदुम काण्डी" —वही २ १-१०

३ "करत मर्पामुम तयिरुम कईमनु उरि मेल वैत्त वैण्णय।
पिरन्ततुवे मुदलाक पेतुर्रियं एंपिराने।"

४ 'कन्नुकुट्टिकळैविडिविडम कडु वन्नु पिडित्तिट्टाल।
तेम्बिक्कडुमाकिल वैण्णेय तिरटि विऴुङ्गुमाकाण्पन।
—वही २-४ २

५ 'कण्णिल मणल कोडु तूवी कालिनाल पाइन्तनैयेन्नु।
एण्णरुम पिळ्ळैकळ वन्दु इवराल मुरैप्पडुकिन्रार।" —वही, २ ८ २

के घरों से मक्खन चुराकर ही नहीं खाता बल्कि खाने के बाद खाली घड़ों को पत्थर पर दे मारता है और उनके टूटकर बिखरने की आवाज पर खुश होकर तालियाँ बजाता हुआ नाच उठता है।[1] गोपियाँ इन बातों की शिकायत यशोदा से आकर करती हैं।

सूरदास और परमानन्ददास ने भी कृष्ण की हरकतों का बड़ा ही रसपूर्ण वर्णन किया है। सूरदास के वे पद जिनमें कृष्ण यशोदा से शिकायत करते चित्रित हैं साहित्य में बेजोड़ हैं। इस प्रकार के चित्र पेरियाऴ्वार के पदों में भी देखने को नहीं मिलते। यों तो सूर का कृष्ण यशोदा से कई प्रकार की शिकायतें करता है। माता के वचन के अनुसार दूध पीने पर भी जब बाल बढ़ते दिख तक नहीं पड़ते तब कृष्ण माता से रूठकर कहता है—

> "मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
> किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
> तू जो कहति बल की बेनी ज्यौं, ह्वै है लाँबी-मोटी।
> काढ़त-गुहत न्हवावत जैहै, नागिनि सी भुइँ लोटी।
> काचौ दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन-रोटी।
> सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी॥"[2]

जब कृष्ण ग्वाल-बालकों के साथ खेलता रहता है तब बलराम उसे चिढ़ाता है। इस पर कृष्ण यशोदा से इस प्रकार शिकायत करता है —

> "मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
> मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ तू जसुमति कब जायौ ?
> कहा करौं इहि रिस के मारें खेलन हौं नहिं जात।
> पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात।
> गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
> चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसकात।
> तू मोही कौ मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझी।[3]

कृष्ण की इन शिकायतों में कितना भोलापन है! कृष्ण द्वारा चोरी करने का वर्णन दोनों भाषा के कवियों ने विस्तार से किया है। पेरियाऴ्वार के कुछ पदों का सार भाव यहाँ देते हैं। कृष्ण के उत्पातों की गोपियाँ यशोदा से शिकायत करती हैं— मैंने मटकी में मक्खन भर रखा था। सुबह होते ही तुम्हारे पुत्र ने आकर सब दूध

---

१ वेण्णेय् विऴुङ्गि वेरुङ्गलत्तै वेर्पिडै इट्टु अदनोसै केट्कुम्।
कण्णपिरान् कर्र कल्वि तन्नै काक्ककिल्लोम् उन्मकनै काबाय्।'
—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि २ ९ १

२ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ७९३ पृ० ३२०

३ वही (,,) पद सं० ८३३ पृ० ३३३ ३४

ा लिया। यही नहीं खाली मटकी को पत्थर पर मारकर उसके टूटकर बिखरने की आवाज पर तालियाँ बजाता है।[1]—(दूसरी गोपी कहती है)—आज पूजन के लिए ड्डू, मीठे चावल खीर आदि के नैवेद्य मैंने रखा था। तुम्हारे पुत्र ने आकर सब प खा लिया। यही नहीं और भी माँगता है।[2]—(तीसरी गोपी कहती है)—मैं ीठे पकवान बनाकर घर में रखकर थोड़ी देर के लिए बाहर गयी। तुम्हारे सुत ने रे घर के बालक की तरह चुपके से अन्दर घुसकर सब कुछ खा लिया।[3] (चौथी ोपी कहती है)—तुम्हारा लाड़ला मेरे घर के अन्दर बैठी मेरी बच्ची के हाथ से ंकण छुड़ा ले गया है और उसे बेचकर जामुन फल खरीदता है।"[4]

कविवर परमानन्ददास ने यशोदा से गोपियों की शिकायतों का वर्णन किया है। पेरियाळ्वार के पद से परमानन्ददास के निम्नलिखित पद का भाव-साम्य देखिए—

"जसोदा चंचल तेरो पूत।
मारग में ब्रज वीथिन डोलत करै अटपटे सूर॥
बढ़्यो दूध लै घृत खावे करि बहु तहँ बर्यो दुराय।
सखियारे घर कोउ न जाने तहँ पहले ही जाय।
गोरस के सब भाजन फोरैं माखन खायौ दुराय।
लरिकन के कर काज मरोरत तहँ ते चले पराय॥
बाँट देत अम्बर कौतुक करत विनोद विचार।
परमानन्द प्रभु गोपी बल्लभ गावै मदन मुरार॥"[5]

दूसरों के सामने मातृ हृदय अपने बच्चे का अपराध स्वीकार नहीं कर सकता। सूर के निम्नलिखित पद देखिए—

---

१ पेरियाळ्वार तिरुमोऴि, २ १ १

२ वेण्णैयळैतिसि चिव पत्पु वैहत अक्कारम नव मेहपासात।
पमिरप्पु सिरवोजम मट्ठैन पप्पुम इरियसळ पतिरचेरिवल।
इमपुरुप्पन माषेष्ट्र वोलुसी पत्लाम विळ विप्पु पोण्गु निम्पुाम।"
—पेरियाळ्वार तिरुमोऴि २-९-७

३ कण्णसिमसुतु मत्तोपु कारैसिळ रुषे कत्तीतपु।
एपमम्मेप्पु मानवंत पोम्तेम इवन पुत्तु मयर्दु पेचत्ति पीम्ताम।"
—वही २ ९-९

४ 'इम्मम पुतुम्पु एन मच्चळ् दूषी वेंचित वर्ळ ये वळ्ळिरुकोप्पु।
परोवत्तिमकु पम्मळ कोतुत्त् माळ मावपळवळ कोप्पु।
मानस्मेनेगु चिरिरिचित्तमूने "
—वही, ९-९ १

५ परमानन्दसागर (सं० डा गो ना शुक्ल) पद सं० १३४ पृ० ४२

मेरो गोपाल तनक सौ कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावत आवति ग्वारिनि जीभ करै किन थोरी।।
कब सीकें चढ़ि माखन खायौ कब दधि-मटुकी फोरी।
अंगुरी करि कबहूँ नहिं चाखत घर ही भरी कमोरी।।१

× × ×

कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ तनकहि माखन खात।
अब मोहिं माखन देति मगाए, मेरैं घर कछु नाहिं।।२

पेरियाळ्वार की यशोदा गोपियों की शिकायतों पर अपने पुत्र को समझाती है— हे कृष्ण! इस गोकुल में हजारों लड़के हैं। वे जो हरकतें करें वे कभी सामने नहीं आतीं। ये गोपियाँ उन सबके अपराधों को भी तुम्हारे ऊपर लादना ही जानती हैं। अतः तुम इनसे सावधान रहो।३

वात्सल्य के संयोग-पक्ष के साथ वियोग-पक्ष के भी अति सुन्दर चित्र हमारे कृष्ण भक्त-कवियों ने खींचे हैं। माता यशोदा के लिए एक क्षण का पुत्र-वियोग भी असह्य हो जाता है। यशोदा पहली बार कृष्ण को वन में गायें चराने के लिए भेजती है। कृष्ण के चले जाने पर यशोदा के विलाप करने और सायंकाल को ठीक समय कृष्ण के न लौटने पर यशोदा की चिन्ता और घबराहट का हृदय द्रावक वर्णन पेरियाळ्वार ने प्रस्तुत किया है —

अपने प्रिय पुत्र को यहाँ खेलते हुए देखने के बदले मैंने बड़े सवेरे ही जगाकर वन भेज दिया। वन में उसके मृदुल चरण कितने दुखे होंगे। उसको मैंने कितना कष्ट दिया। मैं पापिनी हूँ।४ भले ही गोपियाँ आकर कृष्ण की हरकतों की शिकायत करें मुझे कभी अपने पुत्र को गायें चराने जबरदस्ती वन में नहीं भेजना चाहिए था। मैंने कैसी निर्दयता दिखायी है! पुत्र को मैंने छाता और जूते तक नहीं दिये। वह वन में कितना कष्ट पाएगा?"५ इस तरह की कितनी ही भाव

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ९११
२ वही ( ) पद सं० ९७१
३ "पत्तावित्तर इन्नुरिल पिळ्ळैगळ् तीमैगळ् सेय्वार।
एल्लाम उन्मेलन्ड्री पोवदु एम्पिरान्। इङ्गे वाराय।।'
—पेरियाळ्वार तिरुमोळी २८५
४ "अंजनवण्णनै आयरकोलक्कोळुन्दिनै।
मंजनमाट्टी मनैकळ् तोरुम् तिरियामे।"
—वही २२१
५ 'कन्रापक्कुन्रम मारर कण्णु पनर पुनिङ्क।
वाणिक्सम वेदु इरुन्दिडुम् तिरियामे।"
—वही, २२४

तरंगें मातृ-हृदय में उठती हैं। पुत्र के वियोग में सारा वातावरण माता को सूना सूना दीखता है।

आळ्वार भक्तों के काव्य में वियोग-वात्सल्य को प्रदर्शित करने वाला और एक महत्वपूर्ण प्रसंग है। नन्द और यशोदा की वात्सल्यमयी भाववृत्ति का निरूपण तो बाल-कृष्ण के उपासक भक्त कवियों द्वारा प्राय: किया गया है। किन्तु वसुदेव और देवकी के हृदय की भावनाओं को मर्मस्पर्शी आलेखन तमिळ-कृष्ण-काव्य की एक विशेषता कहा जा सकता है। हिन्दी के कवियों की तरह नन्द-यशोदा के हृदय की अभिव्यक्ति तक ही अपने को सीमित रखकर आळ्वारों ने वसुदेव और देवकी के मनोभावों की उपेक्षा नहीं की है। हिन्दी में सूरदास जी तक ने कृष्ण के ऐश्वर्य-ज्ञान से देवकी के हृदय के सहज मातृत्व को अभिभूत करके उसके प्रति एक प्रकार का उपेक्षा भाव ही दिखाया है। तमिळ के कुलशेखराळ्वार ने प्रमुख रूप से देवकी की मर्म व्यथा को पहचाना है और उसे पर्याप्त भावावेग के साथ अभिव्यक्ति भी प्रदान की है। देवकी का सबसे बड़ा दुःख यह है कि पुत्र तो उसने जाया पर उत्सव और बधाई यशोदा के द्वार पर होगी। माता होकर भी उसे मातृत्व के अधिकारों और सुखों से वंचित रहना पड़ा है। देवकी की मर्म-व्यथा को कुलशेखराळ्वार के शब्दों में अभिव्यक्ति मिली है—

"मैं बड़ी अभागिनी हूँ। अपने पुत्र को पालने में लिटाकर लोरी गाकर सुलाने का भाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ।[1]—सुन्दर शिशु को अपने हाथों में लेकर छाती से लगाकर आनन्दित होने का भाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ।[2]—यशोदा के यह पूछने पर कि तुम्हारा 'बाबा' कहाँ है, मेरा पुत्र अपनी कोमल उङ्गलियों से नन्द की ओर संकेत करेगा। उस समय नन्द को जो आनन्द प्राप्त होगा, उससे मेरे पतिदेव भी वंचित रहे।[3] बालक की विविध चेष्टाओं को देखकर आनन्द प्राप्त करने से मैं

'कुडंगुम पेरुम्पुम कोवाले दामोदरने माल।
उडंपुम कळिमन अम्बु वेंपरकळ्ड।
कळिय वेंदानिडै कानडी नोक्कळिन्दुम पिन।
कोडियेन एन पिळ्ळै पोलिकमेन एन्ने पावमे।"—परियाळ्वार तिरुमोळि १२९

---

१ 'एनवार कुत्तेन मकन तालेली एन्डु रु उन्नी एन वायिडै निरैप।
मालोत्तितिडुम तिरुविर्नैयिल्ला तामरैक कडैयायिन तायै।"
—पेरुमाळ तिरुमोळि ७-१

२ मडविरुप्पार वॊविर विरलनैत्तुम अकैयोडु पचमडु पालैयियिर्ंनन्त।
निउरुकै कळिन्दर्पोंगिमेन पत्तो। केशवा। केडुवेने केडुवेने।
—वही ७-२

३ "उरूतर्त पायनेदु दैप्प निन चोरैस विरलिनुम कोकळिनागुम काट्ट।
मगन पेदुतल मरिवर्नैयिल्ला मकळयीन वसुदेवन वंदीनम।
—वही, ७ ३

वंचित रह गयी। मैं बड़ी अभागिनी हूँ।—हे कृष्ण! तुम्हारी तोतली बातों को सुनकर आनन्द से तुम्हारे चेहरे पर चुम्बन अंकित करने का भाग्य यशोदा को ही प्राप्त है।[१] जब बालक धूलि-धूसरित शरीर से दौड़ता हुआ आकर पीछे से गले लगाता तो उसके स्पर्श मात्र से कितना आनन्द प्राप्त होता! हाय! मैं बड़ी अभागिनी हूँ।—हे कृष्ण! तुम्हारे खाने के पश्चात् रहने वाले अमृत-सम जूठन को खाने का भाग्य मुझे प्राप्त नहीं है।[२] तुम्हारे सौन्दर्य तुम्हारी चेष्टाओं को देखकर पुलकित होने का भाग्य मुझे प्राप्त नहीं। मैं बड़ी अभागिनी हूँ।"

कुलशेखराळ्वार के 'देवकी-विलाप' के पदों में भावाभिव्यक्ति का अधिक स्वाभाविक चित्रण उपलब्ध होता है। पुत्र वियोग में देवकी की मानसिक दशा का चित्रण करने में कुलशेखराळ्वार ने असीम भावुकता एवं कुशलता का परिचय दिया है।

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा और नन्द की मनोव्यथा को चित्रित करने वाले अनेक सुन्दर पद हिन्दी के कृष्ण भक्त-कवियों ने गाये हैं। आळ्वार भक्तों के उपलब्ध पदों में ऐसे पद कम हैं या नहीं के बराबर हैं, जो कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा और नन्द की मनःस्थिति का वर्णन करते हैं। (हो सकता है कि ऐसे पद भी उन्होंने गाये हों और वे नष्ट हो गये हों।) परन्तु हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने—विशेषकर सूर ने कृष्ण से बिछुड़ने पर यशोदा और नन्द के हृदय के भावों को अंकित करने में अनुपमेय सफलता प्राप्त की है।

अक्रूर मथुरा से कृष्ण और बलराम को लेने आये हैं। यशोदा पुत्रों के मथुरा गमन की बात सुनते ही व्याकुल हो गई। जब अनुभव करती है कि कृष्ण अक्रूर के साथ चले ही जायेंगे तो हताश होकर कहने लगती है—

"जसोदा बार-बार यों भाखै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारो चलत गोपालहिं राखै।

---

१ 'इळमै इन्बत्तै इन्रु एन तन् कण्णाल् परुगुवेनुक्कु इयाळ तायेन निनैन्द।
वळर्विन् सिरु कैयाल विलग्ग पारियेनेनताची निरन्तारे।"
"मडुगुम सिल सिर मेट्टुमिल पुट्टिपकलारो मलिलायिडे पुत्तम।
ततनुम निर्वाविशेष चोगुम पेहुमेन एन्नाम वैव मवे यशोद पेट्रवळ।"
—पेरुमाळ तिरुमोऴि, ७-४ और ५

२ 'तम्मनामरै कण्णने। कण्णा। तवल्लेउम् वळमोर गरियार।
मण्णित्त चेवोरीयारी कम्नु एन तर मार्विर मलि लोट्टुमन कम्लो।
कण्णमैयिर के विरनमेल व वारिवाय रोक्क धरिडिये रन विनियम।
उण्णपेट्ट्रमेन यो। कोट्टु रिनेवम पुन्न धव्य पेट्टु एम्मायो।
—वही, ७-६

कहा करौं मेरे छगन मगन कौं नृप मधुपुरी बुलायौ ।
सुफलक सुत मेरे प्रान हरन कौं काल रूप ह्वै आयौ ॥
बरु ए गोधन हरौ कंस सब मोहिं बन्दि लै मेलौ ।
इतने ही सुख कमल नैन मेरी अँखियन आगे खेलौ ।।"[1]

जब कृष्ण मथुरा जाने के लिए रथ पर आरूढ़ हो गये तब यशोदा जो विलाप करती है, वह अतीव मर्म स्पर्शी है ।

"मोहन नैकु बदन तन हेरौ ।
राखौ मोहिं नात जननी कौ मदन गुपाल लाल मुख फेरौ ।
पीछे चढ़ौ बिमान मनोहर, बहुरौ यदुपति होत अन्हेरौ ।
बिछुरत भेंट देहु ठाढ़े ह्वै निरखौं घोष जनम कौ खेरौ ।"[2]

जब नन्द मथुरा से लौट आये तब उनके साथ कृष्ण और बलराम को न देखकर यशोदा वैसे ही मूर्छित होकर गिर पड़ी जैसे तुषार के पड़ने से सरोवर का कमल कुम्हला जाता है । यशोदा नन्द पर भी बिगड़ीं और दशरथ का उदाहरण देकर उन्हें धिक्कारने लगीं ।[3] नन्द भी यह सुनकर व्याकुल हो गये और मूर्छित होकर गिर पड़े । सूर ने वात्सल्य-स्नेह में माता-पिता—दोनों को ही विभोर कर दिया है ।

कभी नन्द यशोदा से कहते हैं—

"तब तू मारिबोई करति रिसनि
आगे कहि जो आवत अब लै भाँडे भरति ।

कभी यशोदा नन्द से कहती है —

'सूर नन्द फिर जाहु मधुपुरी सुत करि कोटि यतन ॥'

और—

"नन्द ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ ।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राइ ।"[4]

यशोदा को पुत्र-वियोग इतना असह्य रहा है कि वह ब्रज छोड़कर मथुरा में देवकी और वसुदेव की दासी बनकर रहने को तैयार है । प्रेम में आत्म-विस्मृति की

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ३६११ पृ० १२०१
२ वही ( ) पद सं० ३६०८ पृ० १२७८
३ वेदना के आधिक्य के कारण यशोदा इस बात को भूल जाती हैं कि स्वयं नन्द भी विवश हैं और उनकी भी वैसी ही दशा है । वह उन्हें भी भर बुरा-भला कहती हैं—
"जसुदा कान्ह-कान्ह कै बूझै ।
फूटि न गईं तुम्हारी चारौं, कैसे मारग सूझै ।—आदि ।"
— सूरसागर पद सं० ३७२२
४ सूरसागर, पद सं० ३७८१ पृ० ११४१

भावना गहरी हो जाती है और मिलन की उत्सुकता का उद्रेक समस्त माया का तिरोभूत कर देता है —

हौं तो माई मथुरा ही पै रैहौं।
दासी ह्वै वसुदेव राइ की दरसन देखत रैहौं।
मोहि देखि कै लोग हँसेंगे अरु किन कान्ह हँसै।
सूर असीस जाइ देहौं जनि न्हातहु बार खसै।[1]

अन्तिम शब्दों में मातृ हृदय का समूचा वात्सल्य भाव एवं करुणा उमड़ पड़ा है—पुत्र कहीं भी हो सकुशल रहे, यही माता की कामना है।

पुत्र के प्रिय खाद्य पदार्थों को देखते ही उसकी याद का आना स्वाभाविक ही है। माता को यह भी विश्वास नहीं होता कि उसके बिना अन्य कोई उसके पुत्र के खाने-पीने आदि की समुचित व्यवस्था कर सकता। यह अविश्वास वात्सल्य जनित ही है।

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।।
प्रातकाल उठि माखन-रोटी को बिनु मांगें दैहै।
को मेरे वा कान्ह कुँवर को छिनु-छिनु अंकम लैहै।।[2]

मथुरा को जाता हुआ कोई पथिक मिल जाता है तो यशोदा उससे कहती है कि कृष्ण बड़ा संकोची है देवकी से मांगने में उसे लज्जा का अनुभव होगा। अतः देवकी के पास मेरा सन्देश पहुँचा दो:—

सँदेसो देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की दया करति ही रहियौ।।
जदपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैते माखन रोटी भावै।।
जोइ जोइ मांगत सोइ-सोइ देत क्रम-क्रम करि कै न्हाते।[3]

सूर के उपर्युक्त पद में माता यशोदा की भावना के साथ उसका दर्द भी प्रकट हुआ है।

शृंगार

कृष्ण और गोपियों के प्रेम का विकास प्रकृति के सुन्दर वातावरण में हुआ है। बाल्यावस्था में साथ-साथ खेलने वाले सरल प्रकृति वाले सखा और सखी किशोरावस्था के आकर्षण कौतूहल जिज्ञासा आदि भावों से गुजरते हुए यौवन काल में प्रिय और प्रिया बन जाते हैं। उनके प्रणय की निष्पत्ति में माधुर्य और सौन्दर्य

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ४०८८ पृ० ११४१
२ वही (,,) पद सं० ४०९९ पृ० ११४२
३ वही ( ) पद सं० ४०९३ पृ० ११४३

प्रियता दोनों का योग है। माखन-चोर कृष्ण गोपियों के चितचोर बन जाते हैं। कृष्ण और गोपियों की प्रेम-लीलाओं का वर्णन पर्याप्त विस्तार के साथ हमारे आलोच्य कवियों ने प्रस्तुत किया है। प्रेम के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग के न जाने कितने ही आकर्षक और सजीव चित्र इनके काव्य में देखने को मिलते हैं। प्रेम की संयोगावस्था के मनक प्रसंगों की सृष्टि कर कृष्ण भक्त कवियों ने प्रेम के स्वाभाविक विकास को दर्शाया है और विभिन्न मनोदशाओं का मार्मिक चित्रण उपस्थित किया है।

आळ्वार भक्तों के काव्य के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में सम्यक् हम यह बता चुके हैं कि उनके काव्य में कृष्ण-कथा क्रम-बद्ध रूप से उपलब्ध नहीं है, जैसे कि सूर आदि हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में। जिस प्रकार हिन्दी में सूर आदि के काव्य में मान-लीला, दान-लीला, पनघट-लीला, रास-लीला जैसे प्रसंगों को लेकर, प्रत्येक प्रसंग का अत्यधिक विस्तार से वर्णन किया गया है, उस प्रकार आळ्वार भक्तों ने उन प्रसंगों को विस्तार से नहीं लिया। परन्तु उन्होंने गोपियों के कथन द्वारा तथा कृष्ण और गोपियों की प्रेम-पीड़ित अवस्थाओं के चित्रण द्वारा उन सब भाव-स्थितियों का अंकन किया है। एक बात और द्रष्टव्य है कि राधा और कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का जितना शृङ्गारिक वर्णन विस्तार से राधा वल्लभीय तथा हरिदासी सम्प्रदायों के कवियों के काव्य में मिलता है, वैसा आळ्वार-काव्य में नहीं। राधा को प्राधान्य परवर्ती कृष्ण-साहित्य में ही अत्यधिक मिलता गया। आळ्वारों ने कृष्ण और नप्पिन्नै ('राधा' का तमिळ नाम) की कुछ प्रेम-लीलाओं की ओर संकेत मात्र किया है। आळ्वार-काव्य में प्रेम की वियोगावस्था का ही अधिक विस्तार है। फिर भी शृङ्गार के संयोग पक्ष के भी कुछ अच्छे चित्र मिल जाते हैं।

कृष्ण का सौन्दर्य वैसे ही ब्रज में सर्वकालीन चर्चा का विषय था, फिर उनकी कौमार्य जन्य चपलता और वेणु-वादन-निपुणता ने मिलकर गोपियों पर टोना ही कर दिया। कृष्ण के सौन्दर्य का प्रभाव बड़ा ही व्यापक था। कृष्ण के बाह्य सौन्दर्य का कितना गहरा प्रभाव गोपियों पर पड़ा उसका अनुमान पेरियाळ्वार की एक गोपी के शब्दों से हो सकता है—'मुरली बजाते हुए गोपों के पीछे वन से लौटने वाले श्याम के मोहक रूप ने मुझ पर क्या जादू कर डाला ? हे सखि ! मैंने ऐसा कोई युवक नहीं देखा जो सौन्दर्य में श्याम की बराबरी कर सके। स्वयं मैं नहीं जानती कि मोहन के रूप लावण्य ने मुझ पर क्या जादू डाला है—हाथ से मेरे कंगन गिर रहे हैं। मेरे वस्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे हैं और मेरे स्तन भी मेरे वश में नहीं हैं।'[1]

---

१ कुरैकुल प्पालिरै काल पिराम् कोवलनराय् कुळलूदिवूदि
कन्रु_कल मेय्त्तु_तन तोळरोडु कलन्दु बरुवानै तेर्वयिल् कन्डु
एन्रु_म इवनैयोप्पारै नंगाय कन्डरियेनडी। वन्दु काणाय
ओन्रु_म निल्ला वळै कळन्डु तुकिलेणाळ मुलैयुम एन वसमल्लव।
—पेरियाळ्वार तिरुमाळी, ३-४ ४

स्याम के शरीर के प्रत्येक अंग से छवि फूटी पड़ती है। गोपियाँ उनके सौन्दर्य पर अपना सर्वस्व वारने को तैयार हैं—

तरुनी निरखि हरि-प्रति अंग।
कोउ निरखि नख-इन्दु भूली कोउ चरन-जुग-रंग।
कोउ निरखि नूपुर रही थकि कोउ निरखि जुग जानु।
कोउ निरखि जुगजंघ-सोभा करति मन-अनुमानु।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचिकारि।
कोउ निरखि हृदनाभि की छबि डार्यौ तन-मन वारि।[1]

पेरियाळ्वार की एक गोपी कहती है— कृष्ण के कमल-दल-लोचन चारु कपालों पर डोलते चंचल कुण्डल अरुण अधरों पर थिरकती हुई माधुर्य-वाहिनी मुरलिका नीले मेघ-सा बदन वर्ण कमल-कोमल-चरण—सब कुछ इतने मादक हैं कि इनके सौन्दर्य की मादकता से मैं मत्त हो गया हूँ।[2]

सूर की गोपियाँ भी कृष्ण की सौन्दर्य-सुरा के खुमार में मस्त हैं—

तरुनी स्याम रस मत वारि।
प्रथम जोबन-रस चढ़ायौ अतिहि भई खुमारी॥
दूध नहिं दधि नहीं माखन नहीं रीतो माट।
महा-रस अंग अंग पूरन, कहाँ घर कहँ बाट॥
मातु-पितु गुरुजन कहाँ के कौन पति को नारि।
सूर प्रभु के प्रेम-पूरन छकि रही ब्रजनारि॥[3]

कृष्ण के सौन्दर्य का बड़ा ही सुन्दर वर्णन गदाधर भट्ट ने प्रस्तुत किया है—

मोहन-बदन की सोभा।
जाहि देखत उठति सखि भामिनि की गोभा॥
नैन चीर चकोर चपु-चपु चलित मिल रास।
प्रिया-आनन चन्द्रिका-मधुपान-रस-आस॥

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० १२१० पृ० ८८६
२ "तन सिरमेमि सिमोळी सिन्ळ
नील मन मदु नि मैतिरताळिमगु
कवेस वेलामर्र कन मिलिर
कुम्कुरि इमपाडी कुमिलु मामरोंडु
धामित पडरिगु मावप्पिल्दै
पच्चु कच्चु तन मळ्ळ वणिक्की।
—पेरियाळ्वार तिरुमाळि १।८।३
३ सूरसागर (सभा), पद सं० २२८२, पृ० ८३१

बंसिका कलहंसिका मुख कमल-रस-राची ।
पवन परसत अलक अलिकुल कलहु-सी माची ॥
ललित लोल कपोल कुण्डल मधुर मकराकार ।
जुगल छवि सौदामिनी जनु नचत नव-घनसार ॥
विमल अलक सुढार मुक्ता नासिका दीनों ।
मैन आसन पर मधुर-सुर पंछी-सो कीनों ॥
भौंह सोहनिका कहीं पर भाल कुमकुम बिन्दु ।
स्याम बादर-रेख परि मनु उयौहि अम्बी इंदु ॥
लख्यो मन ललचाइ तातें टरत नहिं टार्यो ।
अमित अद्भुत माधुरी पर 'बंसीधर' वार्यो ॥[1]

मीराबाई भी गोपी-रूप में अपने प्रियतम "गिरधर नागर' की 'मोहन मूरत' का वर्णन इस प्रकार करती है—

निपट बंकट छब अटके ।
म्हारे नैणा निपट बंकट छब अटके ।
देख्यां रूप मदन मोहन री पियत पीयूष न मटके ।
बारिज भवां अलक मंतवारी नैण रूप रस अटके ।
टेढ्यां कट टेढ़े करि मुरली टेढ्यां पाग लर लटके ।
मीरा प्रभु रे रूप लुभाणी गिरधर नागर नटके ॥[2]

श्याम के सौन्दर्य और हावभाव ने गोपियों के हृदय को मुग्ध कर दिया। गोपियों का मन अब घर में नहीं लगता किसी काम-काज में उनकी रुचि नहीं रहती। सोते-जागते उनका मन कृष्ण में ही लगा रहता है। हरि रस ने उन्हें इतना मतवाला बना दिया है कि श्याम के बिना और कुछ अच्छा नहीं लगता। जैसे ही कृष्ण की मुरली की मधुर मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है वैसे ही गोप-बालाएं सुध बुध खो बैठती हैं, साज-शृङ्गार तक भूल जाती हैं कपड़े और गहने उलटे पहन लेती हैं। उनकी बेबसी देखते ही बनती है—

करत शृङ्गार युवती भुलाहीं ।
अंग-सुधि नाहीं उलटे बसन धारहीं एक एकनि कछू सुरति नाहीं ।
नैन अंजन अधर आंजहीं हृदय सों श्रवन ताटंक उलटे संवारें ॥
सूर-प्रभा-मुख ललित वेणु-धुनि श्रवन सुनत चलीं देहाभ्यास न पारें ।[3]

हिन्दी के अष्टछापी कवियों ने कृष्ण की मोहिनी मुरली पर सैकड़ों पद बनाए हैं जिनमें गोपियों के शृङ्गारिक भावों के रङ्गीन चित्र अंकित हैं। तमिळ में

---

१ व्रजमाधुरी सार (सं० वियोगी हरि) पृ० ७५ एकादश संस्करण
२ मीरा की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० १० पृ० १०३
३ सूरसागर (सभा) पद सं० १६१६, पृ० ६०६

रूपरासि सखि चतुर सिरोमनि अंग-अंग सुकुमारी ॥
प्रथम उबटि मज्जन करि सज्जित नील बरन तन सारी ।
गुंथित अलक तिलक कृत सुन्दर, सेंदुर माँग सँवारी ॥
मृगज समान नैन अंजन जुत रुचिर रेख अनुसारी ।
जटित लवंग ललित नासा पर, दसनावली कृतकारी ॥
श्रीफल उरज कसूंभी कंचुकी, कसि ऊपर हार छबि न्यारी ।
कृस कटि उदर गंभीर नाभि पुट जघन नितम्बनि भारी ॥
मनौं मृनाल भुजन भूषित भुज स्याम अंस पर डारी ।
हित हरिवंश जुगल करनी गज विहरत बन पिय प्यारी ॥[2]

---

१ "दोवनर चिरनिवर इळ मोंपे कुरुकालिप्प उडलुळ्किडम्पु एंडुम
नावलुम कडम्पु वंदिर मार्तेयालि वम्पु वसिरम्पु मिनुमरे ।"

—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴी १ १ १

और—

"मडवलिल वट्टोडु माल सिर्य मोसे
मेरेमारतन मतर कुन्तल वरिळ
पर्व वैक्रिळ मोर वैमाल कुविल पट्टि
मोलमीचोळरिळमोड मिनुमरे ।"

—वही १ ६ २

२ श्री हित चौरासी—पद सं० ५२

बंसिका सम्मोहिका मुख कमल-रस-राची ।
पवन परसत पलक अलिपुन्ज कलहु-सी माची ॥
ललित लोल कपोल कुण्डल मधुर मकराकार ।
चुपत सिसु सौदामिनी मनु नचत नट-नटसार ॥
विमल अलक सुढार मुक्ता नासिका दीनौं ।
अंध आसन पर असुर-गुरु ज्यों-सौ कीनौं ॥
भौंह सोहनिका कहीं पर लाल कुमकुम बिन्दु ।
स्याम बादर-रेख परि मनु लसहि जन्यौ इंदु ॥
जन्यौ मन ललचाइ तातें हटत नहिं हार्यौ ।
प्रमित अद्भुत माधुरी पर 'पद्माकर' वार्यौ ॥[1]

मीराबाई भी गोपी-रूप में अपने प्रियतम "गिरधर नागर" की 'मोहन मूरत' का वर्णन इस प्रकार करती है—

निपट बंकट छब अटके ।
म्हारे नेणा निपट बंकट छब अटके ।
देख्यां रूप मदन मोहन री पियत पीयूख न मटके ।
बारिज भवां अलक मंतवारी नैण रूप रस अटके ।
टेढ्या कट टेढ़े करि मुरली, टेढ्या पाग लर लटके ।
मीरा प्रभु रे रूप लुभाणी गिरधर नागर नटके ॥[2]

श्याम के सौन्दर्य और सहवास ने गोपियों के हृदय को मुग्ध कर दिया । गोपियों का मन अब घर में नहीं लगता किसी काम-काज में उनकी रुचि नहीं रहती । सोते-जागते उनका मन कृष्ण में ही लगा रहता है । हरि रस ने उन्हें इतना मतवाला बना दिया है कि श्याम के बिना और कुछ अच्छा नहीं लगता । जैसे ही कृष्ण की मुरली की मधुर मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है वैसे ही गोप-बालाएं सुध बुध खो बैठती हैं, साज-शृङ्गार तक भूल जाती हैं, कपड़े और गहने उलटे पहन लेती हैं । उनकी बेबसी देखते ही बनती है—

"करत शृङ्गार मुरली सुनाहीं ।
अंग-सुधि नाहीं उलटे बसन धारहीं एक एकहिं कछू सुरति नाहीं ।
नैन अंजन अधर आजहीं हरष सौं, श्रवन ताटंक उलटे सँवारैं ॥
सूर-प्रभा-मुख ललित वेनु-धुनि श्रवन सुनत चलीं बिहाल अंचल न धारैं ।"[3]

हिन्दी के अष्टछापी कवियों ने कृष्ण की मोहिनी मुरली पर सैकड़ों पद बनाए हैं जिनमें गोपियों के शृङ्गारिक भावों के रङ्गीन चित्र अंकित हैं । तमिळ में

---

१ ब्रजमाधुरी सार (सं० वियोगी हरि) पृ० ७८ एकादश संस्करण
२ मीरां की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० १० पृ० १ १
३ सूरसागर (सभा) पद सं० १६१६, पृ० ६०६

पेरियाळ्वार के कृष्ण पर मुरली-प्रभाव के भी चित्रण हैं। मुरली-नाद सुनते ही दौड़ पड़ने वाली गोपियों का वर्णन सुनिये—'मुरली का मधुर नाद सुनाई पड़ता है। गोप बालाओं के मन कौतूहल वश उमर आए हैं। वस्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे हैं। वे किसी भी प्रकार की लोक-मर्यादा या लज्जा की परवाह न कर कृष्ण-मिलन के लिए दौड़ पड़ती हैं। उनके केश स्वर्ण पाश के बन्धन से मुक्त होकर डोल रहे हैं। अस्त-व्यस्त होने वाले अपने वस्त्रों को हाथ में लिए वे दौड़ती हैं। बड़ी उत्सुकता से मुरली-नाद की दिशा में वे दौड़ पड़ती हैं।'[1]

केवल गोपियाँ ही कृष्ण की रूप-माधुरी पर विमोहित नहीं हैं बल्कि कृष्ण भी गोपियों के लावण्य पर मुग्ध हैं। गोपियों में एक अपूर्व रूपा 'राधा' नाम की गोपी भी थी। कृष्ण ने खेलते-खेलते जहाँ उस पर अपना जादू डाला वहाँ राधा की मोहिनी छवि ने कृष्ण को अपने आकर्षण-पाश में आबद्ध कर लिया। उस 'गौर बरन' 'नैन-विशाल' 'नाम लिए गोरी' राधा का नखशिख-वर्णन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने कई पदों में अंकित किया है। (आळ्वार के पदों में राधा के मोहक-मादक रूप का अधिक वर्णन नहीं मिलता।) श्री हित हरिवंश के निम्नलिखित पद में रूप की रानी राधा का शृङ्गार प्रसाधन सहित वर्णन देखिए—

आजति श्री वृषभानु दुलारी।
रूपराशि अति चतुर शिरोमणि अंग-अंग सुकुमारी॥
प्रथम उबटि मज्जन करि सज्जित नील बरन तन सारी।
गुंथित अलक तिलक कृत सुन्दर सेंदुर मांग संवारी॥
मृगज समान नैन अंजन जुत रुचिर रेख अनुसारी।
जटित लवंग ललित नासापर दसनावली कृतकारी॥
श्रीफल उरज कंचुकी कसि ऊपर हार छबि न्यारी।
कृश कटि, उदर गंभीर नाभि पुट जघन नितम्बनि भारी॥
मनौ मृणाल भूषन भूषित भुज श्याम अंस पर डारे।
हित हरिवंश जुगल करनी गज विहरत बन पिय प्यारी॥[2]

---

१ 'कोवलर शिरुमियर इळ कोंगै कुदुकलिप्प उडलुळविळ्न्दु एंगुम
कावलुम कडन्दु कयिरु मालैयागि वन्दु कविळ्न्दु निन्ड्रनरे।'
—पेरियाळ्वार तिरुमोळी ३.६.१

और—

'मडमयिल कण्डोडु मान पिणै पोले
अंकमारवन्न मलर कुमलर चरिय
उडै नेगिळ ओर कैयाल तुगिल पट्रि
ओल्कियोडरिक्कणोड निन्ड्रनरे।'
—वही, ३.६.२

२ श्री हित चौरासी—पद सं० ४२

स्याम नागर हैं तो राधा नागरी। दो शरीर रहते हुए भी दोनों एक प्राण हैं। दोनों के परस्पर आकर्षण का वर्णन सूर के एक पद में देखिए—

> चितै रही राधा हरि को मुख।
> भृकुटी बिकट बिसाल नैन लखि मनहिं भयौ रति पति दुख॥
> उतहिं स्याम एकटक प्यारी-छबि अंग-अंग अवलोकत।
> रीझे रहे इत हरि उत राधा अरस परस दोउ मोकत॥
> सखियनि कह्यौ वृषभानु-सुता सौं देखे कुँवर कन्हाई।
> सूर स्याम येई हैं, ब्रज में जिनकी होति बड़ाई॥[1]

इस आकर्षण के पश्चात् संयोग-पक्ष के जितने भी क्रीड़ा-विलास हो सकते हैं हिन्दी-कृष्ण भक्त कवियों ने सभी लाकर एकत्र कर दिये हैं। पनघट-प्रस्ताव कुञ्ज विहार यमुना स्नान जल-केलि समय पीठ-मर्दन गोदोहन के समय राधा के मुख पर कृष्ण का दूध की छींटे फेंकना भरे आँगन में संकेत द्वारा वार्तालाप करना, घर से पीछे खरिक और वन में मिलना हिंडोले पर झूलना रास-नृत्य आदि न जाने संयोग के कितने ही प्रसंग हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने ढूँढ़-ढूँढ़कर रचे हैं। इन प्रसंगों के चित्रण में हिन्दी-कवियों ने अद्भुत कुशलता दिखाई है। (विस्तार भय से हम इन सब प्रसंगों का वर्णन नहीं करते।) देखिए, गुरुजनों के बीच बैठी हुई राधा का कृष्ण से संकेत द्वारा वार्तालाप करने का वर्णन सूर ने कितने अद्भुत ढंग से किया है—

> स्याम अचानक आइ गये री।
> मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी देखत ही मेरे नैन नए री॥
> तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी बेंदी सौं कर परस कियो री।
> आपु हँसे उत पाग मसकि हरि, अन्तरयामी जानि लियो री॥
> लै कर कमल अधर परसायो, देखि हरषि पुनि हृदय धर्यौ री।
> चरन छुए दोउ नैन लगाए मैं अपने भुज अंक भर्यौ री॥[2]

राधा और कृष्ण के स्वच्छन्द विहार का एक दृश्य देखिए—

> नवल किसोर नवल नागरिया।
> अपनी भुजा स्याम-भुज ऊपर स्याम-भुजा अपने उर धरिया॥
> क्रीड़ा करत तमाल-तरुन तर स्यामा स्याम उमँगि रस भरिया।
> यों लपटाय रहे उर उर ज्यों मरकत मनि कंचन में जरिया॥
> उपमा काहि देउँ को लायक मन्मथ कोटि वारने करिया।[3]

---

१ सूरसागर (सभा) पद नं० २१८३ पृ० ८११
२ वही ( ) पद नं० २४१७ पृ० ९०२
३ वही ( ) पद नं० ११०६ पृ० ९०२

संयोग शृङ्गार का एक नग्न चित्र देखिए—

हरषि पिय प्रथम तिय अंक लीन्हीं।
प्रिया बिनु बसन करि उलटि धरि भुजनि भरि सुरति रति पूरि,
पति निबल कीन्ही॥
अपनी कर गहनि गलत भुरवारहीं कबहुँ बाँधे प्रतिहि लमत लोभा।
कबहुँ मुख मोरि चुम्बन देत हरष ह्वै अधर भरि दसन बहु उनहि सोभा।
बहुरि उपजी काम राधिका पति स्याम मगन रस-ताम नहिं तनु सम्हारे।
सूर प्रभु-नवल-नवला नवल कुञ्ज गृह अत नहिं लहत दोउ रति बिहारे॥[1]

इस प्रकार के नग्न चित्र हिन्दी कृष्ण-काव्य में कई स्थानों पर मिलते हैं जिनमें कहीं प्रथम समागम का वर्णन है कहीं विपरीत रति का कहीं सुरति-अन्त का और कहीं शृंगार-सज्जा का। हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने संयोग की अनेक प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण किया है—(जो आळ्वार-काव्य में उपलब्ध नहीं होता)।

मान अथवा रूठने की अवस्था—प्रेम का एक स्वाभाविक अंग है। संयोग के बाद जो प्रेम का रूप होता है उसमें नायिका को रूप-गर्विता के रूप में दिखाया जाता है। मान की अवस्था में नायिकाओं का ही रूठना भारतीय प्रेम-परम्परा में दिखाया गया है। इस प्रेम-परम्परा के अनुसार भक्त-कवियों ने भी गोपी-कृष्ण-प्रेम में जब मान भाव का चित्रण किया है तब गोपियों को मानिनी-रूप दिया है। तमिळ के कुलशेखराळ्वार के कुछ पदों में गोपियों के मान भाव का सुन्दर चित्रण हुआ है। एक गोपी कृष्ण से कहती है—

"जब मैंने आलिंगन की इच्छा प्रकट की थी तो तुमने मुझे यमुना-तट पर आने को कहा। तुम्हारी बात पर विश्वास कर मैं भी तुम्हारी प्रतीक्षा कर शरीर को छेदने वाली ठंडक में सारी रात यमुना-तट पर खड़ी थी। पर तुम नहीं आये—बिजली सम कमर वाली एक ललना को लेकर अंधेरे में छिप छिप कर तुमको जाते हुए मैंने देखा। अब उसको छोड़कर यहाँ क्यों आय हो? यहीं जाओ।[2]

---

1 सूरसागर (सभा) पद सं० २६०९ पृ० ९१४

2 माधु तळ्ळुवतकु' मार्पोधिम्मी मरिमतारिमी दन तम पोर्थ्य केट्टु
हूर मलंपोल मनिकूडलोड़डी कुसि मधु विम्म मर्मुर्ते माकुम
मार मधधुम्ड्रिल घुमर निन्ट्रु न बाजुवेसा। उन वस्तु मात्।
मिसोल मुनिवडयार्तकोण्डु कीविरळ वाय एम तम कीतिमुडे
कोमोतवार्ड कुनुकुवनिट्टु मोकिम्ड्रपोडु नाम कम्बु निन्ट्रु न
कणुड़वई मी कन्यानिट्टु कौकिकिरिम्मुडुम कन्येनिन्ट्रु न
एम्बुरुकु मवर्नंबिट्टु इंकु वन्ताय? इमम मंदि तव नम्बी। मीये।'
—पेरुमाळ तिरुमोली

खंडिता-भाव कुलशेखराळ्वार के एक पद में देखिए। एक गोपी कृष्ण से कहती है— तुमने मुझे कुञ्ज में आने को कहा था। जब मैं वहाँ आयी तो मैंने देखा कि तुम किसी दूसरी के प्रेम-पाश में आबद्ध थे। मुझे देखकर तुम घर-घराने लगे। जब तुम अगली बार मेरे पास आओगे तब मैं तुम्हारी 'बेवफाई' का 'उचित बदला' दूँगी।"[1]

हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने भी मान अवस्था का सुन्दर चित्रण किया है। खंडिता-गोपियों की मनोदशा की अभिव्यक्ति हिन्दी कवियों ने पर्याप्त सूक्ष्मता से की है।

एक गोपी शाम से ही श्याम के लिए अतिशय प्रतीक्षाकुल है और सारी रात बैसी विह्वलता से बिता देती है। उसकी विह्वलता स्वाभाविक है क्योंकि कृष्ण उसे स्वयं वचन दे गये हैं। जब कृष्ण सवेरे रति चिह्न लिये पधारते हैं तो वह और कुछ नहीं कर दर्पण भर देख लेने को कहती है। जब कृष्ण संकोच के मारे उधर नहीं देखते तो वह गोपी सुन्दर शब्दों में व्यंग्य करती है—

> क्यों मोहन दर्पन नहिं देखत।
> क्यों परसो पग-नखनि करोवत क्यों हम तन नहिं पेखत ॥
> क्यों ठाढ़े बैठत क्यों नाहीं कहा परी हम चूक।
> पीताम्बर नहिं कहाँ बैठिये रहे कहाँ हो मूक ॥
> उघरि गयौ उर तै उपरैना नख-छत बिनु गुन माल।
> सूर देखि लटपटी पाग पर, जावक की छवि लाल ॥[2]

तथा

> ऐसी कहाँ रंगीले लाल।
> जावक सौं नहैं पाग रंगाई रंगरेजिनी मिली कोउ बाल।
> अधर रंग कपोलनि दीन्हौ अधर अधर भए स्याम रसाल।
> माला कहाँ मिली बिनु गुन की उर-छत देखि भई बेहाल ॥
> सूर स्याम छवि सबै बिराजी यहै देखि मोहन जंजाल ॥[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने प्रेम की संयोगा वस्था के विविध प्रसंगों में विविध मनोदशाओं और भाव-स्थितियों की अभिव्यक्ति

---

१ 'एर्प बरक बेमरुरुरितिरुदु इन मवर मुलैमेमिन पवार मीळल
मरिय पवर्दे पुणरप्पुरुदु मदुम्नै वन्दु उळरा वैदियत्ताय
पीप्पिरवाईदै कैयिल तोळी पोय्यक्कम काट्टी नी पोविपेलुम
इप्पम एन कयवरत् इ कोव माळ वरदियैल एन चिनम तीर्वन नाने।"
—पेरुमाळ तिरुमोळी ६ ८
२ सूरसागर (सभा) पद सं० ३१०२ पृ० १ ८९
३ वही („), पद सं० ३१०३ पृ० १०८९

अत्यन्त कुशलता से की है। आळवार-साहित्य में प्रेम की संयोगावस्था के प्रसंगों का विस्तार बहुत कम है। पर जो कुछ भी चित्र मिलते हैं, वे संयोग की परिस्थितियों में पात्रों की मनोदशाओं को चित्रित करने में सफल हुए हैं।

विप्रलम्भ

संयोग की अपेक्षा वियोग शृङ्गार को साहित्यिकों ने अधिक उच्च स्थान दिया है। क्योंकि जहाँ संयोग में प्रिय-सान्निध्य से प्राप्त सुख हृदय की अनेक सात्विक वृत्तियों को तिरोहित किये रहता है, वहाँ वियोग उन्हें उत्सुक कर भावों के प्रसार के लिये समस्त विश्व का क्षेत्र खोल देता है। संयोग में प्रेमी-युगल एकान्त चाहते हैं, उन्हें अन्य की सहानुभूति की आवश्यकता नहीं रहती पर वियोग में उनकी आत्मा का प्रसार हो जाता है और वे प्राणिमात्र के साथ ही नहीं जड़ पदार्थों के साथ भी तादात्म्य स्थापित करते हैं। वियोगी व्यक्ति अपनी स्थिति को भूलकर उस सामान्य भाव-भूमि पर आ जाता है जहाँ से उसकी दृष्टि प्रत्येक छोटी-मोटी वस्तु की सत्ता पर जाती है। उसके हृदय की अनुभूति तेरस का साधन न मिलने के कारण घनीभूत और तीव्र होती चली जाती है। समस्त संसार में उसे उसका प्रिय ही दीख पड़ता है, इसी कारण से सहृदय कवियों ने संयोग की अपेक्षा वियोग को ही अधिक पसन्द किया है।[1]

आळ्वार भक्तों के काव्य में प्रेम के वियोग-पक्ष का ही अत्यधिक विस्तार है। आलोच्य हिन्दी-कृष्ण-काव्य में भी संयोग शृङ्गार के समान ही वियोग का व्यापक वर्णन मिलता है।

कृष्ण के वियोग में गोपियों की दशा दयनीय हो गई है। ब्रज में सब कुछ पहले की ही चीजें हैं फिर भी वह गोपिया के लिए पहले का ब्रज नहीं लगता। जब ब्रजपति ही नहीं तो ब्रज बालाओं का ब्रज भी सूना है। उन बेचारियों के औसान ही नहीं बनते। सूर का एक पद देखिए—

बिचारत ही लागे दिन जान।
तुम बिनु नंद-सुवन इहिं गोकुल निसि भई कल्प समान॥
मुरली शब्द, बन धुनि की गुंजनि सुनियत नाहीं कान।
चलत न रथ पहि रहौ स्याम की अब लागी पछितान॥
है कोउ जाइ कहै माधौ सौं, धीरज धरहिं न प्रान।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, कुरत नहीं औसान॥[2]

गोपियाँ अपना सर्वस्व कृष्ण पर वार बैठी थीं। उनके वियोग में उनका तन मन यौवन—सब विषधर की फुङ्कार से समाप्त है। कालिदास के प्रियेषु सौभाग्यफला

---

१ सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा पृ० ११९
२ सूरसागर (सभा) पद सं० ३८११ पृ० १३२४

हि शास्त्र' के अनुसार रमणी का सौन्दर्य और शृङ्गार प्रिय को लुभाने के लिए होता है। जब प्रिय ही नहीं तो शृङ्गार ही कैसा ? तिरुमंगै आळ्वार के एक पद का भाव है— विरहिणी नायिका वियोग-व्यथा में अपनी सखी तक के लिए मृदु मुस्कान नहीं करती। अपने सुन्दर स्तनों पर चन्दन नहीं लगाती। अपने मीन-नयनों में अंजन नहीं लगाती अपने कुन्तल को सौरभ-युक्त सुमनों से सजा नहीं सजाती। कुछ भी शृङ्गार नहीं करती। कुछ हास विलास नहीं करती। अपने प्रिय तोते तक को खाना नहीं खिलाती।[1]

ठीक यही भाव सूरदास के निम्न पद में व्यक्त है

मुख तमोर नैननि नहिं अंजन तिलक ललाट न दीन।
कुचित बरन अलके अति रूखो विविधित है तन छीन॥
अन्न-तृषा तीनों तन त्यागे—विरही चातक मीन।
सूरदास सीतलि नु हृदय में बिन पिय परबस कीन॥[2]

मानव-हृदय के भावों का प्रकृति के साथ सभी भारतीय कवियों ने सामंजस्य स्थापित किया है। प्रकृति मनुष्य के सुख-दुःख में हँसती और रोती है। कोकिल को सदा 'कुहू कुहू' करते हुए देखकर विरहिणी आण्डाळ समझती है कि वह भी किसी के वियोग में है।[3] नम्माळ्वार की विरहिणी अशान्त सागर-लहरों को देखकर यह समझती है कि वे भी किसी के वियोग में तड़प रही हैं। चकवा के चिल्लाने में उसके प्रिय-वियोग की वेदना ही नायिका को सुनाई पड़ती है।[4] इसी प्रकार सूर की

---

१ "मुळ्ळम्मु मुरुवल तोळियर्कु अरुळाळ।
मुलै मेल् चान्दु कोळ्ळु अणियाळ।
कुळ्ळम्मु कुवळै कण्णिने एळुताळ।
कोल-नन् मलर् कुळर्कु अणियाळ। —पेरिय तिरुमोळि २ ७-२
और—
"पल्लोडु पवळमरुवाळ नकिळियुम।
पाल्लुट्टाळ पाव पेसाळ।' —वही २ ९-२

२ सूरसागर (सभा) पद सं० ३८८२ पृ० ११७०

३ "मन्नुपेरुंपुकळ्पिरिवुव मीयु मोपुम करिदि कुयिले।
पोन्नुर मेनियळकत्तोडिपुळ्पुम्पियणि वरच्चुवाय।"
—नाच्चियार तिरुमोळि ५ ४

४ 'पुनम्पुल कनपुरस पोळवायकन्द्रिरुम मुदकि पारुन्दु।
मनम्पुम वन कुरल कूळतिरैयालिपुम पोकवे सिम।
मसम्पुमस्तु मनम्पाकु पिडु कुळपाक वैयम।
विनम्पुमरळी पेरुवले ? तिरमाल इतिवविनैये।"
—तिरुविरुत्तम ८७

}

वियोगिनी गोपियों को यमुना नदी भी कृष्ण के वियोग-ज्वर से काली पड़ी हुई दीख पड़ती है।

> देखियति कालिंदी अति कारी।
> अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं भई बिरह जुर जारी॥
> गिरि-प्रजंक तें गिरति धरनि धंसि तरंग तरफ तन भारी।
> तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी॥
> निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मानों अनुहारी।
> सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी॥[१]

संयोग की अवस्था में जिन प्राकृतिक परिस्थितियों में नायिका ने सुख लूटा था अब प्रिय के वियोग में वे उसकी विरह-वेदना की उद्दीपक बन रही हैं। दिन रात ऋतुएँ, मोर पपीहा, शीतल समीरण, कुंज और चाँदनी—ये सब उसको दुखदायी प्रतीत होते हैं। तिरुमंगै आळ्वार की विरहिणी नायिका के लिए सुगन्धित चन्दन भी अब अग्नि के समान जलाने वाला हो गया है। शीतल चाँदनी भी नायिका पर आग बरसाती है। सुन्दर गहने भी उसके शरीर पर आघात कर देते हैं। मन्द मारुत भी आग की ज्वाला से भी भयानक मालूम पड़ता है।

परमानन्ददास की गोपी को भी वही अनुभव हो रहा है—

> माई री चन्द लग्यो दुख दैन।
> कहाँ वो देस कहाँ वह मोहन कहाँ सुख की रैन॥
> तारे गिनत भई री सब निसि नेंक न लागे नैन।
> 'परमानन्द प्रभु' पिय बिछुरे ते पल न परत चित-चैन॥[३]

सूर की गोपी कहती है—

> सरद समै हु स्याम न आए।
> को जानै काहे तें सजनी किहिं बैरिनि बिरमाए।"[४]

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ३८०६

२ वाशमुम पूवुम वल्लन कुळम्बुम।
तटमुलैक्कु अणियिलुम तळलाम।
पोमल वेर्तिरुक्क करिय चुळमेलिगुम।
दैव्युम तीमैकोडियताम।"
तथा—

—पेरिय तिरुमोळि ८-७-३ व ४

तेवस वस्तु ती कीमुम एम बेइकेल?
सिखा बेकरिर चीतम एम बेइकेल?
ईर वाई ताम ईयम एम्मैये।

—वही, ११ १ १ व २

३ परमानन्दसागर (सं० डा० गो० ना० गुप्त) पद सं० २३७ पृ० १८२

४ सूरसागर (सभा) पद सं० ३९११

या बिनु होत कहा हौं सूनो ।
लै किन प्रगट कियौ प्राची दिसि, बिरहिन कौ दुख दूनौ ॥
चितै चंद तन सुरति स्याम की बिकल भई ब्रजबाल ॥[1]

वियोग में नायिका को एक एक क्षण एक-एक युग के समान लगता है । सारी दुनिया सो रही है परन्तु विरहिणी को नींद नहीं ? नम्माळ्वार की विरहिणी नायिका कहती है—"सारा जगत् निद्रा में मग्न है । चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार है । केवल मैं ही जाग रही हूँ । क्या समुद्र का सारा जल रात की लम्बी रेखा बनता जा रहा है ? एक-एक क्षण एक-एक युग बन रहा है । क्या भोर नहीं होगा ?"[2]

विरहिणी मीरा की भी यही दशा है—

सइयाँ तुम बिनि नींद न आवै हो ।
पलक मोहि जुग से बीतें छिनि-छिनि बिरह जरावै हो ।
निसि दिन पंथ निहारत पिवरो पलक न पल भर लागी ॥
पीव पीव म्हाँ रटाँ रैन-दिन लोक-लाज कुल त्यागी ॥
बिरह भवंगम डस्यो कलेजा याँ लहर हलाहल जागी ।
मीरा व्याकुल अति अकुलाणी स्याम उमंगा लागी ॥[3]

वियोग में नायिका की इच्छा होती है कि उसकी वेदना का अनुभव सारी प्रकृति करे । मधुबन यदि हरा है तो उसे सहानुभूति के लिए असमर्थ हृदय वाला समझकर विरहिणी उसे धिक्कारती है ।

सूर की गोपियाँ कहती हैं—

मधुबन तुम क्यौं रहत हरे ?
बिरह बियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यौं न जरे ॥
मोहन बेनु बजावत तुम तर, साखा टेकि खरे ।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम मुनि जन ध्यान टरे ॥
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि फिरि पुहुप धरे ।
सूरदास प्रभु बिरह दवानल नख सिख लौं न जरे ॥[4]

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० १६७१

२ "ऊरेल्लाम् तुञ्जि उलगेल्लाम् नळ्ळिरुळाय्
नीरेल्लाम् तेरि ओर् नीळिरवाय् नीण्डताल्
पार् ? एन्ने । बल्विनैयेन् पावि काप्पार् इनिये ।' —तिरुवाय् मोऴि ५.४.१
तथा—
"पल पल ऊऴियवायिनुम् याम् ओर् माऴिरे" —तिरुविरुत्तम् १६

३ मीरा की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० ८१ पृ० ११२ नवाँ संस्करण ।

४ सूरसागर (सभा) पद सं० ३८२८ पृ० १३२१

सूर की गोपियों की भाँति आण्डाळ भी कहती है—

"हे कार्कोटम पुष्प (पुष्प विशेष) ! तुम खिल-खिलकर मुझे क्यों सताते हो ? हे मुल्लै सखी ! (पुष्प विशेष) तुम मुझे देख-देखकर मेरा परिहास क्यों कर रही हो ? गायन में रत कोकिल ! मीठी तान में गा-गाकर मेरी वेदना को क्यों जगाती हो ?"[१]

विरहिणी नायिका मेघ भ्रमर कोकिल हंस—सभी से प्रियतम के पास उसके सन्देश को ले जाने की प्रार्थना करती है। नम्माळ्वार की विरहिणी नायिका हंसों से प्रार्थना करती है कि वह उसके प्रियतम के पास जाकर उसकी विरह-वेदना का वर्णन कर आए।[२] आंडाळ मेघ से प्रियतम के पास सन्देश ले जाने की प्रार्थना करती है।[३] सूर की गोपी कोकिल से प्रार्थना करती है कि वह किसी भी प्रकार उसके प्रियतम को ब्रज में लाए।

'कोकिल हरि को बोल सुनाउ।
मधुबन तें उपटारि स्याम कहिं ब्रज लौं ले आउ॥'[४]

आळ्वार भक्तों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों के विरह वर्णन की पूर्णता देखकर ही बनती है। विरह की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंग से उन दशाओं का साहित्य में सामान्य रूप से वर्णन हो सकता है, वे सब उनके काव्य में भीतर मौजूद हैं। विरह के वर्णन में आळ्वार हिन्दी के सूर आदि के समकक्ष हैं।

१ कार्कोटम पुक्काळ। काकवम कम्मन एन मैल उर्म्मै
पोर्कोलम मेहु पोरविहुत्तवन पेरुम्म'
× × ×
"मुल्ल पिराट्टी! नी उन मुरुवल कोण्डु एन्नै
अल्लल विळैविपेल आळि नकाय।"
× × ×
'पाडुम कुयिल काळ! ईदु एन पादल?"
× × ×
—नाच्चियार तिरुमोळी १० १ ४ व ५

२ मनम वेल्लीरम अन्नाम वेल्लीरम सोळ तिरुमेन
एम्मैयिनार कन्दाल एमै चोल्लो प्रथरिहै नीर
एमम वेल्लीरो ? ईदुवो तक वेनु इर्रैमिन्नाळे।"
—तिरुविरुत्तम १०

३ मिमार स छ् फ़िन्ट्र मेघंकाळ! अकवत्
सन्नाक तिरुमाँ तोन्दिय वीर मावतु
एन्नानतिल वोर्ने विरम्पि माळलोवम
पोन्नावम्मुसुवतु एन पुरिवुईमे चेप्पुमिने"
—नाच्चियार तिरुमोळी ८ १

४ सूरसागर (सभा) पद सं० ३९५८ पृ १११२

आचार्यों ने वियोग के अन्तर्गत एकादश अवस्थाओं का वर्णन किया है—(१) अभिलाषा (२) चिन्ता (३) स्मरण (४) गुण कथन (५) उद्वेग (६) प्रलाप (७) उन्माद (८) व्याधि (९) जड़ता (१०) मूर्छा और (११) मरण। यहाँ आळ्वारों के तथा आचा— हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों में सूर, परमानन्द तथा मीरा के काव्यों में से विरह की उन ग्यारह अवस्थाओं के उदाहरण दिये जाते हैं—

१—अभिलाषा

विरह में अभिलाषा सभी अवशिष्ट दशाओं की जननी है। प्रिय-दर्शन की अभिलाषा ही विरहिणी की सबसे बड़ी मनोकामना है। आण्डाळ के एक पद का भाव इस प्रकार है—

'मद भरा मेरा यौवन ही माधव के लिए अर्पित है। मैं उन्हीं की सेवा करना चाहती हूँ। मैं तो उनकी दासी हूँ। भले ही मेरे स्वामी मुझे स्वीकार न करना चाहते हों मेरी कामना इतनी है कि वे मेरे सामने आकर कह दें कि मैं तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकता। मुझे केवल उनके दर्शन-सुख की अभिलाषा है।[1]

सूरदास

"ऐसे समय जो हरि जू आवहिं।
निरखि निरखि वह रूप मनोहर, नैन बहुत सुख पावहिं॥
कबहुँक संग जु हिलिमिलि खेलहिं कबहुँक कुंज बुलावहिं।
बिछुरे प्रान रहत नहिं घट में सो पुनि आनि जिवावहिं॥
सबके बसत जानि सूरज-प्रभु सब पहिले उठि आवहिं॥[2]

मीरा

जणम्यां जीवणा थोड़ा कूणे ल्यां भवभार।
माता पिता जय जन्म दियां री, करम दियां करतार।
कायां करयां जीवण जावां काई करयां उपकार।
साधो संगत हरिगुण गास्या और णा म्हारी सार।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, थें बल उतरयां पार॥[3]

२—चिन्ता

सदैव प्रिय-मिलन की लालसा और उसी का चिन्तन 'चिन्ता' है। यह अभिलाषा का उत्कृष्ट रूप है। नायिका यह चिन्ता करती है कि अगर प्रियतम नहीं आए तो उसकी क्या दशा होगी।

---

१ वेम्मंपुरैय तिरुमार्विरा चेत्तीमिनुम पोव भाण्डु
मेइम्मै वोल्लीमुडम लात्को विड ताम तवमेल मिक नम्बु
—नाच्चियार तिरुमोळी

२ सूर सागर (सभा) पद सं० ४० २ पृ० १४०५

३ मीरा की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० १९७ नवाँ संस्करण

मम्मासवार को विरहिणी नायिका कहती है—"सारा जगत् निद्रा में मग्न है। सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है। मैं अकेली जाग रही हूँ। रात बढ़ती जा रही है। अगर मेरे प्रियतम नहीं आयेंगे तो मुझे कौन सांत्वना दे सकेगा ? मेरी क्या दशा होगी ?' १

सूरदास

ऊधौ अँखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति भूलेहुँ पलक न लागी॥
बिनु पावस करि राखी देखत ही विद्यमान।
अब जो कहा कियौ चाहत हौ छाँड़ौ निरगुन ज्ञान॥२

रमानन्ददास

रैनि पपीहा बोल्यौ री माई
नींद गई चिन्ता चित बाढ़ी सुरति स्याम की आई।
सावन मास देखि बरषा रितु हौं उठि आंगन आई।
गरजत गगन दामिनी चमकत तामें जीउ डराई।
बिरहिन बिकल दास परमानन्द धरनि परी मुरझाई।३

३—स्मरण

अभिलाषा और चिन्ता से आगे बढ़ी हुई विरह की दशा स्मरण की है। इसमें प्रत्येक समय प्रिय की याद सताती रहती है।

तिरुमंगै आळ्वार की विरहिणी 'केवल प्रियतम के नाम को ही रटती रहती है। सदा आँखों के सामने भावने वाले प्रियतम के रूप का स्मरण कर उसका हृदय पिघल जाता है। उसके मीन-नयन कभी बन्द नहीं होते। वह कहती रहती है कि प्रियतम के नयन कमल-वन जैसे हैं, हाथ भी विकसित पङ्कज हैं। बदन मीरा मेघ जैसा है।'४

---

१ तिरुप्पल्लाण्डु ४१

२ सूरसागर (सभा) पद सं० ४११४ पृ० १४६२

३ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ७२४ से उद्धृत

४ 'पोतिसुम वन वेरमुरी मट्टोवाळ
उडकुम निन तिरुवुरु निर्मणु"

—पेरिय तिरुमोळि २-७-५

तथा—

"अधि केळ सामरेयन कण्णुम
पंकेसुम पंकयम मेनि वानम
अधि केळ मामुरिसुम पोप्पर
मन्नो मोरमरळ्क्किमया।"

—वही

सूरदास

> मेरे मन इतनी सूल रही।
> वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नंदलाल कहीं।[1]

परमानन्ददास

> हरि तेरी लीला की सुधि आवै।
> कमल नैन मन मोहन मूरति के मन-मन चित्र बनावै॥
> कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिंगन कबहुँक पिक ज्यों गावै।
> कबहुँक संभ्रम 'क्वासि क्वासि' कहि संग हिलमिलि उठि धावै॥
> कबहुँक नैन मूँदि उर अन्तर मनि माला पहिरावै।
> मृदु मुसुकानि बंक अवलोकनि चाल छबीली भावै॥
> एक बार जाहि मिलहि कृपा करि सो कैसे बिसरावै।
> 'परमानन्द' प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गंवावै॥[2]

४—गुण-कथन

प्रिय की याद में वियोगिनी उसके गुणों का अपने साथ मे किये गये प्रेम व्यवहार तथा अपने आमोद को दूसरे से प्रकट करती है।

तिरुमंगै आळवार की नायिका अपनी सखी से अपने प्रियतम के गुणों की प्रशंसा कर कहती है—"मेरा प्रियतम मेरे हृदय को अपने साथ ले गये हैं, वे मेरे नाथ हैं सुन्दर-वदन-घनश्याम हैं। वे देवों के देव हैं। सारे जगत् से पूजित हैं। मुझे अनन्त सुख देने वाले प्रिय हैं ।"[3]

सूरदास

> एक द्यौस कुंजनि में माई।
> नाना कुसुम लेइ अपनें कर, दिए मोहि सो सुरति न जाई॥
> इतने में घन गरजि वृष्टि करी तनु भीज्यो मो भई जुड़ाई।
> कंपत देखि उढ़ाइ पीत पट लै करुनामय कंठ लगाई॥

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ४०११ पृ० १४०७

२ परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० गुप्त) पद सं० २६४ पृ० १९१

३ 'मान्नुडै म् एन्नुमिन्न नायगनै म्'....
माडी एनदुळ्ळम कोण्ड नायनै म्
तिडी एन्नू म काण माट्टा देवनै म्
वानवर्क्कु म वानवनै काणलाम अट्टबंळ।
तुयम एन्ननै म इन्बनै म
.. मात न पत्ति नाडुवाळ।

—पेरिय तिरुमाऴि, ४-१, से ६

कहँ वह प्रीति रीति मोहन की कहँ अब धौं एत निठुराई ।
अब बलबीर सूर प्रभु सखि री मधुबन बसि सब रति बिसराई ॥[1]

मीरा

थे बिन म्हारे कोण खबर ले गोबरधन गिरधारी ।
मोर मुकुट पीताम्बर सोभां, कुण्डल री छब न्यारी ।
भरी सभा मा द्रुपद सुतारी, राख्या लाज मुरारी ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर चरण कंवल बलिहारी ।[2]

२. उद्वेग

प्रिय-वियोग में उद्वेग की वह दशा है जब संयोग-समय की सभी सुखदायिनी वस्तुएँ प्रेमी को दुखदायिनी प्रतीत होती हैं ।

तिरुमंगै आलवार

तिरुमंगै आळ्वार की विरहिणी को सुगन्धित चन्दन भी अब जलाने वाला हो गया है । शीतल चाँदनी भी आग बरसाती है । सुन्दर वस्त्र भी उसके शरीर पर आघात कर देते हैं । मन्द मारुत भी आग की ज्वाला के समान भयानक बन गया है ।[3]

सूरदास

कहौं लौं मानौं अपनी चूक ।
बिनु गोपाल सखी री छतियाँ ह्वै न गई द्वै टूक ॥
हृदय जरत है दावानल ज्यौं कठिन बिरह की हूक ॥[4]

परमानन्ददास

ब्रज की औरै रीत भई ।
प्रात समय नव माखन सुनीयत घर-घर जरत रई ॥
ससि की किरन तरनि सम लागत, लागत सिता नई
[illegible] धूप बकर बैतन की आग्या होत भई ॥
वृन्दावन की भूमि भावती ग्वालिन्ह छाँड़ि दई ।
'परमानन्द' स्वामी के बिछुरत बिधि कछु और ठई ॥[5]

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ४०२ पृ० १४०४
२ मीरा की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० १११ पृ० १८
३ पेरिय तिरुमोळि २ ७ ३
४ सूरसागर (सभा) पद सं० ३४३८ पृ० १३२६
५ परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० शुक्ल), पद सं० ५११ पृ० १८१

६—प्रलाप

प्रलाप की दशा में विरही जन विवश होकर अपने मन की व्यथाओं को कहते हैं, प्रलाप करते हैं।

आण्डाळ मेघों से कहती हैं—"नीलाम्बर में विचरण करने वाले मेघो! मुरली-माधव मुझे छोड़कर गया है। आँसुओं की धारा मेरे स्तनों को प्लावित करती रहती है। क्या मुझ अबला को इस प्रकार सताना उस माधव को गौरव प्रदान करने वाला कार्य है? मैं कामाग्नि में तप्त हो गयी। अब शीतल समीरण भी मेरे ऊपर प्रहार कर रहा है। प्रियतम माधव के वचन का क्या हुआ? अगर यह कलंक प्रियतम पर पड़े कि उसने एक स्त्री-लता को सताकर उसका वध किया है, तो उस भावना को मैं कैसे सहन कर सकूँगी?"[1]

सूरदास

> सखि मिलि करौ कछुक उपाउ।
> मार मारन चढ्यौ बिरहिनि निदरि पायौ दाउ।
> हुतासन धुज जात उनयत बह्यौ हरि दिस बाउ॥[2]

परमानन्ददास

> क्यौं ब्रज देखन नाहिं आवत।
> मन विनोद भई रजधानी गोकुल नारि भुलावत॥
> सुनियत कथा पुरातन इनकी बहुलोक हैं पावत।
> मधुकर स्याम सकल गुन अवगुन रस सौं रसि बिसरावत॥
> जो पतियाय स्यामघन तन को ओ पर मनहिं चुरावत।
> परमानन्द प्रीति पद अम्बुज हरि अत रस निभावत॥[3]

---

१ "विण्णील मेलाप्पु विरित्तार्पोल् मेगंगाळ्।
तॆण्णीर् पाय वेङ्कडत्तु एन् तिरुमालुम् पोन्दाने?
कण्णीर्गळ् मुलैक्कुवट्टिल् तुळिसोरच् चोर्वेने।
पेण्णीर्मै ईडळिक्कुम् इदु तमक्कु ओर् पेरुमैये।"

—नाच्चियार तिरुमोळी ८ : १

तथा—

कामत्तीयुळ् पुगुन्दु कदुवप्पट्टु इडैक्कङ्गुल्।
एमत्तोर् तॆन्रलुक्कु इङ्गु इलक्काय् नान् इरुप्पेने। —वही ८ : २

"करियेन्द न तालावाल कलदनु ओर पेण्कोडियै।
वदै सेय्दान् एन्नुम् सोल् वैयकत्तार् मदियारे। —वही ८ : ६

२ सूरसागर (सभा) पद सं० २७०१ पृ० ६६२

३ परमानन्दसागर (सं० डा० गो० ना० गुप्त), पद सं० ७६, पृ० ३१

७—उन्माद

विरह व्यथा के अतिरेक से हुई विवेकहीन अवस्था 'उन्माद' कहलाती है।

नम्माळ्वार की विरहिणी नायिका की उन्मादावस्था देखिए—"प्रकाशयुक्त चन्द्र को देखकर नायिका उसे प्रियतम कहकर पुकारती है। ऊँचे पर्वत को देखकर प्रियतम समझ लेती है। जब रिमझिम-रिमझिम वर्षा होती है तब नायिका कहती है कि प्रियतम आ रहा है। कहीं की मीठी ध्वनि सुनकर कहती है कि श्याम मुरली बजा रहा है। काले बादलों को देखकर कहती है कि प्रियतम उड़ रहे हैं।"[1]

सूरदास

> सखि करि धनु लै चंदहि मारि।
> तब तो है कहुँ है न फिरैहौं, जब ससि सुर मैहु तनु जारि॥
> उठि हरुवाइ जाइ मंदिर चढ़ि ससि सन्मुख दरपन विस्तारि।
> ऐसी भाँति बुलाइ मुकुर में अति बल खंड-खंड करि डारि॥[2]

८—जड़ता

विरहाधिक्य से शरीर के विभिन्न अवयवों का जड़ हो जाना जड़ता कहलाता है।

माणक्क

'विरह से मेरी हालत्वी विकल गयी है। तीर-सम नयन अब बन्द नहीं होते। (इस दुःख सागर में मैं माधव रूपी नाव के बिना विचलित हूँ। मोती-सम मुस्कान दर्शाने वाले मेरे अधर और उभरे हुए मेरे स्तन अब शोभाहीन हो गये हैं)।[3]

तिरुमंगै आळ्वार

"तिरुमंगै आळ्वार की विरहिणी नायिका का शरीर वियोग में पीला हो गया है। वह इतनी दुबली हो गयी है कि उसके हाथ के कंकण स्वयं गिर पड़ते हैं।"[4]

---

१ "मोन्दिय तिवळं वराहै मोकि मणिवण्णने। एन्नुम
निमु कुन्रलिनै नोक्कि नेडुमाले। वाविन्र् एन्नुम
नन्दु पेय्युम मळ्ळै कारिल मारन्न वन्दानेन्र् आडुम।
एन्दिय नेयनक्क मेहनार एन्नुडैय कोमळत्तैये।
—तिरुवाय मोळी ४४ ६ ७ व ६

२ सूरसागर सूरसागर (सभा) पद सं० ३६७१

३ 'एन्नुडैय इननैम नेडु कण्कळ इमै पोरुन्दा पलनाळुम।
तुन्बक्कडल पुक्कु वैकुन्दन्नेन्बदोर तोणी पेरादु उळल्वेन् किन्रेन।'
मुत्तम नेन्नुवत्त चेय्य वायुम मुलैयुम अळकोळिन्दिलेन।"
—नाच्चियार तिरुमोळी २ ८ व ६

४ मामन्तिर मेनि वण्णमुम पोयिनाळ।
मर्कडळ म इरै निरता एन वान।
एन्दिळै तिरमुरगु एन सिन्दित्तन्नाय ?"
—पेरिय तिरुमोळी २-७-२

६—प्रलाप

प्रलाप की दशा में विरही जन विवश होकर अपने मन की व्यथाओं को कहते हैं, प्रलाप करते हैं।

आण्डाळ मेघों से कहती हैं—"नीलाम्बर में विचरण करने वाले मेघो! मुरली-माधव मुझे छोड़कर गया है। आँसुओं की धारा मेरे स्तनों को प्लावित करती रहती है। क्या मुझ अबला को इस प्रकार सताना उस माधव को गौरव प्रदान करने वाला कार्य है? मैं कामाग्नि में तप्त हो गयी। अब शीतल समीरण भी मेरे ऊपर प्रहार कर रहा है। प्रियतम माधव के वचन का क्या हुआ? अगर यह कलंक प्रियतम पर पड़े कि उसने एक स्त्री-लता को सताकर उसका वध किया है तो उस लांछना को मैं कैसे सहन कर सकूँगी?"[1]

सूरदास

सखि निसि करौ कछुक उपाउ।
मार मारन चढ्यौ बिरहिनि निदरि पायौ दाउ।
हुतासन-धुज जात उन्नत बढ्यौ हरि-बिनु बाउ॥[2]

परमानन्ददास

क्यों ब्रज देखन नाहिं आवत।
नव किसोर नई रजधानी नीरस वारि बहावत॥
सुनियत कथा पुरातन इनकी बहुलोक है भावत।
मधुकर न्याय तजत गुन पंकज रस सौं रति बिसरावत॥
जो बसिवास्य स्याममय तन को जो पर मनहिं घुरावत।
परमानन्द प्रीति पर सन्मुख हरि सम राग निभावत॥[3]

---

१ विण्णील मेलाप्पु विरित्तार्पोल् मेगंगाळ्।
तेण्णीर् पाय् वेंगडत्तु एन् तिरुमालुम् पोन्दाने?
कण्णीर्गळ् मुलैक्कुवट्टिल् तुळिचोरच् चोर्वेनै।
पेण्णीर्मै ईडळिक्कुम् इदु तमक्कु ओर् पेरुमैये।"

—नाच्चियार तिरुमोऴि ८ : १

तथा—

कामत्तीयुळ् पुगुन्दु कदुवप्पट्टु इडैक्कंगुल्।
एमत्तोर् तेन्ऱलुक्कु इंगु इलक्काय् नान् इरुप्पेने। —वही ८ : २
"मतियिलेन् म तालावाल करवालु ओर वेरुक्कोदिये।
वडै वेंगडत्तेन्नुम् चोल् बयक्कत्तार् पतियाते।' —वही ८ : ६

२ सूरसागर (सभा) पद सं० ३७०३ पृ० ९६२

३ परमानन्दसागर (सं० डा० गो० ना० गुप्त), पद सं० ८६, पृ० ३०१

७—उन्माद

विरह व्यथा के अतिरेक से हुई विवेकहीन अवस्था उन्माद कहलाती है।

नम्माळ्वार की विरहिणी नायिका की उन्मादावस्था देखिए—'प्रकाशयुक्त चन्द्र को देखकर, नायिका उसे प्रियतम कहकर पुकारती है। ऊँचे पर्वत को देखकर प्रियतम समझ बैठी है। जब रिमझिम-रिमझिम वर्षा होती है, तब नायिका कहती है कि प्रियतम आ रहा है। कहीं भी मीठी ध्वनि सुनकर कहती है कि श्याम मुरली बजा रहा है। काले बादलों को देखकर कहती है कि प्रियतम उड़ रहे हैं।'[1]

सूरदास

सखि करि धनु लै चंदहि मारि।
तब तौ पै कछुवे न सिरैहैं, जब अति सुर मैं तनु जारि।।
उठि हुलसाइ जाइ मंदिर चढ़ि ससि सनमुख दरपन बिस्तारि।
ऐसी भाँति बुलाइ मुकुर मैं, अति बल खंड-खंड करि डारि।।[2]

८—जड़ता

विरहाधिक्य से शरीर के विभिन्न अवयवों का जड़ हो जाना जड़ता कहलाता है।

आण्डाळ

विरह में मेरी हड्डियाँ पिघल गयी हैं। तीर-सम नयन अब बन्द नहीं होते। (इस दुःख सागर में मैं माधव रूपी नाव के बिना विचलित हूँ। मोती-सम मुस्कान दर्शाने वाले मेरे अधर और उभरे हुए मेरे स्तन अब आभाहीन हो गए हैं।)"[3]

तिरुमंगै आळ्वार

"तिरुमंगै आळ्वार की विरहिणी नायिका का शरीर वियोग से पीला हो गया है। वह इतनी कृश हो गयी है कि उसके हाथ से कंगन स्वयं गिर पड़ते हैं।"[4]

---

१ 'मोन्दिम तिङ्गळ् वन्दाह़ि कोडि मयिलवन्ने। एन्नुम
निन्द्र कुन्नत्तिनै नोक्कि नेडुमाले। वायेन्द्र एन्नुम
नन्द्र पेय्युम मऴै काणिल नारणन् वन्दानेन्द्र एऴुम।
एन्द्रिन मेल्मलर्क्कण्णार एन्नुडैय कोमळत्तै।
—तिरुवाय मोऴी ४ ४ ४ ६ ७ व ६

२ सूरसागर सूरसागर (सभा) पद सं० १६७१

३ "एन्नुडलिल इन्बोन नेडुनिल्लार इनी पोय्प्पदा पाननाळ्.म।
तुन्बक्कडल पुक्कु वैकुन्दन्नेन्बदोर तोणी पेरादु उऴल्किन्द्रेन।'
मुत्तम नेन्नुवन नेय्य वायुम मुलैयुम मळकोळ्किन्द्रेन।"
—नाच्चियार तिरुमोऴी ४ ५ १

४ "मान्दळिर मेनि वण्णमुम पोनाम।
मर्ऐकल.म इर्ऐ निल्ला एम रान।
एन्निदऐ विरानुक्कु एम मिनेन्निक्किन्दाय ?"
—पेरिय तिरुमोऴी २-७-१

सूरदास

> देखी मैं लोचन चुवत अचेत ।
> मनहु कमल ससि त्रास ईस कौं मुक्ता गनि-गनि देत ॥
> कहुँ कंकन कहुँ गिरी मुद्रिका कहुँ ताटंक कहुँ नेत ।
> चेतति नहीं चित्र की पुतरी समुझाई सौ चेत ॥[1]

९—व्याधि

शारीरिक क्लेश को 'व्याधि' कहते हैं। विरह के कारण विरही का पीला होना और कृश हो जाना 'व्याधि' है।

आण्डाळ

'हे मेघा! तुम जाकर मेरे प्रियतम को बताओ कि मेरे शरीर की दशा मच्छरों द्वारा खाये जाने के बाद शेष रह जाने वाले पिळाम-फल (एक फल विशेष जो सूखकर संकुचित हो जाता है) के समान हो गयी है। मेरी 'नडलै-व्याधि' का भी परिचय दे देना।'[2]

तिरुमंगै आळ्वार

तिरुमंगै आळ्वार की विरहिणी नायिका भ्रमर से कहती है— 'हे भ्रमर! तुम जाकर मेरे प्रियतम को मेरी 'पसलै-व्याधि' का परिचय दे आओ।'[3]

सूरदास

> चितवत ही मधुबन दिन जात ।
> नैननि नींद परत नहीं सजनी सुनि-सुनि बातनि मन अकुलात ॥
> जब ते भवन देखियत सूने बार-बार हमको ब्रज खात ।
> अनुदिन नैन तपत बरसन कौं हृदय समान देखियत गात ।
> 'सूरदास' स्वामी के बिछुरे, ऐसी भई हमारी बात ॥[4]

१० मूर्छा

वियोग में मूर्छित होकर गिर पड़ना 'मूर्छावस्था' है।

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ४७१३ पृ० १६११

२ 'मसकोण्डु विळ्ळमॆळ नल तळु मुदिल्ल काळा ।
पलबुष्ट पिळडूनि पोळ उळ वेणियप्पुडुनु एन्न
नर्मकोल्ल नारणर्कु एन नडलै नोय चेप्पुमिने'

—नाच्चियार तिरुमाळि ८ ६

३ "पनिमलर मेल पगु वुरुम्बु अवकाम विरवडे ।
पनिमलरियेन नी वेन्दु एन पसलै नोय उरैयाये ।

—पेरिय तिरुमोळि ३ ६ २

४ सूरसागर (सभा) पद सं० ३८६८, पृ० १३६६

नम्मालवार

नम्माळ्वार की विरहिणी नायिका 'वियोग-व्यथा में विलाप करती हुई रुदन करती है। फिर मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ती है।'"[1]

सूरदास

> सोचति अति पछताति राधिका मूर्छित धरनि ढही।
> 'सूरदास' प्रभु के बिछुरे तें बिथा न जात सही॥[2]

११—मरण

हमारे कवियों ने विरह की ग्यारहवीं दशा 'मरण' का काव्य-परम्परा के अनुसार केवल उल्लेख मात्र किया उस अवस्था का चित्रण अथवा वर्णन नहीं किया।

आण्डाल

"हे मेघो! मेरे प्रियतम से तुम कह आओ कि प्रतीक्षा करते-करते मैं मर भी जाऊँगी।"[3]

सूरदास

> प्रान हमारे घात होत हैं, तुम्हारे भायें हाँसी।
> या जीवन तें मरन भलो है करवत लै है कासी॥
> पूरब प्रीति सँभारि हमारी, तुमकौं कहन पठायी।
> हम तौ जारि बारि भस्म भई तुम, आनि मसान जगायौ॥
> कै हरि हमकौं आनि मिलावहु कै लै चलिये साथे।
> सूर स्याम बिनु प्रान तजति हैं दोष तुम्हारे माथे॥[4]

उपर्युक्त एकादश अवस्थाओं के अतिरिक्त दोनों भाषाओं के हमारे आलोच्य कवियों ने विरह की और भी अनेक दशाओं का वर्णन किया है। (विस्तार भय से उन्हें यहाँ नहीं देते।)

---

१ "मतुम तोळ्म वाडियमनैयेन्नुमिकु म
ऽळ्ळुमु मैय मोक्की इनैयिलादिवन्नुम
पैयवे मोय्नुकिन एन्नुम् ।"
—तिरुवायमोळी ७-२-८

२ भ्रमरगीत सार—सं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० ६४

३ "कोळिमण्डम वर्ळ तिली उरवनतोळु इनैयेन्नाम
एळिमैयाल इन्नु एन्नै कॊळ्ळियोलवाल
वळियत्त मेघंगळ। आवि "कातिरुप्पेने।"
—नाच्चियार तिरुमोळी ८ १

४. सूरसागर (सभा), पद सं० ४२२५ पृ० १७७२

भ्रमर गीत

हिन्दी के सूर आदि कृष्ण-भक्त-कवियों ने 'भ्रमर-गीत' नाम से एक विशिष्ट विरह-काव्य' की रचना की है। भ्रमर-गीत शीर्षक वाले इस काव्य में वे पद संगृहीत हैं जिनमें गोपियाँ भृङ्ग को लक्ष्य करके अपने मन की विरह-वेदना व्यक्त करती हैं। इस प्रकार की भ्रमर-गीत परम्परा तमिळ में नहीं है। आळ्वार-साहित्य में विरहिणी नायिका (गोपी) के भ्रमर द्वारा नायक के पास सन्देश भेजने के प्रसंग का तो वर्णन है पर वह भी बहुत संक्षेप में है। उसमें उद्धव के ब्रज में आने का उल्लेख नहीं है और गोपियों के उपालम्भ का भी विस्तार से निर्वाह नहीं हुआ है। अतः वह हिन्दी के भ्रमर-गीत की कोटि का नहीं है। भ्रमर-गीत' काव्य हिन्दी कृष्ण-काव्य की एक बड़ी विशेषता कही जा सकती है। भ्रमर-गीत प्रसंग को सर्वप्रथम विकसित एवं विस्तृत रूप से साहित्य में लाने का श्रेय सूरदास जी का है।[1]

वैसे तो सूरदास जी ने तीन भ्रमर-गीत' लिखे हैं। नन्ददास का भी एक 'भवर-गीत' है जो सूर के भ्रमर-गीत के अनुकरण पर लिखित है। इन दोनों के बाद तो 'भ्रमर-गीत' काव्य की एक लम्बी परम्परा हिन्दी में चल पड़ी। सूरदास जी के तीन भ्रमर-गीतों में से एक ही अधिक विस्तृत रूप में है और उसी को 'भ्रमर-गीत' काव्य के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। सूर के इस भ्रमर-गीत के अन्तर्गत सूर की प्रतिभा और कवित्व कला के विकास के लिए पर्याप्त स्थान है। उद्धव के ब्रज में आने पर गोपियाँ उपालम्भ भरे शब्दों में अपनी विरह-व्यथा को उद्धव से कहती हैं एक भौंरे को सम्बोधित कर पर लक्ष्य तो उद्धव को सुनाने का ही है। विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत लिखित इस भ्रमर-गीत में गोपियों का उक्ति-वैचित्र्य व्यंग और वाग्वैदग्ध्य दर्शनीय है। इस भ्रमर-गीत के प्रणयन में सूर के दो उद्देश्य हैं (१) ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठतर सिद्ध करना और (२) सगुण भगवान् की उपासना की महत्ता दिखलाना।

सूर की गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म के उपदेश को सुनकर दुःखी होती हैं और अपनी कोई आस्था नहीं दिखलातीं क्योंकि वे तो अनन्य भाव से सगुण कृष्ण की उपासिका हैं। तभी तो वे कहती हैं —

> तौ हम मानें बात तिहारी।
> अपनो ब्रह्म दिखावौ ऊधौ मुकुट पिताम्बर धारी॥

उनके लिए तो निर्गुण ब्रह्म की उपासना असम्भव और व्यर्थ है। ऐसे अनेक गोपियों के वचन सूर के भ्रमर-गीत में भरे पड़े हैं जहाँ वे निर्गुण के प्रति अपनी असमर्थता प्रकट करती हैं। जैसे—

---

१ हिन्दी में भ्रमर-गीत काव्य और उसकी परम्परा—डा० स्नेहलता श्रीवास्तव पृ० १९।

१—"सूरदास या निर्गुन सिन्धुहि कौन सकै अवगाहि।"
२— 'कौन काज या निर्गुन सों चिरजीवहु कान्ह हमारे।"
३—"निर्गुन कौन देस को बासी।"

सूर का 'भ्रमर-गीत' प्रसंग-विशेष की विशेषता के साथ-साथ अपनी निजी अन्य विशेषताएँ भी रखता है जिनके कारण वह हिन्दी साहित्य में विशेष महत्व रखता है। आलोच्य कवियों में सूर और नन्ददास के भ्रमर-गीत-काव्यों में कृष्ण-वियोग से व्यथित गोपियों के नाना भावों मनोवृत्तियों प्रेम विह्वलता विरह आदि के अनेक सुन्दर और अपूर्व चित्र मिलते हैं। विरह की एकादश दशाओं के ही नहीं बल्कि अन्य अनेक भाव-स्थितियों के भी सजीव चित्रण मिलते हैं। सूर के 'भ्रमर गीत' से दो-तीन उदाहरण यहाँ पर्याप्त हैं। यथा—

१—मधुकर ये नैना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमल नैन को प्रेम मगन भए भारे॥
ता दिन तें नींदौ पुनि नासी चौंकि परत अधिकारे।
सुपन तुरी जागत पुनि वेई बसत जु हृदय हमारे॥[1]

२—निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा रितु हम पर जब तें स्याम सिधारे॥
दृग अंजन न रहत निसि बासर कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे॥
आँसू-सलिल सबै भइ काया पल न जात रिस टारे।
'सूरदास' प्रभु यहै परेखो गोकुल काहे बिसारे॥[2]

३—बिनु गोपाल बैरिनि भईं कुंजैं।
तब ये लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल-फूलनि अलि-गुंजैं।
पवन पानि घनसार सजीवन दधि-सुत किरनि भानु भई भुंजैं।
यह ऊधो कहियो माधो सों मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं॥
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस को मग-जोवत अँखियाँ भईं छुंजैं॥[3]

विरह-वर्णन की व्यापकता के अतिरिक्त सूर के 'भ्रमर-गीत' में गोपियों की सरसता और तन्मयता के साथ-साथ उनकी वाक्-पटुता मति-वैचित्र्य और वाग्वैदग्ध्य भी काव्य की दृष्टि से अति उत्तम है।

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ४१६७ पृ १४६३
२ वही („) पद सं० ३८३४ पृ १३६१
३ वही ( ) पद सं० ४६८६ पृ १६१२

अन्य रस

आळ्वार भक्तों के तथा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में मुख्य रूप से 'वात्सल्य रस' और 'शृङ्गार रस' का ही परिपाक हुआ है, जिसकी चर्चा विस्तार से हमने पिछले पृष्ठों में की है। परन्तु इन भक्त-कवियों की व्यापक कवि-दृष्टि से अन्य रस भी ओझल नहीं रह सके। उनकी रचनाओं में उक्त दोनों रसों के बीचों बीच प्रसंग के अनुकूल हास्य करुण अद्भुत आदि रसों का भी परिपाक हुआ है। नीचे हम इनमें से प्रत्येक रस के कुछ उदाहरण देते हैं :—

हास्य

आळ्वारों में—विशेष रूप से पेरियाळ्वार तथा हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों में सूरदास जी की शैली से उनकी विनोद-प्रियता टपकती है। बाल-लीला-वर्णन में कृष्ण की चेष्टाएँ तथा उनकी चातुर्यपूर्ण उक्तियाँ हास्य का संचार करती हैं। वात्सल्य वर्णन के अनेक उदाहरण जिनमें हास्य का पुट है हम पीछे दे चुके हैं। ऐसे स्थानों पर हास्य 'रस' की कोटि तक प्रायः नहीं पहुँचा है। हास्य के एक-दो उदाहरण यहाँ देते हैं।

बालकृष्ण पड़ोस के घरों से मक्खन चुराकर ही नहीं खाता अपितु खाने के बाद खाली घड़े को पत्थर पर दे मारता है और उसके टूटकर बिखरने की आवाज पर खुश होकर तालियाँ बजाता हुआ नाच उठता है। इस प्रसंग का वर्णन करने वाले पेरियाळ्वार के पद[1] में हास्य का पुट है। जब बालक कृष्ण अपनी आँखों को बार-बार खोल-मीचकर बन्द करते हैं और अपने हाथों की उँगलियों को एक विचित्र प्रकार से रखकर विविध प्रकार की आवाज पैदाकर बड़ों को 'हाऊ' का भय दिखाते हैं[2] तब हास्य का अच्छा परिपाक होता है।

चीर-हरण-लीला को चित्रित करने वाले आण्डाळ के एक पद में गोपियों की साड़ियों को लेकर पेड़ पर चढ़ने वाले कृष्ण की चेष्टाओं की तुलना बन्दर की चेष्टा से की गई है। गोपियाँ भी पेड़ पर विराजमान कृष्ण से कहती हैं—"हे बन्दरों के राजा! हम तुम्हारे आसन को मानती हैं कृपया हमारी साड़ियों को नीचे फेंक दो।"[3]

सूरदास जी के अनेक पदों में हास्य का पुट है। एक ग्वालिन ने कृष्ण को दही की चोरी करते हुए ऐन मौके पर पकड़ लिया। मुँह पूरा था कृष्ण इन्कार नहीं

१ पेरियाळ्वार तिरुमोळि २-९ १

२ वही २ । १ से १०

३ "परक्क विळित्तु कंकुळ कोट्टि पक्कर कुळैमाडुम कुळैयिल।
परक्क मिरुत्ता कण्णमीर कळ मानमारक्कुवाणारदाय
कुरक्करसु आवदु अरिन्दोम कुरुन्दिडै कूरै पणियाय।
—नाच्चियार तिरुमोळि ३ ४

कर सकते क्योंकि उनका हाथ दधि भाजन में था। अब क्या किया जाय? उन्होंने फौरन ही बात बनाई—

मैं जान्यौ यह मेरौ घर है, ता धोखे मैं आयौ।
देखत हौं गोरस मैं चींटी काढ़न कौं कर नायौ।[1]

उनकी बात पर विश्वास हो या न हो पर चतुरता-पूर्ण उत्तर सुनने वाले के अधरों पर हास्य थिरक ही उठेगा। एक और उदाहरण लीजिए—

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन ऊँचै धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपनैं मैं कैसैं करि पायौ।
मुख दधि पोंछि बुद्धि इक कीन्हीं दोना पीठि दुरायौ॥
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिं कण्ठ लगायौ॥[2]

इस पद में हास्य रस की कोटि तक पहुँच जाता है। मुख से चिपटा हुआ दही पोंछना पीठ पीछे दोने को छिपाना तथा छोटे हाथों की दुहाई देना—उद्दीपन विभाव की सामग्री है। स्थायी भाव हास्य है जो पद में वर्णित सम्पूर्ण परिस्थिति के सामने आते ही खिल उठता है।

करुण

पेरियाळ्वार बुढ़ापे का वर्णन कर यह उपदेश देते हैं कि कई प्रकार के कष्टों को देने वाले बुढ़ापे के आने के पहले ही मनुष्य को भगवान् की शरण में जाना चाहिए। बुढ़ापे में होने वाले जिन कष्टों का वर्णन आळ्वार करते हैं उसमें करुण रस का संचार है। 'बुढ़ापा आता है। शक्ति क्षीण हो जाती है। साँस ऊपर की ओर जाती है। शरीर पर मक्खियाँ रह-रहकर बैठना दे रही हैं। पैर काँपते हैं। मुँह में लिया गया भात भी पेट में नहीं जाकर बाहर निकल जाता है। आँखों से पानी निकल आता है। कुत्ते पास आकर सूँघते रहते हैं। (ऐसी दशा में भी) रिश्तेदार आकर छिपाकर रखे हुए धन का पता पूछ-पूछकर तंग करते हैं। अब जाकर वह भगवान् को पुकारता है।'[3] इस वर्णन में शोक और दुःख स्थायी भाव है।

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ८९७ पृ० ३५४
२ वही (सभा) पद सं० ९९२ पृ० ३७१
३ चीयिनाम वैरिसेरिय नुन मेल वेट्टैरियुळ्ळिमियिसय्यु एंडुम।
ईरिनाम परिपुष्टु मर्मती पुसम वाय वैम्बु वेरंतम पुमम
मेय्ळ्ळत सोर वापुविक्ळ्ळु मेल मिरट्टिमे उरसे वांकी।
काम्बु कैंबुम विदिर विदिस्त्. परी कन्नुरुरकमायवन मुमम ९

नायिका के विरह-वर्णन में भी करुण मनोभाव के कई सुन्दर चित्र हैं। नाम्माळ कहती हैं— "वियोग में हड्डियाँ पिघल गयी हैं। शरीर क्षीण हो गया है। दुःख-सागर में माधव रूपी नाव के बिना मैं डूब रही हूँ। अधरों की वह मधुर मुस्कान भी ओझल हो गयी है। शीतल हवा और चाँदनी भी अब सताती है।"[1] यह करुण चित्र विप्रलंभ-शृङ्गार के अन्तर्गत आता है।

हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के अनेक पदों में करुण रस की व्यंजना हुई है। सूर के दावानल-वर्णन में करुण रस का चित्र अंकित हुआ है —

"अब कै राखि लेहु गोपाल।
दसहूँ दिसा दुसह दावागिनि, उपजी है इहिं काल॥
पटकत बाँस काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अंगार फुटत फर झपटत लपट कराल॥
धूम धूँधि बाढ़ी धर अंबर, चमकत बिच-बिच ज्वाल।
हरिन बराह, मोर चातक पिक जरत जीव बेहाल॥[2]

नरोत्तम दास के निम्नलिखित पद में सुदामा की दयनीय दशा का वर्णन है। इस पद में यद्यपि करुण रस का पूर्ण परिपाक नहीं होता तो भी करुण भाव का सुन्दर चित्र अंकित हुआ है —

सीस पगा न झगा तन में प्रभु! जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानहु को नहिं सामा।
द्वार खरो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीन दयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥[3]

वीर रस

कृष्ण काव्य में वीर रस के भी कुछ प्रसंग हैं। जहाँ कृष्ण को राक्षसों और मल्लों के साथ लड़ते हुए चित्रित किया गया है वहाँ वीर रस का संचार हुआ है। आळ्वार-साहित्य में वीर-रस प्रधान प्रसंग बहुत कम हैं। फिर भी एकाध स्थलों में कृष्ण की वीरता का वर्णन सुनते समय वीर रस की व्यंजना होती है।

गोवर्धन गिरि-धारण प्रसंग के पेरियाळ्वार के एक पद में कृष्ण की अपार वीरता का वर्णन है—"बड़े-बड़े बादल पत्थर बरसाने लगे मानों रण-क्षेत्र में घटों की

कोर्विनाम पोरुळ वेत्तप्टाडित चीळ्न्दु ओकमेन गुड्. मिरण्डु।
मार्विल वाजुन वाइ तिरळावे वन्त कासमर्वेषल धुमम"
—पेरियाळ्वार तिरुमोळी ४ ५ २ से ५

---

१ नाच्चियार तिरुमोळी ५ ४ ६ व १०
२ सूरसागर (सभा) पद सं १२१७ पृ० ४७८
३ सुदामा चरित—सं० ललिताप्रसाद सुकुल १७

वर्षा हो रही हो। कृष्ण ने गोवर्धन गिरि को छाता की तरह उठाया और उस गोवर्धन गिरि-रूपी छाता से पत्थर वर्षा रूपी शरों को रोका।'[1]

हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों में सूर और परमानन्ददास के कुछ पदों में वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। सूर का निम्नांकित पद देखिए :—

आज जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं सान्तनु-सुत न कहाऊँ।
स्यन्दन खंडि महारथि खंडौं कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पांडव-दल-सम्मुख ह्वै धाऊँ सरिता रुधिर बहाऊँ।
इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ।
सूरदास रन-भूमि विजय-बिनु जियत न पीठ दिखाऊँ॥[2]

(इस पद में भीष्म 'नायक' (आश्रय) कृष्ण 'प्रतिनायक (आलंबन) कृष्ण की शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा 'उद्दीपन' और उसकी स्मृति 'संचारी' तथा स्यन्दन और महारथों को खण्डित करने खून की नदी बहाने आदि की प्रतिज्ञा अनुभाव' है।)

परमानन्ददास का निम्न पद देखिए —

नन्द ! गोवर्धन पूजौ जाय।
आवौ गोप गुवाल गोपिका पूजौ सकल को राय॥
जाकौं बलि-बलि करिहिं बनावत कहा सक सौं काज।
गिरि के बल बैठे अपने घर कोटि इन्द्र पर गाज॥
मेरो कह्यौ मान अब लीजै भर-भर सकटन साज।
'परमानन्द' नाम के सर्पत पूजा करत जित नाज॥[3]

रौद्र-रस

रौद्र रस के चित्र आळवार-साहित्य में बहुत ढूँढने पर भी नहीं मिलते। हिन्दी कृष्ण-काव्य में रौद्र रस के भी चित्र मिलते हैं। ब्रजवासियों द्वारा कृष्ण के कहने पर इन्द्र की पूजा त्याग कर गोवर्धन पर्वत का पूजन होने पर इन्द्र का कोप 'रौद्र रस' की कोटि तक पहुँच गया है।

---

1 'ललमामुथ्पिल पल कणप्पोल्लमु
वरमारी एङुम पोळिन्दु पुनलिट्टु
मनिवानुरवेळ्ळम कोप्पवन पोल
मारन्मन प्रुन पुळम कात्त मले"

—पेरियाळ्वार तिरुमोळी १-५-८

2 सूरसागर (सभा) पद स० ९७० पृ० ८७

3 परमानन्द सागर (सं० डा० गो० ना० शुक्ल) पद सं० २०७, पृ० ६१

प्रथमहिं देउँ गिरिहिं बहाइ।
ब्रज-वासनि करौं चुरकुट, देउँ धरनि मिलाइ॥
मेरी इन महिमा न जानी, प्रगट देउँ दिखाइ।
बरसि जल ब्रज धोइ डारौं लोग देउँ बहाइ॥
खात-खेलत रहे नीकैं करी उपाधि बनाइ।
बरस दिन मोंहिं देत पूजा दई सोउ मिटाइ॥
रिस सहित सुरराज लीन्हे प्रलय मेघ बुलाइ।
सूर सुरपति कहत पुनि-पुनि परौ ब्रज पर जाइ॥[1]

(इस पद में क्रोध स्थायीभाव है इन्द्र आश्रय ब्रजवासी आलम्बन पूजा को मिटा देना उद्दीपन विभाव पर्वत को धूल में मिलाना मेघों को बुलाकर ब्रज में बहाने के लिए आदेश देना अनुभाव और खोई हुई पूजा की स्मृति संचारी भाव है।)

परमानन्ददास के निम्नलिखित पद में भी रौद्र रस की व्यंजना हुई है—

काहे कौं मारग में खप खेलत।
नन्दराइ को मातो हाथी आवत असुर सपेलत॥
कहत ग्वाल सब सखा नन्द के मत्त परवत पुच ठेलत।
कंस बल को परिचित करि है छीन भरोसे रेलत॥
नाहिन सुनी पूतना मारी तनावर्त बच कैसी।
'परमानन्द दास' को ठाकुर है गोपाल पैसी॥[2]

अद्भुत रस

अद्भुत रस के प्रसंग आळ्वार तथा हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के काव्य में कई स्थानों पर हैं। बाल-लीला के अन्तर्गत कृष्ण के माटी-खाने का वर्णन है। एक गोपी ने आकर यशोदा से शिकायत कर दी कि तेरे लड़के ने मिट्टी खाई है। यशोदा ने कृष्ण को मुख खोलकर मिट्टी दिखाने के लिए कहा। कवि पेरियाळ्वार को अवसर मिल गया और उन्होंने कृष्ण मुखव्यादान में समग्र ब्रह्माण्ड को दिखाकर अद्भुत रस की सृष्टि कर दी। पेरियाळ्वार लिखते हैं—यशोदा ने मुँह को खोलकर देखा कि कृष्ण के मुँह के अन्दर सात लोक दीख रहे हैं। समस्त ब्रह्माण्ड दीख रहा है।[3] यशोदा कृष्ण के मुख में अखिल ब्रह्माण्ड को देखकर विस्मय विमुग्ध हो गई। सूर भी लिखते हैं —

---

१ सूरसागर (सभा), पद सं० १४७० पृ ५२९ ५७
२ परमानन्द सागर (सं डा० गो० ना शुक्ल) सं० ५०२ पृ० १७
३ 'ऐय वायॅझिलाऌ.वाकु एंवनामित्र।
वय मैऌन कण्डाऌ सिर्ऌवायुऌे।
—पेरियाळ्वार तिरुमोऴि १ १ ६

अखिल ब्रह्माण्ड खण्ड की महिमा दिखरायो मुख माहीं।
सिन्धु, सुमेरु, नदी, बन पर्वत चकृत भई मन माहीं॥[1]

मुरली के विस्मयावह प्रभाव के चित्रण में भी पेरियाळ्वार और सूरदास ने अद्भुत रस का समावेश किया है। पेरियाळ्वार लिखते हैं— श्याम मुरली बजाने लगे। मुरली की मधुर-ध्वनि सुनकर देवलोक की मेनका उर्वशी तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ भी लज्जित होकर अपने नृत्य-गीत छोड़ देवलोक के द्वार पर खड़ी मुरली नाद सुन रही थीं। पक्षीगण अपने घोंसले छोड़कर श्याम के चारों ओर आकर घेरने लगे। पशु-गण भी जमीन पर लेटे-लेटे मुरली नाद को सुनने में रत थे। हिरण के समूह भी घास चरना भूलकर चित्र लिखित से हो गये। फूल पुष्प-वर्षा करने लगे। फूलों में मधु की धारा बह उठी। पेड़ों की डालें नीचे की ओर झुक गयीं मानों कृष्ण की ओर देखकर प्रणाम कर रही हों।"[2]

सूर के नीचे लिखे पद में भी मुरली-ध्वनि को सुनते ही आश्चर्यजनक घटनाओं के घटित होने का उल्लेख किया गया है—

मुरली सुनत अचल चले।
थके चर, जल झरत पाहन विफल वृक्ष फले॥
पय स्रवत गोधननि थन तें प्रेम पुलकित गात।
झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव विटप चंचल पात॥
सुनत खग-मृग मौन साध्यो चित्र की अनुहारि।
धरनि उमगि न माति उर में जती जोग बिसारि॥
ग्वाला गृह-गृह सबै सोवत वहै सहज सुभाइ।
सूर-प्रभु रस रास के हित सुखद रैनि बढ़ाइ॥[3]

परमानन्द दास के निम्नलिखित पद में अद्भुत रस का समावेश है —

कसौ माई अचरज उपजे भारी।
पवन लियो उठाय अंक तें सात बरस को बारी॥
सात द्यौस निसि इकटक ही पानी बाम पानि पर धारयो।
अति सुकुमार कुंवर नन्द को बोल ब्रह्मचारी॥

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ८७१ पृ० ३४०

२ "मैनकैयाढ़ु तिलोत्तमै अरम्बै उरुप्पसियरवर वेळ्कि मयंगी
वानकम पडियिल वाय तिरप्पिन्ड्रि आडल पाडलवै मारिनर ताम"
परवैयिन कणंगळ कूडु तुरन्दु वन्दु सूळ्न्दु पडुक्काडु किडप्प
करवैयिन कणंगळ काल परप्पिट्टु कविळ्न्दिरंगी सेवियाट्टु किडप्पे।
—पेरियाळ्वार तिरुमाळी ३-६ ४, ८ ९ व १०

सूरसागर (सभा) पद सं० १९८६ पृ० सं० १२८

बरसे मेघ महा-प्रलय के तिनते घोष उचारयो ।
मोहन ग्वाल गोप सब राखे सुरपति गरब प्रहारयो ॥[1]

भयानक रस

आळ्वार-साहित्य में भयानक रस प्रधान बहुत कम प्रसंग हैं। तिरुमंगै आळ्वार ने 'सिंहवेळ कुन्द्रम्' नामक भयानक वन-प्रदेश का वर्णन करते हुए लिखा है— बांसों के टकराने से पैदा होने वाली आग सारे आकाश को रक्तिम कर देती है, मानों आकाश ही जल रहा हो। सिंह, हाथी आदि जंगली जानवर भयभीत होकर भयंकर आवाज करते हुए इधर-उधर भागते हैं।"[2] तिरुमंगै आळ्वार के इस वर्णन में भयानक रस की व्यंजना हुई है।

सूरदास जी के कुछ पदों में भयानक रस के उदाहरण मिल जाते हैं। मेघों की घनघोर वर्षा से ब्रजवासी भयभीत हो उठे। उस समय का वर्णन करते हुए सूर लिखते हैं:—

मेघ-दल-प्रबल ब्रज लोग देखैं ।
चकित जहँ-तहँ भए, निरखि बादर नए, ग्वाल गोपाल डरि गगन देखैं ॥
ऐरे बादर सजल करत अति महाबल चलत घहरात करि अंधकाला ।
चकित भए नंद सब महर चकित भए, चकित नर-नारि हरि करत ख्याला ॥
घटा घन घोर घहरात अररात दररात थररात ब्रज लोग डरपे ।
तड़ित-आघात तररात उतपात, सुनि नारि-नर सकुचि तन प्रान अरपे ॥
कहा चाहत होन, भई कबहूँ जो न, कबहुँ आँगन भौन बिकल डोलैं ॥[3]

(इस पद में ब्रजवासियों के हृदयों में भयंकर वर्षा के कारण उत्पन्न हुआ भय स्थायी भाव है। अन्धकार फैलना बिजली कड़कना आदि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत है। ब्रजवासियों का व्याकुल होना शंकाकुल होना आदि अनुभाव हैं और इधर-उधर दृष्टि विक्षेप, 'क्या होने वाला है' आदि उक्तियों से चिन्ता आदि का प्रकट करना संचारी भाव है।)

---

१ परमानन्द सागर (म० डा० गो० ना० गुप्त), पद सं० २१८ पृ० ८४

२ "जाहतताळे मेघु ओंगिप्प कनमदर पेरुंदळ्ळ् पोय ।
तेड़त्त तीयाल विसुम्बुचित्तरुम सिंहवेळ कुन्रमे ।"
"वीरिस्स वैयिम मुळंगुळ सिंगु नोलमैरियम उळ्ळै ।
तिरिन्द आनैयुवुट पाय्ंदुम सिंहवेळ कुन्रमे ।"
—पेरिय तिरुमोळि १-७-६ व ८

३ सूरसागर (सभा), पद सं० १५०१ पृ० ५५८

बीभत्स रस

हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य में बीभत्स-प्रधान पद बहुत कम हैं। आळवारों के काव्य में एकाध उदाहरण बीभत्स रस के भी मिल जाते हैं। तिरुमंगे आळवार बुढ़ापे का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"बुढ़ापा आ गया है। शरीर कुबड़ हो गया है। वह एक-एक पैर को धीमे से आगे रखता हुआ जाता है। हाथ काँपते हैं। पीठ पर हड्डियाँ दीख रही हैं। आँखें बिलकुल धँस गयी हैं मानो गड्ढों में पड़ी हों। शरीर में झींके की भाँति हड्डियों का जाल मात्र रह गया। शरीर शक्तिहीन हो गया है। आँखों से पानी निकलता है। मुँह से कफ निकल रहा है। वह बार-बार खाँसता है। शरीर में फुन्सी-फोड़े हैं जिन पर मक्खियाँ रह रहकर उड़ा रही हैं।"[1] (कवि का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के बुढ़ापे के आने के पहले ही मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए।)

बीभत्स रस का स्थायी भाव 'घृणा' है। जिनौने दृश्य इसके आलम्बन हैं। उसमें कृमि मक्खियाँ दुर्गन्ध आदि उद्दीपन हैं। थूकना मुँह सिकोड़ना मुँह फेरना आदि अनुभाव हैं। मोह अपस्मार, व्याधि आदि संचारी हैं।

शान्त रस

शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' है। संसार से ग्लानि एवं विरक्ति की भावना इस रस के मूल में है। संसार की निस्सारता अपने पापों की गणना और किये पर पश्चाताप आदि अनुभाव तथा हर्ष, आत्म-ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। आळवारों के या हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों के विनय के पदों में शान्त रस की प्रधानता है।

तिरुमळिशै आळवार के एक पद का भाव इस प्रकार है —

'हे मेरे मन! भगवान् की वन्दना और स्तुति करो। यह ज्ञात था कि मनुष्य जीवन बिलकुल मिट जाने वाला है। अविरत रूप से बीतते रहते दिन वर्ष की तरह आयु की अवधि काटते रहते हैं और व्याधि जरा और मरण में जीवन की परिणति होती है। यह भी जान लो कि ज्ञान की अच्छाई बाधा पर निर्भर है। प्रार्थना करो

---

[1] "उड़मुरु कोल तुर्पेमा मुमडि नोक्को वार्ड़मु।
इड़ काल पोल तस्ठी मेल्ल इरुन्दु अंकु इळैयामुन।'
मुड़क पद्धि कंसमत्ताल मुन्नोड कामुर्दी।
विदिर विदिरत् तम मुलन्दु मैविळ्ळ कोषुं इरुमि।
परिवळ पोल मेहनरम्येळु मु अन तळम्मु उरुळोमन्दी।
पीळ्ळ चोर कण्णिनु की पित्त प्रु मुण् इरुमि।
तालवळ मोयतम्मिल मुदि तस्ठि नडुवामुन।"

—पैरिय तिरुमोळी १ १ १ से ४

कि भगवान् के चरण कमल तुम्हें उत्कृष्ट मोक्ष-सुख को प्रदान करें जिससे पुर्नजन्म संभव न हो।"[1]

तोंडरडिप्पोडी आळ्वार के दो पदों का भाव इस प्रकार है —"हे करुणामूर्ति! मेरा अपना गाँव नहीं अपना घर नहीं और पूछने वाला कोई बन्धु नहीं। इस पार्थिव जीवन में मैंने आपके चरणों की पूरक शरण तक नहीं ग्रहण की। अब तो भारी क्रन्दन करता हूँ। मुझे अवलम्ब दीजिए। मेरे मन में थोड़ी भी शुद्धता नहीं। मुँह से एक भी हित वचन नहीं निकलता। क्रोध से द्वेष-बुद्धि का दमन नहीं कर पाता। हे कृपासिन्धु! अब मैं आपकी शरण में आया हूँ। मेरा उद्धार कीजिए।"[2]

सूरदास जी की निम्नलिखित पंक्तियों में शान्त रस की व्यंजना हुई है —

थोरे जीवन भयौ तन भारी।
कियौ न संत-समागम कबहूँ लियौ न नाम तुम्हारी।
अति उनमत्त मोह-माया-बस नहिं कछु बात बिचारी॥
करत उपाय न पूछत काहू गनत न खाटी-खारी।
इंद्री स्वाद-बिबस निसि-बासर आप अपुनपौ हारौ।
जल औंडे मैं धाइ बिलि पैर्यौ पाउ कुल्हारी मारी।
बाँधी मोट पसारि त्रिबिध गुन नहिं कहुँ बीच उतारी।
देख्यौ सूर बिचारि सीस परी अब तुम सरन पुकारी।[1]

× × × ×

रे मन गोबिन्द के ह्वै रहिए।
इहि संसार अपार बिरत ह्वै जम की त्रास न सहिये।

---

१ वाळ वळ्ळाडी वाळवळ वेरुल भोइमी कुलिन्दु कुम्मैदवी।
माळ माळावत्ताम वर्णैकी वाळत् एल नेंजमे।
चाळत्ताकुम नम्मै वैम् नक्कुणैमत्तन्दिकुम।
मीळ मिलाद भोगमू नल्क वेण्डुम माल पादमे।'

—तिरुच्चन्दविरुत्तम, ११२

२ ऊरिल्लेन काणियिल्लै उरवु मट्रोरुवरिल्लै।
पारिल निन्पाद मूलम पट्रिलेन परममूर्ति।
कारोळि वण्णने। कण्णने कदरुकिन्ड्रन।
'अरुतिल्ल मीर एनक्कु अम्मे कण्णिप्पोय कृपानिधि।
चिनत्तिनाल सेट्रम नोक्की तीविनैत्तिरुत्तम आरा।
एनक्कु इनिकदिर एन्नोल्लाय? एन्दै वाळ ई कोवे।

—तिरुमालै २९ और ३०

१ सूरसागर (सभा) पद सं० १२९ पृ० ५०

सुत, सुत कीरति, भाग अपने आई परै सो गहिये।
सूरदास भगवंत-भजन करि अंत बार कछु लहिये।[1]

वर्णन-वैचित्र्य

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति आदिकाल से ही मानव की सहचरी रही है। जन्म से मरण तक फैले हुए जीवन के विस्तृत क्षेत्र में प्रकृति उसके साथ रहकर भाव विकास और आनन्द प्रसार में योग देती रही है। प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में विचरण करने वाले कवि ही अमर-काव्य की रचना कर सके हैं। काव्य का मूल उद्देश्य तो शेष सृष्टि के साथ मानव हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है। अतः काव्य में प्रकृति चित्रण की अनिवार्यता असंदिग्ध है। अष्टछाप भक्त और आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवि भी उपर्युक्त नियम के अपवाद नहीं थे। इनके काव्य के अन्तर्गत प्रकृति चित्रण व्यापक और विविध रूप में हुआ है। अष्टछाप भक्तों के विषय में यह कहा जा सकता है कि जगह-जगह जाकर भक्ति-प्रचार करने के हेतु उन्होंने प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में विचरण किया था। स्वयं प्रकृति प्रेमी होने के कारण इनके भक्ति-काव्य में भी प्रकृति चित्रण का समावेश स्वतः हो गया है। आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने भी ब्रज के रमणीय प्राकृतिक वातावरण में रहने के कारण उसके प्रत्येक अंग का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। अतः प्रकृति के विविध रूपों का भव्य चित्रण इनके काव्य में उपलब्ध है।

प्रकृति चित्रण के विविध रूप

जिस प्रकार जीवन के प्रति प्रत्येक मनुष्य का दृष्टिकोण अपने मस्तिष्क के विकास, बुद्धि की प्रखरता, अनुभव, ज्ञान और संस्कारों के प्रभाव के अनुसार भिन्न होता है, उसी प्रकार प्रत्येक कवि की प्रकृति विषयक चेतना भी उसकी अपनी ही होती है। वह प्रकृति का भिन्न-भिन्न रूपों में अवलोकन करता है और स्वतन्त्र रूप से उसका चित्रण करता है। कभी आलम्बन के रूप में कभी उद्दीपन के रूप में वह प्रकृति का चित्रण करता है। उद्दीपन के अन्तर्गत प्रकृति के साथ मानवीय भावनाओं के सम्बन्ध की इतनी अनेकरूपता प्राप्त होती है कि उसका संकुचित शास्त्रीय परिभाषाओं में बाँधना कठिन है। कभी कवियों ने भाव को आधार मानकर प्रकृति को उसी के अनुरूप चित्रित किया है और कभी प्रकृति को आधार मानकर भाव-जगत् में उसकी प्रतिक्रिया का संश्लेषणात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। कभी मानवीयता अथवा मानव-सापेक्षता का आरोप उस पर किया गया है, और कभी उपमानों के रूप में प्राकृतिक सौन्दर्य के असीमित उपादानों को ग्रहण किया गया है। अलंकार का प्रयोग तो सर्वत्र देखने को मिलता ही है।

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ९२, पृ० २१

सामान्यतः काव्य-ग्रन्थों में प्रकृति के ६ भिन्न रूपों के वर्णन मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

१—आलम्बन
२—उद्दीपन
३—अलंकार
४—मानवीकरण
५—नीति और उपदेश का माध्यम
६—परम तत्व के दर्शन।

आळ्वार भक्तों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्तों के काव्य में प्रकृति के इन विविध रूपों का पर्याप्त चित्रण हुआ है। इनके काव्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप ही बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त होता है।

१ आलम्बन-रूप

आलम्बन-रूप में प्रकृति कवि के लिए साधन न होकर साध्य बन जाती है। कवि प्रकृति का निरीक्षण करता है और उसके सूक्ष्म तत्वों के प्रति आकर्षित होता है। उसका मन प्रकृति-दर्शन में रम जाता है वह आत्म विभोर हो उठता है और अपनी तल्लीनता में हृदय की मुक्तावस्था को प्राप्त होता है।[1]

प्रकृति का आलम्बन-रूप में वर्णन आळ्वार-काव्य में तथा हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य में पर्याप्त मात्रा में हुआ। प्रातःकाल का स्वाभाविक वर्णन तोंडरडिप्पोडी आळ्वार के काव्य में देखिए —

'सूर्य पर्वत शिखर पर पहुँचा है। घोर अन्धकार दूर हुआ। मधुर प्रातःकाल में मधु-पूरित पुष्प-समूह पर भ्रमर मँडराने लगे हैं। हाथी झुण्ड में अपने विशाल कानों को हिलाते-हिलाते आ रहे हैं मानो समुद्र में उठने वाली ऊँची-ऊँची लहरें हों। कुसुमित लता-कुञ्जों से होकर मन्द मारुत बह रहा है। सूरज की सुन्दर किरणें सर्वत्र फैल रही हैं, जिससे नक्षत्रों का झिम-झिम प्रकाश पूर्णतः विलीन हो गया। सुपारी के पेड़ की कलियां का गुच्छा फूटकर झूम रहा है। उसके सौरभ से मारुत सुगन्धित हो रहा है। पक्षी-समूह का कलरव सुनाई दे रहा है। सुन्दर कमल खिल उठे हैं। वन की ओर गायों को चराने के जाने वाले ग्वाल-बालकों का मुरली-नाद भी सुनाई दे रहा है। मधुर गीत-ध्वनि आकाश में गूंज उठती है। अब सवेरा हो रहा है। जागिए, हे श्री रंगपति।[2]

---

१ हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—डा० किरण कुमारी गुप्ता पृ० ३२
२ "कदिरवन गुण दिसै शिखरम् वन्दणैन्दान।
कनै इरुळ् अगन्ऱदु कालैयम्पोळुदाय।
मदु विरिन्दोळुगिन मामलरेल्लाम।

कविवर सूर के निम्नलिखित पद में प्रातःकाल का स्वाभाविक वर्णन देखिए —

बोले तमचुर, चार्‌यौ जाम कौ गजर मार्‌यौ
पौन भयौ सीतल तम तें तमता गई।
प्राची अरुनानी भानु किरनि उज्यारी नभ छाई
उड़ुगन चन्द्रमा मलीनता लई।
मुकुले कमल बच्छ बन्धन बिछोहे ग्वाल,
चरें चलीं गाइ, द्विज बेली कर सौं लई।
सूरदास राधिका सरस बानी बोलि कहै,
जागौ प्रान प्यारे जू सवारे की समै भई।[1]
बिगसे कुमुदनी, चंद की ज्योति घटानी
रजनी बिहानी प्राची पियरी प्रभात की।
तारिका दुरानी, तम भज्यौ, तमचुर बोले।
जागन चलक परी ललिता के तात की।
भृङ्ग मिले सारङ्ग, बिछुरी चोरी कोक मिले
उतरी पनच सब काम के कमान की।
अलसात आए मुहु बहुरि जगत भानु,
उठो प्राननाथ बड़ा लाग जगि जानकी।[2]

तिरुमंगै आळवार के पदों में आलम्बन-रूप से प्रकृति का सुन्दर और व्यापक चित्रण हुआ है। पर्वत-निर्झरिणी की फेन राशि कवि की दृष्टि में हवा में उड़ती चमर

वालवरसर वळ वसु वन्तोण्डी
इव कळिङ्गीयुदुम पिडियोडु मुरसुम।
मदिशेसिल पले कडल पोन्‌दमुन्दु वंदुम
वळ फोडी मुखंसिम गोडु ममरवाली।
सुन्दु गुण विम मारुतम इशुपो
कुरोळि परम्तन सूळ विदीपेन्ताम।
तुलिय सारदी मियोळी पुलकी
पामिरळन्दुयु देव्वीळिर्मुकिम।
महतिर्वेन्तोरि वण्णवळ मार
मापर्कळ वेंद्रमोर्णपुल विधिमपि।
करमुम ईडिय वसे विरी परन्ताम।
अरंगतम्मा। पळिन एळु न्तरुळाये।" —तिरुपल्लिएळुच्चि १ से ४ तक

१ सूरसागर (सभा) पद सं० २६४६ पृ० ६४८
२ वही („) पद सं० २६५७ पृ० ६४९

व्यथा के रूप में दीख पड़ती है।[1] कवि ने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया है और उसका मन प्राकृतिक सौन्दर्य में पूर्णतः रम गया है। चावल के खेत में भरे पानी में जब हंस तैरते हैं, तब चावल के पौधे पवन के हल्के झोंकों से हिलते हैं, मानों वे हंसों के लिए चामर हों।[2]

प्रकृति के उग्र रूप का भी चित्रण कहीं-कहीं मिल जाता है। दावानल का चित्रण सूरदास ने इस प्रकार किया —

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
बरत बन-बाँस थरहरत कुस काँस जरि, उड़त है भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट फूल-फल चट चटकि, फटत लटलटकि द्रुम द्रुम नवायौ।
अति अगिनि-झार भंभार धुंधार करि, उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महा धरनी गिरायौ।।[3]

गोधूलि की सुरम्य बेला में चाँद गगन-पथ पर आरूढ़ हो गया है। बालक कृष्ण चाँद को लेने के लिए हठ करता है। प्रिय पुत्र को सन्तुष्ट करने के लिए माता ममता भरे शब्दों में चाँद से कहती है— 'हे नीलाम्बर स्थित तेजोमय चाँद! मेरा यह लाल मेरी कमर पर बैठकर अपने बड़े-बड़े ज्योतिर्मय लोचनों से तुम्हें देखकर बुला रहा है। यदि तुम इस छोटे श्याम के साथ खेलना चाहते हो तो मेघों के पीछे मत छिपो। देर मत करो। तुम्हारी ओर संकेत करने वाले नन्हें के हाथ कर थक नहीं जावें। जल्दी आ जाओ।'"[4]

१ विलंक तिमुरिरिधि मेल विरुद्ध विधुम्मित।
वेम्बुर्पिल्कोरि येन विरिप्पु।
वसन्तर मणि नोर कोकिलन कर्र मेल।" —पेरियतिरुमोळी १ ४ १
पाश्चात्य कवि टेनिसन ने भी इसी प्रकार की कल्पना की है—
"A land of streames, some like a downward smoke
slow dropping veils of thinnest lawn did go"
A. L. Tennyson *Poems and Plays* p. 101

२ चम्पमामलररविमलत्तमळियन पेडैयोडुम इनि अमर।
चेमेल्सार कर्परिल्कुमे वोडु तण तिरुवयिन्ती पुरमे।"
—पेरिय तिरुमोळी १ १-७

३ सूरसागर (सभा) पद सं १२१८ पृ ४७२

४ चन्द्रन कन्डलोडु माडत्ताड उयवियेल।
मंजिन मरंगारे मामती। मविक्ड मलोरी वा
वल्लररर्कपन तटर्कण्णान मलर विळित्त
मोरकसे वैनिन्नु उर्प ये चुट्टि वारुडुम काण'
—पेरियाळ्वार तिरुमोळी १ २ ८

सूर के हठी कृष्ण भी कहते हैं—

मैया री मैं चन्द लहौंगो ।
कहा करौं जल पुट भीतर कौ, बाहर ब्यौंकि गहौंगो ।
यह तौ झलमलात झकझोरत कैसै कै जु लहौंगो ।
वह तो निपट निकट ही देखत, बरज्यौ हौं न रहौंगो ।[1]

२ उद्दीपन रूप

वस्तुतः आलोच्य कवियों के प्रकृति-वर्णन का महत्व उद्दीपन-रूप में ही सर्वाधिक है । इन कवियों ने उद्दीपन-रूप में प्रकृति में अद्भुत प्राण-प्रतिष्ठा की है । चतुर सखी की भाँति प्रकृति राधा और कृष्ण के मिलन के लिए उनके प्रेम-भाव का उद्दीप्त करने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है । शरद ऋतु की चाँदनी वृन्दावन के भी कुञ्ज में छिटक रास का निमन्त्रण देती है । सूर का निम्नलिखित पद देखिए—

सरद चाँदनी रजनी सोहै, वृन्दावन श्री कुंज ।
प्रफुलित सुमन विविध रँग जहँ-तहँ कूजत कोकिल-पुंज ॥
जमुना पुलिन स्याम घन सुन्दर, अद्भुत रास उपायौ ।[2]
× × ×
मानु मिलि सोभित सरद सुहाई ।
सीतल मंद सुगंध पवन बहै, रोम-रोम सुखदाई ।
जमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रुचि मंडली बनाई ॥[3]

तिरुमंगै आळ्वार की नायिका को भी प्रकृति प्रिय-मिलन के लिए प्रेरित करती है । वे लिखते हैं— शाम आयी । इस मनोहर बेला में सुवासित सुमनों के परिमल को चुराकर आने वाला शीतल पवन जब नायिका के स्तनों का स्पर्श करता है तब नायिका के मन में प्रिय मिलन के लिए गुदगुदी पैदा होती है ।"[4]

राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन के समय प्रकृति अपने कामोद्दीपन कर्तव्य को उचित रूप में पूरा करती है और देखते ही देखते गगन गहरा उठता है काली घटाएँ छा गई पवन झकोरे लेने लगा चपला चमकने लगी आकाश श्याम वर्ण हो गया, दोनों रोमांचित हो गये ।[5] उनके साथ प्रकृति भी रस विलास कर रही है—

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ८१२ पृ० ३१७
२ वही ( ) पद सं० १७९९, पृ० ६७२
३ वही ( ), पद १७४६ पृ० ६५२
४ "मल्लिकावसम मधुवुण पनुवलियं पुरु मतमोदुम ।
मन्द मारुतम मुलै तदवरु वति वैदनोक्किप्पते ।"
—पेरिय तिरुमोळी ८ ५ १
५. सूरसागर (सभा) पद सं० १३०२, पृ० ५००

नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस नवल कुँवरि वृषभानु-किशोरी।
नयौ पीताम्बर, नई चूनरी नई-नई बूँदनि भीजति गोरी॥
नये कुंज अति पुंज नये द्रुम सुभग यमुन-जल पवन हिलोरो।
सूरदास प्रभु नव रस विलसत नवल राधिका जोबन-भोरी॥[1]

श्री हित हरिवंश ने भी परंपरानुसार यमुना-तट और करील कुञ्जों का (उद्दीपन रूप में) वर्णन किया है —

सरद बन नीके रास बनायौ।
पुलिन पवित्र सुभग यमुनातट मोहन बेनु बजायौ।
कल-कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायौ।
सुवलित मंडल मध्य स्यामघन सारंग-राग जमायौ॥[2]

विप्रलम्भ शृङ्गार में तो हमारे कवियों के उद्दीपन रूप में किये गये प्रकृति वर्णन अनूठे सूक्ष्म और सरस हैं। वियोग की १० काम दशाओं के अतिरिक्त उन्होंने कितनी दशाओं का वर्णन किया है, जो साहित्य में अमूल्य है।

वियोग में मनुष्य को जब अतीत के सुखद दिनों की स्मृति सताती है तो पुराने छाया-चित्र उसके नेत्रों के सम्मुख प्रकट होने लगते हैं। तिरुमंगै आळ्वार की नायिका के लिए सुन्दर विकसित कुवलै (पुष्प विशेष) प्रियतम का भावात्मक स्मरण करा देते हैं।[3] सुरम्य पुलिन छिटकती चाँदनी विकसित अरविन्द तथा सारा वातावरण नायिका के सम्मुख छाया-चित्र उपस्थित करते हैं।[4]

स्मृति पूर्वानुभूत सुखों की कल्पना के चित्रपट पर लाकर उनकी तुलना में वर्तमान की दीनावस्था को और भी गहरे रंग में रंग देती है और विरहावस्था में तो ये सब प्राकृतिक वस्तुएँ विपरीत प्रभाव प्रकट करने वाली प्रतीत होती हैं। राधा कहती हैं—

फूल बिनन नहिं जाऊँ सखी री हरि बिन कैसे बीनों फूल।
सुन री सखी मोहिं राम दुहाई फूल लगत त्रिशूल।
ज्यों देखियत रसौ रसौ—फूलन फूली डार।
हरि बिनु फूल झार से लागत झरि झरि परत अंगार।
सखी क पनघट जाऊँ सखी री! डोलौं सरिता तीर।
भरि भरि यमुना उमड़ि चली है, इन नैनन के नीर॥[5]

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० १२०१ पृ० ४०१
२ कविता कौमुदी
३ पेरिय तिरुमोळि ३ ४ ३
४ वही ३ ४ ६ व ७
५ भ्रमर-गीत १६१

उपवन पनघट और यमुना-तट जो कभी उनके आमोद-प्रमोद के स्थल थे वे सब उनको अब वियोगावस्था में पीड़ित करते हैं।

तिरुमंगै आळ्वार की नायिका को वियोग में "शीतल चन्द्र भी अग्नि के समान लगता है। चाँदनी भी नायिका को जलाती है। सुन्दर गहने भी शरीर को आघात कर देते हैं। शीतल समीरण भी अग्नि से भी भयंकर मालूम होता है।"[1] कविवर नन्ददास की गोपियों को भी कृष्ण-वियोग में चन्दन चन्द्र आदि अग्नि-वर्षा करने वाले प्रतीत होते हैं—

ज्यों चन्दन, चन्द्रमा तपन तें सीतल करहीं।
तिय विरही को लोय, मिलहि लगि आग बितरहीं ॥[2]

वियोग में नायिका की इच्छा होती है कि उसकी वेदना का अनुभव समस्त भू मण्डल को हो उपवन सूख जायें संसार उजड़ जाये और जड़ एवं चेतन—सब पदार्थ उसकी भाँति वेदना से भुने हो जायें। मधुबन को हरा-भरा देखकर सूर की गोपी ईर्ष्या से झुंझला उठती है—

मधुबन तुम क्यों रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ॥[3]

इसी प्रकार पावस में मोर उसे शत्रु के समान प्रतीत होते हैं—

हमारे माई मोरवा बैर परे।
घन गरजे बरजे नहिं मानत त्यों त्यों रटत खरे ॥[4]

आण्डाळ कहती है—"हे कार्कोडल पुष्प (पुष्प विशेष)! तुम खिल खिल कर मुझे क्यों सताते हो? हे मुल्लै लता (पुष्प विशेष)! तुम क्यों मुझे देखकर परिहास कर रही हो? पावस में रत कोकिल! तुम गा गाकर मुझे वेदना क्यों देती हो? हे मोर! तुम नाचकर मेरा अपमान क्यों करते हो?"[5] नम्माळ्वार की विरहिणी

---

१ "कामनुम् कुयुम् चन्दनमुळम्नुम
तदमुर्रसु तरियसिमुम् ताळनाय
मेन्द वेमतिवळ वरिर मुळमेनियम्
तैन्दुमुम सीपिकोसिताम।'   —पेरिय तिरुमोळि २-७-३ व ४

२ रास पंचाध्यायी, तृतीय अध्याय ९१

३ सूरसागर (सभा), पद सं० १८२८

४ वही (,,) पद सं० ३९४७

५ 'कार्कोडल पूक्काळ्! कार्क्कडल वण्णन् एन् मेल् उम्मै
पोर्क्कोलम् सेय्दु पोरविडुत्तवन् एङ्गुळ्ळान्?'
"मुल्लै पिराट्टी! नी उन् मुरुवल्गळ् कोण्डु एम्मै
अल्लल् विळैविये आळियंकाय।
पाडुम् कुयिल्गाळ्! ईदु एन्न पादम्?

नायिका को हंसों की जोड़ों में देखकर ईर्ष्या होती है और वह उन्हें कोसती है। किन्तु प्रकृति को समदुःखी देखकर विरहिणी का हृदय सहानुभूति से भर उठता है। कोकिल को सर्वदा 'कुहू-कुहू' करते हुए देखकर आण्डाळ समझती है कि वह भी किसी के वियोग में है।[१] नम्माळ्वार की विरहिणी अशान्त सागर-तरंगों को देखकर समझती है कि वे भी किसी के वियोग में तड़प रही हैं।[२] सूर की गोपी कहती है—

बहुत दिन जियो पपीहा प्यारे।
बासर रैनि नाँव लै बोलत भयो बिरह जुर कारे।[३]

कृष्ण के वियोग में विरहिणी गोपियों की दृष्टि में कालिन्दी की भी क्या दशा हो जाती है देखिए—

देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों भई बिरह जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तें गिरति धरनि धंसि तरंग तरफ तन भारी।।[४]

विरह के अनवरत दुःख से दुःखी होकर विरहिणी प्रकृति से अपना एकात्म्य स्थापित करती है। चेतन-अचेतन का भेद भूलकर प्रकृति को अपनी सखी समझ लेती है और अपना दुःख निवेदन करती है। प्रकृति विरहिणी की अन्तरंगिनी बन जाती है, वह कभी कोयल से कभी भ्रमर से अपना सन्देश कहती है। आण्डाळ कोयल से प्रार्थना करती है कि वह प्रियतम के आगमन की सूचना दे।[५] वह मेघों से प्रियतम के पास जाकर यह पूछने को कहती है कि एक विरहिणी अबला को इस प्रकार सताना कहाँ का न्याय है।[६]

कम मामयिम काळ। कण्ण पिरान तिरुक्कोलम पोन्
मणि माडम पनिग्गाडु किन्ड्रीकु मालिकोळ किन्ड्रेन"
—नाच्चियार तिरुमोळी १ १ ४ २ १

१ नाच्चियार तिरुमोळी ५ ४
२ तिरुविरुत्तम
३ सूरसागर (सभा) पद सं० ३९९२
४ वही („) पद सं० ३८०१
५ 'उयोदु तोळमी कोठ कम कुयिले
पत्तकल्यतम वरक्कूवाय"
—नाच्चियार तिरुमोळी ५ ५
६ विण्णिन मेलाप्पु विरुत्तीर्पोल मेघंगाळ।
तैण्णीरपाय वरूतल् एम तिरुमालुम् पोन्दाने ?
कण्णीर कठ मुलैक्कुवट्टिल तुळि चोरचचोवेने
पेण्णीरमयीडळिवुम इतु तमक्कु ओर पेरुमैये'
वही ८ ५

नम्मालवार की विरहिणी नायिका हंसों से प्रार्थना करती है कि वे प्रियतम के पास जाकर उसकी दयनीय दशा का वर्णन करें।[1]

सूर की गोपी भी कोकिल से प्रार्थना करती है कि वह किसी प्रकार उसके प्रियतम को व्रज में ले आवे —

> कोकिल हरि कौ बोल सुनाउ।
> मधुबन तैं उपहारि स्याम कौं, इहिं ब्रज कौं लै आउ।[2]

३ अलंकार-रूप

अलंकार-रूप में प्रकृति का वर्णन हमारे कवियों ने विस्तार से किया है। उन्होंने अपने आराध्य के सौन्दर्य के वर्णन के लिए प्रायः सभी परम्परागत उपमानों को अपनाया है। उपमा और उत्प्रेक्षा की इनके काव्य में भरमार है।

कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन में अंगों के उपमान बहुत कुछ परम्परा युक्त हैं। तिरुमंगै आळ्वार अपने इष्टदेव का वर्णन इस प्रकार करते हैं—"श्याम घन देह की कांति मरकत मणि की कांति है। सुन्दर तुलसी की माला वक्ष की शोभा बढ़ा रही है। पीताम्बर पवन इनके मुँह का रंग है। नयन विकसित कमल जैसे हैं। वदन का रंग पीताम्बर में मंडराते श्याम काले मेघों का है।[3] तिरुमंगै आळ्वार ने अन्यत्र सौन्दर्य-वर्णन में एक ही उपमान से काम लिया है। वे लिखते हैं—'कृष्ण के कर कमल जैसे हैं—मुख भी कमल नैन भी कमल और चरण भी कमल जैसे हैं।'[4]

कविवर सूर ने भी कवि-समय-सिद्ध उपमानों द्वारा रूप-साहस्य दिखाते हुए समान गुणों का आरोप किया है और अपने वाग्वैदग्ध्य द्वारा उपमानों को उचित सिद्ध कर दिया है —

> ऊधौ अब हम समुझि भई।
> नंदनंदन के अंग-अंग-प्रति, उपमा न्याय दई॥

---

1 अमम पेस्पीरुम अम्मालम पेसमीरुम तोळ्_तिरण्डेम
   एर्नीत्तमारै कम्टाल एमी बोसमी अवरिडै मीर
   इमम पेम्मारो ? इतुवोतकयेनु_ इरौमित्तको।" —तिरुविरुत्तम, ३०

2 सूरसागर (सभा) पद सं० ३९३८ पृ० १११२

3 पोन्निवर मेनि मरकतत्तिन् पोन्निर कोलि प्रकलात्...
   तामरैक्कण्णन् इमसताइर पोंपदत्तन इमर नामिन अम्मम
   पत्तिकेनु तामरैयम कन्नुम पंकोयुम पंकमम मेनि वानत्तु
   मणि मेछ मामुकिलेपुम प्रोप्पर मन्नो मोक्कपछिकियवा'
                                    —पेरिय तिरुमोळी ६ : ९ । ४ व ७

4 "वैं अन्नम तामरै वाय कमलम पोसुम
   कन्निमंतुम मरविन्दम अडियुम अवते"   —तिरुनेडुन्ताण्डकम, २१

कुन्तल कुटिल भवर भामिनि बर, मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियौ तब कपटी, जानि, निरस भई॥
आनन इंदु विमुख संपुट तजि, करखे तें न नई।
निर्मोही नव नेह कुमुदिनी अंतहु हेम हई॥[1]

कृष्ण के मनोहर रूप का कहीं-कहीं सूर ने ऐसा रूपक बाँधा है कि पूरा दृश्य ही सम्मुख आ जाता है—

देखौ माई सुन्दरता कौ सागर।
तनु अति स्याम अगाध अंबु निधि कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति भंवर परति सब अंग॥
नैन-मीन मकराकृत कुण्डल, भुज सरि सुभग भुजंग।
मुक्ता-माल मिली मानो द्वै सुरसरि एकै संग॥[2]

श्री हित हरिवंश ने अपने उपास्य की प्रेमिका राधा के अनुपम सौन्दर्य को चित्रित करने के लिए उपमा और उत्प्रेक्षा का जो प्रयोग किया है, उसकी छटा देखिए—

ब्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुट-मनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अंग-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यौं राजत कबरी गुंथित कच कनक कंज बदनी॥
चिकुर चंद्रकनि बीच अरध बिधु मानौं ग्रसत फनी।
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी॥
भृकुटि काम कोदण्ड नैन सर, कज्जल रेख अनी।
भाल तिलक ताटंक गंड पर नासा जलज मनी॥
दसन कुन्द सर सायर-पल्लव पीतम-मन-समनी॥[3]

तिरुमंगै आळ्वार नायिका के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"बिजली जैसी पतली कमर वाली नायिका के सामने स्वयं चन्द्र को लज्जित होना पड़ा।"[4] प्रतीपालंकार द्वारा कवि ने नायिका के मुख की प्रफुल्लता और दीप्ति को चन्द्र से भी श्रेष्ठतर बताया है। कवि नन्ददास ने भी लिखा है—

मुख अरविन्दन आगे जात अरविन्द नये सत।
भोर भये जनमन के दीपक, मंद परत जस॥[5]

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० ४२११ पृ० १२६७
२ वही ( ) पद सं० १२४६ पृ० ४८१
३ ब्रजमाधुरी सार (सं० वियोगी हरि) पृ० ७० एकादश संस्करण
४ "तुडिइडैयार मुकत्तमल चोति तमाम।
तिरुट मुकम् पनि पोर्कुम पटवार।" —पेरिय तिरुमोऴि ३ ४ ६
५ रास पंचाध्यायी—पंचम अध्याय २१

(व्यतिरेक के प्रयोग द्वारा उदाहरण देकर कवि ने उपमेय की उत्कृष्टता व्यक्त की है।)

तिरुमंगै आळ्वार ने कृष्ण के सौन्दर्य की तुलना चित्र में लिखित विकसित कमल से की है।[1] साधारण कमल तो मुरझा जाता है। चित्र में अंकित कमल का सौन्दर्य वैसा ही बना रहता। इस प्रकार कृष्ण के सौन्दर्य में उत्कर्ष प्रकट किया है। सूर ने लिखा है—

देखि री हरि के चंचल नैन।
खंजन-मीन-मृगज-चपलाई, नहिं पटतर इक सैन॥
राजिव-दल इंदीवर सतदल कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं व विकसित ये विकसित दिन राति।[2]

(व्यतिरेक द्वारा अप्रस्तुत कमल में रात्रि में संकुचित हो जाने का अवगुण दिखाकर प्रस्तुत नैनों में उत्कर्ष प्रकट किया है।)

विरह की दशा में नायिका की व्यग्रता बहुत बढ़ जाती है। वह प्रियतम के मिलन के लिए व्याकुल होती है। उसके नैनों में आँसू भरे हैं। वे डबडबाते हैं। इस दृश्य का वर्णन नम्माळ्वार इस प्रकार करते हैं— 'आँसू से भरे नैन मानों सरोवर के कम पानी में तड़पने वाले कयल (मीन विशेष) मीन हों।'[3] सूर की गोपियाँ विरह की दशा में अपनी विवशता से क्षुब्ध होकर उपमानों को अनुपयुक्त ठहरा देती हैं —

उपमा नैननि एक रही।
कविजन कहत-कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कही।
कहे चकोर बिधु-मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात॥

× × × ×

कमी बधिक ब्याध ह्वै आए, मृग सम क्यों न पलात॥
खंजन मन-रंजन न होंहि ये, कबहुँ नहीं अकुलात।
सूरदास मीनता कछू इक जल भरि कबहुँ न जात॥[4]

वे नैनों के उपमान चकोर, भ्रमर, मृग और खंजन को अनुपयुक्त ठहराती हैं क्योंकि उनके नैन प्रस्तुत उपमानों के व्यापार में असमर्थ हैं।

---

1 "एळु सिय तामरैयम कण्णुम।
एन्दोळिलावण्णुम तोळुम वायुम।"
—पैरिय तिरुमोळी ९-८-७

2 सूरसागर (सभा) पद सं० २४११ पृ० ८८०

3 वेळ्ळ नीर तडत्तु अयल मिळिर्वनपोल वेपरिककलुम।
पळ नीर पुळ्म्म प्रलमकलिमुम —।
—तिरुविरुत्तम १

4 सूरसागर (सभा), पद सं० ४११० पृ० १४११

४ मानवीकरण

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही 'मानवीकरण' है। प्रकृति को मानव का सा बाह्य आकार और रूप देने की परम्परा तो प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इसके आधार पर काव्यकारों ने प्रकृति में मानव क्रिया और मानव-व्यापार का भी अनुभव किया है और उसमें सुन्दरी नायिका के से हाव-भावों का अवलोकन कर प्रकृति के प्रति अपना उत्साह प्रदर्शित किया है। कवि का प्रकृति प्रेम प्रकृति-सुन्दरी के स्मित-कलाप तक ही सीमित नहीं रहता अपितु वह उसको अनुराग क्षोभ और विषाद आदि के भावों से पूर्ण देखता है।[1]

आळ्वार भक्तों में नम्माळ्वार की कुछ कविताओं में प्रकृति के मानवीकृत रूप के चित्र मिलते हैं। प्रियतम के वियोग में पड़ी नायिका के लिए शाम सूनी-सूनी मालूम पड़ती है। सूरज का अस्त हो गया और चन्द्र का उदय हो रहा है। कवि की कल्पना देखिए— पश्चिम दिशा रूपिणी विधवा स्त्री सूरज रूपी अपने पति को खोकर चन्द्र रूपी अपने नन्हें पुत्र को अपनी कमर पर रखकर विलाप कर रही है।'[2] इसमें कवि ने मानवीकरण की भावना प्रदर्शित की है। एक और उदाहरण लीजिए। डूबते हुए सूरज को देखकर कवि कह उठता है— दीर्घकाल तक विस्तृत साम्राज्य फैलाकर कठोर शासन करने के पश्चात् सूरज—राजा भी विलीन हुआ।[3]

कविवर नन्ददास के काव्य में प्रकृति के मानवीरूप के अच्छे चित्र मिलते हैं। गोपियों और कृष्ण के विहार के आनन्दातिरेक से प्रकृति रूपिणी स्त्री का हृदय अब भी धड़कता है—

> निरखि परस्पर छबि सों बिहरति प्रेम-मगन भरि।
> प्रकृति-वाम की छाती, अजहुँ धरकति धरि-धरि ॥[4]

इसमें कवि ने मानवीकरण की भावना प्रदर्शित की है। वियोगावस्था में तो आदि कवि से लेकर प्रायः सभी कवियों ने प्रकृति से तादात्म्य स्थापित किया है और प्रकृति में संवेदना प्राप्त की है। किन्तु नन्ददास ने प्रकृति में मानवीकरण का आरोप केवल मानव के कष्ट में ही नहीं किया बल्कि मानव के आनन्द में भी पूर्ण सामंजस्य रखती हुई व्यक्त किया है। कृष्ण और गोपियों की रास-क्रीड़ा को देखकर प्रकृति को अत्यधिक हर्ष हुआ हर्षातिरेक के कारण प्रकृति रानी का हृदय अब भी धड़कता रहता

---

१ हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—डा० किरण कुमारी गुप्ता, पृ० ९२

२ 'वान् काइविरित्तिरुळ् ओवर्कळ् वळोडु पकलिळन्त
मैल वाल विरेरुपेण पुलम्बुदमाले ।" —तिरुविरुत्तम्, १४

३ वीररताम्बु तन वॅरील विलमास पेलिर्द इरुन्दिन्त ।
पारत्तोल मर्गुगु माविर । —वही १०

४ रास पंचाध्यायी—पंचम अध्याय ६१

है। यह तो प्राकृतिक सत्य है कि हर्ष और विषाद—दोनों की अतिशयता में हृदय की गति तीव्र हो जाती है इसका अनुभव नम्मदास ने प्रकृति म भी किया है।[1]

५ और नीति उपदेश का माध्यम

मनुष्य ने प्रकृति के कार्य-कलाप को अनेक रूपो मे आदर्श मानकर ज्ञान और सांत्वना प्राप्त की है। वह प्रकृति में उपदेश और नीति का अवलोकन करता है। प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व उपदेश देता हुआ सा प्रतीत होता है। प्रकृति उसके लिए एक गंभीर गुरु की भाँति आदर्श बन जाती है। हमारे कुछ कवियों ने भी प्रकृति को नीति और उपदेश का माध्यम बनाया है। कुलशेखराळ्वार का कहना है— अरुण कमल के पास बहुत बड़े दीपक को जलाने पर भी वह खिल नहीं सकता। केवल अम्बर स्थित अंशुमाली की किरणों से ही खिल सकता है। उसी प्रकार भक्त को भी केवल भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर रहना चाहिए, किसी दूसरे के नहीं।"[2] अन्यत्र वे उपदेश देते हैं कि— जिस तरह जहाज का पंछी फिर-फिर जहाज पर ही आता है, उसी तरह भक्त को भी भगवान् का ही भरोसा रखना चाहिए। जिस तरह जहाज का खंभा ही पक्षी का एक मात्र सहारा है, उसी तरह भगवान् ही निस्सहाय भक्त का एक मात्र आश्रय है।[3] तोंडरडिप्पोडियाळ्वार कहते हैं— जब छोटे-छोटे बन्दर और गिलहरी तक भगवान् की सेवा में रत थे तब भक्त भगवत्सेवा में तल्लीन क्यों न हो?'

कविवर सूरदास जी ने कहीं-कहीं प्रकृति के व्यापार में उपदेश का भी आभास दिया है। संसार के मनुष्यो के मोह-जाल को भ्रमात्मक बताते हुए कहते हैं कि संसार की प्रीति इस प्रकार भ्रम-पूर्ण है जिस प्रकार सेंमर का फूल। तोते को सेंमर के पुष्प में फल का भ्रम होता है। लेकिन चखने पर केवल रूई ही प्राप्त होती है—

यह जग प्रीति सुआ सेंमर ज्यौं चाखत ही उड़ि जात।"[4]

अपने शत्रु के प्रति भी दया-भाव दिखाना चाहिए। इसके लिए सूर मलय-वृक्ष का उदाहरण देते हैं। जिस तरह मलय-वृक्ष अपने काटने वाले को भी सौरभ प्रदान

---

१ हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—डा किरण कुमारी गुप्ता पृ० १८०

२ "वेन्तळ्ळ बन्दु मळ्ळेन्नेडिलिडिनुम वेंकमलम।
अन्तरम चेर वॆंकदिरोर्क्कमाल अलराबाल।
वेन्दुयर वीट्टाविडिनुम विट्टुवक्कोटम्मा। उन
अन्तमिल चोर्व्वलास अरुम पुर्व्वअमाट्टेने।" —पस्माळ तिरुमोळी ५ ६

३ 'पंडु पोय जहकेन ? पलिमेमडिये मरबेपतान।
पंकुम पोय कर्बक्कापातु एरिवकूम बाय मीपदेपुम।
बडतिम पूम्पेलम माप्परबै पोगुने।'
—वही, ५। ५

४ सूर पचरत्न—विनय, ३१

करता है, उसी तरह मनुष्य को भी अपनी स्वाभाविक सहानुभूति का त्याग नहीं करना चाहिए —

> जदपि मलय-वृक्ष बडु काटत कर कुठार पकरे ।
> तऊ सुभाय सुगन्ध सुसीतल रिपु तन ताप हरै ॥[1]

कवि रहीम प्रकृति के उदाहरण द्वारा यह उपदेश देते हैं कि मनुष्य को मर्यादा का पालन करना चाहिए, अपनी संपत्ति का दान देना चाहिए। यही भाव रहीम के निम्नलिखित दोहों में व्यक्त हुआ है—

> देहि प्रमान चलिबो भलो, जो सब दिन ठहराइ ।
> उमड़ि चलै जल पार तें जो रहीम बढ़ जाइ ॥
> रहिमन अति,मत कीजिए, गहि रहिये निज कानि ।
> अतिसय फूले सहजनो, डारि-पात की हानि ॥
> धनि रहीम जल पंक कहु, लघु जिय पियत अघाइ ।
> उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाइ ॥[2]

६. प्रकृति में परम तत्व के दर्शन

जिस कवि का दृष्टिकोण रहस्यात्मक होता है वह प्रकृति में परम तत्व के दर्शन करता है। उसके लिए प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। वह समस्त प्रकृति में एक ही चेतन तत्व को व्याप्त देखता है, उस परम तत्व को एक चेतन-शक्ति मानता है और प्रकृति को उसके अंग।

भूतत्ताळ्वार एक स्थान पर कहते हैं—"विशाल व्योम गूँज उठा। वज्र का भयानक गर्जन हुआ। वह था—वर्षा-काल। मैं गगन की ओर देखता रहा। उसकी अनुपम आभा की रेखाएँ दीख पड़ी और वह व्योम-वीथी में मेघमणि-रथ पर चढ़कर आया।"[3] पेयाळ्वार लिखते हैं—"सरसोज्ज्वला सौदामिनी रूपी विजय-पताका फहराती हुई घोर निनादित वज्र रूपी विजय-दुंदुभी बजाती हुई गगन-मंडल-बीच भ्रमण करने वाली नीरद-राशि मेरे मानस पटल पर आप ही के स्मृति-चित्र अंकित करती है।"[4] आण्डाळ कहती हैं—"सुषमा भरी उषा की नीरव-वेला में चिड़ियों की

---

१ सूर पंचरत्न—विनय, ७०
२ रहिमन विनोद—नीति गुच्छ, दोहा सं० ६० ६१
३ इरण्डाम तिरुवन्दादि ।
४ "एट्टिल कोण्डु मिन कोडियेडुत्तु वेकल ।
तोळ्लिन कोण्डु तान मुळक्की तोन्दुम कोण्ड ।
मीर मेघमेघ नेडुमाल निरम पोल ।
कार वानम काट्टुम कलम्बु ।" —मून्डाम तिरुवन्दादि, ८६

मधुर मुरली तान में प्रभु के आगमन का सन्देश पाती हूँ। पर नहीं जानती कि प्रियतम कब आयेंगे।"[1]

प्रकृति में परम तत्व के दर्शन का अर्थ है—आत्मा और परमात्मा के एकात्म्य की भावना। जल और तरंग में जिस प्रकार कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं है।

आत्मा और परमात्मा के मिलने से उत्पन्न आनन्द विश्वव्यापी है। समस्त सचराचर प्रकृति उस अलौकिक आनन्द का अनुभव करती है और इस आनन्द के अनुभव में प्रकृति से अपने नियत कार्यों तक में भूल हो जाती है। कविवर नन्ददास का निम्नलिखित पद देखिए—

> "अद्भुत रस रह्यो रास, गीत धुनि सुनि मोहे मुनि।
> सिला सलिल ह्वै गई सलिल ह्वै गयो सिला पुनि॥
> पवन थक्यो ससि थक्यो थक्यो उडुमंडल सगरौ।
> पाछे रवि रथ थक्यो चल्यो नहिं आगे डगरौ॥"[2]

कृष्ण और गोपियों के उस अद्भुत आनन्द विलास को देखकर पत्थर भी द्रवित हो गये और जल आश्चर्य के कारण पत्थर हो गये। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र—सब अपनी गति भूलकर निश्चल हो गये। उस परम तत्व के मिलन के आनन्द से समस्त प्रकृति प्रभावित होकर हर्षित हो उठी।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि आलोच्य कवियों के वर्णनों में वैभिन्न्य और साम्य है।

---

१ "कासी येम तिरुक्कु करिय कुरवि कार्क्कुल।
मालिन वरु चोलसी मलन पाकुलत मेहम्मी कौलो ?
चोलैमलैम्पेरुमान् तुवरापतियेम्पेरुमान्।
मालिरुमैम्पेरुमान् अवन कार्मुगिलवण्णरे।" —माणिक्यार तिरुमोली ८

२ भँवर-गीत, ४४, ४५

सप्तम अध्याय

काव्य-कला

२

कला-पक्ष

काव्य–कला

कला-पक्ष

काव्य का भाव-पक्ष यदि अनुभूति-पक्ष है तो कला-पक्ष उसका अभिव्यक्ति-पक्ष। काव्य में अनुभूति की प्रधानता तो होती है, किन्तु यह अनुभूति सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण रमणीय होती है। अभिव्यक्ति-पक्ष को कला-पक्ष कहना उसका संकीर्ण अर्थ है। अतः कुछ विद्वानों ने उसे काव्य का बाह्य-पक्ष माना है; उसे सौन्दर्य-पक्ष भी कहा गया है। काव्य में यह सौन्दर्य व्यापक अर्थ में गृहीत है। भावों के उत्कर्ष के हेतु उनमें सरसता का संचार करने के लिए हमें सौन्दर्य-पक्ष या कला-पक्ष का सहारा लेना पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि काव्य का कला-पक्ष उसकी प्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता है। प्रेषणीयता काव्य का साधन-तत्त्व है, साध्य नहीं। कला का काम है—कवि की कृति के भावों का उद्दीपन करना और उसमें सौन्दर्य लाना। कवि की सामग्री कैसी ही उत्तम क्यों न हो भाव-विचार कल्पना कैसी ही परिपक्व और अद्भुत क्यों न हो जब तक उसकी कृति में रूप-सौन्दर्य नहीं आयेगा, अनुक्रम-सौष्ठव और प्रभावोत्पादकता नहीं होगी तब तक वह कृति उत्तम काव्य के अन्तर्गत समाविष्ट की नहीं जा सकती। तात्पर्य यह है कि काव्य में कला-पक्ष अथवा अभिव्यंजना-पक्ष भी अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है।

साधारणतः कृष्ण-भक्त-कवियों के विषय में यह आरोप किया जाता है कि उनके काव्य में अभिव्यंजना-पक्ष का स्थान बहुत गौण है। उनके गीत भावों के चरम उद्रेक के क्षणों की आवेगमयी अभिव्यक्ति है। किन्तु यह सब होते हुए भी उनका काव्य भावनाओं के रूप निर्माण और कलात्मक उपकरणों से भरपूर है। यह ठीक है कि इन भक्त कवियों ने अपने काव्य में सप्रयास कला को घसीटने का प्रयत्न नहीं किया है, फिर भी उनके काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प स्वयमेव ही सुन्दर बन गया है।

उपर्युक्त तथ्य आळवार भक्तों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है। अभिव्यंजना-शिल्प के निम्नलिखित तत्त्वों के आधार पर आळवार भक्तों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य के कला-पक्ष पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है —

१—गेयत्व,
२—काव्य रूप,
३—छन्दोयोजना,
४—भाषा
५—अलंकार-योजना और उक्ति वैचित्र्य।

१—गेयत्व

काव्य तथा संगीत का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। हृदय के कोमलतम भावों की अभिव्यंजना के लिए कवियों ने प्रायः गीत-शैली का ही आश्रय लिया है। हृदय की रागात्मिका-वृत्ति के योग से जब सुख और दुःख की अनुभूति तीव्रतम होकर अनेक भावों की उमड़ती हुई धारा में समस्त पावनता-मधुरता का प्रसारण करती हुई अकस्मात् कल-कल ध्वनि से कवि-कण्ठ से फूट पड़ती है तो उसे 'गीत' की संज्ञा प्राप्त होती है। काव्य में आत्माभिव्यंजना के लिए गीत शैली की आवश्यकता बताते हुए डा० हरवंश लाल शर्मा लिखते हैं— 'भाव-सुमन-सौरभ के सुन्दर संचार के लिए, पवित्र प्रेम प्रवाह के प्रसार के लिए, शृंगार मंजु-मंजरी के मधुमय विकास के लिए और कविता-कामिनी के कौतुकमय विलास के लिए गीत-शैली के सिवा और कौन-सी शैली उपयुक्त हो सकती है ?'[1]

संगीत का प्रभाव व्यापक और स्थायी होता है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-शैली की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद सौन्दर्य के लिए वह संगीत का कुछ न कुछ सहारा लेती है। नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है, ताल-पत्र, भोज-पत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत-सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाए बिना ही प्रसंगप्राप्त पड़ने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है।[2] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने काव्य और संगीत के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध का विवेचन करते हुए लिखा है— 'काव्य और संगीत-क्रम का सम्बन्ध तारतम्य है। शब्द एक शब्दों के एक विशेष आरोह-अवरोह वहाँ अर्थ की भाव-भूमि पर पाठक को ले जाते हैं, वहाँ नाद के द्वारा सम्पूर्ण विधान भी करते हैं। काव्य-कला का आधार 'भाषा' है जो नाद का ही विकसित रूप

---

१ सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंश लाल शर्मा पृ० २८६
२ चिन्तामणि (भाग १)—आ० रामचन्द्र शुक्ल पृ० १०९

है। अस्तु, काव्य और संगीत—दोनों के आस्वादन का माध्यम एक ही है। केवल अन्तर इतना है कि एक का आधार नाद का स्वर व्यंजनात्मक स्वरूप है दूसरे का आधार नाद का आरोह और अवरोह है।"[1]

आळ्वार भक्तों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों की कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसका गेयत्व है। उनके पदों की रचना विविध राग रागिनियों के अन्तर्गत हुई है और उन पदों की सङ्गीतात्मकता सर्वतोभावेन स्तुत्य है।

आळ्वारों के पदों में गेयत्व

तमिळ में गीत-काव्य की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। सङ्घकाल (ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी) की रचनाओं में सङ्गीत सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। पता चलता है कि उस समय एक विशिष्ट सङ्गीत-पद्धति विद्यमान थी और काव्य में सङ्गीतत्व का महत्व स्वीकृत था। 'सिलप्पधिकारम्' (दूसरी या तीसरी शताब्दी) में सङ्गीत सम्बन्धी विस्तृत सामग्री उपलब्ध है। इस काव्य ग्रन्थ में बीच-बीच में गीतों का समावेश कराया गया है जिन्हें 'इचपाट्टु' की संज्ञा दी गयी है। 'इचपाट्टु' का अर्थ है स्वर-तालित्व युक्त गीत। ये गीत आयर-जाति के लोगों द्वारा अपने आराध्य की स्तुति में गाये बताये गये हैं। 'सिलप्पधिकारम्' से पता चलता है कि उस समय एक सङ्गीत पारिभाषिक शब्दावली भी विद्यमान थी जिसकी व्याख्या परवर्ती सङ्गीता चार्यों ने की है। 'सिलप्पधिकारम्' में विविध वाद्य-यन्त्रों और तमिळ गीत-पद्धति में प्रयुक्त विविध राग रागनियों का भी परिचय मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आळ्वार भक्तों के पहले भी तमिळ में गेय-काव्य की परम्परा प्रचलित थी। आळ्वारों के समय के शैव-भक्त कवि नायनमारों की रचनाएँ भी गीत-पद्धति में हैं। उनके भक्तिपरक पद विविध राग-रागनियों के अन्तर्गत रचित हैं। सङ्गीतात्मकता की दृष्टि से नायनमारों के 'तेवारम्' गीतों का बड़ा महत्व है। मन्दिरों में उन गीतों का वाद्य-यन्त्रों के साथ गायन भी होता है।

आळ्वारों ने भी अपने पदों म गेय-पद्धति को अपनाया था। आळ्वार भक्तों की जीवनियों से पता चलता है कि वे भक्त गायक थे जो विभिन्न स्थानों में जाकर भक्तिपरक पद गाते थे और जनता में भक्ति का भाव जगाते थे। उनके पदों को गा-गाकर लोग भी आत्म-विभोर हो जाते थे। 'तिरुप्पाण' आळ्वार तो 'पाण-जाति' के थे जिस जाति का पेशा ही गायन था। आळ्वारों के पदों में कुछ स्थलों पर उनके पदों के गाये जाने का उल्लेख मिल जाता है। आळ्वार-पदों के गेय होने के कारण ही वे मौखिक परम्परा में शताब्दियों तक जीवित रह सके। विद्वानों का मत है कि आळ्वारों की गीत-पद्धति आज की पद्धति से भिन्न थी। गुरु परम्परा-ग्रन्थों से पता चलता है कि श्री नाथमुनि ने ही आळ्वार-पदों का सङ्कलन कर उनके लिए राग

---

१ साहित्य का मर्म—डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ॰ ११

इत्यादि निर्धारित किये थे। चूँकि आळवार-पद वेद के समकक्ष माने जाते थे अतः नाथमुनि ने आळवार-गीतों के लिए 'वेद-गान-शैली' निर्धारित की थी। कहा जाता है कि नाथमुनि ने उसी शैली में वैष्णव-मन्दिरों में आळवारों के पदों के गाये जाने का प्रबन्ध किया था। वैष्णव-मन्दिरों में आळवारों के पदों को विविध राग-रागिनियों में गाने वाले गायकों को अरैयर कहते थे, जो भगवान् की सेवा-समयों में मन्दिरों के सामने स्थित मण्डपों में बैठकर वाद्य-यन्त्रों के साथ आळवार-गीतों का गायन करते थे। मन्दिरों से सम्बन्धित उत्सवों और त्योहारों में भी आळवार-पदों के गायन का विशिष्ट प्रबन्ध किया जाता था। जन्म विवाह अन्त्येष्टि आदि के अवसरों पर भी आळवार-पद गाये जाते हैं। इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि गेय होने के कारण ही आळवार-पद जनता पर अधिक प्रभाव डाल सके।

विद्वानों का मत है कि आज आळवार-पदों के लिए जो राग और ताल निर्धारित किये मिलते हैं वे नाथमुनि की 'वेद-गान-शैली' से भिन्न हैं। तमिळ विद्वान् श्री० पी० श्री० आचार्य के अनुसार आळवार-पदों के लिए विविध राग-रागिनियों का संकेत नाथमुनि के बाद के किसी संगीताचार्य का कार्य है।[1] कुछ भी हो आज 'प्रबन्धम्' में मिलने वाले प्रत्येक पद के ऊपर उसका राग और ताल निर्दिष्ट है। आज के गायक उन पदों को अनिवार्यतः उन्हीं निर्दिष्ट रागों में नहीं गाते स्वेच्छानुसार अन्य रागों के स्वरों में गा लिया करते हैं। अधिकांश विद्वानों का मत है कि आळवारों के पदों में मिलने वाले रागों और तालों में तमिळ के सङ्गीतशास्त्र के नियमों का पूर्णतः पालन हुआ है। अतः कह सकते हैं कि आळवार-पदों की सङ्गीतात्मकता शास्त्रीय सङ्गीत की कसौटी पर भी खरी उतरती है। आळवारों के पदों में प्रयुक्त कुछ राग और ताल इस प्रकार हैं —

राग—यमुना-कल्याणी नट अपरूप तम्मासी नीलाम्बुरी मोहना मुखारी अठाना भूपाली देसी असावरी, बिलहरी, टोडी केदार गौरी, आरबी शङ्कराभरण सारङ्ग बराळी, भैरवी कल्याण श्री कांभोजी, सहाना यदुकुल आदि।

ताल—आदि ताल मड्ताल रूपक ताल तिरिपुट ताल आदि।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में रागों का घनिष्ठ सम्बन्ध भावों और रस से है। आळवार भक्तों के पदों में संगीत की प्रमुख राग-रागिनियों के साथ प्रधान-अप्रधान प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध ४० से अधिक राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है। इन कवियों द्वारा प्रयुक्त राग रागिनियों के क्रम को देखने से विदित होता है कि पदों के विषय और

---

१ "दिव्य प्रबन्धत्तिल पट्टततमिळ इसै वडिवङ्गळ"
ले पी० श्री० आचार्य— वानोली" (आकाशवाणी मद्रास की पत्रिका) पृ० २ (नवम्बर, १९६०)

रागों के संकलन में सामञ्जस्य का ध्यान रखा गया है। कुछ विशिष्ट भावों को व्यक्त करने के लिए विशिष्ट रागों का प्रयोग आवश्यक समझा गया है। संगीत में नाद से ही सुख-दुख हर्ष-विषाद आशा-निराशा आदि की प्रतीति होती है। नादात्मक अभिव्यंजना अपनी प्रकृति में इतनी सूक्ष्म और तरल होती है कि उसका निकट सम्बन्ध हृदय के हर्ष और विषाद के तरलीकृत रूप गान और स्वन से होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न रागों से श्रोता के हृदय में भिन्न-भिन्न रसों का अनुभव होता है।[1] यही कारण है कि राग और रस का सम्बन्ध माना गया है। भिन्न-भिन्न रसों की व्यंजना के लिए किन-किन रागों का संगीत-शास्त्र के नियम के अनुसार प्रयोग उपयुक्त समझा गया है, वह निम्नलिखित तालिका से जाना जा सकता है। (आळ्वार भक्तों के पदों में न्यूनाधिक रूप में इस नियम का ध्यान रखा गया दीखता है।)

शृङ्गार रस—राग—वसन्त कमास देव गांधार, सावेरी भैरवी।
करुण रस—राग—पुन्नाग कांभोदी मुखारी असावरी आहीरी हुसैनी।
हास्य रस—राग—कांभोदी।
रौद्र रस—राग—मुखारी वराली।
अद्भुत रस—राग—बिलहरी।
शान्त रस—राग—साम।
बीभत्स रस—राग—नाटळी।
भक्ति रस—राग—सहाना पूर्व कल्याणी।

संगीत शास्त्र के उपर्युक्त नियम के अनुसार आळ्वार भक्तों ने शृङ्गार रस के प्रसंगों में प्रमुख रूप से सावेरी कमास भैरवी करुण रस के प्रसंगों में मुखारी असावरी हुसैनी अद्भुत रस के प्रसंगों में बिलहरी और भक्ति रस के प्रसंगों में सहाना पूर्व कल्याणी आदि रागों का प्रयोग किया है। वन से लौटने वाले कृष्ण के सौन्दर्य पर गोपियाँ मुग्ध हैं। उनकी स्थिति का वर्णन संयोग शृङ्गार के लिए उपयुक्त भैरवी राग में पेरियाळ्वार करते हैं—

भैरवी राग—आदि ताल

'सर्कसुम तोंग्सुम तुम्पी एंकुम
तण्णुम एळुम मतळीताळ वीती

1 "Ragas are eloquent vehicles of emotion with a limitless but in articulate power of expression A genius bends them to his purpose and makes them carry his message
—*Ragas of Carnatic Music* Rama Chandran, p 161

पुळ्ळलक्कळ्म पीतगुमाकी पडुम
पोविन्दन वर्सनिनु तुडुम कण्डु
मर्ळ कोलो वर्सविमट लेनु कोल्ली
मीनिमार कालक वारल पटि
मुर्ळ वमर निपनराकी एंडुम
उरुळुम विरुदु कन्न मरल्लोडिल्लनरे।[1]

भक्ति (विनय) रस के प्रसंगों में 'सहाना' राग का विशेष प्रयोग हुआ है। तोंडरडीपोडी आळ्वार की रचना तिरुमाली के सभी पद सहाना राग में गाये जाते हैं जिससे भक्ति-रस का परिपाक होता है—

सहाना राग—रूपक ताल

'पच्चे मामलै पोल मेनी पवळवाय कमलचेंकण
अच्युता। अमररेरे। आयर तम कोळुन्ते। एन्नुम
इच्चुवै तविर यान पोय इन्दिर लोकम् आळुम
अच्चुवै पेरिनुम वेंडेन अरंगमानगरुळाने।"[2]

शास्त्रीय संगीत की परम्परा में दिन रात के आठ पहरों के अनुकूल रागों का विधान किया गया है। दिन और रात के क्रम में प्राकृतिक वातावरण में जो परिवर्तन होता है, उसी के अनुकूल रागों के विधान में विविधता और परिवर्तन की संयोजना की जाती है। उष:कालीन रागों में कोमल स्वरों की योजना होती है। सूर्योदय के समय और उसके बाद गाये जाने वाले रागों में शुद्ध और तीव्र स्वरों का आधिक्य होता है। असावरी टोडी प्रात:कालीन राग हैं। सायंकालीन रागों में पूर्वी और श्री इत्यादि हैं। रात्रि के रागों में कल्याण केदारा भूपाली आदि हैं। आळ्वारों के पदों में प्रयुक्त रागों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने यथासम्भव समय के अनुकूल ही रागों का प्रयोग किया है। सारांश यह है कि आळवारों के पदों में उच्चकोटि का गेयत्व है और पदों में शास्त्रीय संगीत के नियमों का भी पालन यथासम्भव हुआ है।

आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य में गेयत्व

हिन्दी का कृष्ण काव्य मुख्य रूप से गेय पदों में निर्मित है। इन कवियों की गेय-पद-शैली में हमें विविधता और विचित्रता के दर्शन होते हैं। उत्तर भारत की गीत काव्य परम्परा में जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसका प्रभाव परवर्ती भक्त-कवियों पर पड़ा। जयदेव के पश्चात् मैथिल कोकिल विद्यापति ने भी अपने शृङ्गारिक गीतों की ऐसी तान छेड़ी जिसकी विविध-कवि-विहगवृन्द की रस-मय ध्वनि को पराभूत कर मिथिला के आम्रकुञ्ज-कुञ्जों को गुञ्जित करती हुई

1. पेरियाळ्वार तिरुमोळी १-४ १
2. [illegible]

दक्षिण की ओर प्रवृत्त भक्ति-समीर का आधार ले उत्तर की ओर बढ़कर ब्रज में कालिन्दी कूलस्थ कदम्बों को आन्दोलित करती हुई वृन्दावन के सुन्दर करील कुञ्ज कुञ्जों में गूँजने लगी।[1] इस प्रकार १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त-कवियों को अपनी भक्ति भावना को विकसित करने के लिए एक परम्परागत विकसित गीत-शैली प्राप्त थी। परन्तु इन कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों का अन्धानुसरण न करके गीत-शैली के कलेवर में नवीनता का संचार किया है।

हमारे आलोच्य हिन्दी कृष्ण-भक्त कवि उच्च कोटि के गायक भी थे। वैयक्तिकता और आत्माभिव्यंजना जो गीत-काव्य का सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख लक्षण है, इनके गीतों में आदि से लेकर इति तक व्याप्त है। हिन्दी के अष्टछापी कवियों ने अपने पद विशेष रूप से श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा के लिए रचे थे। हरिदास बड़े संगीतज्ञ थे। कहने का तात्पर्य यह है कि आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य में उच्चकोटि का गेयत्व विद्यमान है और उसके कवियों के पद विविध राग-रागिनियों में बने हैं। उनमें शास्त्रीय संगीत के आवश्यक नियमों का यथासम्भव पालन हुआ है।

कुशल कवि काव्य में भाव-सौन्दर्य के समावेश के लिए लय का भी विवेकपूर्ण प्रयोग करता है। लय' स्वर की एक गति होती है। जिस गति से स्वर चलते हैं उनको 'लय' कहते हैं। यह लय कभी विलम्बित कभी मध्य और कभी द्रुत होती है। संगीत का पूरा आनन्द लेने के लिए स्वर के साथ लय का भी ध्यान रखना चाहिए।[2] [सू]रदास नन्ददास तथा परमानन्ददास की रचनाओं में भावानुकूल लय का प्रयोग हुआ है। कोमल और मधुर भावों के प्रसंगों में अधिकतर 'मध्य लय' का प्रयोग हुआ है। [ओज]पूर्ण और वेगपूर्ण स्थलों पर 'द्रुत लय' प्रतिपाद्य की प्रभावात्मकता को द्विगुणित [कर] देती है जो करुण और दुःखपूर्ण प्रसंगों में उसका 'विलम्बित' रूप मार्मिकता के संवहन में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। मीरा के काव्य में भी लय प्रयोगों में यह भावानुकूलता उत्कृष्ट रूप में प्राप्त होती है।[3] वात्सल्य और संयोग शृङ्गार के पद अधिकतर मध्य लय में गाने के उपयुक्त हैं। सूरदास परमानन्ददास और नन्ददास के वात्सल्य और संयोग-शृङ्गार सम्बन्धी पद 'मध्य लय' में नियोजित स्वर लिपि में ही अधिक निखरे हैं। निम्नलिखित पद देखिए—

सूरदास

"सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये।

---

1 सूर और उनका साहित्य—डा० हरबंशलाल शर्मा, पृ० २८८
2 नन्ददास ग्रन्थावली—रूप मंजरी पृ० २४२ (ब्रजरत्नदास)
3 ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य में अभिव्यंजना शिल्प—डा० सावित्री सिन्हा, पृ० १५०

चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकत मानो मत्त मधुप गन मादक मधुहिं पिये।"[1]

परमानन्ददास

राग सारंग

"नन्द जू के आंगन की छबि आछी।
चन्द्र पैंजनी रुनझुन बाजत चलत पूँछ गहि बाछी।
उरग अधर दधि मुख लपटानो तन रज धूरि छाछी।
परमानन्द प्रभु बालक लीला हँसि फिर पाछी।।"[2]

नन्ददास

राग धनाश्री

"केसर कौन की मति भीजी।
होड़ परी प्रीतम अरु प्यारी अपने अपने जी की।
श्याम परी ललिता के आगे कौन सरस को फीकी।
नन्ददास प्रभु किलकि बलि चलो कछु इक सरस सखी की।"[3]

मीरां के पदों में कविता की लय के साथ सांगीतिक लय के सामंजस्य-स्थापन की चेष्टा द्रष्टव्य है। संयोग के क्षणों में कृष्ण के अनुराग से सिक्त होकर अपनी उमंग और उल्लास की अभिव्यक्ति उन्होंने छोटे-छोटे चरणों से युक्त द्रुत लय में बंधि जाने के उपयुक्त योजना द्वारा की है—

रंग भरी राग भरी रागसूं भरी री।
होरी खेल्यां श्याम संग-रंग सूं भरी री।
उड़त गुलाल लाल बादल भयो री।
पिचका उड़ावां रंग-रंग री झरी री।[4]

हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने अधिकतर ध्रुवपद (ध्रुपद) और कहीं-कहीं धमार शैली का प्रयोग किया है। उनकी तीसरी शैली 'कीर्तन-शैली' है जो शास्त्रीय-संगीत की अपेक्षा लोक-गीत पद्धति के अधिक निकट है। हमारे अधिकांश आलोच्य हिन्दी कवि संगीत और संगीत-शास्त्र के ज्ञाता थे। ध्रुवपद तत्कालीन संगीत की सर्वप्रधान शैली थी। अतः हमारे कवियों ने भी इस शैली को अपनाया है। इसमें विलम्बित लय का ही प्रयोग होता है। इसमें अधिकतर ईश्वर प्रार्थना और वीरता के भावों से युक्त पदों का गायन किया जाता है। जहाँ तक ध्रुवपद के विषय

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ७१० पृ० २९५
२ परमानन्द सागर (सं० गो० ना० शुक्ल) पद सं० ८६ पृ० २९
३ नन्ददास पदावली पद सं० ९६ पृ ३४८
४ मीराबाई की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) पद सं० १४६ पृ० १४१

का सम्बन्ध है, कृष्ण भक्ति काव्य में माधुर्य भाव के प्राधान्य के कारण शृङ्गारिक विषय ही ध्रुपद शैली में लिखे हुए पदों में भी प्रधान हैं। ध्रुपद योजना में जो बड़ी-बड़ी पंक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं उनको देखने से यह ज्ञात पड़ता है कि ये पद मानों गायक की गायकी की दीर्घ श्वास युक्त स्वर साधना के निकष-रूप में निर्मित किये गये हैं।[1] स्वामी हरिदास की रचनाओं का परीक्षण करने से विदित होता है कि उन्होंने अपने पदों की रचना ध्रुपद-शैली में गाये जाने के लिए की थी। ध्रुपद शैली का एक उदाहरण देखिए—

राग कान्हरो

"रावत ते वनमाल गरे हरि आवत बन तें।
धातनि की लाल पाग लटकि रही वाम भाग
सो छबि लखि सानुराग टरति न मन तें।
मोर मुकुट सिर श्रीखण्ड, गोरज मुख मंजु,
नटवर वर वेश धरे आवत छबि तें।
सूरदास प्रभु की छवि ब्रज ललना निरखि
वारति तन मन न्योछावर करैं आनन्द बहु तें॥"[2]

११ वीं सदी की गायन प्रणाली की एक दूसरी प्रधान शाखा 'धमार' गीतों की थी। होली से सम्बन्धित गीत अधिकतर धमार-ताल में ही गाये जाते हैं। इन गीतों में गोपी-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन भी होता है। प्रायः सभी कृष्ण भक्त कवियों ने धमार गीत लिखे हैं, जिनमें प्रयुक्त लय के द्वारा होली का उल्लास बड़ी सफलता के साथ प्रकट हुआ है। ये गीत विभिन्न रागों में लिखे गये हैं। धमार-गीत का एक उदाहरण लीजिए—

"खेलत हैं अति रसमसे रंग भीने हो।
अति रस केलि विलास लाल रंग भीने हो॥
जागत सब निसि गत भई रंग भीने हो।
भले जु आए प्रात लाल रंग भीने हो॥
.. ..
सूरदास प्रभु नंद-कुँवर रंग भीने हो॥"[3]

मीरा की रचनाओं में यद्यपि शास्त्रीय संगीत सम्बन्धी कोई विशेषता स्पष्ट नहीं दीखती तो भी उनमें लोक-संगीत-शैलियों का सुन्दर रूप मिलता है, जिसे देखकर आश्चर्य होता है। मीरा का एक होरी-गीत देखिए—

---

१ ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प—डा० सावित्री सिन्हा पृ० १२७

२ सूरसागर (सभा) पद सं० १६६१ पृ० ७१७

३ वही ( ), पद सं० ३४८१, पृ० १२११

राग होरी—सिन्दूरा

फागुन के दिन चार रे होरी खेल मना रे।
बिनि करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे।
बिनि सुर राग छतीसूं गावै रोम-रोम रनकार रे।
खेल मना रे॥[1]

कहा जा चुका है कि आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के पद विविध राग रागिनियों के अन्तर्गत आते हैं। सूर ने तो लगभग १८ रागों में अपनी पद रचना की है। सूरसागर में राग-वैविध्य के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी नहीं होगी इससे वह संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।"[2] अन्य कवियों की रचनाओं में भी राग-वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। विभिन्न राग अपने स्वर विधान द्वारा विभिन्न भावों को मूर्तिमान करने में समर्थ होते हैं। किसी राग का स्वर गंभीर होता है तो किसी का चपल कोई राग पुरुष प्रकृति का होता है और कोई सुकुमार प्रकृति का। इस प्रकार राग-पद रचना करने वाले कवि के लिए आवश्यक होता है कि वह विषयानुकूल रागों का संकलन करे। आलोच्य कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रस्तुत राग-रागिनियों के क्रम को देखने से पता चलता है कि पदों के विषय और रागों के संकलन में सामंजस्य का ध्यान रखा गया है। विशिष्ट भाव और रसों के परिपाक के लिए विशिष्ट राग प्रयुक्त सिद्ध हुए हैं। विनय के प्रसंगों में प्रयुक्त राग हैं—बिलावल धनाश्री मारू, कान्हरो टोड़ी नट भैरवी सारंग धनाश्री देवगान्धार आदि। जिन प्रसंगों में हर्षोल्लास आनन्द विनोद और लीला की प्रधानता है उनमें कोमल प्रकृति के रागों का प्रयोग हुआ है। कृष्ण भक्ति-काव्य में शौर्य और दर्प से युक्त स्थल बहुत कम हैं। केवल सूरदास के पदों में दावानल प्रसंग कालिय-दमन, असुर संहारण आदि स्थलों पर इस भाव की अभिव्यक्ति मिलती है और वहाँ उन्होंने मारू राग का प्रयोग किया है। प्राय सभी कवियों ने करुण प्रसंगों में केदारा और गुनकली का प्रयोग किया है।

आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने अपने गेय पदों में संगीत के समय सिद्धान्त का निर्वाह यथासम्भव किया है। पुष्टिमार्गीय नित्य सेवा विधि में कृष्ण सेवा के आठ समय रखे गये हैं—मंगला शृङ्गार ग्वाल राजभोग उत्थापन भोग, संध्या (आरती) और शयन। इन कवियों ने इन विविध प्रसंगों के पदों की रचना में संगीत शास्त्रीय समय विधान से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। मंगला प्रसंग में प्राय सभी कवियों ने विभास रामकली ललित और भैरवी का प्रयोग किया है। शृङ्गार प्रसंग में प्राय प्रातःकालीन रागों का प्रयोग हुआ है जो संगीत के

---

१ मीराबाई की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी), पद सं० १५१ पृ० १४४
२ सूरदास (तृतीय संस्करण)—आचार्य शुक्ल पृ० २००

समय सिद्धान्त की कसौटी पर पूर्ण रूप से खरा उतरता है। गोचारण राज भोग और शयन प्रसंगों में अधिकतर सारंग राग का प्रयोग हुआ है, इसके अतिरिक्त देव गांधार टोडी नटनारायण आदि रागों का प्रयोग भी हुआ है। सन्ध्या आरती में सायंकालीन सन्धि प्रकाश और रात्रि के राग प्रयुक्त हुए हैं। उत्सव योजना में ऋतु कालीन रागों के प्रयोग की ओर भी हमारे भक्त-कवियों ने विशेष ध्यान दिया है। पुष्टिमार्गीय सेवा में ऋतु-उत्सवों का भी विधान था। पावस-प्रसंग में मल्हार और उसके विविध भेदों का प्रयोग किया गया है। हिंडोल के पदों में हिंडोल और मल्हार तथा वसन्त-लीला में वसन्त राग का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है।

स्पष्ट है कि आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में उच्च कोटि का गेयत्व विद्यमान है और उसमें संगीत के शास्त्रीय नियमों का यथासम्भव निर्वाह हुआ है।

२—काव्य के विविध रूप

१ गीति-काव्य

कवि का युग जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण उसके अनुभूति-विस्तार की सीमा तथा अन्तः प्रेरणा का रूप आदि वे तत्व हैं जिनके प्रभाव के फलस्वरूप कवि अपनी कविता के काव्य-रूप का निर्धारण करता है। आळवार भक्तों तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के विषय में यही बात कही जा सकती है। साधना के राग प्रधान रूप भावनाओं के तीव्र उन्मेष और राग-प्रधान जीवन-दर्शन तथा युग-दर्शन के कारण इन्होंने गीत को ही अपने काव्य का माध्यम बनाया। कहा जा चुका है कि गीति-काव्य का प्राणतत्व आत्माभिव्यक्ति है। यह जितनी ही तीव्र और प्रबल होती है गीति-काव्य उतना ही श्रेष्ठ हो सकता है। गीति-काव्य में कवि के अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति प्रधान होती है और जीवन के बाह्य क्रिया-कलापों का स्थान गौण। वैयक्तिकता गीति-काव्य का प्रधान गुण है। इस वैयक्तिकता का रूप सीमित नहीं रहता परन्तु सार्वभौम होता है। आत्माभिव्यंजना के दो रूप होते हैं—एक रूप वह है जिसमें कवि किसी वस्तु में या व्यक्ति में अपनी भावनाओं का आरोपण करता है और दूसरे में वह अपने भावों को प्रत्यक्ष रूप में सीधे प्रकट करता है। आळवारों के और हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में हमें आत्माभिव्यक्ति के उपर्युक्त दोनों रूप देखने को मिलते हैं। एक रूप में उन्होंने आराध्य के प्रति सीधा आत्म-निवेदन किया है, दूसरे में गोपियों (अथवा नायिका) के माध्यम से अपने कवि-हृदय की आतुर भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। इस प्रकार आळवारों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के गीति-काव्य के दो रूप मिलते हैं—

(अ) मुक्त गीति-काव्य और (आ) आख्यानात्मक गीति-काव्य।

(अ) मुक्त गीति-काव्य

इस प्रकार के काव्य से तात्पर्य उन गेय पदों से है जो भक्त-कवियों द्वारा प्रभु

के समक्ष आत्मनिवेदन के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। सीधे-सादे शब्दों में हार्दिक भावों की कुशल अभिव्यंजना ही इन गीतों का अभिमत होता है। कोमल इनका सहज गुण है। इन गीतों के विषय प्रायः प्रभु की भक्त-वत्सलता ऐश्वर्य पतित-पावनता तथा आत्मनिन्दा और आत्मनिवेदन होते हैं। माया-विवेचन अविद्या-तृष्णा नाम महिमा और विनय के पद भी इस कोटि के हैं।

आळ्वार भक्तों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के आत्म-निवेदन सम्बन्धी पद शुद्ध गीति-काव्य की कोटि में आते हैं, जिनमें आत्माभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष रूप मिलता है। आत्म-ज्ञान, नाम-महिमा इत्यादि प्रसंगों में कवि हमारे सामने आकर बोलता है। इन पदों की भाषा सरल और साधारण है। इन पदों में व्यक्त दैन्य और आत्मनिवेदन में ही वैयक्तिक तत्त्व मिलता है और दैन्य निमित्त निर्वेद पर इनकी मार्मिकता निर्भर है। आळ्वारों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों में सूर आदि के विनय पदों में शुद्ध गीति-काव्य के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। तोंडरडिप्पोडि आळ्वार के एक गीत का सार इस प्रकार है— विष्णु भगवान् के अलावा कोई देवता है? हे बुद्धिहीन मनुष्य! तुम लोगों का यह स्वभाव है कि आपत्ति के आ जाने पर ही उस कृपासिन्धु के पास दौड़ पड़ते हो। अभी समझ लो। उस एक मात्र करुणा निधान के अतिरिक्त कोई देव नहीं। उस (गोओं के पालक—मेरे पिता) भगवान् के चरणों में जाओ।[1]

सूरदास जी का एक पद देखिए—

"रे मन, छाँड़ि विषय कौ रँचिबौ।
कत तू सुवा होत सेमर कौ, अन्तहिं कपट न बचिबौ।
अन्तर गहत कनक-कामिनी कौं, हाथ रहैगी पचिबौ।
तजि अभिमान राम कहि बौरे, नतरु ज्वाला तचिबौ।
सतगुरु कह्यौ, कहौं तोसौं हौं, राम रतन धन सचिबौ।
सूरदास प्रभु हरि-सुमिरन बिनु जोगी-कपि ज्यौं नचिबौ॥"[2]

आत्माभिव्यक्तिपरक शुद्ध गीतों में आण्डाळ और मीरा के पदों में एक विशेष शक्ति है। उनमें कल्पना और बुद्धि-तत्त्व सर्वथा गौण है, अतएव उनकी भावनाओं का स्रोत गीति-काव्य के सङ्गीत और काव्य के माध्यम से फूट पड़ा है। उनकी माधुर्य

---

१ 'मट्रुमोर् देय्वमुण्डे ? मदियिलामानिडर्काळ् ।
उट्रपोतन्ड्रि नीङ्गळ् ओरुवनेन्ड्रुणरमाट्टीर्
अट्रमेलोन्ड्रऱियीर् अवनल्लाल् देय्वमिल्लै
कट्रिनम् मेय्त्त एन्दै कऴलिणै पणिमिन् नीरे।

—तिरुमालै ९

२ सूरसागर (सभा) पद सं० ४९, पृ० २

भक्ति उनके हृदय की कहानी है, जिसमें राग-तत्त्व प्रधान है। इनके पदों में अनुभूतियों की तीव्रता है और गहनता है भले ही अनेकरूपता नहीं हो।

आत्माभिव्यक्तिपरक पद कवियों के व्यक्तित्व की विशिष्टता का निर्देश करते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें आत्माभिव्यंजना का शुद्ध रूप मिलता है तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति में पूर्ण तादात्म्य हो गया है। विषय-वस्तु और अभिव्यंजना की यही एकतानता इन शुद्ध गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है।

(ख) आख्यानात्मक गीति-काव्य

इस प्रकार के काव्य का प्रतिपाद्य अवश्य लीला-वर्णन है। इनमें गीत का शुद्ध रूप नहीं मिलता। इनमें नियोजित कथात्मक और वर्णनात्मक तत्त्व कवि के व्यक्तित्व को परोक्ष में डाल देता है। जहाँ लीला-गान में कथा का आग्रह अधिक है वहाँ कवियों ने कथा-परिस्थिति पात्र का आधार ग्रहण किया है। अतः कवि की भावनाओं की प्रत्यक्षता में व्यवधान आ गया है। यहाँ आत्माभिव्यंजना शुद्ध न होकर सम्प्रसारित है।

आख्यानात्मक गीति-काव्य के अन्तर्गत हमारे कवियों ने बाल-लीला, गोदोहन, गोचारण, चीरहरण, गोवर्धन-धारण, नाग-लीला आदि सरस प्रसंगों को लिया है। इन प्रसंगों के पद अधिकतर भाव-प्रधान हैं। इन पदों में आख्यान भावों को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए उपकरण रूप में लिया गया है। इनमें आख्यान का स्थान गौण है। कृष्ण और राधा तथा गोपियों की शृंगार भावना प्रधान रहती है। इस भावना की अभिव्यक्ति अपने आप में पूर्ण एवं स्वतन्त्र और सरस है। इस प्रकार के विरह के पदों में आळ्वार भक्त तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने अपना व्यक्तित्व को गोपियों राधा यशोदा और कृष्ण के व्यक्तित्व पर डालकर व्यक्त किया है। इस विरह का रूप शुद्ध आत्माभिव्यंजक न होते हुए भी अत्यन्त मार्मिक है। आत्म प्रकाशन के अप्रत्यक्ष होते हुए भी विविध पात्रों की भावनाओं के माध्यम से इन कवियों ने अपनी ही आत्माभिव्यक्ति की है। गोपियों की उक्तियों में कवि के हृदय का ही आभास मिलता है। नम्माळ्वार के एक पद में विरहिणी नायिका (गोपी) की मर्मस्पर्श वाणी में भी कवि के विरहजन्य सन्तप्त उद्गार देखिए—"सारा जगत् सो रहा है। अन्धकार व्यापक होता जा रहा है। रात बढ़ती जाती है। प्रिय वियोग के रोग के कारण हृदय की धड़कन बढ़ती जा रही है। एक-एक क्षण एक-एक युग बनता जा रहा है। अगर मेरे प्रियतम नहीं आएँगे तो (मैं नहीं जानती) मेरी क्या दशा होगी?"[1]

---

1 "ऊरेल्लाम तुञ्जि उलकेल्लाम नळ्ळिरुळाय।
नीरेल्लाम तेरि ओर नीळिरवाय नीण्डताल।
पारेल्लाम उण्ड नम्पाम्पणैयान वारानाल।
आर? एम्मै। उय्यक्कोळ्वार इनिये।" —तिरुवायमोळि, ५ ४ १

सूरदास का एक पद देखिए —

"प्रीतम बिनु व्याकुल अति रहियत ।
मधुबन को जाती हौं हरि संग, किन एती दुख सहियत ॥
कहुँ काम कछुक संग मरती, किन बसत रिपु कहियत ।
बिनु पावस अति नैन उमंगि जल किन सरिता पर बहियत ॥
जो जानतीं बहुरि नहिं आवन, जाइ पीत पट गहियत ।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें कहुँ नहीं सुख लहियत ॥"[1]

इस प्रकार के स्थलों पर गोपियों की भावनाओं के साथ कवि का पूर्ण तादात्म्य है। यहाँ तक कि गोपियों के माध्यम से बोलता हुआ उनका हृदय आण्डाळ और मीरा की प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति के समकक्ष आ जाता है।

२ लोक-गीत

आळ्वार भक्तों ने तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचलित लोक-गीतों का सुन्दर समावेश किया है। लोक-गीत गीतों के शुद्ध सहज और मूल रूप हैं। उनमें ग्रामीण-जीवन का अकृत्रिम रूप दिखाई देता है। ग्राम्य मनोरंजन के विविध रूप जनसाधारण के उमंग-उल्लास श्रम या वेदना से मुक्ति पाने के लिए गिरमाने की मनोवृत्ति तथा सामूहिक ग्राम-चेतना को लेकर अटपटी भाषा में लोक-गीतों की रचना होती है। कृष्ण-लीलाएँ, लोक-गीतों के ही सर्वथा अनुकूल थीं अतः हमारे कवियों ने लोक-गीतों का भी समावेश अपने काव्य में किया है। किन्तु इनके काव्य में लोक-गीत कुछ परिष्कृत रूप में ही मिलते हैं। शास्त्रीय रागों तथा साहित्यिक भाषा के स्पर्श से इन्होंने उनका रूप परिष्कृत कर दिया है। किन्तु लोक-गीतों की आत्मा और प्रकृति की रक्षा करने का प्रयास सर्वत्र है। जन्म, मुण्डन विवाह तथा अनेक सांस्कृतिक पर्वों के अवसर पर लिखे गये गीतों में वैयक्तिक वेदना और उल्लास का सम्मिश्रण समूह से स्थापित किया गया है। प्रसिद्ध तमिळ विद्वान् श्री पी० श्री आचार्य ने आळ्वारों के काव्य में प्रयुक्त लोक-गीतों के विषय में लिखा है —

'यह स्वाभाविक ही है कि आळ्वार भक्तों ने उन लोक-गीतों को यथावसर अपने काव्य में स्थान दिया है, जिन्होंने जन-हृदय को बहुत ही आकर्षित किया था। बहुत प्राचीन काल से ही इस प्रकार के लोक-गीतों की परम्परा तमिळ प्रदेश में (मौखिक रूप में) चली आ रही थी। विविध अवसरों पर, विविध पर्वों पर लोक-गीत गाए जाते थे। जन्म विवाह आदि के अवसरों पर गाये जाने वाले लोक-गीतों का तो स्पष्ट रूप आळ्वार-ग्रन्थों में हमें देखने को मिलता है। हाँ यह हो सकता है कि वे लोक-गीत आळ्वारों की रचनाओं में शुद्ध मौलिक रूप में नहीं होकर कुछ परिष्कृत रूप में ही मिलते हैं।

---

१ सूरसागर (सभा) पद सं० १८४६ पृ० ११६

हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं में ब्रज में प्रचलित लोक-गीतों का अस्तित्व सुरक्षित मिलता है। इन लोक-गीतों का सहज संगीत शास्त्रीय संगीत से कहीं अधिक उपयुक्त था। साथ ही भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति इन लोक-गीतों में अधिक सहज स्वाभाविक और तीव्र हुई है। हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने जन्म बधाई बाल-छवि-वर्णन गोचारण ज्योनार राधा-कृष्ण-विवाह होली बसंत इत्यादि गीतों में इन सब तत्वों और शैलियों का समावेश किया है जो तत्कालीन ब्रज-जीवन तथा संस्कृति के मुख्य अंग थे। इन सभी प्रसंगों में लोक-गीत बहुसंख्यक हैं।

आळ्वारों की रचनाओं में प्रयुक्त लोक-गीतों के कुछ उदाहरण देते हैं। बालक कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन पेरियाळ्वार ने लोक-गीत-शैली में किया है—

'शिशु के प्रत्येक अंग के सौन्दर्य को आकर देखो री !
अपने पैर की उँगलियों को मुँह में लेकर चबाने वाले
बालक के पाद-कमल, के सौन्दर्य को आकर देखो री !
कांचन मोती और मणि-खचित माला सी।
बालक की कोमल उँगलियों के सौन्दर्य को आकर देखो री !
आकर देखो री !'[1]

कृष्ण को पालने में लिटाकर यशोदा जो लोरी गाती हैं उसमें लोक-गीत का सुन्दर रूप दीख पड़ता है। तमिळ में लोरी गाते समय तालेलो शब्द की पुनरावृत्ति आवश्यक मानी गयी है। इस प्रकार के लोरी-गीत आज भी घरों में गाये जाते हैं। पेरियाळ्वार का एक लोरी-गीत देखिए —

'कांचन बीच मोती और रत्न खचित सुन्दर।
पालना ब्रह्मा ने तुम्हारे लिए भेजा है, हे वामन ! तालेलो !
सुन्दर गहने किंकिणी और कंकण।
तुम्हारे लिए देवों ने भेजे हैं, हे, घनश्याम ! तालेलो !
सुन्दर फूल पुष्प गुच्छ तुम्हारे लिए।
कुबेर ने भेजे हैं रोओ मत हे मेरे राजा ! तालेलो !'[2]

---

१ पेरुमुळ्ळी पिडित्तु कुवत्तमुम।
पाद कमलंगळ्ळ काणीरे पवळवायीर। वन्दु काणीरे।
मुत्तु मणियुम मस्सिवच्चान पावैगळ्ळ।
शोतिट्टिम्माव काणीरे शोणुदलीर। वन्दु काणीरे।
—पेरियाळ्वार तिरुमोळि १ २ १ और २

२ 'माणिक्कमकट्टि वयिरम इडै कट्टि।
आणिप्पोनाल सेय्द वण्णच्चिरुत्तोट्टिल।
पेणि उनक्कु पिरमन विडु तन्दान।
माणिक्कुरळने। तालेलो। वैयमळन्ताने तालेलो।

पशु, पक्षियों को सम्बोधित करके गाये गये पदों में प्रायः लोक-गीतों के पुट रूप देखने को मिलते हैं। तिरुमंग आळ्वार के अनेक पदों में इस प्रकार के लोक-गीतों का समावेश है। इस प्रकार के लोक-गीत आज भी तमिळ-प्रदेश में प्रचलित हैं। आंडाळ ने यहाँ स्वप्न में माधव के साथ होने वाले अपने विवाह के प्रसंग का वर्णन किया है वहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त पदों में लोक-गीतों का परिष्कृत रूप ही मिलता है। आज भी ये गीत विवाह के अवसर पर वैष्णवों के यहाँ सामूहिक रूप में गाये जाते हैं —

'सुनरी प्रिय सखि मेरा सपना।
देखा मैंने प्रिय को जिसमें पाया जीवन अपना।
वारण गण से परिवृत्त आते, स्वागत होते पुर में।
तोरण शोभित मग में पग-पग पूरण घट घर-घर में सुनरी
मुक्त-सर-शोभित मण्डप में जब मृदंग बजाते।
मधुसूदन जी पाणि पकड़कर मेरा हृदय लजाते।
.... सुनरी.... ...'[1]

सूरदास जी द्वारा प्रयुक्त लोक-गीत का एक उदाहरण देखिए। यह बधाई का गीत है :—

धनि-धनि नन्द-जसोमति धनि जग पावन रे।
धनि हरि लियौ अवतार सु धनि दिन आवन रे।
दसएँ मास भयौ पूत पुनीत सुहावन रे।
सकल-लोक-मन-भावन चतुरभुज भावन रे।
बनि ब्रज सुन्दरि चलीं, सु गाइ बधावन रे।
कनक-थार रोचन-दधि तिलक बनावन रे।
नंदघरहिं चलि गईं, महरि जहँ पावन रे।[2]

नन्ददास जी के निम्नलिखित लोक-गीत में पुत्र-जन्म के समय के हास-उल्लास और वातावरण का सुन्दर चित्रण हुआ है —

वॅरिन वलम्पुरियुम वॅलरिपुम तिरिन्निलियुम।
वंकम विसुयिल वमरवॅळ वीतग्गार।
वॅरळ कवमुखिमे। तालेलो। वैकी विळमे। तालेलो।
धामार वेनु वील वर्णकलिम वायिवेमुम।
तेमार मनर मेन तिरुमर्थ वीतग्गाम।
कोमे। मळॅल, मळॅल तालेलो। कुडमॅविळमताने। तालेलो।"
—पेरियाऴ्वार तिरुमोऴी १ ३-१ ४ व ७

१ नाच्चियार तिरुमोळी ६ : १ से ६ (गोदाम्बा का सत और स्वप्न)
हिन्दी अनुवादक श्री कस्तूरी रंगाचार्य, पृ० १७

२ सूरसागर (सभा) पद सं० ६४६ पृ० २६८

> 'कृष्ण जनम सुनि अपने पति सौं हँसि बाभिन यौं बोली जू।
> जाउ-जाउ तुम नन्द नृपति कैं, नाम कोठरी खोली जू।
> तुमहि सिरोपी लागी बीरा, पछिमा भरि-भरि झोरी जू।
> हमको लइयौ नखसिख गहना बेहरि सहित सु बोरी जू।
> लीयौ अंत नृपति सौं लइयो हम बछिये कों झोली जू।'[१]

१ मुक्तक रचना

'मुक्तक' निबन्ध-काव्य का एक रूप है। यद्यपि गीति-काव्य और मुक्तक में काफी साम्य दिखाई देता है, तो भी दोनों की आत्मा में मौलिक अन्तर है। इस कारण से उनके कलेवर में भी अन्तर दीख पड़ता है। साधारणतया मुक्तक से तात्पर्य उस काव्य से है जो पूर्वापर सम्बन्ध से रहित होता है। मुक्तक काव्य के लिए यह आवश्यक है कि विभाव अनुभावादि से पुष्ट रस परिपाक पूर्ण होना चाहिए और रसपूर्ति के लिए अन्य पद का सहारा न लेना पड़े। गीति-काव्य में भावाभिव्यक्ति का जो उद्रेक मिलता है वह मुक्तक नहीं। मुक्तक में कवि बाह्य स्वरूप की रचना के प्रति बहुत ध्यान रखता है, अतः उसमें कला-पक्ष का प्राधान्य अधिक हो जाता है। चमत्कार-वस्तु उक्ति-वैचित्र्य आदि की ओर मुक्तककार जागरूक रहता है। कला-तत्त्व के प्रधान होने के कारण उसमें बौद्धिक तत्त्व प्रधान होता है। गीति काव्य में रागात्मक आवेग और आत्मनिष्ठ प्रधान है जो मुक्तक में गौण है। यही दोनों में सामान्य अन्तर है।

'प्रबन्धम्' के 'दर्पण-विभाग' में संगृहीत रचनाओं में प्राय मुक्तक ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनके अन्य पदों की भांति रागादि निर्दिष्ट नहीं हैं। पोयगै आळ्वार भूतत्ताळ्वार पेयाळ्वार की रचनाएँ तथा नम्माळ्वार की रचना तिरुविरुत्तम' तिरुमलिसै आळ्वार की रचना तिरुच्चन्द विरुत्तम तोंडरडी पोडी आळ्वार की रचना तिरुप्पळ्ळि एळुच्चि मे प्रयुक्त छन्द मुक्तक-काव्य के अन्तर्गत आ सकते हैं। इनमें प्रत्येक पद अपने पूर्व पद के सम्बन्ध के बिना भी अस्तित्व रख सकता है और अभिव्यक्ति पूर्ण भी हो सकती है। इनमे कुछ पद राग-बद्ध हैं अत उन्हें राग-बद्ध मुक्तक कह सकते हैं। परन्तु ये मुक्तक होते हुए भी गीति-काव्य की ओर अधिक झुके हुए हैं।

आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों में कुछ की रचनाएँ मुक्तकों के अन्तर्गत आती हैं। उदाहरण के लिए रसखान और हितहरिवंश की रचनाएँ उसके अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। रसखान की कविता अधिकांशत मुक्तक के रूप मे ही प्रकट हुई है। उसमे एक-एक छन्द अपने आप में पूर्ण और स्वतन्त्र है। रसखान ने अपने प्रत्येक सवैये में संपूर्ण चित्र का निर्माण बड़ी कुशलता से किया है। मुक्तक के लिए आवश्यक प्रौढ़ प्रांजल और समासयुक्त भाषा भी रसखान की रचना में देखने को मिलती है।

---

१ नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० ११७

भक्त मुक्तक के क्षेत्र में रसखान को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। रसखान का एक मुक्तक छन्द देखिए—

> 'आजु गई हुती भोरहीं हौं, 'रसखानि' रई कहिं नंद के भौनहिं।
> वाको जियौ जुग लाख करोर, जसोमति को सुख जात कह्यो नहिं॥
> तेल लगाइ लगाइ कै अंजन भौंह बनाइ-बनाइ डिठौनहिं।
> डारि हमेल निहारत आनन वारति ज्यौं चुचकारति छौनहिं॥"[1]

४ प्रबन्ध-काव्य : खण्ड-काव्य

प्रबन्ध-काव्य में शृंखलाबद्ध रूप में किसी वस्तु का वर्णन होता है। प्रबन्ध काव्य का कथानक सापेक्ष होता है, जिसमें पूर्वापर सम्बन्धों की स्थिति सदैव बनी रहती है। कथा की पृष्ठभूमि के निर्माण के लिए प्रकृति-वर्णन और देश-काल चित्रण का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रबन्ध काव्य विषय-प्रधान होता है, अतः उसमें वर्णनात्मक तत्वों का आधिक्य हो जाता है। प्रबन्ध-काव्य के दो रूप माने गये हैं— 'महाकाव्य' और 'खण्डकाव्य'। महाकाव्य में जीवन के सम्पूर्ण अंगों का वर्णन होता है। खण्ड-काव्य में जीवन के किसी एक खण्ड अथवा अंश को लेकर उसका क्रमबद्ध वर्णन किया जाता है।

आळ्वारों में अथवा आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों में किसी ने भी महाकाव्य की रचना नहीं की। कृष्ण-भक्ति काव्य में भावजन्य आवेग और उद्रेक का जो रूप था उसकी अभिव्यंजना के लिए गीत ही श्रेष्ठ माध्यम था। महाकाव्यकार की भाँति कृष्ण-भक्त कवियों की दृष्टि विषयगत नहीं थी और किसी महान् सन्देश या गम्भीर जीवन-दर्शन का प्रतिपादन उनका लक्ष्य नहीं था। कृष्ण भक्त कवियों का हृदय कृष्ण-लीला पर ही अधिक केन्द्रित था। कृष्ण और राधा के प्रति इन कवियों का दृष्टिकोण भावात्मक और रागात्मक था। हृदय की अत्यधिक भावुकता में गीतों का स्रोत ही फूट पड़ता है। परन्तु महाकाव्य के लिए वस्तुपरक गम्भीर और बुद्धि-समन्वित दृष्टि की आवश्यकता है। यही कारण है कि कृष्ण भक्त कवियों के द्वारा महाकाव्यों की रचना नहीं हुई।

आलोच्य कृष्ण भक्त कवियों में कुछ ने खण्डकाव्यों की रचना की है। खण्ड काव्य में जीवन के एक अंश का चित्रण होता है। किन्तु वह खण्ड और उसमें व्यक्त अनुभूति अपने आप में पूर्ण होती है। खण्डकाव्य में एक कथा-खण्ड अवश्य होता है, जीवन के सर्वाङ्ग निरूपण के अभाव के कारण उसमें कथा का उत्थान-पतन नहीं होता। प्रासंगिक कथाएँ बहुत कम आती हैं। कृष्ण भक्त कवियों के खण्ड-काव्यों में कथात्मकता के साथ गीतात्मकता का सामञ्जस्य है। आण्डाळ की 'तिरुप्पावै' नम्माळ्वार की 'तिरुविरुत्तम' और तिरुमंगै आळ्वार की 'पेरियतिरुमडल' विशेष

---

१ रसखान का अमर काव्य—दुर्गाशंकर मिश्र पृ० ५०

रूप से खण्ड-काव्य की कोटि की है। हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों में विशेष रूप से नन्ददास ने खण्डकाव्य लिखे हैं जैसे—रास पंचाध्यायी सिद्धान्त पंचाध्यायी गोवर्धन लीला सुदामा चरित, रुक्मिणी मंगल रूप-मंजरी और विरह-मंजरी आदि। इनमें कुछ वर्णनात्मक हैं कुछ काल्पनिक आख्यानों पर आधृत हैं कुछ विशिष्ट आध्यात्मिक सिद्धान्तों के निरूपण के लिए हैं और कुछ पद-शैली में लिखित खण्ड-कथात्मक हैं। खण्डकाव्य-रचयिता के रूप में हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों में नन्ददास जी का प्रमुख स्थान है। नरोत्तमदास कृत 'सुदामा चरित' भी एक सुन्दर खण्डकाव्य है।

३—छन्दोयोजना

काव्य की कलात्मकता में छन्दों का महत्व भी स्वीकार किया गया है। दिखाया जा चुका है कि आळ्वार भक्तों और आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त-कवियों की गेय-पद-शैली में राग रागिनियों का विशेष स्थान है। भारतीय काव्य-शास्त्र में छन्दों की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। प्रत्येक कवि छन्दोमयी कविता को ही कविता समझता था। लय और छन्द से कविता की व्यक्तता भी समझी जाती थी क्योंकि लय आन्तरिक वेग को प्रकट करने का साधन है। काव्य के छन्दोबद्ध होने की आवश्यकता बताते हुए श्री सीताकर गुप्त अपने ग्रन्थ पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त" में लिखते हैं— 'पद्य की लय में एकरूपता और नियमितता होती है। उसमें लय और पद का ढाँचा भी होता है। ऐसा व्यवस्थित अधिकार पद ही छन्द है। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द प्रेषण की प्रवृत्ति को उत्तेजित करके शब्दों का एक-दूसरे से सम्बन्ध घनिष्ठ कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोहन निद्रा सी ला जाता है और सुनिश्चितता सूचकता और ग्रहणशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी गति और ध्वनि से अर्थ-प्रकाशन करता है। छन्द अपनी गति और ध्वनि से अर्थ प्रकाशन करता है। छन्द कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है काव्यात्मक अनुभव को छन्द साधारण जीवन के रागों से पृथक कर देता है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिमार्जित कर देता है। छन्द कल्पना को प्रज्वलित कर कवि को ऐसी हृदयगम और मोतव्य प्रतिमाएँ प्रदान करता है, जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।"[1]

कविता और छन्दोविधान का ग्रन्थि-बन्धन आदि काल से ही चला आ रहा है। यही कारण है कि आळ्वार भक्त और आलोच्य हिन्दी कृष्ण-भक्त कवि राग रागिनियों में पद रचना करते हुए भी छन्दों को छोड़ नहीं सके। इन्होंने पूर्व प्रचलित प्रणालियों को अपनी गेय-पद रचना में इस प्रकार पचा लिया है कि उनके गेय पदों में

---

१ पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त पृ० २२८

(सूर और उनका साहित्य—पृ० ३०२ से ...

छन्दोविधान भी है इसका पता भी नहीं चलता। इन कवियों ने कहीं संगीतात्मकता को प्रधानता देते हुए छन्दों की तोड़-मरोड़ भी की है।

आळ्वार काव्य में छन्दोयोजना

आळ्वारों के पद गेय होने के साथ-साथ छन्द-शास्त्र के नियमों के अनुकूल भी हैं। छन्दों के नियम प्रत्येक भाषा की प्रकृति और उच्चारण-पद्धति के अनुसार अलग-अलग होते हैं। आळ्वारों की भाषा तमिळ है, जो द्राविड़ परिवार की भाषाओं में सबसे अधिक प्रधान और प्राचीन भाषा है। तमिळ का अपना स्वतन्त्र छन्द शास्त्र है और उसकी अलग परम्परा है। संस्कृत के छन्दों का प्रयोग तमिळ में बिल्कुल नहीं होता। हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में प्रयुक्त छन्द तमिळ के छन्दों से बिल्कुल भिन्न हैं। अतः छन्दों के प्रकारों की दृष्टि से आळ्वार-काव्य और हिन्दी कृष्ण-काव्य में कोई साम्य नहीं है।

यहाँ यह देखना अनुचित नहीं होगा कि आळ्वारों ने अपने काव्य में अपनी भाषा के छन्द-शास्त्र के नियमों का पालन करने में कहाँ तक सफलता पायी है। इस प्रसंग में तमिळ-छन्दों की विकास परम्परा का विस्तृत परिचय अपेक्षित नहीं है। अतएव संक्षेप में ही आळ्वार-काव्य में प्रयुक्त प्रमुख छन्दों का परिचय दिया जाता है।

तमिळ छन्दों के विषय में यह सामान्य ज्ञान आवश्यक है कि तमिळ में तुक पद के प्रत्येक चरण के अन्त में न होकर प्रारम्भ में होती है। साधारणतः प्रत्येक चरण के प्रथम शब्द के द्वितीय अक्षर अथवा द्वितीय और तृतीय अक्षर में प्रास होने की आवश्यकता समझी जाती है। एक उदाहरण लीजिए—

> वैत्तनैप्पुम काइन्त पासुम वहि तमियम वर वैप्पीयुम
> इत्तनैप्पगु पेहृरियेन एँपिराम। मी पिरत्त तम्मी
> एत्तनप्पुम वैप्पपेहुम एतुम वैय्येन कतम्पटामे
> मुत्तमेय पुवमम पेहतु मुत्कुरिकी मुसेमुत्तापे।"

तमिळ के प्राचीन काव्य में चार प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। वे हैं— आसिरियप्पा" वेण्पा" कलिप्पा" और 'वंजिप्पा।' इसमें 'आसिरिप्पा" सबसे प्राचीन छन्द मालूम होता है।[1] आळ्वार-पूर्व काल के काव्य में (संघकाल के काव्य में) विशेष रूप से 'आसिरियप्पा' का ही प्रयोग हुआ है। 'वंजिप्पा' प्राचीन "आसिरियप्पा" का ही विकसित रूप है। कलिप्पा प्राचीन वेण्पा का परिवर्तित रूप है।[2] प्राचीन काव्य में वेण्पा में दो से बारह तक चरण होते थे। परन्तु बाद में वेण्पा में चार ही चरण रखे गये। प्रथम तीन आळ्वारों (पोयगै आळ्वार, भूतत्ताळ्वार और

---

1 *Advanced Studies in Tamil Prosody* (1943 Edition)
—Dr A Chidambaranatha Chettiar p. 57

2. *Ibid* p 90

पेयाळ्वार) की रचनाओं में केवल वेण्पा-छन्द का ही प्रयोग हुआ है क्योंकि उनके समय तक अन्य आळ्वारों के काव्य में प्रयुक्त कुछ छन्दों का आविर्भाव नहीं हुआ था। 'कलिप्पा' छन्द आसिरियप्पा और वेण्पा के सम्मिश्रण से बना था। कलिप्पा के चार भेद हैं—

१—कोच्चकक्कलि
२—कलिवेण्पाट्टु
३—कोच्चकक्कलि और
४—उरमकलि।

जिसमें आळ्वार की दो रचनाएँ—'पेरिय तिरुमडल' और 'सिरिय तिरुमडल' कलिवेण्पाट्टु' छन्द में रचित हैं।

आळ्वार-काल (पाँचवीं शती से नवीं शती तक का काल) में प्राचीन चार प्रकार के छन्दों (आसिरियप्पा वेण्पा कलिप्पा और वंजिप्पा) के अनेक भेद निकले। डा० ए० सी० चेट्टियार के अनुसार—तामिळ तुर्ई तिरुत्तम आदि छन्द-भेद निश्चित रूप से संघकाल के बाद बने हैं[1] जिनका प्रयोग विविध रूप से आळ्वार-काव्य में हुआ है। तमिळ के प्राचीन चार छन्दों और उनके भेदों से मिश्रित अनेक नवीन छन्द आळ्वार-काल में ही निकले। आळ्वार-काव्य में प्रयुक्त विविध छन्द इस प्रकार हैं—आसिरिय विरुत्तम कलित्ताळिशै कलिनिलैत्तुर्ई तबु कोच्चक कलिप्पा कट्टळैक्कलित्तुर्ई, कलि विरुत्तम आसिरियत्तुर्ई आसिरियप्पा, कलिवेण्पा, कलि विरुत्तम वंजित्तुर्ई आदि हैं। इन छन्दों के अलग-अलग नियम हैं। आळ्वार-काव्य में प्रयुक्त छन्दों की सूची मात्र देने से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि आळ्वार-काव्य में छन्द वैविध्य है और उन्होंने अनेक नवीन छन्दों का भी प्रयोग किया है।

आळ्वार-काव्य में प्रयुक्त छन्दों की यह विशेषता है कि प्रत्येक पद के अन्तिम चरण का अन्तिम शब्द उसके बाद के पद का प्रथम शब्द बन जाता है। इस प्रणाली' को 'अन्तादि' कहते हैं। यह प्रणाली पदों को एक शृङ्खला (Chain-arrangement) में बाँधती है। आळ्वारों की प्रायः सभी रचनाओं में प्रारम्भ से अन्त तक छन्दों की यह 'अन्तादि-प्रणाली' देखी जा सकती है। अन्तादि-प्रणाली' में काव्य रचना करना साधारण कवि का कार्य नहीं है। आळ्वारों ने इस कठिन 'अन्तादि प्रणाली' का भी बड़ी सरलता से अपने काव्य में प्रयोग किया है। यह उनकी कवित्व-शक्ति की ओर संकेत करता है। आळ्वार-काव्य से अन्तादि प्रणाली का एक उदाहरण लीजिए—

---

१ डा० ए० सी० चेट्टियार ने अपने ग्रन्थ *Advanced Studies in Tamil Prosody* में पर्याप्त विस्तार के साथ तमिळ-छन्दों की विकास-परम्परा का परिचय दिया है।

'मीयुम वानुम इम्मैनिलिम् मेल मग्रोर
मीयुम चार कोवाम मैंचमे । कोन्नेम
तायुम तम्तपुमाय इम्युनकिमिल
वायुम ईसम अभिचम्पम एम्नैये ।"

× × ×

'एम्नैये' एन्ड्र एपिरमान एन्ड्र
चिम्तैयुळ वैम्मम चोम्मुचम पाविमैन
एम्न । एम्पेरुमान । एन्ड्र वानवर
चिन्तैयुळ वेन्द् चोम्नुम पेरुमैयि ।'

—तिरुवायमोळी १ १० १ व ४

कुछ आळवारों ने विविध छन्दों में लोक-गीतों में प्रयुक्त शब्दावलियों का भी प्रयोग किया है। लोक-गीतों के प्रभाव के कारण उनके पदों में ऐसे निरर्थक प्रयोग भी मिलते हैं जो केवल रोचकता में वृद्धि करने की दृष्टि से प्रयुक्त हुए हैं। (पेरियाळ्वार ने अपने अनेक पदों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों के साथ एकाध अनावश्यक पंक्तियाँ जोड़ दी हैं।) इनके प्रयोग के साथ-साथ कुछ कवियों ने कहीं-कहीं छन्दों के नियमों की मर्यादा भंग की है। पद-रचना-परम्परा में और विशेषकर रागबद्ध रचनाओं में इस प्रकार के प्रयोग क्षम्य माने जाते हैं। सारांश यह है कि आळवार-काव्य में छन्द-वैविध्य है और जहाँ छन्द के नियमों का भंग हुआ है तो वह संगीतात्मकता को प्रधानता देने की दृष्टि से हुआ है।

हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में छन्दोयोजना

साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने छन्दों के नियमों की ओर ध्यान न देकर स्वतन्त्र रूप से पद रचना की है और उनकी रचनाओं में गेय पदों का अनुपात ही अधिक है। इस विश्वास में आंशिक सत्य ही है। हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों की छन्दोयोजना के दो रूप देखने को मिलते हैं—

१—प्रचलित छन्दोविधान और
२—गेय पदों में प्रयुक्त छन्दोविधान।

छन्दोविधान का गेयत्व से नित्य-सम्बन्ध है। प्रत्येक छन्द में उसकी यति-गति का सम्यक् उसमें प्राप्त लय विधान से होता है। इसलिए राग-रागिनियों में पद रचना करते हुए भी सूर आदि कवि छन्दों को छोड़ न सके। सूर ने अनेक छन्दों को राग-रागिनियों और तालों में बाँधकर नियोजित किया है। अतः सूरसागर में राग रागिनियों और टेक इत्यादि से पूर्ण रूप से मुक्त छन्दात्मक रचनाएँ प्रायः नहीं हैं। यह बात अवश्य है कि वर्णनात्मक स्थलों में प्रयुक्त छन्द अधिकतर चौपाई चौपई दोहा और रोला हैं। इन छन्दों का प्रयोग भागवत प्रसंग में हुआ है। अन्य स्थलों पर उक्त छन्दों में तथा अन्य छन्दों के विधान में टेक—रे, री, हो, सखि, इत्यादि के

प्रयोग राग और ताल-बन्ध के द्वारा संगीतात्मकता के समावेश के प्रति पूर्ण सचेष्टता दिखाई पड़ती है।

परमानन्ददास जी के छन्दोविधान में चमत्कार अथवा दीर्घ चरणों से युक्त लम्बी-लम्बी पंक्तियों का विधान नहीं है। उन्होंने अधिकतर सार और सरसी छन्दों का प्रयोग किया है। परमानन्ददास के अधिकतर पद टेक-युक्त हैं। टेकों की मात्रा में कोई निश्चित विधान नहीं है। नन्ददास ने भी सूर की भाँति छन्द तथा पद—दोनों शैलियों में लिखा है। अन्तर केवल इतना है कि सूरसागर में पदों का अनुपात अधिक है और नन्ददास की रचनाओं में छन्द-बन्धन का। वर्णनात्मक स्थलों में नन्ददास ने चौपाई छन्द का प्रयोग किया है। अतः 'सुदामा चरित' और गोवर्धन-लीला' में केवल चौपाई छन्द का ही प्रयोग हुआ है। रास पंचाध्यायी' और सिद्धान्त पंचाध्यायी' तथा 'रुक्मिणी मंगल' में रोला छन्द का प्रयोग हुआ है। भँवर-गीत' और 'श्याम सगाई' की रचना रोला और दोहा छन्दों के मिश्रित प्रयोग द्वारा हुई है।

श्री हितहरिवंश द्वारा रचित स्फुट वाणी' में दोहा सवैया छप्पय और कुण्डलिया छन्दों का प्रयोग हुआ है। कवयित्री मीराबाई की रचनाओं में भी प्रायः वही छन्द प्रयुक्त हुए हैं जो अन्य भक्तों की पदावलियों में आये हैं। इन छन्दों के प्रयोग में दोष भी कहीं-कहीं आये हैं। परन्तु मात्राओं की संख्या तथा अन्य साम्यों के द्वारा अनेक छन्दों का अस्तित्व मीरा के काव्य में प्रमाणित किया जा सकता है। मीरा के काव्य में प्रयुक्त छन्द इस प्रकार हैं—सार छन्द सरसी छन्द दोहा विष्णु पद समान सवैया शोभन ताटंक और कुण्डल। इनमें सार छन्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। मीरा के जिन पदों में इस छन्द का प्रयोग हुआ है, उनमें कहीं-कहीं निरर्थक सम्बोधनों (रे री, जी ए माय हो माई—इत्यादि) के प्रयोग के कारण उन्हें सदोष कहा जा सकता है। परन्तु पदरचना-परम्परा में और विशेष कर रागबद्ध रचनाओं में इस प्रकार के प्रयोग असम्य नहीं माने जाते।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि आळ्वार भक्त तथा आलोच्य कालीन हिन्दी कृष्ण भक्त कवि गेय पदों की रचना करने पर भी छन्दों के नियमों के प्रति जागरूक रहे हैं और उन्होंने अपनी-अपनी भाषा के छन्द-शास्त्रीय नियमों का पालन अपनी कविता में किया है। अगर उन्होंने छन्द के नियमों का उल्लंघन किया है, तो यह संगीतात्मकता को प्रधानता देने की दृष्टि से ही है।

भाषा शैली

आळ्वारों के काव्य में प्रयुक्त भाषा

आळ्वार भक्तों के समस्त पद साहित्यिक तमिळ भाषा में रचित हैं। आळ्वारों ी भाषा की विशेषता यह है वह संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से मिश्रित मिळ भाषा है। तमिळ भाषा के क्रमिक विकास में आळ्वार भक्तों का बड़ा हाथ

रहा है। आळ्वार भक्तों के पूर्व अर्थात् पाँचवीं शताब्दी के पूर्व के तमिळ-काव्य में जो भाषा प्रयुक्त थी वह शुद्ध तमिळ भाषा थी। उसमें संस्कृत भाषा के शब्द नहीं के बराबर है। आळ्वार भक्तों के समय में ही संस्कृत भाषा के शब्द तमिळ में घुसे। चूँकि आळ्वार भक्त संस्कृत के भी विद्वान् थे और वेद गीता आदि के ज्ञाता थे अतः उन ग्रन्थों के सार को तमिळ भाषा के अपने पदों में अभिव्यक्ति देते समय अनायास ही संस्कृत शब्द उनकी तमिळ शैली में प्रवेश कर गये। तमिळ-भाषा के स्वरूप विकास की दृष्टि से आळ्वारों का यह कार्य बड़ा महत्त्व रखता है। आळ्वार भक्तों ने ही सर्वप्रथम धैर्य के साथ संस्कृत शब्दों को अपनी भाषा में आने दिया। यह बात अवश्य है कि आळ्वारों ने संस्कृत के कठिन शब्दों को न लेकर बहुत ही सरल और सरस शब्दों को लिया है। अधिकांश शब्दों को तत्सम रूप में प्रयुक्त न करके उन्हें 'तमिळीकृत' कर तद्भव रूप में ही प्रयुक्त किया है। आळ्वारों की इस महान् सेवा से तमिळ भाषा का शब्द भाण्डार विकसित हुआ। आळ्वारों द्वारा प्रयुक्त तमिळीकृत मधुर संस्कृत शब्दों से तमिळ भाषा में एक नयी शक्ति का संचार हुआ। सरल और सरस संस्कृत शब्दों के प्रवेश से तमिळ भाषा में पहले की अपेक्षा अधिक प्रवहमानता और सजीवात्मकता आयी।[1]

शैली की सुन्दरता और महत्ता उसके कलेवर, भाषा की समृद्धि पर निर्भर है। भाषा की समृद्धि की पहचान शब्द-भाण्डार और शब्दार्थ-बहुलता से की जा सकती है। कवि अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए चारों ओर से शब्द ग्रहण करता है और आवश्यक काट-छाँटकर उनका प्रयोग करता है। ऐसा करने से भाव-प्रकाशन सुन्दर हो जाता है।

आळ्वार भक्तों के काव्य में प्रयुक्त शब्दों पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका शब्द भाण्डार पर्याप्त समृद्ध है। उनकी रचनाओं में विशुद्ध तमिळ भाषा के शब्दों का ही अधिकाधिक प्रयोग है। अपने शब्द-भाण्डार को विस्तृत करने के लिए उन्होंने संस्कृत के शब्दों का सहारा ग्रहण किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त संस्कृत शब्द भी बहुत सरल और मधुर हैं। संस्कृत शब्द अधिकतर तद्भव अथवा अर्ध तत्सम रूप में ही मिलते हैं।[2] स्तुति अथवा सिद्धान्त-कथन के स्थलों में तत्सम

---

1 कम्बन काव्यम् – श्री एम॰ वैयापुरी पिल्लै पृ॰ ११२ ११।

2 तमिळ लिपि में केवल ३१ अक्षर हैं जिनमें १२ स्वर और १८ व्यंजन हैं। स्वरों में तीन ऐसे हैं जो देवनागरी वर्णमाला में नहीं हैं पर द्राविड़ परिवार की सभी भाषाओं में पाये जाते हैं। ये हैं ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' और अःऩ्। व्यंजनों में ख छ ठ थ ढ ध भ ज, श, ष घ घ ह, ध भ घ घ, स ह आदि अक्षर तमिळ वर्णमाला में नहीं हैं। शुद्ध तमिळ शब्दों में इन अक्षरों की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर वर्णमाला के पहले अक्षर से ही काम लिया जाता है। तमिळ में तीन व्यंजन ऐसे हैं जो

शब्द आये हैं। अन्य स्थलों में तद्भव और अर्ध-तत्सम शब्द तमिळ शब्दों के साथ साथ घुल मिलकर आये हैं।

आळ्वारों के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत के तत्सम शब्द

पेरियाळ्वार—नमो नारायण अवनि मुनि मूर्ति नाम मीन मीन सम्मुखी धरणी मंगल वेद केदाय वस्त्र मणि कुम्भ अंक आदि कनक नरक।

आण्डाळ—नायक, मूर्ति नारायण अम्बर मन्द घोराम कमल गण ईश मंगल देवाधिदेव क्षेम कमल विमल।

तिरुमळिशै आळ्वार—तरंग नीति काल आदि वेद मूर्ति पुण्डरीक कीर्ति मीन योग नीति।

कुलशेखराळ्वार—मुमल उन्मत्त वीथी मंगल नगर।

तिरुमंगै आळ्वार—क्षेम आदि मूर्ति नाथ कमल अम्बर मुख कमल।

मधुरकवि आळ्वार—पाणि भूमि मति कविगण।

नम्माळ्वार—मूर्ति माया कीर्ति परम कवि अम्बर कारण पाद कमल।

अर्ध-तत्सम शब्द

संस्कृत के शब्दों को तमिळ की ध्वनियों के अनुकूल ढालने के प्रयास के फल स्वरूप आळ्वार भक्तों ने अनेक शब्दों को इतना नया रूप दिया है कि उनका मूल अंश कुछ ही मात्रा में छिप रह गया है। इन शब्दों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतर ये शब्द-परिवर्तन उन शब्दों में किये गये हैं जिनका उच्चारण कठिन था अथवा जिनकी ध्वनि तमिळ की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती थी। आळ्वारों की रचनाओं में संस्कृत से आये हुए शब्दों में अर्ध-तत्सम शब्द ही अधिक हैं।

देवनागरी वर्णमाला में नहीं मिलते, वे हैं—ऍ ळ और न। यद्यपि तमिळ में ग ज ड द ब अक्षर नहीं हैं, तो भी ये ध्वनियाँ तमिळ में पायी जाती हैं। सम्भव है इन ध्वनियों का विकास संस्कृत के प्रभाव के परिणाम स्वरूप हो। तमिळ में इन ध्वनियों के लिए अलग अक्षर नहीं हैं। क च ट त प अक्षरों से ही इनका काम लिया जाता है। स्थान के अनुसार इनका उच्चारण बदलता है। ख, छ ठ, थ फ और घ झ ढ ध भ अक्षर तमिळ में नहीं आते। संस्कृत के तत्सम शब्दों में ही इनका प्रयोग होता है और लिखते समय क च ट त प से ही इन अक्षरों का काम लिया जाता है। तमिळ में अक्षरों की कमी के कारण संस्कृत या अन्य भाषा के शब्दों को लिखने में कठिनाई उपस्थित होती है। इस कारण प्रायः शब्दों के रूप बदल जाते हैं। संस्कृत शब्दों के रूप तमिळ में अधिक सरल और मधुर बन जाते हैं और उनके उच्चारण की कठिनाई दूर हो जाती है। जैसे पत्र' तमिळ में 'पत्तिरम्' और 'ग्रास' 'कासिरम्' बन जाते हैं।

पैरियाळ्वार—कंटम् (कंठ) उतरम् (उदर) सिन्दूरम् (सिन्दूर), मेकम् (मेघ) कीतम (गीत) कुणम् (गुण), नकरम् (नगर) नागम् (नाग) अन्तियम (अंत्य), नियतम् (नियत) सेवकम् (सेवक) करुमम (कर्म) वेदम (वेद) यसोदै (यशोदा), इन्तिरन (इन्द्र) आरम (हार), चाति (जाति) चलम (जल) पणम (फण), चिरीतरन (श्रीधर), पर्पनापा (पद्मनाभ), चिरम (शिर) अभियायम् (अध्याय) पुस्तकम (पुस्तक) अलंकारम् (अलंकार) पुरुषोत्तमन (पुरुषोत्तम), मायै (माया) चक्करपाणि (चक्रपाणि) वैकुन्तम (वैकुण्ठ)।

आण्डाळ—यशोदै (यशोदा) पिच्चै (भीख) उत्तमन (उत्तम) मायन (मायायुक्त) मालै (माला) आकुलम (व्याकुल) तरुमम (धर्म) पापम (पाप) इन्तिरन (इन्द्र) मन्तिरम (मंत्र) यमुनै (यमुना)।

कुलशेखर—मनिचर (मनुष्य) मालै (माला) पणम (फण) अनन्तन (अनन्त) मायै (माया) सितै (सीता) मन्तिरम (मंत्र), पादुकम (पादुका) कतै (कथा)।

तिरुमळिशै आळ्वार—मायन (मायायुक्त) कंगै (गंगा) चोति (ज्योति) मोक्कम (मोक्ष) अनन्त चयनन (अनन्त शयन) पारम् (भार) उपायम् (उपाय), मायै (माया) पापम (पाप) वयिर (वैर) कतै (कथा) वेतम् (वेद)।

तिरुमंगै आळ्वार—नामम् (नाम) पणम (फण) पापम (पाप) वर्ष (भाषा) इन्तिरन (इन्द्र) पुरुषोत्तमन (पुरुषोत्तम) वदरी (बद्री)।

नम्माळ्वार—इराकम (राग) जन्मजन्मान्तिरम (जन्म-जन्मान्तर) चरणम् (चरण) सितै (सीता) चरम (चर) चरा-चरम् (चराचर)।

तद्भव शब्द

संस्कृत से आये हुए शब्द तत्सम रूप में ही आळ्वारों की रचनाओं में अधिक मिलते हैं। कुछ-कुछ संस्कृत शब्दों के रूप इतने बदल गये हैं कि उनकी पहचान तक कठिन हो गयी है। ये शब्द संस्कृत से आते हुए भी तमिळ की निजी सम्पत्ति हो गये हैं।

पैरियाळ्वार—इरावणन (रावण) इरुटिकेचन (हृषीकेश) विट्टुचित्तन (विष्णुचित्त) कण्णन (कृष्ण) चिकम (सिंह) सुताय (सुभद्रा) चिरीतरन (श्रीधर) मुत्तु (मोती) चक्करम (चक्र), पंकयम (पंकज) उलकम (लोक) चत्तिरम (छत्र), संकम (शंख) तिरु (श्री) चोत्तम (स्रोत) अक्कारम (शर्करा) अरचन (राजा) पसु (गाय) पत्तर (भक्त) पावी (पापी)

कौतुकमम (कौतूहल), तम्मम (धर्म) वेटम (वेत) कल्याणमम (कल्याण) पुत्तिरन (पुत्र) कोवलन (गोपाल) चिन्तिकारम (शृङ्गार) अपुतम (अद्भुत) चिर्म (धिमा) विरतम (व्रत) मन्ति (सन्ध्या) आयिरम (सहस्र) तामिमम (साम्य) चिर्म (मन) माग (मृग) मट्टणकम (कण्ठक) तवम् (तम) पिरमन (ब्रह्मा) विक्किरमम (विग्रह)।

माण्वाळ—मार्कोसी (मार्गशीर्ष) किरिर्च (क्रिया) म (मधि) सुवर्क्कम (स्वर्ग) पुष्पियायन (पुष्प करने वाला) कम्लम (पद्म) चिंकम (सिंह) कारियम (कार्य) कंचम (कंस) कामम (कामना) तिव (श्री) चंकम (शव) तुवरै (द्वारिका) मानिटर (मनुष्य) उव (रूप) उरोटम (रोष) कुयिल (कोकिल) तत्तुवम (तत्त्व वाला) आकुलम (व्याकुल) अमुतम (अमृत) तुवरापति (द्वारिकापति)।

कुलसेखर—तम्भकम (स्तम्भ) श्रीरामा (श्रीराम) इरामने (रावण) पत्तर (भक्त) उलकम (लोक) अरसु (राज) अमुतम (अमृत)।

तिरुमळिसै आळ्वार—अरंकन (श्रीरंग) चिंकम (सिंह) चिरर्च (श्रद्धा) वर्णम (वर्ण) पत्तर (भक्त) चरम (शर) चिरम (शिर) अमुतम (अमृत) पुष्पियामम (पुष्प करने वाला)।

तिरुप्पाण आळ्वार—आयिरम (सहस्र) तवम (तप) चापम (शाप) मामुनि (महामुनि) चिर्म (धिमा) चलम (जल) रोमम (रोम) तेवम (देव) पावम (पाप) चमण (श्रमण) अमुतम (अमृत) इलक्कुमन (लक्ष्मण) चिंकम (सिंह) गोपुर (गोप) उव (रूप) मुत्तु (मोती) तिरुति (तृप्ति) कंटै (क्षिप्ती) कमल (कल)।

कुलचेकराळ्वार—इरुयम (हृदय) तवम (तप) अमुतु (अमृत) कंचन (कंस) कामम (कामना) कटिनु (कठिन) कम्पुन (वर्णमाला) कोवलन (गोपाल)।

पेयाळ्वार—तैरु (ठिकाना) तमम (स्तम्भ) आकायम (आकाश) उलकम (लोक), अन्ति (सन्ध्या) तुळाय (तुलसी) चिरीवरन (श्रीधर) तामम (स्थाम)।

नम्माळ्वार—आमुतु (अमृत) तिव (श्री) कर्पकम (कल्प), कण्णन (कृष्ण), तुळाय (तुलसी) अर्पचारम (अल्पसार) गमन (भ्रम) कुयिल (कोकिल), सुवक्कम (स्वर्ग) पत्ति (भक्ति) उलकम (लोक)।

अनुकरणात्मक शब्द

आळ्वारों की भाषा की विशेषता है, उसकी चित्रात्मकता। अधिकतर शब्द चित्रों द्वारा उनकी भाषा की चित्रात्मक शक्ति का निर्माण हुआ है। इन शब्द-चित्रों

के निर्माण में सबसे अधिक योग अनुकरणात्मक शब्दों का रहा है जिनके द्वारा इन कवियों ने विभिन्न स्थितियों और भावनाओं के चित्र खींचे हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ अनुरणात्मक शब्द इस प्रकार हैं—चलार पिलार, कण-कण चमक चमक चोट्टु चोट्टना तुळि तुळिक्क किसु किसु वेण्डु, कल-कलप्प।

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा

आलोच्यकालीन सभी हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने अपने काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। ब्रजभाषा के विकास तथा रूप-निर्माण में हमारे आलोच्य कवियों का विशेष हाथ रहा है। १६ वीं शती के पहले ब्रजभाषा में साहित्य-रचना विशेष कुछ नहीं हुई थी। सूरदास जी ने पहले-पहल ब्रजभाषा को काव्य की उपयुक्त भाषा बना दिया। सूर ने ब्रज की बोली को साहित्यिक रूप प्रदान किया। आलोच्य कवियों ने साधारण भाषा को गरिमा प्रदान करने के लिए संस्कृत के शब्दों का सहारा लिया बोली को सँवारने के लिये तद्भव शब्दों को काट छाँटकर प्रतिपाद्य के अनुकूल मसृण और कोमल बनाया तथा विदेशी शब्दों को अपनी ध्वनियों में ढालकर उनके प्रयोग के द्वारा भाषा को व्यापकता प्रदान की। तत्सम शब्दों का प्रयोग इन कवियों ने अधिकतर व्याख्यात्मक तथा कल्पना-प्रधान अप्रस्तुत भावनाओं के चमत्कारवादी स्थलों में किया है। लीला-प्रधान अनुभूत्यात्मक और विवरणात्मक स्थलों में तद्भव शब्दों का प्राधान्य है और विदेशी शब्दों का पुट प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। किन्तु उन पर ब्रजभाषा का रंग इस प्रकार चढ़ाया गया है कि उनका विदेशीपन प्रायः बिल्कुल छिप गया।

आलोच्य हिन्दी कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त तत्सम शब्द

सूरदास—अहिपति अंगीकार अम्बुज अभिलाष आमिष आयुध अपरिमित अजिर अभिराम आविर्भाव इन्दीवर, कालिमा कामना-कानन कनीनिका चपल कलधर नासिका उपमा कुन्तल कमल-दल लोचन कलश नारिकेल तारा कोविद गणपति कौतुक दम्पति निरालम्ब मुकुलित चमर, सरसिज मनोरथ प्रतीति पन्नग पवित्र पावन राका परिवेश आदि।

परमानन्ददास—अगाध अनुराग अमित अलंकृत हंस-वंश गजगामिनि उच्छलित उत्थापन उपदेश लक्षण उपहार कुन्तल गोरज गम्भीर कुसुमायुध सुरभित महाभाग्य कटाक्ष परिरम्भण महोत्सव विद्यमान विपद भूमि आदि।

नन्ददास—उच्च कंचन इन्दु, राजीव चिबुक-कूप पयोज प्रतिमा प्रेम-पद्धति विषमता पुंज अमरेन्द्रवृन्द पुलकित आसक्ति कर्म क्रिया नीलो रसवस तिमिरवलित सज्जन निपात सच्चिदानन्द आश्रित आदि।

हितहरिवंश—मंजुल नवकुंज मलय कपोल मलिन नट कुटिल भ्रुकुटि शिथिल मति नवक वेग समान तन कमलजल परिरंभन विलसन शयन

सिसीकुल प्रबोधित असणपीत नव कुसुल अनुपम अनुराग मूल
मृगुम पुलकित धारासूम भीषम परज निविड़ निटुच मिहूम
सीष किरीट इत्यादि।

अर्ध-तत्सम शब्द

संस्कृत के शब्दों को ब्रजभाषा की ध्वनियों के अनुकूल ढालने के कारण आलोच्य कवियों ने अनेक शब्दों को ऐसा नया रूप दिया कि उनका मूल अंश कुछ भाषा में ही छिप रह सका। उच्चारण की कठिनाई मूल शब्द की ध्वनि की कर्कशता और कठोरता को दूर करने के लिए ऐसे परिवर्तन किये गये हैं। उन कवियों ने कण कटु शब्दों को मधुर और कठिन शब्दों को सरस बना दिया है। इन कवियों के हाथों में आकर संस्कृत के शब्द ब्रजभाषा के शब्द बन गये। ऐसे शब्दों को अर्ध-तत्सम शब्द कह सकते हैं।

सूरदास—अपजस अजित अंसुमान भारत कलेस कृष्णा गनिका दुरवासा
परतीति पयुम प्रापत जबुन पारथय प्रनीर निरर्ध बिसाम
बिरच मिमुछार भरथाह, सुमृति स्वारथ सबन स्याम सरवस
मरकट छाति इत्यादि।

परमानन्ददास—सहस स्याम, सर्वसु, अतिछैठी पूरक सुभ पवम मयत, नन्द अंस
महातम असीस चिन्तामनि भरथाव परनाम प्रापत सनेह इत्यादि।

नन्ददास—परम सरवर स्मृती पल मुरछि, अतिसय निपन असर्वा उरव
जोति सहस आतमाराम सुधार मजस इत्यादि।

हितहरिवंश—पूत धुनि बिसदि असप भाव उकति सर्मे बिलोकि परसत
बीति दोति पिय जन समम भीत कीरत अष्टिम बसम
इत्यादि।

तद्भव शब्द

आलोच्य हिन्दी कवियों की भाषा में तद्भव शब्दों की बहुलता है। प्रतिपाद्य के कुछ अंशों को छोड़कर प्रायः अधिकतर पदों में व्यावहारिक भाषा का ही प्रयोग किया गया है। तद्भव शब्दों से तात्पर्य उन शब्दों से है जो मूलतः संस्कृत में थे परन्तु समय के साथ अनेक परिवर्तनों के कारण हिन्दी की अपनी निजी सम्पत्ति हो गये हैं।

सूरदास—औसर उछंग काठ कापरा कोकिल अमराई कोह, अपमने अनत
अभिमारे ओदे कान्ह, अनैसे भवन बिसारि, निठुराई पाँवरी
परसना बिसम लच्छा तमचुर सियार, साँवरो मीत सजनी
राकस सौंह, सुरति सरिस मोल मूठे सराप बियाहन बनिज
गुसाईं धरनी खम्भ इत्यादि।

परमानन्ददास—अकाज असाध अनत अमरत अन्तरगति, इच्छा, उतंग उनमद अकुस कुमित घोष पूत ब्यौरि अवरस महोत्सव, तमीर मात पाठी असन माधी रिस, सवार इत्यादि।

नन्ददास—परमत मच्छर पलाश अकास करनिका मांसिम अतन सारो परमान सुनाई, लच्छ, दुलही मूरति मांझ, बजमारे जोबन मारुत देस पदिनी पुञ्ज अंतरजामी सुमिरन इत्यादि।

छितस्वामी/हितहरिवंश—उकति सबै फटकि, पुलकि नाये सुरति परसत ब्यापत जोति पिय प्रीतम निलपत औसर, पंजर हुतासन अनिमास उदिम, संजमन मसन अचरा बिलोकि भुवन, आरतिवचन सुगम इत्यादि।

देसज शब्द

ब्रज प्रान्त में अधिकतर रहने के कारण आलोच्य हिन्दी कवियों के काव्य में लोक-व्यवहार के बहुसंख्यक शब्द उपलब्ध होते हैं। उनमें अनेक शब्द ऐसे हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दों से नहीं सिद्ध होती अतः उन्हें 'देशज' की संज्ञा दी गयी है। ऐसे कुछ शब्द नमूने के तौर पर नीचे देते हैं —

सूरदास—अमात आरोगत चाली कुलुह अमा भारी, नैसी मरजी फेफरी बगदाह खरिक छाक चाहुर, मारी सठबांसी, निठोल गोहन, गोसों काही।

परमानन्ददास—बिहान बिजुका राठी अरोगत हुलासे जमेरी अमाई छराहनी उबकन एठो ओट ओसर, होड़ाहोड़ी छाक बेबरी झूमकरा माय धुरई मगुहार लरिका हटरी हलवा इत्यादि।

नन्ददास—चटसार, फुनेल जुन्हाई धौली मुसकि ठकुराइत मटकियना अहकि मनकामी होइनि अरगाइ, उगाहन, चटपटी खिस्सर बजमारे, मुसकि अलमसताई, धुका-धुकी" इत्यादि।

विदेशी शब्द

राजनीतिक सामाजिक आदि परिस्थितियों के अनुरोध से आलोच्य हिन्दी कवियों के समय में अनेक अरबी फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का जन साधारण में प्रचार हो गया था। आलोच्य कवियों ने इस प्रकार के शब्दों को स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण किया है। परन्तु अपनी भाषा की ध्वनियों के अनुसार समुचित परिवर्तित रूप में उनका प्रयोग किया है।

सूरदास—दरवान लाक जहाज सिरताज जोबन नकीब रसरा तरवारि, गनाम सहनाई सन्दूक, नरम सहर साबिन फौज महल फरमान सायक अफसोस हजूर, बजार सिपाही इत्यादि।

परमानन्ददास—जागीर दगा दफ्तर बहम साबक सहनाई गोर, सेहरा महल सौदा मैदान मालूम मौज मवासी दीवान जंगी सिरताज बसा देहात इत्यादि।

हरिवास—घुमार, सिसार, सतरंज खिलावे, मजलयार, फरजी पिवर इत्यादि ।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

लोक प्रचलित भाषा में लोक के अगणित अनुभव वाक्यों और वाक्यांशों के रूप में संचित होते रहते हैं जिन्हें 'लोकोक्तियाँ' और 'मुहावरे' कहते हैं। इनमें लाक्षणिकता अर्थ-गाम्भीर्य अभिव्यक्ति और मार्मिकता के साथ सरलता का अद्भुत योग रहता है। भाषा को प्रौढ़ता प्रदान करने में मुहावरे और लोकोक्तियों का बड़ा हाथ है। चूँकि इन सीधी और सरल उक्तियों में मानव समाज का चिरकाल का अनुभव संचित है और इनका आधार मनोवैज्ञानिक है अतः ये देश और काल की सीमा से परे हैं और मानव-मात्र के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखती हैं। आळवार भक्तों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में मुहावरे और लोकोक्तियों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

आळवार-काव्य में मुहावरे

१—आकाश को मुआवमान करना।[1] (जोर से रोना)
२—कुल्हाड़ी पर इमली का रस डालना।[2] (विपदा पर वेदना देना)
३—छिपकली की तरह पकड़ना।[3]
४—दस महीने पेट में लिये फिरने के कारण।[4] (मातृत्व के कारण)
५—कसौटी पर सोने को कसने के समान।[5]
६—गाड़ी के पीछे चलते चलते गाड़ी पर चढ़ना।[6] (थोड़ा-थोड़ा करके बहुत लेना)
७—माता का स्मरण कर रोने वाले बच्चे के समान।[7]
८—बच्चे के हाथ के कटोरे की तरह।[8]
९—जो पाचक नहीं है, उसका खाने के समान।[9]
१०—नदी के किनारे लगे पेड़ के समान।[10]

---

१ विण्णीरुलाम वैगुन्द पळ तन—पेरियाळ्वार तिरुमोळि २ १ ६
२ पुण्णिल पुळि पेय्ताल पोल—वही २-६ १
३ पल्लिगुम पतुत्त—वही, १ ४ ९
४ पत्तिन्तिंगळ वयिट्रिल कोण्ड पाविकाळ—१-२-८
५ पोन्नै कोण्डु उरैकल मेल मट्रोप्पोल—पेरियाळ्वार तिरुमोळि ५ ४ ५
६ वण्डिळं पिन कुट्टुम वण्डी पट्ट्म वण्डु—माण्णियार तिरुमोळि ६ ३
७ प्रावळ निर्मैत्तळ्म कुळवी पोल—पेरुमाळ तिरुमोळि ५ ४
८ पिळ्ळै कैयिल किण्णम पोलक पेणुवदु—पेरिय तिरुमाळि १०-९ १
९ पाटलतार पाट्टु—वही ११-७-४
१० पाट्टु वरै पाळ मरम पोल—वही, १-८-१

११—साँप के साथ एक ही स्थान में रहने के समान ।[1]
१२—दोनों तरफ से आग के बीच में पड़ी चिऊँटी के समान ।[2]
१३—पानी से घिरे कीचड़ के समान ।[3]
१४—बढ़ई के ऊँची लकड़ी के समान ।[4]
१५—गरम किये हुए लोहे पर पड़ी पानी की बूँदों के समान ।[5]
१६—गूँगे का देखा हुआ स्वप्न ।[6]
१७—दूध में घी के समान ।[7]
१८—अपने स्वामी के सामने अपनी पूँछ को हिलाने वाले कुत्ते के समान ।[8]

आलोच्य हिन्दी कृष्ण-काव्य में मुहावरे

सूरदास—एक डार के तोरे निपट पई को छोया महमाती मधु खाते पयन कूप खनि बोरे ठेरी कहाँ पवन को भुस भयो, बरसति आँधी धूम के हाथी मूड़ चढ़ाई गूँगे गुर की दशा, मोल लियो बिन मोल एक डार की बीस बनाई आठे दिन के मीत जाति-पाँति उघटना घर के चोर टीका न लगना तिनका तोड़कर डालना नैन मगाना नाच नचाना, इतनी कहा गाँठि की जावत" इत्यादि ।

परमानन्ददास—बिन मोल बिकाऊँ, नैन सिराऊँ, नैननि के तारे लागत है कछु बाई ठगोरी मेली चित चेरि लह्यो लागति नाहिं पलक पर आनन्द न समाई, आँखि दिखावै कौन मन राखि सकेरी घर बैठे निधि पाई, राग बढ़ाई कुंजे फिरत कुलदीपक हाथ बिकानी फूँकि फूँकि हौं पाइ धरत लोचन सिंह जगायो चन्द्र खिलाया है पूरे मन के काम इत्यादि ।

नन्ददास—सिर धुनहीं हिय लीन समाती पचि मरे, कुचित बास मुख काढ़ि करत नखचाली बलि रह्यो लाल ठगी सखि जाइ गाँठि की खोइकै लाल की लोचनि देखा, धरमसु लियो कुपाट लोक की लाज दै हेरे बाबा की हौं चेरी भई री लाख बात की एक कही री प्रेम को मारग सूधो हरिन के मारे डीठ लावे कौन इत्यादि ।

---

१ "पांपोडु ओरु कुरयिल पयिन्त्रार पोल—वही ११-८ १
२ इरुपाडेरी कोल्लियिनुळ एरुम्बु पोल—वही ११-८ ४
३ वेळ्ळत्तिडै नरियिनम पोल—वही ११-८ २
४ इरुपन एरत्ति मरत्त पोलत्त—वही ११-८ ६
५ इरुम्बु नीर पोल—तिरुमंगै आळ्वार
६ ऊमनार कण्ड कनवु पोल—तिरुमंगै आळ्वार
७ पालिनुळ नेय पोल—नम्माळ्वार (तिरुवायमोळी ८ १-७)
८ नाय कुळै वालाल कुळै तिरुवतुपोल—(तिरुवायमोळी ६ ८ १)

रसखान—मोर भयो अँखियान को हियरा सत टूक ह्वै फटि गयो है, सुनार
बरैगो मूड़ भई निन काज कसौटी साबे स्नेह की सोटी हाटहि
हाट बिके हो है गयो मावती भांवरिया बिष बमरायो बस्या
हानिनि छिपाइबो पीठि परैगो… इत्यादि।

मीरा—तारा गिन-गिन रैण बिहानी मतलब के गरजी मारी में मिल जासी
सोक लाज तिनका ज्यूँ तोड़्यो मुख मोड़्यो भई सीस बकाम बैर
पितापूची घट के पट खोल दिये हैं माखन खामी तो घूँघट कैसो,
ठाढ़ी पंथ निहारूँ समझि पड़े, कठिन कहत बनाय बात बनावत
मेढी बदी है सिर पर बारी इत्यादि।

आसवार-काव्य में लोकोक्तियाँ

१—बांझ वात्सल्य-सुख क्या जाने ?[1]
२—इसको जन्म देने के लिए इसकी माँ ने कितनी तपस्या की थी?[2]
३—पड़ोस के लोगों से बैर ठीक नहीं ?[3]
४—मुरूक्कै (वृक्ष विशेष) पर चढ़ना कैसे ?[4] (असम्भव कार्य)
५—मुर्गी सपेद करने के लिए क्या करे ?[5]
६—नीम के वृक्ष के कीड़े नीम के बिना और वृक्ष का नहीं सकता।[6]
७—अपने बछड़े को हर गाय जानती है।[7]
८—ऐसा कोई बछड़ा नहीं जो अपनी माता (गाय) को नहीं जानता हो।[8]
९—अच्छे राजा के दर्शन करना भगवान् के दर्शन करने के समान है।[9]
१०—गधे के चमरे के हिलने को देखने से क्या ?[1]
११—चिरञ्जी की बोली का फल परम्परा से माना जाता है।[11]

---

१ मलच्चु वेरल मलडि एम वरिवान—पेरियाळ्वार (तिरुमोळि १ ४ ४)
२ एम नोम्बु पेरुम्बो इवर्ग पेट्र बनिसडीयाळ—वही २ २ ६।
३ मलविनिलम्बारै अनियामम पेरुमल नियाममो ?—वही २-९ ३
४ मुरुक्किलेरुम्प मुरुक्किल तेना ? तिरुमंगै आळ्वार, १० ६ २
५ कोळी वैय मुट्टैक्कु एन सेयवु—तिरुमंगै आळ्वार (पेरिय तिरुमोळि) १०-९-७
६ वेम्बिन पुरुवु वेम्बन्ट्री उण्णादु—परिय तिरुमोळि ११ ८ ७
७ ताम्य तन्नैयरियाद कन्ट्रिल्लै—तिरुमंगै आळ्वार।
८ तन कन्रुं तायुम अरियुम—तिरुमंग आळ्वार।
९ तिरुवुडै मन्नरै काणिल तिरुमालैक्काणल—तिरुवायमोळि ४ ४ ८
१० कळुतै उतट्टाटकण्डु एन पयन—वही ४ ६-७
११ पल्लिल्लिन सोल्लोडु सोल्लै कोल्वार पण्डु तोट्टे—वही

दूसरी ओर उससे वातावरण की सृष्टि भी। हमारे कवियों के काव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकार ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

शब्दालंकार

शब्दालंकार के अनेक सुन्दर उदाहरण आळ्वारों के और आलोच्य हिन्दी कवियों के काव्य में मिलते हैं। पहले आळ्वार-काव्य से कुछ शब्दालंकार नमूने के तौर पर नीचे प्रस्तुत करते हैं।

अनुप्रास—

तिरुमळिशै आळ्वार के निम्नलिखित पदों में अनुप्रास की छटा द्रष्टव्य है —

'आदियान वानवर्क्कुम अण्डमाय अप्पुरत्तु
आदियान वानवर्क्कुम आदियान आदि नी
आदियान वान वाणर अन्त कालम नी उरैत्ती
आदियान कालम निन्नै यावर काण वल्लरे।"[1]

"तन्नुळ्ळे तिरैत्तु एऴुम तरंग वेण्तडंकडल
तन्नुळ्ळ तिरैत्तेऴुन्दु अडंगुगिन्र तन्मैपोल
निन्नुळ्ळे पिरन्दिरन्दु निर्पवुम् तिरिपवुम्
निन्नुळ्ळे अडंगुगिन्र नीर्मै निन कण निन्रदे।"[2]

तिरुमंगै आळ्वार की निम्नलिखित पंक्तियों में अनुप्रास की छटा देखिए—

'नाममाल पाशम विट्टु मालैरी नोक्कुरित्त
वामम्मकु तन्नुरुपमाल वयरी वणंकुमे"[3]

पून्नार्ष पूर्णिमरुम पुगविमार्ष
कन्नर्षे कन्नर कन्नु कोनेम"[4]

'कन्नुयिलुम मलोन वळलियै कान्नवु
कन्नडम तीर्त्तंकळ पन्नाडुम वेंवल्"[5] (वृत्त्यानुप्रास)

—कुलशेखर

"पुकल्वोम पळिप्पोम पुकल्वोम पळिप्पोम
इकल्वोम मतिप्पोम, मतिप्पोम इकल्वोम"[6] —नम्माळ्वार

---

१ तिरुच्चन्द विरुत्तम ८
२ वही १०
३ पेरिय—तिरुमोऴि १ ३-८
४ वही, २-१-५।
५ पेरुमाळ—तिरुमोऴि ४ ४
६ पेरिय—तिरुवन्दादि, २

पुनरुक्ति प्रकाश—

"झमिलोकम झमिलोकम उपर्त बैरवरु
मीरां— मौसिय माम्मरें मर्सत्‌म लोकु मावर"[1]

पलपलवे मामरल पैवम पलपलवे
पलपलवे मोति मविरु पण्णु एमिल"[2]
(आळवार-काव्य में यमक श्लेष आदि का बहुत कम प्रयोग हुआ है।)

श्री कृष्ण-काव्य में शब्दालंकार

सूरदास—

(अ) 'रुपनि उपमम वपनि डोलत धुरि धूसर धन
बजत मम, पग बाति पैजनि परतपर किलकात'

(आ) "सुनत कमला बैन उठे हरि बल ऐन,
गैलभी सैन गिरि तन निहारयो

(इ) "गोपी-ग्वाल-ग्वाल-गोसुत सब सुख बिसरयौ सुख करत समाज।"

(ई) बिलसत बिपिन बिलास बिबिध बर बारिज बदन बिकच सचुपाये।"

(अ) कंदी सुजह मी बरनाम चरन
ममत कमल हु ते कोमल कलिमल हरन।' —सूरदास

(आ) "तरनि तनया तट बंसीवट निकट वृन्दावन बीथिन बहायो।"

(इ) 'चंचल चपल चोर चिन्तामनि कबा न परसि रही।"
—परमानन्ददास

सेस महेस दिनेस गनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर ध्यावें।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड अछेद अभेद सुबेद बतावें। —रसखान

(अ) नगर नगर सब नगर उठी गम गुपो बनी छवि'

(आ) तब रुक्मिनि की कायर नागर नेह नवीनी
बतनगोर स छोरि छिप भीपर कर दीनी।" —नन्ददास

---

१ पेरिय तिरुमोऴि ४ ४-१
२ तिरुवाय मोऴि १ ५ १

वीप्सा—

(अ) 'परम सनेहु बढ़ावत मातनि रबकि रबकि हँसत बहि गोद"

× × ×

(आ) "घुटि घुटि ल्यावत मोरी मैंपूपा" —परमानन्ददास

(इ) "हंस क्षीण व्याकुल भयो मुरलि पिय पिय बानी हो।'

× × ×

(ई) "राम नाम रस पीजै मनवां राम नाम रस पीजै" —मीरा

यमक—

'पद्मनि सारंग एक मझारि
पद्महि सारंग नाम कहावै, सारंग बरनी नारि।
तामें एक छबीलो सारंग अर्ध सारंग उन्हारि
अर्ध सारंग करि सकल सारंग अन्य सारंग बिचारि।
सारंग सारंग मुख शोभित है, ताकी सारंग उन्हारि।
'सूरदास' प्रभु तुमहु सारंग बनी छबीली नारि।' —सूरदास

"तिल भर सेष तजात नहीं निसदिन नाम करत मनमोहन कस को।
तिल तिल भोग मन भावत परमानन्द मुख लै बहु रस को।"
—परमानन्ददास

श्लेष—

"क्यों मन आनि मत हरि तुमसों बात बिचारि सखी।"
('हरि' शब्द का अर्थ 'कृष्ण' और 'सिंह' है)—सूरदास

"छांडो कोक हरि की भांति कवावत मोरी" —परमानन्ददास

अर्थालङ्कार

अर्थ को अलंकृत करने में कवियों ने सादृश्य-मूलक अलंकारों का सर्वाधिक प्रयोग किया है, विशेष रूप से उपमा उत्प्रेक्षा और रूपक का। इन अलंकारों में जो अप्रस्तुत योजना की गई है, वह परम्परागत कमल चन्द्र मीन आदि उपमानों से संपृक्त है। साथ ही साथ उसमें कवियों द्वारा स्वप्रयत्न सादृश्य को व्यक्त करने वाले अभिनव उपमानों का भी सम्यक योग है।

आळ्वार-काव्य तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त चार प्रमुख अलंकारों के कुछ उदाहरण नीचे देते हैं:—

आळ्वार-काव्य में

उपमा—१ कोमल बीच जटित मोती और रत्न के समान मोहन के पैरों की उँगलियाँ शोभित थीं।[1]

---

१ 'मुत्त म मणियुम तत्-प्पतित्त् तळे पेरुवारोंल
पत् विरलुम मणिवण्णन पादंगळ्" —पेरियाळ्वार तिरुमोळी, १-२ १

२—कमल-पत्र पर पड़ी ओस की बूंदों के समान मोहन के मुख पर पसीने की बूंदें चमक रही हैं।[1]

३—सूरज की किरणों पर निर्भर रहने वाले कमल के समान क्रुद्ध होकर छोड़ दिये जाने पर भी माता पर आश्रित रहने वाले बच्चे के समान, अन्यत्र कोई सहारा नहीं पाकर फिर-फिर जहाज के खम्भे पर आने वाले पक्षी के समान मैं भी (हे भगवान्!) आप पर ही आश्रित हूँ।"[2]

(मालोपमा)

४—मच्छरों द्वारा खाये जाने के बाद रहने वाले विलाकनि (फल विशेष) के समान मेरा शरीर हो गया है।[3]

हिन्दी कृष्ण-काव्य में (उपमा)

१ "देखो माधो की मिताई
  आई बछरि कलक कसाई सो है निठ गये दगाई।"   —सूरदास

२ "भ्रकुटि बिकट नयन अति चंचल। यह छवि पर उपमा इक धावत।
  धनुष देखि खंजन जिमि डरपत। नाहिं सकत उड़िवे अकुलावत।"
                                                                —सूरदास

३ "नन्द-नन्द लाड़िली के चरन।
  अति ही मृदुल सुभग सीतल कमल के से बरन।"   —परमानन्ददास

४ "द्वै बसे नागर नगधर नवल तिया यों ऐसे।
  मंजिल मंजिल भूरि-भूरि मधुहा मधु जैसे।"   —नन्ददास

५ 'लाल मरकत मणि छबीली तुम जु कनक माल'
  'मीनन उरज कमल सी दीठी, कटि केहरि पुलसिनु सकोरी।
  बैनी भुजंग पन्नगन बरनी, कवलि नाभ नगधर पति चोरी।"
                                                                —हितहरिवंश

६ "माली ज्यूं पीली पड़ी रे,
  जल बिन कमल चन्द बिन रजनी वे बिन जीवन जाय।"   —मीरा

---

१ 'मलमलरपोलदरिलत परिकोळ पुरान विलितमारपोल
  पेंकमल मुखम् वियर्व—"   —पेरियाळवार तिरुमोळी, २ २-६

२ "अरिविनताल ईन्दु ताय अकट्रिडिनुम मट्रवळतन
  अरुळ निनैन्दळु म कुळवियतु पोल
  एंकुम पोय करै काणाम एरिकडल वाय मीण्डेतुम
  वर्गलिन कूपकम माप्परवै पोन्द्रेने"   —पेरुमाळ तिरुमोळी ५ १ व ५

३ उलंगुण्ट विळांकनि पोल उळ मेलिवेप्पुकुन्दु।—नाच्चियार तिरुमोळी, ९ ६

उत्प्रेक्षा

आळ्वार-काव्य में (उत्प्रेक्षा)

१ उसकी घुँघराली काली लटें उसके प्रवाल सम होठों पर लटक कर लटक रही हैं मानो लाल कमल का मधु-पान करने वाले भौंरे हों।[1]

२ धान्य के खेत में उगे पौधे हवा के झोंकों से इस प्रकार हिल रहे हैं, मानो वे खेत में भरे पानी में तैरने वाले हंसों के लिए चामर चला रहे हों।[2]

३ विरहिणी नायिका की आँखों से अश्रुधारा स्तनों के बीच से बह रही है मानो दो पर्वतों के बीच कोई सरिता बह रही हो।[3]

४ पर्वत की निर्झरणी दूर से इस प्रकार दीख पड़ती है मानो धवल वर्ण की ध्वजा हवा में उड़ रही हो।[4]

५ कृष्ण के मुरली-नाद सुनकर पशुगण ऐसे पड़े थे मानो गीतामृत-जाल में फँस गये हों।[5]

हिंदी कृष्ण-काव्य में (उत्प्रेक्षा)

१ "रतन जटित कल सुभग पौंहची नूपुर ध्वनि कल परम रसाल।
मानहुँ चरन कमल दल लोभी निकटहिं बैठे बालमराल॥"

२ "केहरि नख निरखत हो हिय सेंदुर की बिंदु।
चक्र तजे ता बीच मनु बैठी एक इन्दु॥" —सूरदास

३ "नवला निकसि तीर जब नीर चुवत बर चीर।
मनु घन रोवत बदन जनु, तन बिछुरन की पीर।" —नन्ददास

४ मदन मधुर कल मधुर मुरलिका लैलिए चंचल लिखत लिवाई।
मानो द्विरसना बिन सहित कपोलनि निकसि जमन में बैठ सिखाई।"
—परमानन्ददास

---

१ वेंडुगलप्पुमित्त सिवुप्पुम् कदैचील
वीडिवद वन्नु वन पवळ वाय मोइप्प' —पेरियाऴ्वार तिरुमोऴि १-८-२

२ 'मममानानररीव्वळनीलमिल पैंगोदुम्
इमिलमर वेल्लिवार मवरिलुमै वीचू।" —पेरिय तिरुमोऴि ९.१-७

३ मम मादर मिव्वाय दर्मेल पुमलपी
मुलै मले मेल मिवु म वायवाळाय मलैवनन्वनीर।" —तिरुविरुत्तम् ५२

४ 'विलंकलितुरिवि मेल मिगु विवुम्बिल
वेलुम्बिर कोडियेन विरिन्दु वळावाल ननि नीर ओडै।"
—पेरिय तिरुमोऴि, १ ४ १

५ पेरियाऴ्वार—तिरुमोऴि ३ ६-१

५ "प्रेम-मत्त आनु है कि ओर-ओर रूप राशि,
मनों तमाल प्रवलि रही सरस कनक बेलि ।।" —हितहरिवंश

रूपक

आळ्वार-काव्य में (रूपक)

१ "बिजली-ध्वजा लेकर वज्र-ध्वनि निनाद कर मेघ-रथ पर व्योम-वीथी में वह आया ।"[1]

२ "आँसुओं के सरोवर में मीन रूपी नेत्र तड़प रहे हैं ।"[2]

३ "स्त्रियों की भ्रुकुटि रूपी धनुष से नेत्र रूपी बाण पुरुषों के हृदय पर लगते हैं ।"[3]

४ "एक अनजान आगन्तुक आया मेरी हरिणी को ले गया ।"[4]

५ "नेत्र रूपी बाणों से उसने (नायिका ने) मुझे घायल कर दिया ।"[5]

हिन्दी कृष्ण-काव्य में (रूपक)

१ "अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल ।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल ।
महामोह को नेपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल ।
भरम भरे मन भयो पखावज चलत कुसंगत चाल ।" —सूरदास

२ "माधव जू नैन हटकी गाइ ।
निसि बासर यह भरमति इत उत अगह गही नहिं जाइ ।
छुधित बहुत अघात नाहीं निगम द्रुम दल खाइ ।" —सूरदास

३ सोहे सीस सुहावनो जिन कुल्हे तेरे ।
नमि मोरनि को सेहरो छोहे बसियो मन मेरे ।।
मुख कुमुदो का चन्दा है मुखमृत सारे ।
उनके नयन चकोर हैं सब देखन हारे ।।"

---

१ 'एल्लि कोण्डु मिन्नु कोडि एडुत्तु वेल्व
तोल्लिन कोण्डु ताम मुऴक्कि तोन्नुम ।" —मुदल तिरुवन्तादि, ८६

२ वेळ्नीर् कण् कयल मिळिर्न्दोप्प वेपरिक्कल
मळ्नीर तुळुम्ब मलमलक्कुम ।" —तिरुविरुत्तम, २

३ वाडवरे मरुमोप्पियार मुकत्तु इरण्डु
विल्ल विलंकी नर्मीर्पै ।' —पेरिय तिरुमोऴी, ४ ४ ५

४ करियान ओरु कावलन वन्दु एन तन
मरुमानिनैप्पोयतेन्नु ।" —वही १-७-१

५. एम्मानिदे मधुरवनुनालिन्नु वेविलैवाळ मुत्तीर । —तिरुविरुत्तम, ७२

"नंदलाल को देहुरा परमानन्ददास प्रभु पायो ।" —परमानन्ददास

५ 'भौसागर अपार देखो अगम ओखी धार ।
लाल गिरिधर तरण तारण बेग करस्यो पार ॥" —मीरा

अतिशयोक्ति

आळ्वार-काव्य में (अतिशयोक्ति)

१ "हे कृष्ण ! तुम्हारे जन्म लेने के पश्चात् इस घर में मैंने भी मक्खन, दही के दर्शन नहीं किये हैं ।'[1]

२ हे यशोदा ! तुम्हारा पुत्र ये सब वस्तुयें करके हवा से भी तेज दौड़कर तुम्हारे यहाँ पहुँचकर छिप गया है ।'[2]

३ "सूखे बाँसों के टकराने से पैदा होने वाली आग से सारा आकाश रक्तिम हो गया है ।"[3]

४ "बिजली और कंजी (लता विशेष) से भी पतली कमर वाली नायिका ।"[4]

५ 'सुन्दर 'माधवी पुष्प' की लताएँ इतनी ऊँची बढ़ी हुई थीं कि वे मेघों को स्पर्श कर रही हों ।[5]

हिन्दी कृष्ण-काव्य में (अतिशयोक्ति)

१ "अद्भुत एक अनुपम बाग ।
युगल कमल पर गज वर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग ।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग ।"
(रूपकातिशयोक्ति)

और—

२ "थोरे भाग, थोर जल सोना,
कहाँ सखी कैसे कर जानो ?" —सूरदास (भेदकातिशयोक्ति)

---

१ करन्द नर्पालुम तयिरुम कडैन्दु उरि मेल वैत्त वेण्णेय
पिरन्दतुवे मुदलाक पेट्रियेन एम्पिराने ।
—पॆरियाऴ्वार तिरुमोऴी, २-४-७

२ काट्टिनुल करियवाय ओली वलम्मुलु । —वही २-१०-१

३ "कल्लदर वेरेर्डं मोंग विहत तीयाल दिश तिशयगुम ।"
—पॆरिय तिरुमोऴी १-७-८

४ "मिन्नेयुम वंजियैयुम वेन्रिडकु म इडैयाळ ।" —वही १-७-७

५ "मनोमोक माधवी मेधुकोडी तिगुम्पुर
निमिनर्दंय मुकिल पट्टी ।" पॆरिय तिरुमोऴी, १ २-१

३ "कमल नयन के एक रोम पर वारौं कोटि मनोज ।"

—परमानन्ददास

४ नव नारंग कनक हीरावलि विद्रुम सरस जलजमनि पोरी ।
पूरित रस पीयूष जुगल घट कमल कलित कनक की ओरी ।
कनक लता सी क्यों न विराजत श्यामा स्याम तमालहीं ।'
रवि शशि अंक मयन किये मधबस मधुप रंपनि कुसुम कलाह ।'

—हित हरिवंश

५. 'जिमी नीलमनि किंकिनि माहीं रोमावलि सिद्धि कोटि की छाँही ।
जिमी नमी कटि तिमि करतारा रोमपार मनु परयो अपारा ।।"

—नन्ददास

अन्य-अलंकार

आळ्वार-काव्य में

प्रतीप—"पतली कमर वाली रमणी की मुख-कांति को देखकर चन्द्र को स्वयं लज्जित होना पड़ा ।"[1]
(उपमान में उपमेय से हीनता बतायी गई है, अतः प्रतीप अलंकार है ।)

सन्देह—"सायकाल वन से अन्य गोप-बालकों के साथ शोर मचाकर आने वाले कृष्ण को देखकर गोपियाँ कहती हैं— 'क्या गोप-बालक आ रहे हैं, या मेघगण आ रहे हैं ?"[2]

भ्रांतिमान—लाल-वर्ण के अशोक पुष्प को आग समझकर भ्रमर भयभीत हो गये । काले बादलों को हाथी समझकर साँप भयभीत हो गये ।[3]

व्यतिरेक— 'नायक (कृष्ण) का सौन्दर्य चित्र पर अंकित कमल के समान था ।"[4] (यहाँ कवि का तात्पर्य है कि साधारण कमल मुर्झा

---

१ पुरि इरुमार मुलकमल कोति तमाल ।
तिवळ मुकम पनि पनिकुम मळकार ।

—पेरिय तिरुमोळी १४६

२. कोमिनम वरुकिन्द्रु इद्रम कण्डु ।
मर्ळ कोसो वरुकिन्द्रु तैन्द्रु कोलमी ।

—पेरियाळ्वार तिरुमोळी १४१

३ "वक्पुरै एळिळ नीलमी पैदी वण्डुळ्ळ ।
एरियेन वेद वर करिय मामुकिल पदमाळ ।
पिडम्पर्य मुळ विट्ट कळिरेन्रु, पेरिय मासुणम ।"

—पेरिय तिरुमोळी १ २-८ व १०

४ 'एळ तिप वैत्तामरैयिन कण्णुम
मळकिम्पताम इवराट कोम -- ।"

—वही, २ ८-७

जाता है। जिस पर अंकित कमल का सौन्दर्य स्थायी होता है। अतः उपमेय का उपमान से बढ़कर वर्णन है।)

स्मरण—"कुवळै (पुष्प विशेष) पुष्प को देखकर नायिका के नेत्रों का तथा कुमुदिनी को देखकर नायिका के मुख का स्मरण (नायक को) आता है।"[1]

व्याज स्तुति— 'सत्य की खोज में शरीर को तपाकर, पंचेन्द्रियों को वश में कर भयानक वन में तप करने वाले सुस्त लोग हैं "[2]

समुच्चय अलंकार— मेरे हृदय में ज्ञान के दीपक को जलाने वाले भगवान् को मैंने फँसा लिया है। वह मेरे हृदय में प्रवेश कर खड़ा हो गया बैठ गया और लेट गया।"[3] (कवि का तात्पर्य है कि भगवान् भक्त के हृदय में वास करने लगा। अनेक क्रियायें एक साथ घटित होती हैं, एक कार्य की सिद्धि के लिए। अतः क्रिया समुच्चय अलंकार है।)

उल्लेख—"तू गीत में मधुर नाद है, तू दूध में घी है, तू आकाश में ज्योति है।"[4] (यहाँ पर एक ही पुरुष द्वारा भगवान् के अनेक रूपों का विषय भेद से कथन है। अतः उल्लेख अलंकार है।)

अनन्वय—भगवान् के समान व्यक्ति भगवान् ही है।"[5] (भगवान् की तुलना और किसी से नहीं हो सकती। उपमेय की समता के लिए उपमेय ही उचित बतायी गयी है। उपमेय से अधिक उत्कृष्ट किसी अन्य प्रसिद्ध उपमान में नहीं है। अतः अनन्वय अलंकार है।)

विषम अलंकार— 'नायिका को शीतल चाँदनी भी जलाती है। शीतल समीरण

---

१ 'कण्णावदाळ नेडुकण कुवळै काडु।
अरविन्दम मुखम काडु अक्को वाम्बल।
चेम्पविळम तिरळ वायदुम ।" —पेरिय तिरुमोळि १४१

२ 'मेय्योळ्ळ पोकम्मिलुत्तु मेय्म्मै मिक तुर्णत्तु।
वाम्मरियारिन्नु कोधु ऐम्पुलनकत्तडक्की।
काम्परत्तलै चिरैत्तु उन कडैत्तलैयिरुन्तु वाळुम।
चोम्पर उकत्तिपोलुम ।" —तिरुमालै १८

३ "इडत्तुवलॅन्नुम सोळिक्कोल विळक्केथि।
वत्तवनै नाडी वसपडुत्तिनेन मेत्तनवे।
निन्ड्रान इरुन्तान किडन्तान एन्नेञ्चत्तु।" —मून्ड्राम तिरुवन्तादि ९४

४ "पाण्णिनैन्मन्निय मिन्दु पालुळ नेय्यिनै।
विण्णिनै विळङ्गुम चुडर चोतियै ।" —पेरिय तिरुमोळि ७ १०-९

५ "ताने तनक्कु उवमन।" —मून्ड्राम तिरुवन्तादि, १५

भी अग्नि से भयानक है।" (यहाँ पर कार्य कारण में वैषम्य हो कार्य का क्रम विपरीत हो अथवा परस्पर वैधर्म्य वाली वस्तुओं का एक साथ संयोग हो वहाँ विषम अलंकार होता है।)

लोकोक्ति— 'नदी के किनारे खड़े पेड़ की तरह मैं घबराता हूँ।" (नदी के किनारे उगे पेड़ का नाश किसी भी समय हो सकता है। इस लोकोक्ति के प्रयोग के कारण लोकोक्ति अलंकार हुआ।)

हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य में

व्यतिरेक—

(अ) देखि री हरि के चंचल नैन।
राजिवदल इन्दीवर सतदल कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वै बिगसत ये बिगसत दिन-राति॥ —सूरदास

(आ) नैननि पर वारौं कोटिक खंजन।
खंजन मीन मृगज मद मेचत कहा कहौं नैनन की बातें?
तिलक कुण्डल कमलनि लजावें।

प्रतीप—

—हितहरिवंश

(अ) सुन्दर बदन कमल सम लोचन देखत चंद लजाया है।"
गमन करत तब हंस लजावत करत करत धुनि प्यारी।"

(आ) "निरखत राधा नैन तुम्हारे।
खंजन छबि लज्जन मन गंजन मीन पानि दुरि हारे।
निधि ससि डरत चकचकुल कुचुकत अधिकानि मृगज विचारे।"

—परमानन्ददास

दृष्टान्त—

—हरिराम व्यास

(अ) नीलाम्बर स्यामल तनु की छबि तुम छबि पीत सुबास।
घन भीतर दामिनी प्रकासत दामिनि घन चहुँ पास।"

(आ) "मेरो माई माधौ सों मन मान्यो।
अब क्यों भिन्न होय मेरी सजनी मिल्यो दूध जल पान्यो।"

—सूरदास

संदेह—

—परमानन्ददास

'ऊपर ही पर मेह सखी री।
को मुख दीपित को घन पंगति को मयूर को पीठ पछोरी।

की सुरचाप किधौं बनमाला, तड़ित किधौं पट पीत।
किधौं मन्द गरजनि जलधर की, पग नूपुर रव नीत॥
की जलधर की स्याम सुभग तन इहि मोर ते सोचति।
सूर स्याम रस भरी राधिका उमंगि उमंगि रस मोचति॥ —सूरदास

विभावना—

(अ) मेरे नैना हैं अति ढीठ।
मैं कुलकानि किये राखतिहौं, ये हठी होत बसीठ॥
यदपि वे जात कुसल समर बल, ऐ रत अति बल होठ।
तदपि निवारि पट वारत पलक में, भूमत फिरत न पीठ॥" —सूरदास

(आ) "बिनु भूषन भूषित तनु गोरी" —हितहरिवंश

काव्य-लिंग—

(अ) "कमलन कुसुम बराक रातें नर ह्वै ह्वै झुकि ओर।
× × ×
बल दल पत्र प्रवाल बन सो कौतुक कंपित ओर॥" —परमानन्ददास

(आ) 'जब ते प्रीति स्याम सौं कीन्ही।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नेकुहु नींद न लीन्ही॥" —सूरदास

(इ) 'प्रात समुझत नाहिंन गोरी।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यौं सुरत समुद्र झकोरी।" —हितहरिवंश

विषम—

(अ) "ताही को बसत जाको हियो है पत्थारो।" —सूरदास

(आ) 'इनकी प्रीति अबकी बचाई फिरि पाछे सूझत नाहि बात।' —परमानन्ददास

(इ) 'जाहि बिरंचि उमापति नाये तापे तैं बन फूल बिनाये।" —हितहरिवंश

स्मरण—

(अ) 'सुन सुत एक कथा कहौं प्यारी।
× × ×
"रावन हरन कर्‍यो सीता को, सुनि करुनामय नींद बिसारी।
सूर स्याम कहि उठे चाप कहँ, लछिमन देहु जननि भय भारी॥" —सूरदास

(आ) 'धुन्धौ धन देखि नृप नैनी माली को मुख सुरति करै।" —परमानन्ददास

अत्युक्ति—

(अ) "उपजि बिरह दुख बढ़ा प्रथा उर ताप तये हैं।
कौर-कोर हार के मोतिया, तचि-तचि लाल भये हैं।" —नन्ददास

(आ) "निकसी निकसी बंस भया दैनी साँवलिया की सारी।" —मीरा

उदाहरण—

(अ) "मेरो मन पिय जीव बसत है, पिय जिय मो है नाहिं।
ज्यों चकोर चंदा को निरखत इतउत दृष्टि न जाइ।"

—सूरदास

(आ) 'तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा।' —मीरा

(इ) "निरखत नैन भरी अँखियाँ सों ज्यों निसिचर चकोरी"

—परमानन्ददास

लोकोक्ति—

(अ) 'माधो सों का कीजिए।
कीजै प्रीति स्याम सुन्दर सों बैठि सिंह न दीजिए।" —परमानन्ददास

(आ) "जो जाने को छेंहुरा बीत्यो चाहै भोग।
कौमाती को नीर ज्यों बैसे फिरि है जाइ॥" —सूरदास

उक्ति-चमत्कार—

उक्ति की विचित्रता, अथवा वक्रता बहुत से अलंकारों के मूल में निहित रहती है। अतः उक्ति-चमत्कार प्रायः उपमादि अलंकारों के सुनिश्चित रूप में सामने आता है। इस प्रकार की सामग्री 'अलंकार विधान' के अन्तर्गत पीछे दी जा चुकी है। यहाँ उन कुछ उदाहरणों को लिया गया है, जिनमें उक्ति का सहज एवं व्यापक स्वरूप अक्षुण्ण रहा है। कवि की अपनी कल्पना से प्रसूत उक्तियों के अलावा कुछ रूढ़ उक्तियाँ भी मिलती हैं। आळ्वारों के तथा आलोच्य हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में उपलब्ध कुछ चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ नीचे दी जाती हैं —

१ "प्रिय वियोग में नायिका इतनी दुबली और पतली हो गयी कि उसके हाथ के कंकण स्वयं गिर पड़ते हैं। इस पर नायिका कहती है— 'मेरे इन नाशवान कंकणों पर मोहित होकर नायक को इनकी भीख माँगने की क्या आवश्यकता आ पड़ी है?'[1]

२ 'हे भगवान्! तुम सब कुछ जानते हो। किन्तु मेरा कष्ट तुम्हें मालूम क्यों नहीं है?'[2]

---

१ "पिर्वेन्नुडैयाळी एन्नुडैय पेयवळै मेल
इर्वेपुकेमरेल इर्रेत सो पोवारो?" —नाच्चियार तिरुमोळी, ११. ४

२ अस्लार अरिवीर तीमार अरिवीर अमरर्कु मुनुसपिम
एन्नाम अरिवीर इरै अरिवीर इन्नमुरीरे।"

—पेरिय तिरुमोळी, ४. १. ६

३ "हे भगवान् ! सारे जगत् में तुम व्याप्त हो। परन्तु तुमको मैंने अपने भीतर ही बन्द कर रखा है।"[१]

४ यशोदा कृष्ण से कहती है— मैं जान चुकी हूँ तुम्हारी सारी करतूतें। ऐसे कार्य तुमने किये हैं जो मुँह से कहे नहीं जा सकते।'[२]

५ कृष्ण गोपियों की साड़ियों को लेकर पेड़ पर चढ़ गये। स्नान करने वाली गोपियाँ की साड़ियों को लौटाने की प्रार्थना करती हुई कहती हैं— "हे कृष्ण ! हम तुम्हारी बात मान गयीं। बिना किसी के देखे ही तुम्हारी इच्छा की सब कुछ देंगी और तुम्हारे साथ चल देंगी। अब वस्त्र दे दो।[३]

६ 'उसे (श्री रंगम्) नगर में तोते भी वेद-पाठ करते हैं।'[४]

७ गोपियाँ यशोदा से कृष्ण की करतूतों की शिकायतें करने के पश्चात् कहती हैं कि क्या यह विद्या (शिक्षा) उसने (कृष्ण ने) सीखी थी ?[५]

आण्डाळ अपनी विरह-वेदना को व्यक्त करने के लिए एक सुन्दर उदाहरण देती है। पीतल अथवा ताँबे का बर्तन बनाने के पूर्व उसके आकार में मोम को फैलाकर फिर उसके ऊपर दोनों तरफ मिट्टी थोपी जाती है। द्रवित पीतल या ताँबे को मोम की जगह भेजा जाता है। मिट्टी के अन्दर ही अन्दर मोम पिघलती है और उसके स्थान को पीतल या ताँबा लेता है और अपेक्षित आकार का बर्तन बन जाता है। आण्डाळ ने सिर्फ इतना ही कहा है कि— अन्दर ही अन्दर पिघलने वाली मोम की तरह मेरी भी दशा है। चमत्कारपूर्ण इस उक्ति से सारी बात समझ में आ जाती है। आण्डाळ की आन्तरिक वेदना का परिचय मिलता है।[६]

---

१ "पुविधुम इरुविसुम्बुम निन्नगत्त नीयेन
शेविवळी पुकुन्दु एन्नुळ्ळाय-आविनिषुधि
यान पेरियन नी पेरियै एन्पतनैयारिवार ?" —पेरिय तिरुवन्तादि ७५

२ 'तोळ्ळागिळ अवरोडु तिर्ळ'त नी
चोल्लप्पडातन चेय्दाय।" —पेरियाळ्वार तिरुमोळी ४ १-८

३ श्री वेंक्टियोक्कनाम तरुनोम
पत्ताक्कन कामामे पोकोम पर्ट पनित्तप्पामे —नाच्चियार तिरुमोळी ३ १

४ वेदाम किळि नाम मरै पाडु मिळी। —पेरिय तिरुमोळी १ २ ६

५ "कण्पेतिरे चेन्दुरुत्तोलाक
कन्नपिरान कर्क्कवित्ताई।" पेरियाळ्वार तिरुमोळी २-९ ४

६ "मण्पुरम पूसि उळ्ळाय मिळुर।
मेळ्कुरियार पोल —। —नाच्चियार तिरुमोळी १ १ ८

इस प्रकार की अनेक चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ आळवारों के काव्य में ढूँढने पर मिल जाती हैं। हिन्दी में सूरदास जी के काव्य में चमत्कारपूर्ण उक्तियों की भरमार है। सूर की निम्नलिखित उक्तियों में चमत्कारपूर्ण कल्पना हास्यप्रियता और व्यंग्य देखिए—

१ "उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नाहिं ऊधौ तिरछे ह्वै जु अड़े॥"

२ "देखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियौ पथिक जाय उन हरि सौं भई विरह जुर जारी॥"

३ 'नैन सजल कागद अति कोमल कर अँगुरी अति ताती।
परसे जरै बिलोके भीजै दुहूँ भाँति दुख छाती।'

४ "निरगुन कौन देश को बासी।
मधुकर हँसि समुझाई सौंह दै बूझति साँच न हाँसी॥
को है जनक जननि को कहियत, कौन नारी को दासी।
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलाषी॥"

५ "ऊधौ जोग कहा है कीजतु ?
ओढ़ियत है कि बिछैयत है किधौं किधौं खात है, किधौं पीजत ?
की कछु भलो खिलौना सुन्दर की कछु भूषन नीको।
हमरे नन्द नन्दन जो कहियत जीवन-जीवन जी को।"

६ "पिया बिनु नागिन कारी राति।
कबहुँक जामिनि उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति॥"

७ 'मैया मैं नहीं माखन खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुँह लपटायो॥"

× × ×

मुख दधि पोंछि कहत नन्दनन्दन दोना पीठि दुरायो॥'



अष्टम अध्याय

मूल्यांकन और उपसंहार



मूल्यांकन और उपसंहार

आळवार-साहित्य का मूल्यांकन

आळवारों का 'प्रबन्धम्' कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ठहरता है। उसका महत्त्व भक्ति-आन्दोलन के मूल-ग्रन्थ के रूप में ही नहीं बल्कि तमिळ-साहित्य के गौरव-ग्रन्थ के रूप में भी वह एक महान् रचना है। धर्म साहित्य समाज तथा आदि पर उसका प्रभाव बहुमुखी है। तमिळ में ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं है, जिसने 'प्रबन्धम्' के समान उतना व्यापक प्रभाव डाला हो। वास्तव में 'प्रबन्धम्' भारतीय भक्ति-साहित्य की अमूल्य निधि है। इस महान् ग्रन्थ का कई दृष्टिकोणों से मूल्यांकन प्रस्तुत करने की चेष्टा निम्नांकित स्तम्भों के अन्तर्गत है —

भक्ति-आन्दोलन तथा आळवार

'प्रबन्धम्' का सर्वाधिक महत्त्व भारतीय भक्ति-आन्दोलन के मूल-ग्रन्थ के रूप में ही है। आळवार भक्तों ने तमिळ-प्रदेश में ईसा की पाँचवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक भक्ति की जो प्रबल धारा बहाई थी वह बाद की शताब्दियों में उत्तर की ओर प्रवाहित हुई। हम लिख चुके हैं कि ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दियों में तमिळ-प्रदेश की धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने ही वैष्णव भक्त आळवारों तथा शैव भक्त नायनमारों को जन्म दिया था।[1] जब जैनों और बौद्धों का आचरण-पक्ष गिरने लगा और उन लोगों ने राज्याश्रय का दुरुपयोग कर शैव और वैष्णव धर्मों पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया तब वैदिक धर्म को नयी स्फूर्ति प्रदान कर उसका पुनरुत्थान करने की परमावश्यकता आ पड़ी। ऐसा वातावरण उत्पन्न हुआ जिसमें बौद्धों और जैनों के आचार-विचारों से तंग आने वाली जनता को एक ऐसा मार्ग दिखाने के लिए, जिसमें सब समान रूप से आत्म शांति प्राप्त कर सकें और

---

1 प्रथम अध्याय में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है।

आचरण-पक्ष भी ऊँचा रह सके और वैदिक धर्म को भी अब तक यज्ञादि कठिन नियमों को पकड़े आया है सरल बनाकर मुक्ति के साधनों को सुलभ और सर्व साधारण को प्राप्य बनाने के लिए हिन्दू-धर्म में सुधारकों की आवश्यकता हुई। युग की इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए ही आळ्वार और नायनमार अवतरित हुए। बौद्ध और जैन नास्तिक धर्मों की तुलना में उन्होंने भगवान् की सत्ता उदारता और दयार्द्रता का प्रचार किया। छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी के दीर्घकाल में इन वैष्णव आळ्वारों और शैव नायनमारों ने तमिळ-प्रदेश में भक्ति की जो पावन पयस्विनी प्रवाहित की थी उसकी तरल तरंगों में तमिळ-प्रदेश की समस्त जनता मज्जन और अवगाहन कर शांति प्राप्त कर सकी।

वदिक भक्ति के स्वरूप में युग की माँग के अनुसार आवश्यक परिवर्तन कर उसे सबके लिए सुलभ और आकर्षक बनाने का अधिक श्रेय आळ्वार भक्तों को ही है। आज भारतीय भक्ति-साहित्य में वैष्णव भक्ति का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह बहुत कुछ आळ्वारों की देन है। वेद *गीता आदि से विचार ग्रहण* कर आळ्वारों ने (संस्कृत को छोड़कर) जन-साधारण की भाषा (लोकभाषा) तमिळ में अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। आळ्वारों के मधुर तमिळ गेय पदों ने भक्तों को बहुत ही आकर्षित किया। आळ्वार भक्तों ने जाति भेद को मिटाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया। भक्ति के क्षेत्र में जाति-भेद को न मानने वाले आळ्वार भक्तों के उच्च आदर्शों ने जनता पर अमिट प्रभाव डाला। इस कारण निम्न जातियों का जो सामाजिक उद्धार संभव हो सका वह भारत भूमि में निश्चय ही ऐतिहासिक महत्व रखता है।[1]

आळ्वारों के भक्त-जीवन भी जनता के सम्मुख उच्च कोटि के आदर्श प्रस्तुत करने वाले थे। आळ्वारों के प्रबन्धम्' ने विशेष रूप से जिन भक्ति-तत्वों पर जोर दिया है वे हैं—भक्ति का सर्वोपरि महत्व नाम-महिमा स्तुति शरणागति गुरु-महिमा सत्संग और वैराग्य।[2] भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट संदर्भ में प्रबन्धम्' के इन भक्ति-तत्वों का जो महत्व है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं है। आळ्वारों ने भक्ति में प्रपत्ति अथवा शरणागति' तत्व पर विशेष जोर दिया था। फलस्वरूप परिवर्ती भक्ति-संप्रदायों में इस शरणागति तत्व को विशेष महत्व मिला। समूचे दक्षिण भारत में भक्तिमय वातावरण उत्पन्न करने में तथा भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का व्यापक रूप प्रदान करने में आळ्वार भक्तों का ही विशेष हाथ रहा है, जिसको लक्ष्य करके ही श्रीमद्भागवत में कहा गया है—"क्वचित्क्वचित् द्रविडेषु [illegible] ।"[3]

---

1 " ...the social uplift of the lower cla[illegible]s to which it has led is of great value in the History of In[illegible]a."— *Outlines of Indian Philosophy* : Prof Hiriyanna, p. 4[illegible]

२ इन भक्ति-तत्वों का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

३ श्रीमद्भागवत (माहात्म्य) अध्याय १, श्लोक ४८

'प्रबन्धम्' का व्यापक प्रभाव

(अ) धार्मिक और सामाजिक जीवन पर 'प्रबन्धम्' का प्रभाव

आळ्वार भक्तों के भक्ति-साहित्य ने जनता के धार्मिक जीवन पर अभूतपूर्व प्रभाव डाला था। पाँचवीं-छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल तमिळ-प्रदेश के धार्मिक जीवन के इतिहास में अत्यधिक महत्व रखता है। वैष्णव भक्त आळ्वारों ने तथा शैव भक्त नायनमारों इस काल में समस्त तमिळ-प्रदेश में घूम घूम कर भक्ति-प्रचार किया। जनता में धार्मिक जागरूकता को उत्पन्न करने में आळ्वार भक्तों के भक्तिमय गीतों का विशेष हाथ रहा है।

भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप तमिळ-प्रदेश में अनगिनत मन्दिर निर्मित हुए। बड़ी-बड़ी संख्या में भक्तगण मन्दिरों के दर्शन करने गये और मन्दिरों में पूजा उत्सवादि होने लगे। भक्तगण आळ्वारों के भक्तिमय पदों को गा-गाकर आत्मविभोर हुए। तमिळ-प्रदेश में भक्तिमय वातावरण आळ्वारों के समय तक ही बना रहा हो यह बात नहीं है। आळ्वारों ने भक्ति का जो बीज बोया था वह उगकर बड़ा वृक्ष बन गया और उस भक्ति-वृक्ष की शीतल छाया में आळ्वारों के पश्चात भी अनेक शताब्दियों तक तमिळ जनता ने शान्ति का अनुभव किया।

नवीं शती के पश्चात् ही तमिळ-जनता ने आळ्वार-साहित्य के वास्तविक महत्व को पूर्ण रूप में जाना। विचारक आळ्वार-साहित्य-सागर में गोता लगाकर अमूल्य विचार रत्नों को खोज निकालने लगे। 'प्रबन्धम्' पर अनेकानेक टीकाएँ निकलीं। तमिळ और संस्कृत में अनेक भाष्य निकले।[1] आळ्वारों की स्तुति में सैकड़ों पुस्तकें लिखी गयीं। जनता की दृष्टि में 'प्रबन्धम्' वेदों से भी अधिक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण दीख पड़ा। फलस्वरूप मन्दिरों में आळ्वार-पदों के गायन का विशेष प्रबन्ध किया गया और इस प्रकार आळ्वार-पदों का गायन जनता के धार्मिक जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया। दक्षिण के मन्दिरों में आळ्वारों के पदों के गायन का प्रबन्ध कब से प्रारम्भ हुआ यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। 'प्रबन्धम्' के प्रसिद्ध टीकाकार श्री पेरियवाच्चान पिळ्ळै' ने अपने ग्रन्थ 'कलियन अरुट्पाडु'[2] में एक स्थान पर लिखा है कि तिरुमंगै आळ्वार ने नम्माळ्वार की 'तिरुवायमोळी' को वेद के समकक्ष मानकर श्रीरंगम् के मंदिर में उसके गायन का प्रबन्ध करा देने की प्रार्थना श्री रंगनाथ भगवान् से की थी। विदित होता है कि तिरुमंगै आळ्वार (अन्तिम आळ्वार) ने अपने पूर्व भक्ताचार्य नम्माळ्वार के प्रति बड़ा श्रद्धा भाव दिखाया था।

१ 'प्रबन्धम्' पर लिखित भाष्यों का विस्तृत विवरण परिशिष्ट—१ में दिया गया है, देखें।

२ 'कलियन अरुट्पाडु'—पृ० ५

१०

और उनकी रचना 'तिरुवायमोळी' को वेद के समकक्ष घोषित किया था। नम्माळ्वार कृत 'तिरुवायमोळी' के वेद के समान माने जाने के विषय में और भी प्रमाण मिलते हैं। मधुर कवि आळ्वार ने लिखा है कि गुरु (नम्माळ्वार) ने महान् वेदों के रहस्य को अपने ग्रन्थ में भर दिया है। वेदों के गूढ से गूढ अर्थों का उद्घाटन गुरु द्वारा ही हुआ।[1] श्रीनाथमुनि ने भी लिखा है कि द्राविड़-वेद-सागर के सामने मैं नतमस्तक हूँ।[2] अन्य परवर्ती आचार्यों के कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि 'तिरुवायमोळी' का मर्म विषय वेद-सार ही समझा गया था और वेदों की सी धार्मिक मान्यता उसे प्राप्त थी।

जनता के धार्मिक जीवन में वेद को जो स्थान प्राप्त था वह 'प्रबन्धम्' (तमिळ वेद) को प्राप्त हुआ। जिन अवसरों पर वेद-मंत्रों का पठन होता था उन सभी अवसरों पर 'प्रबन्धम्' का गायन होने लगा। मन्दिरों में पूजादि की वेलाओं में, धार्मिक उत्सव-त्योहारों के अवसरों में 'तमिळ-वेद' का ही पाठ होने लगा। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि तिरुमंगै आळ्वार ने ही पहले-पहल श्रीरंगम् के मन्दिर में संस्कृत-वेद के साथ तमिळ-वेद के गायन का प्रबन्ध किया था। तिरुमंगै के पश्चात् तो यह परम्परा नाथमुनि के समय में और उनके परवर्ती आचार्यों के समय में भी चली थी और आज तक चली आ रही है। जिन जिन अवसरों पर संस्कृत-वेद का पाठ होता था उन सभी अवसरों पर तमिळ-वेद का गायन आवश्यक समझा गया।

मार्गशीर्ष महीने में शुक्ल पक्ष की एकादशी से १० दिन तक वेद-पाठ हुआ करता है। इसको 'मोक्षोत्सव' कहा गया है। श्रीरंगम् में इस उत्सव के अवसर पर वैकुंठ एकादशी से संस्कृत वेद-पाठ की परिपाटी चलती थी। तिरुमंगै आळ्वार ने इस उत्सव के अवसर पर वैकुण्ठ एकादशी से तमिळ-वेद 'तिरुवायमोळी' के पाठ का कार्यक्रम भी चालू किया। १ दिनों के उस उत्सव में प्रत्येक दिन यजुर्वेद के आठ-आठ 'प्रश्नों' का पाठ होता था। तिरुमंगै आळ्वार ने श्रीरंगम् के मन्दिर में उपर्युक्त क्रम के अनुकरण पर तमिळ-वेद के गायन के लिए एक उचित परिपाटी बनायी थी और उस परिपाटी के अनुसार उक्त उत्सव के अवसर पर प्रत्येक दिन तमिळ-वेद के कुछ मंत्रों का गायन होने लगा। तिरुमंगै आळ्वार के पश्चात् तमिळ-वेद के पाठ का कार्य-क्रम अधिकाधिक महत्व प्राप्त करने लगा जिसके फलस्वरूप यजुर्वेद के पाठ का कार्य-क्रम बंद हो गया। तब से केवल तमिळ वेद-पाठ ही होता आ रहा है। उक्त उत्सव के अवसर पर नम्माळ्वार के १० पदों में से १० पदों का गायन होता है और इस प्रकार १० दिनों में 'तिरुवायमोळी' के समस्त पदों का पाठ पूरा होता है। तमिळ-वेद-पाठ के अन्त में नम्माळ्वार के विग्रह को श्रीरंगनाथ जी के चरणों में रखा जाता है। भगवान् और नम्माळ्वार के ऐक्य हो जाने को सूचित करने के लिए ही ऐसा किया जाता है।

---

१ कण्णिनुण् शिरुत्तांबु, ८

२ 'नमाम्यहं द्राविड-वेद सागरम्' —तिरुवायमोळी तनियन

चूँकि उपर्युक्त धार्मिक उत्सव में 'तिरुवायमोऴि' (तमिऴ-वेद) का पाठ ही प्रधान कार्य होता है अतः उस उत्सव को 'तिरुवायमोऴि-उत्सव' अथवा 'मोक्षोत्सव' भी कहते हैं। प्रारम्भ में तो केवल 'तिरुवायमोऴि-उत्सव' ही मनाया जाता था। बाद में भक्तों के द्वारा एक अन्य उत्सव भी मनाया जाने लगा। यह उत्सव 'तिरुवायमोऴि-उत्सव' से १० दिन पूर्व प्रारम्भ होता है और 'तिरुवायमोऴि-उत्सव' के एक दिन पूर्व तक अर्थात् वैकुण्ठ एकादशी तक मनाया जाता है। इस उत्सव को 'वैकुण्ठोत्सव' कहते हैं। जिस तरह 'मोक्षोत्सव' में तिरुवायमोऴि का पाठ विशेष रूप से होता है, उसी तरह 'वैकुण्ठोत्सव' के दिनों में अन्य आऴ्वारों के पदों का पाठ होता है। उपर्युक्त दोनों उत्सवों का नामकरण तो आगम नियम के आधार पर हुआ है। परन्तु उनके स्थान पर तमिऴ नाम ही अब प्रचलित हैं। 'वैकुण्ठोत्सव' को 'तिरुमोऴि तिरुनाळ' और 'मोक्षोत्सव' को 'तिरुवायमोऴि-तिरुनाळ' कहा जाता है। प्रारम्भ के १० दिनों को पकल पत्तु और बाद के १० दिनों को इरा पत्तु कहते हैं। प्रथम उत्सव में 'तिरुमोऴि' का पाठ दिन के समय में और द्वितीय उत्सव में 'तिरुवायमोऴि' का पाठ रात के समय में होता है। 'तिरुमोऴि' के अन्तर्गत तिरुमंगै आऴ्वार के पदों को ही विशेष स्थान प्राप्त है। श्रीरंगम् में 'तिरुवायमोऴि-उत्सव' का बीजारोपण करने वाले तिरुमंगै आऴ्वार की बड़ी स्तुति श्री नाथमुनि ने की है। सम्भव है कि तिरुमंगै आऴ्वार की महान् सेवा का स्मरण करके ही श्री नाथ मुनि ने उनकी 'तिरुमोऴि' के पाठ के लिए 'तिरुमोऴि उत्सव' की परिपाटी चलायी हो।

ऊपर वर्णित दो प्रमुख धार्मिक उत्सवों के अतिरिक्त दक्षिण के प्रधान वैष्णव मन्दिरों से सम्बन्धित अन्य उत्सवों के अवसरों पर भी 'प्रबन्धम्' का पाठ होता है। दक्षिण के तीन वैष्णव मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनसे आऴ्वार-साहित्य का अधिक सम्बन्ध है। वे हैं—'श्रीरंगम् तिरुपति और कांची-पुरम्'। इन मन्दिरों के उत्सव विग्रहों को जब जुलूस में लिया जाता है, तब 'प्रबन्धम्' के 'इयर्पा भाग' का पाठ होता है। विशेष रूप से 'ब्रह्मोत्सव' के अवसर पर १० दिन तक इयर्पा भाग का पाठ होना आवश्यक है। इयर्पा भाग में संगृहीत रचनाओं में अन्तिम रचना 'पेरिय तिरुमडल' का पाठ अन्तिम दिन में होता है। 'अध्ययनोत्सव' के दिनों में उक्त वैष्णव मन्दिरों के भीतर स्थित नम्माऴ्वार की मूर्ति के सामने ही उन पदों का गायन होता है। प्रारम्भ में यह उत्सव केवल श्रीरंगम् में ही मनाया जाता था। बाद में उसका अनुकरण कर अन्य वैष्णव मन्दिरों में यह मनाया जाने लगा। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में तमिऴ-प्रदेश के प्रसिद्ध वैष्णव-केन्द्र श्रीरंगम् में ही ये सभी उत्सव मनाये जाते थे और बाद में अन्य मन्दिरों में। कुछ उत्सवों का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है।[1]

---

1 *History of Tirupati* Dr S Krishnaswamy Aiyangar Vol I p. 48-51

'प्रबन्धम्' का पाठ केवल वैष्णव मन्दिरों से सम्बन्ध रखने वाले उत्सवों में ही नहीं, बल्कि अन्य सभी शुभ अवसरों पर भी होता है। श्रीकृष्ण जयन्ती के अवसर पर कृष्णावतार से सम्बन्धित 'प्रबन्धम्' के पदों का गायन होता है। जब भगवद्विग्रहों को जलूस में लिया जाता है, तब आगे आगे 'प्रबन्धम्' के पदों का और पीछे वाले संस्कृत-वेद का पाठ करते हैं। हो सकता है कि इस परिपाटी का उद्देश्य आळ्वार पदों को प्राप्त महत्वपूर्ण स्थान को सूचित करना ही हो। श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'पादुका सहस्रम्' में 'प्रबन्धम्' के महत्व को स्थापित करते हुए लिखा है कि भगवद्विग्रह के जुलूस में 'प्रबन्धम्' का पाठ सबसे आगे होना संगत ही है। मार्गशीर्ष महीने में प्रातःकाल आंडाळ की रचना 'तिरुप्पावै' के ३० पदों और तोंडरडि-पोडी आळ्वार की रचना 'तिरुप्पळ्ळि एळुच्चि' के पदों का गायन होता है। श्रावण महीने में 'ऊंजल उत्सव' (हिंडोला-उत्सव) के अवसर पर पेरियाळ्वार के कुछ पदों ("माणिक्कंकट्टी" से शुरू होने वाले पद) और कुलशेखराळ्वार के कुछ पदों ("मन्नुपुकळ कौसल्या तन" से प्रारम्भ होने वाले) का गायन होता है। भगवद्विग्रह के सामने नैवेद्य लगाते समय पेरियाळ्वार के "वैण्णयळंन्द कुण्ळुम"[1] से प्रारम्भ होने वाले पदों का पाठ होता है। तिरुमंजन" (भगवद्विग्रह का स्नान) पूच्चूडल" (फूल धारण करना) "काप्पिडल" आदि नित्य-सेवा की वेलाओं में वैष्णव मन्दिरों में 'प्रबन्धम्" से चुने हुए गीत गाये जाते हैं। इन अवसरों पर संस्कृत के पाठ से 'प्रबन्धम्' का तमिळ-पाठ ही विशेष आवश्यक समझा जाता है। नित्य-पाठ के लिए चुने गये पदों को "नित्यानुसंधानम्" (नित्य-पाठ-संग्रह) कहते हैं। प्रत्येक दिन के अन्त में गाये जाने वाले पदों को 'सात्तुमुरै' कहा जाता है। यह सब परिपाटी तमिळ में ही बसती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रबन्धम्' ने तमिळ जनता के के धार्मिक जीवन को किस हद तक प्रभावित किया है। वेद-तुल्य माने जाने वाले आळ्वार-पदों का सम्बन्ध तमिळ जनता के धार्मिक जीवन से इतना घनिष्ठ हो गया कि जनता ने वेद से अधिक महत्व 'प्रबन्धम्' को दिया।

साहित्य समाज की चेतना में साँस लेता है। वह समाज का वह परिधान है जो जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आकर्षण विकर्षण के ताने-बाने से बुना जाता है। उसमें विशाल मानव-जाति का स्पन्दन ध्वनित होता है। वह जनता के जीवन की व्याख्या करता है। इसी से उसमें जीवन देने की शक्ति आ जाती है। आळ्वारों के भक्ति-काव्य में समाज का स्पष्ट चित्रण है। उन्होंने समाज में रहते हुए उसकी आत्मा का परिचय प्राप्त किया था और सामाजिक जीवन के स्तर को उठाने के लिए पर्याप्त सामग्री अपने साहित्य में भर दी है। यही कारण है कि परवर्ती समाज ने आळ्वार-साहित्य में अपनी आवश्यकता की सभी चीजें प्राप्त कीं। भक्ति के अतिरिक्त अनेक वस्तुएँ आळ्वार-साहित्य ने परवर्ती समाज को प्रदान कीं।

---

1 पेरियाळ्वार तिरुमोळी २४१ से १० (अगले पृष्ठ की टिप्पणी)

प्रत्येक वैष्णव भक्त के यहाँ पूजा इत्यादि के लिए थोड़ी जगह अलग छोड़ी जाती है, जिसको 'कोयिल-आळ्वार' अर्थात् 'आळ्वार-मन्दिर' की संज्ञा प्राप्त है। पूजा इत्यादि के समय में आळ्वारों के भक्तिपरक पदों का गायन होता ही है। वैष्णव भक्त किसी न किसी कार्य को करते समय आळ्वार के किसी न किसी पद को गुनगुनाना मंगलदायक समझता है। यहाँ तक कि औरतें जब सबेरे अपने घरों के प्रांगण में 'कोलम्' (सजावट की रेखाएँ) खींचती हैं, तब आण्डाळ के तत्सम्बन्धी कुछ पदों को गाती हैं।

अगर किसी वैष्णव भक्त के यहाँ शिशु का जन्म होता है तो आळ्वारों के पदों का गायन होता है। माताएँ अपने बच्चों को सुलाने के लिए बड़े प्यार से पेरियाळ्वार और कुलशेखराळ्वार के लोरी-गीतों को ही गाती हैं। 'प्रबन्धम्' में वर्णित विभिन्न संस्कार उत्सव मनाये जाते हैं। 'प्रबन्धम्' में वर्णित व्रत आदि का अनुष्ठान भी होता है। आण्डाळ ने अपनी 'तिरुप्पावै' में 'मार्गऴी नोम्बु' (कात्यायिनी व्रत) का वर्णन किया है। युवतियाँ योग्य वर को प्राप्त करने के लिए "मार्गऴी नोम्बु" व्रत रखती हैं और आण्डाळ के पदों का गायन करती हैं। विवाह के अवसर पर आज भी वैष्णवों के यहाँ आळ्वार-गीतों का गायन सामूहिक रूप में होता है। इसको "सीर पाडल' कहते हैं। इस अवसर पर आण्डाळ की 'नाच्चियार तिरुमोऴि' से "वारणमायिरम्' से प्रारम्भ होने वाले १० पदों का गायन तो परमावश्यक समझा गया है और वर-वधू को आशीर्वाद देने के रूप में अन्य लोगों द्वारा उसका गायन होता है। आण्डाळ के लिए निर्मित मन्दिरों में मार्गशीर्ष महीने में एक पर्व लगता है। आण्डाळ ने अपने कुछ पदों में स्वप्न में विष्णु भगवान् से होने वाले अपने विवाह का वर्णन किया है। उसका स्मरण करते हुए प्रत्येक वर्ष इस महीने में भक्तों द्वारा एक उत्सव मनाया जाता है, जिसे 'आण्डाळ तिरुक्कल्याणम्' (आण्डाळ विवाहोत्सव) कहते हैं। इस अवसर पर आण्डाळ के उन गीतों का गायन होता है।

शोक के अवसर पर अथवा 'श्राद्ध' के अवसर पर उसके तीन दिन या कम से कम एक दिन पहले ही आळ्वार-गीतों का पाठ शुरू हो जाता है और श्राद्ध के दिन समाप्त होता है। 'प्रबन्धम्' के पाठ के पश्चात् ही अन्य कर्म किये जाते हैं। अन्त्येष्टि क्रिया के लिए शव को श्मशान में ले जाते समय आळ्वारों के कुछ पदों का पाठ अवश्य होता है। वैष्णवों का विश्वास है कि आचार्य के चरणों को प्राप्त करने के पश्चात् ही भगवान् के चरणों तक पहुँच सकते हैं। श्री रामानुजाचार्य की स्तुति में रचित (और 'प्रबन्धम्' के अन्त में संगृहीत) 'रामानुजनूट्रन्तादि' के एक सौ पदों को पढ़ते हैं। किसी वैष्णव भक्त की मृत्यु के कुछ क्षणों के पहले दूसरे लोग नम्माळ्वार के एक पद (जिसमें नम्माळ्वार ने मोक्ष की ओर अपनी यात्रा का उल्लेख किया है) को पढ़ते हैं। वैष्णवों का विश्वास है कि उस पद को गाने से उस आत्मा को मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रबन्धम्' ने किस हद तक वैष्णव भक्तों के धार्मिक और सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। विभिन्न अवसरों

पर आज भी प्रबन्धम् का गायन वैष्णवों के यहाँ होता है। संस्कृत-वेद-पाठ हो या न हो परन्तु 'प्रबन्धम्' का पाठ परमावश्यक है। इससे प्रबन्धम्' द्वारा सामाजिक जीवन पर डाले गये प्रभाव का अनुमान हो सकता है। इस प्रकार प्रबन्धम्' वैष्णवों के सामाजिक जीवन में घुल-मिल गया और उसका एक अभिन्न अंग बन गया। जिस विष्णु-मन्दिर में कम से कम नम्माळ्वार और आण्डाळ की मूर्तियाँ नहीं हों तथा जिस मन्दिर में प्रबन्धम्' का गायन नहीं होता हो वैष्णव भक्त उसे विष्णु-मन्दिर मानने को तैयार नहीं हैं। साम्प्रदायिक नियमों के अनुसार वैष्णव मन्दिरों में नम्माळ्वार और आण्डाळ के विग्रहों का स्थापन आवश्यक है और साथ ही साथ मन्दिर से सम्बन्धित उत्सवों में 'प्रबन्धम् का पाठ एक अनिवार्य अंग है। प्रबन्धम्' में उल्लिखित लगभग १०८ वैष्णव मन्दिरों की तीर्थ यात्रा करना वैष्णव भक्त कर्तव्य समझते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैष्णव-जनों की दृष्टि में आळ्वार भक्तों का और 'प्रबन्धम्' का कितना अधिक महत्व है।

(आ) विविध कलाओं पर 'प्रबन्धम्' का प्रभाव

आळ्वार साहित्य ने विविध कलाओं की श्रीवृद्धि में पर्याप्त योग दिया है। आळ्वार भक्तों ने जब समूचे तमिळ-प्रदेश में भक्तिमय वातावरण उत्पन्न किया तो भक्तों की उपासना-पिपासा को शान्त करने के लिए राज्याश्रय द्वारा अनेक वैष्णव मन्दिरों का निर्माण हुआ। बड़ी संख्या में भक्त मन्दिरों के दर्शन करने जाते थे और वहाँ स्थापित भगवद्विग्रहों और भगवल्लीलाओं को चित्रित करने वाले शिलाखण्डों के दर्शन कर आत्म-शान्ति पाते थे। आज तमिळ-प्रदेश में विद्यमान अधिकांश वैष्णव मन्दिर आळ्वारों के समय में अथवा उनके पश्चात् उनकी भक्ति-भावना से प्रेरित होकर विभिन्न राजाओं द्वारा निर्मित हैं।[1] पल्लव राजाओं ने तथा उनके परवर्ती राजाओं ने मन्दिर-निर्माण में बड़ी रुचि दिखायी। आज तमिळ-प्रदेश में विद्यमान विष्णु मन्दिर और शिव मन्दिर आळ्वारों और नायनमारों द्वारा चलाये गये भक्ति-आन्दोलन के फल हैं। मन्दिर-निर्माण के फलस्वरूप भवन निर्माण-कला ने भी विकास प्राप्त किया और बड़े कलाकारों को जन्म दिया। यह ध्यान देने योग्य है कि तमिळ-प्रदेश के सभी वैष्णव-मन्दिरों का बाह्य रूप एक ही प्रकार का होता है। मन्दिरों के ऊँचे-ऊँचे 'गोपुरम्' विशेष आकर्षण की वस्तुएँ हैं। वैष्णव मन्दिरों के भीतर प्रधान रूप से विष्णु के किसी रूप का विग्रह होता है और आळ्वार भक्तों की मूर्तियाँ भी विभिन्न स्थलों में स्थापित हैं। परवर्ती काल में आळ्वारों का महत्व इतना बढ़ा कि वे भी अवतार समझे जाने लगे। आळ्वारों के नाम से भी मन्दिर बनने लगे। श्री विल्लिपुत्तुर का आण्डाळ-मन्दिर बहुत ही प्रसिद्ध है। विजयनगर के राजा

---

१ 'प्रबन्धम्' में लगभग १०८ वैष्णव मन्दिरों का विवरण मिलता है। इनमें स्थित भगवद्विग्रहों की स्तुति में आळ्वारों ने अनेक पद गाये हैं। अतः ये वैष्णवों द्वारा प्रधान मन्दिर स्वीकृत हुए हैं।

श्रीकृष्णदेव राय (१६वीं शती के लगभग) ने प्रत्येक विष्णु-मन्दिर में आण्डाल की मूर्ति का स्थापन किया और ऐसा करना आवश्यक घोषित किया गया। मन्दिरों के अन्दर स्थित उस भाग को 'आण्डाळ-सन्निधि' कहते हैं।[1]

मन्दिरों के साथ अनेक मण्डप निर्मित हुए जहाँ बैठकर गायकगण विभिन्न वाद्यों के साथ आळ्वार-गीतों को गाते थे। भक्ति-आन्दोलन के परिणामस्वरूप निर्मित सहस्रों छोटे-बड़े मन्दिरों को लक्ष्य करके ही तमिळ-प्रदेश को "मन्दिरों का देश" कहा जाता है।

मूर्ति-कला और चित्र-कला पर भी आळ्वार साहित्य का प्रभाव पड़ा है। देव मूर्तियों को बनाने में उनके रूप इत्यादि के निर्णय में मूर्तिकारों ने आळ्वार-साहित्य का बहुत हद तक आधार लिया है। आळ्वार-साहित्य में विष्णु के जिन रूपों का वर्णन मिलता है, उनके अनुसार ही भगवद्विग्रहों का निर्माण हुआ है। मन्दिरों में स्थापित करने के निमित्त मूर्तियाँ बनायी गयीं। कलाकारों ने अपनी कुशलता से उन मूर्तियों में सौन्दर्य भर दिया। सामाजिक जीवन के दृश्य भी शिलाखण्डों में चित्रित किये गए। बड़े-बड़े शिलाखण्डों को मूर्ति का आकार देने में उस समय के मूर्तिकार कुशल थे। महाबलीपुरम के गुहा-मन्दिर, रथ मण्डप आदि इस प्रकार के शिलाखंडों से बने हैं। आळ्वारों के पश्चात् उनकी मूर्तियाँ भी निर्मित हुईं और उनकी स्थापना वैष्णव-मन्दिरों में हुई। मन्दिरों में आळ्वारों की मूर्तियों की स्थापना उनके प्रति वैष्णव भक्तों के भक्ति भाव को सूचित करती है। मूर्ति-कला के साथ चित्रकला भी विकास को प्राप्त हुई। उस समय के चित्र अब बहुत कम वैष्णव मन्दिरों में देखने को मिलते हैं। विष्णु के विभिन्न अवतारों में रामावतार और कृष्णावतार के प्रसंगों को (आळ्वार साहित्य में मिलने वाले वर्णनों के अनुसार) दिखाने वाले चित्र बने थे।

संगीत-कला को आळ्वारों की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न राग रागिनियों में निर्मित आळ्वार-पदों को भक्त गा-गाकर आत्म विभोर हो जाते थे। आळ्वारों की गीत-पद्धति ने भक्तों के हृदय को वशीभूत करने की शक्ति प्रदर्शित की। स्वयं आळ्वार अच्छे गायक थे। तिरुप्पाण आळ्वार तो 'पाण' जाति के थे जिस जाति का पेशा ही गायन था। आळ्वारों के पूर्व भी तमिळ में गीत-पद्धति प्रचलित थी। परन्तु वह पर्याप्त विकसित नहीं थी। आळ्वारों ने तमिळ की गीत-पद्धति में नई स्फूर्ति पैदा की और उसको परवर्ती गायकों के लिए आदरणीय बना दिया। आळ्वारों ने अनेक नए रागों और रागिनियों को खोज निकाला है। आळ्वारों के पदों में गेयत्व की विशेषता की चर्चा पूर्व अध्याय में हम कर चुके हैं। तमिळ में मिलने वाले अधिकांश गेय पद आळ्वार और नायनमारों के ही हैं। अतः तमिळ में गेय पद्धति को प्रोत्साहित करने में आळ्वारों का विशेष हाथ रहा है। भक्त-गोष्ठी में आळ्वार-गीत-गायन की परिपाटी चली थी। विविध वाद्य-यन्त्रों का भी निर्माण हुआ

---

१ तमिळर वळर्त्त अळगुक्कलैगळ्—मी० मयिलै सीनी वेंकटस्वामी, पृ० १५

और वाद्यों के साथ भक्तिपरक पद गाकर भक्त-गायक आनन्द-विभोर हो जाते थे। जनता में संगीत प्रियता बढ़ी। तात्पर्य यह है कि आळ्वारों ने संगीत-कला के विकास में बहुत योग दिया है। डा० दीनदयालु गुप्त लिखते हैं— 'ईसा की सातवीं तथा आठवीं शताब्दियों में जब दक्षिण भारत में शिव और विष्णु की भक्ति के मार्गों का पुनरुत्थान और प्रचार हुआ उस समय यह कार्य धार्मिक गीतों के द्वारा अधिक मात्रा में हुआ। भक्ति के प्रचार के साथ इन शताब्दियों में संगीत प्रियता खूब बढ़ी। तमिळ भाषा में उस समय के संगीत के बहुत से नमूने अब भी सुरक्षित हैं। उत्तरी भारत में दक्षिण का धार्मिक प्रभाव आया और भक्ति के आन्दोलन के साथ संगीत का भी मान बढ़ा।'[1]

(ग) तमिळ भाषा और साहित्य पर 'प्रबन्धम्' का प्रभाव

आळ्वार भक्तों ने तमिळ साहित्य की महान् सेवा की है। तमिळ भाषा और उसके संघ-साहित्य के प्रति आळ्वारों ने अपना प्रेम अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर स्पष्ट रूप से प्रकट किया है। (आळ्वार भक्तों के पूर्व का काल तमिळ-साहित्य के इतिहास में संघ काल कहलाता है। यह संघ-साहित्य तमिळ की अमूल्य निधि है।) आळ्वार भक्तों ने संघ काल के साहित्य की सभी विशेषताओं और साहित्यिक परम्पराओं को अपने काव्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। आण्डाळ और तिरुमंगै आळ्वार ने संघ-साहित्य की बड़ी प्रशंसा की है।[2] तमिळ भाषा के प्रति प्रेम प्रकट करते हुए भूतत्ताळ्वार ने लिखा है कि मैं ज्ञान-प्रधान तमिळ भाषा में गाता हूँ। मीठी तमिळ भाषा में भगवान् को दीपा-माला समर्पित करता हूँ।[3] इस प्रकार अन्य आळ्वारों की रचनाओं में मिल जाने वाली उक्तियों से स्पष्ट होता है कि आळ्वारों को अपनी भाषा तमिळ के प्रति बड़ा प्रेम था।

आळ्वारों का आविर्भाव तमिळ साहित्य के इतिहास में पर्याप्त महत्व रखता है। प्रारम्भिक आळ्वारों ने (चौथी-पाँचवीं सदी) ही तमिळ में सर्व प्रथम ऐसे काव्य का सर्जन किया जिसे हम पूर्णतः भक्ति-काव्य कह सकते हैं। उनके पूर्व भी तमिळ में एकाध भक्ति—सम्बन्धी रचनाएँ हुई थीं। परन्तु उन्हें पूर्णरूपेण भक्ति काव्य कहना कठिन है। प्रारम्भिक आळ्वार भक्तों ने काव्य-शैली को भी एक नई मोड़ दी। मधुर गेय पदों की रचना कर आळ्वारों ने एक नयी काव्य-शैली का उद्घाटन किया था। वष्णव भक्ति काव्य की दृष्टि से 'प्रबन्धम्' का स्थान सर्वोपरि है। प्रबन्धम्' में ही प्रथम बार विस्तार से रामावतार और कृष्णावतार की चर्चा हुई है। आळ्वारों का युग महाकाव्यों की रचना के लिए अनुकूल न था। अतः राम कथा या कृष्ण-कथा

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त पृ० २६४

२ तिरुप्पावै ३ तथा पेरिय तिरुमोळी, ३ १ १०

३ इरंदाम तिरुवन्तादि १ और ७४

को लेकर महाकाव्य रचने की ओर वे प्रवृत्त नहीं हुए। परन्तु उन्होंने रामावतार और कृष्णावतार के कुछ विशिष्ट प्रसंगों को लेकर असंख्य सरस पद रच डाले। तमिळ में महाकाव्य के रूप में 'रामायण' की रचना ११ वीं शताब्दी में महाकवि कंबन द्वारा हुई। परन्तु कंबन को भी रामायण लिखने की प्रेरणा आळ्वारों के काव्य से ही मिली। अतः तमिळ में राम-कथा के प्रथम गायकों के रूप में भी आळ्वारों को गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त है। जहाँ तक कृष्ण भक्ति का सम्बन्ध है 'प्रबन्धम्' ही तमिळ का सर्वप्रथम मौलिक काव्य है जिसमें कृष्ण की विविध लीलाओं का विस्तार और भाव पूर्ण वर्णन है। यद्यपि परवर्ती काल में कृष्ण भक्ति-प्रधान कुछ छोटे मोटे काव्य लिखे तो भी 'प्रबन्धम्' श्रेष्ठ कृष्ण भक्ति काव्य के रूप में अमर हो गया और उसका चिर स्थायी महत्त्व है। उसकी टक्कर का ग्रन्थ तमिळ में अभी तक नहीं हुआ। अतः वैष्णव भक्ति-काव्य के रूप में तमिळ में 'प्रबन्धम्' बेजोड़ है।

जहाँ तक प्रबन्धम् के साहित्यिक महत्व का प्रश्न है हम कह सकते हैं कि यद्यपि आळ्वार मूलतः भक्त थे और भावावेश में आकर गाते थे तो भी उनके काव्य में उच्चकोटि के साहित्य के गुण विद्यमान हैं। तमिळ के गौरवपूर्ण प्रेम-काल की विशिष्ट काव्य शैलियों और साहित्यिक परम्पराओं का निर्वाह आळ्वारों ने अपने काव्य में किया है। संघ-काल की रचनाओं में उपलब्ध लौकिक प्रेम-पद्धति को लेकर उसी पद्धति में उन्होंने अलौकिक प्रेम को प्रकट किया है और आत्मा परमात्मा के बीच के सम्बन्ध को उक्त पद्धति द्वारा बहुत स्पष्ट और आकर्षक बना दिया है। भक्ति में माधुर्य भाव को जोड़ने वाले प्रथम कवि हैं आळ्वार। नायिका के विरह-वर्णन के रूप में उन्होंने जो भक्ति-भाव प्रकट किये हैं, वे अद्वितीय हैं। इस प्रकार का सजीव विरह वर्णन तमिळ-साहित्य में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। पेरियाळ्वार ही प्रथम कवि हैं जिन्होंने कृष्ण के बाल-वर्णन के लिये वय-विकास को दस वय अवस्था में रखकर प्रत्येक वय-खण्ड का मार्मिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया था। इस प्रकार के बाल-वर्णन की शैली तमिळ में 'पिळ्ळै-त्तमिळ' कहलाती है। 'पिळ्ळै-त्तमिळ' वर्णन शैली के जन्म-दाता के रूप में तमिळ कवियों में पेरियाळ्वार का स्थान मूर्धन्य है। पेरियाळ्वार ने जितने विस्तार से जितनी सूक्ष्मता और मार्मिकता से बाल-चेष्टाओं का वर्णन प्रस्तुत किया है, वह तमिळ में अन्यत्र दुर्लभ है। पेरियाळ्वार की 'पिळ्ळै तमिळ' शैली का अनुकरण कर अनेक परवर्ती कवियों ने 'पिळ्ळै-त्तमिळ' काव्यों की रचना की है। छन्द-योजना के क्षेत्र में आळ्वारों ने कई नव छन्दों की सृष्टि की थी। अन्तादि छन्द में रचित आळ्वारों के पदों को आदर्श रूप में लेकर परवर्ती कवियों ने उस छन्द का प्रयोग किया है। 'ताण्डकम्' आळ्वार काव्य में प्रयुक्त एक विशेष छन्द है जिसका प्रचार बाद में हुआ।

आळ्वार-काव्य में तत्कालीन समाज में प्रचलित लोक-गीत सुरक्षित हैं। पेरियाळ्वार, कुलशेखराळ्वार, तिरुमंगै आळ्वार आदि ने अपने काव्य में लोक-गीतों को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। इन लोक-गीतों से तत्कालीन तमिळ जनता की

आत्मा का परिचय मिल जाता है। आऴ्वार-काव्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें तत्कालीन समाज का सजीव और स्पष्ट चित्रण मिलता है। लोक में प्रचलित विभिन्न उत्सव, विभिन्न संस्कार, देवी-देवता, स्त्री-पुरुष के शृङ्गार, वेश-भूषा, विविध विश्वास आदि का विस्तृत परिचय हमें आऴ्वार-काव्य से मिलता है। लोगों के मनोरंजन के साधन, उनके व्यवहार, शिष्टाचार, दैनिक जीवन के कार्य इत्यादि का पूरा पूरा परिचय आऴ्वार साहित्य से मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आऴ्वार साहित्य में तत्कालीन समाज प्रतिबिम्बित हुआ है। चूँकि आऴ्वार समाज के ही प्राणी थे अतः उन्होंने अपने काव्य में समाज का सांगोपांग चित्रण किया है, जिससे कि तमिऴ संस्कृति के अतीत का रंगीन चित्र हमारे सामने आ सका है। सारांश यह है कि आऴ्वारों का भक्ति-काव्य—तमिऴ-साहित्य की अमूल्य निधि है।

तमिऴ भाषा को आऴ्वारों की देन

तमिऴ भाषा के विकास में आऴ्वारों के प्रबन्धम् ने महत्वपूर्ण योग दिया है। आऴ्वारों के समय के पहले की तमिऴ भाषा संस्कृत-प्रभाव से बिल्कुल मुक्त है। संघ-काल की रचनाओं में प्रयुक्त भाषा पूर्णरूपेण शुद्ध साहित्यिक तमिऴ भाषा है, जिसमें संस्कृत के शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में उत्तर भारत से दक्षिण की ओर आर्य संस्कृति के गमन के साथ-साथ संस्कृत भाषा भी दक्षिण में आयी। उस समय तमिऴ कवि शुद्ध साहित्यिक तमिऴ भाषा में ही रचना करते थे। धीरे-धीरे संस्कृत भाषा में उपलब्ध धर्म, दर्शन विविध शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रभाव तमिऴ के पण्डित-समाज पर पड़ा। आऴ्वार संस्कृत के भी ज्ञाता थे। उनका तमिऴ प्रेम भी अगाध था। फिर भी उन्होंने संस्कृत के प्रति विरोध भाव नहीं दिखाया।[1] यही कारण है कि तमिऴ कृतियों में 'प्रबन्धम्' में ही प्रथम बार संस्कृत शब्द मिलते हैं। भक्ति और दर्शन के माध्यम से आऴ्वारों की भाषा में कुछ संस्कृत शब्द भी आ गये। लोक में प्रचलित सरल संस्कृत शब्दों का ही उन्होंने प्रयोग किया है। आऴ्वारों ने संस्कृत के शब्दों को तत्सम रूप में न रखकर उनका 'तमिऴीकरण' कर उचित ढंग से भाषा में मिला दिया है। 'प्रबन्धम्' में मिलने वाले अधिकांश संस्कृत शब्द तद्भव रूप में अथवा परिष्कृत रूप में ही हैं। इस प्रकार सरल तमिऴीकृत संस्कृत-शब्दों के प्रयोग से तमिऴ भाषा में एक नयी शक्ति आयी। तमिऴ भाषा में गीतात्मकता और प्रवाहमानता आयी। आज तमिऴ भाषा का जो रूप है उसकी नींव आऴ्वारों ने ही डाली थी। आऴ्वार ही प्रथम कवि हैं जिन्होंने साहित्यिक तमिऴ भाषा में आवश्यक अर्थों में संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर तमिऴ भाषा को एक नया मोड़ दिया था। स्मरण रहे कि संस्कृत का प्रभाव तमिऴ भाषा पर अपेक्षाकृत बहुत कम है।

---

१ कुलशेखराऴ्वार ने संस्कृत में 'मुकुन्दमाला' नाम के एक प्रसिद्ध स्तोत्र-ग्रन्थ की रचना भी की थी।

आळवारों के पश्चात् 'प्रबन्धम्' के टीकाकारों ने दार्शनिक विचारों के विवेचन के लिए अधिक से अधिक संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर एक नयी शैली चला निकाली जिसे 'मणि प्रवाळ' कहते हैं। 'प्रबन्धम्' पर लिखा गया अधिकांश टीका-साहित्य 'मणि प्रवाळ' शैली में है। 'मणि प्रवाळ' में तमिळ और संस्कृत भाषाओं का समान रूप से प्रयोग होता है। इस 'मणि प्रवाळ' शैली में जब और भी संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा तो उसने मलयाळम भाषा को जन्म दिया। मलयाळम की उत्पत्ति में 'मणि प्रवाळ' का अत्यधिक योग है। परन्तु तमिळ के कवि (११वीं १२वीं सदी) संस्कृत के अधिक मोह में नहीं पड़े। यही कारण है कि आज भी तमिळ अपने निज रूप को लिए है। कहने का तात्पर्य यह है कि आळवारों ने संस्कृत भाषा का प्रयोग सीमित रूप में ही किया है जिससे तमिळ भाषा अपने निज सौन्दर्य को खोये बिना और भी समृद्ध हुई। यह तमिळ भाषा को आळवारों की सबसे बड़ी देन है।

'प्रबन्धम्' में प्रयुक्त भाषा की विशेषता यह है कि पूर्व-साहित्य में प्रयुक्त कठिन साहित्यिक भाषा की अपेक्षा प्रबन्धम् की भाषा में सारल्य है। उसमें लोक-भाषा के रूपों के भी दर्शन होते हैं परन्तु परिष्कृत रूप में। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। आळवारों की भाषा में पाठकों को भावमग्न और रस निमज्जित करने की अपूर्व क्षमता है। उसमें उच्च कोटि की अलंकारिता के साथ संक्षिप्तता भी है। नाद-सौन्दर्य और संगीतात्मकता के पुष्कल उदाहरण भी आळवारों की भाषा में मिलते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि तमिळ भाषा को समृद्ध, सुबोध, सुगम और सौन्दर्यपूर्ण बनाने में आळवारों का विशेष हाथ रहा है।

परवर्ती तमिळ साहित्य पर आळवारों का प्रभाव

जब से श्री नाथमुनि ने (९वीं १०वीं सदी) 'प्रबन्धम्' का संपादन कर उसकी विचारधारा का प्रचार प्रारम्भ किया तबसे 'प्रबन्धम्' का वास्तविक महत्त्व अधिकाधिक प्रकाश में आने लगा। 'प्रबन्धम्' पर अनेक भाष्य लिखे। आळवारों के पश्चात् कुछ समय तक केवल भाष्य ही लिखते रहे। अतः यह काल तमिळ-साहित्य के इतिहास में 'भाष्य-काल' कहलाता है। १२वीं शताब्दी में तमिळ में महाकवि कंबन ने 'रामायण' लिखी। तमिळ के गौरव-ग्रन्थों में 'कंब-रामायण' का एक प्रमुख स्थान है। कंबन ने 'वाल्मीकि-रामायण' से राम-कथा का आधार तो लिया परन्तु 'कंब रामायण' में कवि की मौलिकता, प्रतिभा और विद्वत्ता के दर्शन होते हैं। 'कंब रामायण' जैसे अमर काव्य की रचना करने वाले 'कवि चक्रवर्ती' 'कंबन' पर आळवारों के 'प्रबन्धम्' का प्रभाव पड़ा है। कंबन के ब्रह्म सम्बन्धी विचारों पर नम्माळवार की 'तिरुवायमोळि' का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। कंबन ने अनेक स्थानों पर नम्माळवार के विचारों को वैसे ही रख दिया है। कुलशेखराळवार के राम-कथा प्रबंध के कुछ पदों के भाव को कंबन ने उसी रूप में दुहराया है। कई

---

१ आळवारों की भाषा की विस्तृत चर्चा सप्तम अध्याय में प्रस्तुत की गयी है।

स्थानों में कंबन ने आळ्वारों की भाषा-शैली को अपनाया है। स्वयं कंबन ने नम्माळ्वार के प्रति अपने ऋण का ज्ञापन किया है। 'शठकोपरन्तादि' नामक रचना कंबन द्वारा नम्माळ्वार की स्तुति में की गयी बतायी जाती है। 'शठकोपरन्तादि' में कंबन ने नम्माळ्वार की स्तुति करते हुए लिखा है— क्या विश्व के समस्त काव्य संग्रह नम्माळ्वार के एक शब्द की बराबरी कर सकते हैं ? इत्यादि।"

१३वीं शती के उत्तरार्ध में पुकळेन्दी नामक एक प्रसिद्ध कवि हुए जिनकी रचना 'नळवेण्बा' है। ये परम वैष्णव भक्त थे। 'नळवेण्बा' पर आळ्वारों की विचार धारा और भाषा-शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अपनी रचना के मंगलाचरण में पुकळेन्दी ने नम्माळ्वार की बड़ी स्तुति की है और नम्माळ्वार की 'तिरुवायमोळि' के प्रति अपना भक्ति ज्ञापित किया है। 'तिरुक्कुरळ' नामक प्रसिद्ध तमिळ नीति-ग्रन्थ के टीकाकार परिमेळळकर ने भी तिरुक्कुरळ की विस्तृत टीका में 'प्रबन्धम्' से अनेक स्थानों पर उद्धरण दिये हैं। १४ वीं शती के पूर्वार्ध में विल्लिपुत्तूराळ्वार नामक वैष्णव कवि ने तमिळ में 'महाभारत' की रचना की। यह बहुत ही सरस काव्य है। इस ग्रन्थ में रचयिता ने नम्माळ्वार और तिरुमंगै आळ्वार की बड़ी स्तुति की है। 'प्रबन्धम्' के अनेक स्थलों को इसमें दुहराया गया है। 'प्रबन्धम्' का सैद्धान्तिक और काव्यात्मक प्रभाव इस ग्रन्थ पर पड़ा है। 'तिरुप्पुकळ' नामक (१४ वीं शती का उत्तरार्ध) काव्य के रचयिता अरुणगिरिनाथर ने राम-कथा और कृष्ण-कथा के अनेक रसात्मक प्रसंगों का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ पर 'प्रबन्धम्' का प्रभाव स्पष्ट है। मुरली-माधुर्य के प्रभाव के प्रसंग में इस कवि ने पेरियाळ्वार के तत्सम्बन्धी पद्य के भावों को ही दुहराया है। १६वीं शती के पूर्वार्ध में तिरुक्कुरुकै पेरुमाळ ने 'मारनलंकारम्' के नाम से एक ग्रन्थ लिखा। यह 'मारन' (नम्माळ्वार का दूसरा नाम) को नायक के रूप में मानकर लिखा गया अलंकार शास्त्र है।[1]

पेरियाळ्वार की पिळ्ळै-तमिळ-शैली का अनुकरण कर शैव भक्तों ने तथा मुस्लिम (सुब्रह्मण्य) भक्तों ने अपने आराध्य की लीलाओं का वर्णन किया है। आळ्वारों की काव्य-शैली का प्रभाव अनेक परवर्ती शैव और मुस्लिम भक्तों पर भी पड़ा है। ऊपर उल्लिखित रचनाओं के अतिरिक्त अनेक परवर्ती तमिळ कृतियों पर 'प्रबन्धम्' की विचार-धारा और भाषा-शैली का प्रभाव पड़ा है। (विस्तार भय से अधिक विवरण नहीं देते।)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि धर्म दर्शन साहित्य कला आदि पर 'प्रबन्धम्' ने कितना महान् प्रभाव डाला है। तमिळ में ही नहीं बल्कि अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में शायद ही कोई ऐसी एक रचना हो, जिसने 'प्रबन्धम्' का-सा बहुमुखी प्रभाव डाला हो। 'प्रबन्धम्' समस्त भारतीय साहित्य भंडार का एक अमूल्य रत्न है।

---

१ तमिळ व वैष्णवमुम—एम० राधाकृष्ण पिळ्ळै पृ० १११

(ई) तमिळेतर दक्षिणी भाषाओं पर प्रभाव

१ तेलुगु—तेलुगु में भक्ति-साहित्य की सर्जना विशेष रूप से ११वीं सदी के पश्चात् ही हुई। तेलुगु के भक्ति-साहित्य के प्रारम्भिक रचयिताओं में नन्नय भट्ट, तिक्कन सोमयाजी और एर्रा प्रगड़ के नाम उल्लेखनीय हैं। तिक्कन का काल १३ वीं सदी के आस-पास है। तिक्कन की रचनाओं में 'महाभारत' और 'निर्वचनोत्तर रामायण' मुख्य हैं। एर्रा प्रगड़ १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे। इन्होंने कई रचनाएँ की हैं जिनमें 'रामायणमु' 'लक्ष्मी नृसिंह पुराणमु' और 'हरिवंशमु' आदि मुख्य हैं। तेलुगु के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि ताल्लपाक अन्नमाचार्य हैं, जिनके जीवन-काल का अधिकांश समय १२वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पड़ता है। बचपन से ही इनका झुकाव भक्ति की ओर था। घरबार छोड़कर ये तिरुपति तीर्थ-क्षेत्र की ओर निकल पड़े और १६ वर्ष की आयु से ही श्री वेंकटेश्वर के परम भक्त बन गये।

पीछे कहा जा चुका है कि आळवार भक्तों के अनेक गीत तिरुपति श्रीवेंकटेश्वर जी की स्तुति में हैं। विष्णु के अर्चावतार रूप 'वेंकटेश्वर' की स्तुति प्राय सभी आळवारों ने अपने भक्तिपूर्ण पदों में की है। आळवारों के पश्चात् उनके गीतों के गायन का प्रचलन सभी वैष्णव मन्दिरों में अनिवार्य रूप से किया गया। वेद-पाठ हो या न हो परन्तु 'प्रबन्धम्' का पाठ आवश्यक समझा गया। विश्वास किया जाता है कि श्री वेदान्त देशिकाचार्य के प्रबल अनुरोध से नम्माळ्वार कृत 'तिरुवायमोळि' का पाठ वेंकटेश्वर के मन्दिर में सन् ११६० ई० के आस-पास आरम्भ हुआ।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त घटना के बहुत पहले ही आळवार पदों का प्रचार तेलुगु प्रदेश में हुआ था और तमिळ-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन का प्रवाह उत्तर की ओर प्रवाहित होने लगा था। फलस्वरूप ११ वीं शती के पश्चात् तेलुगु-प्रदेश में एक भक्तिमय वातावरण उत्पन्न हुआ। जब तेलुगु भक्त अन्नमाचार्य तिरुपति वेंकटेश्वर के दर्शन करने गये थे तब वहाँ द्राविड़-प्रबन्ध-पाठ बड़ी श्रद्धा के साथ चल रहा था। भक्त अन्नमाचार्य का हृदय उस अपार तमिळ वाङ्मय की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने संस्कृत के साथ-साथ तमिळ के भक्ति-साहित्य का भी प्रगाढ़ अध्ययन किया।[2] इसमें आश्चर्य किंचित् भी नहीं कि आळवार भक्तों की मधुर वाणी ने अन्नमाचार्य पर अपरिमित प्रभाव डाला हो। भक्ति के भावावेश में अन्नमाचार्य ने सहस्रों पद रच डाले। इनके पदों की संख्या ३२ ००० बतायी जाती है। पर उपलब्ध पद १६ ००० के लगभग हैं। इनमें अनेक पदों के भाव पूरे के पूरे आळवार-पदों के ही हैं। श्री अन्नमाचार्य के सभी पद गीत-शैली में हैं। इसमें अध्यात्म संकीर्तन भी है और शृङ्गार संकीर्तन भी। एक तेलुगु विद्वान् का कथन है कि हजारों पदों की रचना करने के लिए यदि एक ओर हिन्दी के भक्त-प्रवर सूरदास जी को श्री वल्लभाचार्य

---

१ हिस्टरी आफ तिरुपति—डा० कृष्णस्वामी अय्यंगार (भाग २) पृ० ११८०

२ वही (भाग १) पृ० १०८६-८८

का आदेश मिला तो दूसरी ओर (तेलुगु के सूरदास) श्री अन्नमाचार्य के समक्ष आळ्वारों के 'नालायिरम्' (प्रबन्धम्) का अनुदिन प्रबन्ध-पाठ का आदर्श रहा। इसमें सन्देह नहीं कि अन्नमाचार्य जी का भक्तिपूर्ण हृदय आळ्वारों के पदों को गाकर विह्वल हो उठा और तेलुगु वाणी में अभिव्यक्त हुआ। श्री अन्नमाचार्य ने तमिळ-प्रबन्ध-गान से प्रभावित होकर भी अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। संस्कृत के भी प्रकांड पंडित थे और थे संगीत के पारंगत विद्वान्। संगीत पर उनका प्रभाव इतना अधिक था कि अपने भक्तिपूर्ण सहस्रों पदों के अतिरिक्त संगीत-शास्त्र पर एक रीति-ग्रन्थ भी रच डाला। इनकी कृतियों में 'द्विपद रामायणमु' 'शृंगार-मंजरी' 'वेंकटाचल माहात्म्यमु' आदि उल्लेखनीय हैं। अन्नमाचार्य के पदों में वात्सल्य और माधुर्य भाव की भक्ति के दर्शन होते हैं। माधुर्य भक्ति के उनके लिखे अनेक सुन्दर पद मिलते हैं।

अन्नमाचार्य के पदों की दार्शनिक पृष्ठभूमि आळ्वार-विचारधारा से प्रभावित विशिष्टाद्वैतवाद ही है। परन्तु जिस स्वतन्त्रता का परिचय अन्नमाचार्य ने अपनी विचार धारा में दिया है उससे स्पष्ट है कि वे किसी दार्शनिक या साम्प्रदायिक बन्धन में नहीं पड़े। तेलुगु के एक दूसरे प्रमुख कवि बम्मेरे पोतन हैं। पोतन सन् १४८० के आस-पास जीवित थे। इनकी प्रमुख रचनाएँ आंध्र महाभागवत 'वीरभद्रविजयमु' और 'नारायण शतकमु' हैं। 'महाभागवत' की रचना द्वारा महाकवि पोतन ने तेलुगु साहित्य में अमृत की धारा प्रवाहित की है। इनके पद भक्त-हृदय को आत्म-विभोर कर देने वाले हैं।

१६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजा श्रीकृष्ण देवरायलु ने अनेक काव्य-रचनाएँ कर अपनी अपार कवित्व प्रतिभा का भी परिचय दिया जिसके कारण उन्हें 'साहिति समरांगण चक्रवर्ती' भी कहा जाता है। इनकी रचनाओं में सबसे श्रेष्ठ है, 'आमुक्त माल्यदा'। श्रीकृष्ण देवरायलु के समय तक तेलुगु-प्रदेश में आळ्वार भक्तों के जीवन-वृत्त की कहानियाँ बहुत ही प्रचलित थीं और उनसे भक्तों ने प्रेरणा भी प्राप्त की थी। पेरियाळ्वार और उनकी पोष्य पुत्री आण्डाळ के जीवन-वृत्तों ने श्रीकृष्ण देवरायलु को इतना आकर्षित किया कि उन्होंने उसे कथा का आधार बनाकर एक महाकाव्य ही रच डाला। 'आमुक्त माल्यदा' वही महाकाव्य है जिसमें पेरियाळ्वार और आण्डाळ की रोचक जीवन-कथाएँ प्रौढ़ काव्य-शैली में वर्णित हैं। 'आमुक्त-माल्यदा' का अर्थ है—'अपनी पहनी हुई माला अर्पित करने वाली।' इस काव्य में अनेक स्थानों पर पेरियाळ्वार और आण्डाळ के पदों के भाव लिये गये हैं। स्पष्ट है कि कृष्णदेव रायलु ने 'आमुक्त माल्यदा' द्वारा पेरियाळ्वार और आण्डाळ को तेलुगु-प्रदेश में अमर बना दिया।

२ मलयालम—मलयालम में भक्ति-साहित्य का निर्माण विशेष रूप से १३वीं शताब्दी के बाद ही हुआ। मलयालम भाषा की प्रारम्भिक रचनाओं पर तमिळ भाषा का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। तमिळ के अनेक शब्द-प्रयोग छन्द आदि मलयालम की प्रारम्भिक रचनाओं में मिल जाते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि

आळ्वार-युग' के पश्चात् 'आचार्य-युग' में प्रबन्धम् पर अनेक भाष्य लिखे। प्रबन्धम्' पर लिखित भाष्यों की भाषा संस्कृत-मिश्रित तमिळ थी। इसे मणिप्रवाळ कहते हैं। मलयालम भाषा की प्रारम्भिक रचनाओं में कुछ इसी 'मणिप्रवाळ' भाषा में हैं। ज्यों ज्यों मलयालम पर संस्कृत भाषा का प्रभाव अधिक पड़ता गया त्यों त्यों उसका सम्बन्ध तमिळ भाषा से छूटता गया। जहाँ तक मलयालम के भक्ति-साहित्य पर प्रबन्धम् के प्रभाव का प्रश्न है हम निस्संकोच कह सकते हैं कि तमिळ-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा है। मलयालम-प्रदेश का सम्बन्ध तमिळ-प्रदेश से बहुत प्राचीन काल से था। स्मरण रहे कि प्रसिद्ध कुलशेखराळ्वार का जन्म-स्थान वर्तमान मलयालम-प्रदेश के अन्तर्गत ही था। कुलशेखराळ्वार वहीं के शासक थे। अतः पूर्व काल से ही मलयालम-प्रदेश से आळ्वार भक्तों का सम्बन्ध रहा है (क्योंकि यह प्रदेश प्राचीन तमिळ-प्रदेश के अन्तर्गत था)। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि आळ्वार भक्तों में कुछ वर्तमान मलयालम-प्रदेश के विभिन्न स्थानों में जाकर भक्ति-प्रचार करते थे और जनता में भक्ति-भावना को जगाते थे। कुछ आळ्वारों ने केरल के राजाओं से आश्रय भी प्राप्त किया था। इस प्रकार मलयालम-प्रदेश में बहुत पूर्वकाल में ही आळ्वारों के गीतों का प्रचलन रहा और बहुत से गीत वहाँ के लोक-गीतों में घुल मिल गये।

मलयालम के प्रारम्भिक भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत कीर्तन भजन का प्राचुर्य है। भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप तमिळ-प्रदेश में कीर्तन-भजन को प्रोत्साहन मिला। मन्दिरों में गीत-गायन की प्रणाली चली। यही प्रणाली मलयालम-प्रदेश के मन्दिरों में पाठकम् के नाम से चली। इसी ने कीर्तन भजन साहित्य को प्रेरणा दी होगी। मलयालम के लोक-गीतों में पाणपाट्टु' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'पाण' नामक जाति विशेष का मूलतः तमिळ-प्रदेश की थी—के लोगों का पेशा ही गीत गाना था। तिरुप्पाण पाण जाति के ही थे। सम्भव है कि इन 'पाणों' को एक शाखा के लोगों ने मलयालम के पाणपाट्टु-साहित्य की रचना की हो। इन लोक-गीतों में पौराणिक कथाओं का भी उल्लेख होता था।

११ वीं शताब्दी में रचित 'रामचरितम्' नाम से एक काव्य मलयालम भाषा में मिलता है। इस ग्रन्थ पर तमिळ के वैष्णव भक्ति-साहित्य का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। ११ वीं शती में जब कंबन ने तमिळ में राम-कथा लिखी थी। इस कम्ब रामायण से प्रभावित होकर एक मलयालम कवि ने मलयालम भाषा में कंब-रामायण' का एक लघु रूपान्तर प्रस्तुत किया है। १४ वीं शती के पश्चात् ही मलयालम में कृष्ण काव्य का विशेष सर्जन हुआ। मलयालम भाषा के कृष्ण भक्त-कवियों में निरणम्' कवि मुख्य हैं। इनका काल १४ वीं शती के उत्तरार्ध और १५ वीं शती के पूर्वार्द्ध में पड़ता है। ये प्रधान तीन कवि थे। सबसे बड़े माधव पणिक्कर ने गीता का अनुवाद मलयालम भाषा में किया। दूसरे कवि शंकर पणिक्कर ने 'श्रीकृष्ण विजय' और भारत माला' नामक दो काव्य-ग्रन्थ रचे थे। तीसरे कवि राम पणिक्कर थे

जो उपर्युक्त दोनों कवियों के भक्ति समते थे। केरल के प्राचीन कवियों में राम पणिक्कर का प्रमुख स्थान है। राम पणिक्कर ने 'रामायण' 'भारत' 'ब्रह्माण्ड-पुराण' 'शिवरात्रि-माहात्म्यम्' 'भागवत का दशम स्कन्ध' आदि ग्रन्थ रचे थे। इनके काव्यों में अनेक स्थानों पर आळ्वारों से मिलते-जुलते वाले विचार पाये जाते हैं। मलयालम के कृष्ण-काव्य के रचयिताओं में चेरुश्शेरी नंपूतिरि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका आविर्भाव-काल १२ वीं शताब्दी में माना जाता है। इनकी रचना 'कृष्ण-गाथा' ने जनता पर अपरिमित प्रभाव डाला है। कृष्ण-गाथा के अध्ययन से कवि के श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त होने का प्रमाण मिल जाता है। 'कृष्ण-गाथा' में गीत-पद्धति ही अपनायी गयी है। 'कृष्ण-गाथा' के पद संगीत और नृत्य के उपयुक्त हैं।

मलयालम भक्ति-साहित्य में एऴुत्तच्छन सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि हैं जिनका समय १६ वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। मलयालम भाषा और साहित्य भी एऴुत्तच्छन के चिर ऋणी हैं। अपनी ज्ञान-पिपासा को बुझाने के लिए एऴुत्तच्छन ने कई साधुओं का सत्संग किया था और अनेक स्थानों की यात्रा की थी। एऴुत्तच्छन के कई काव्य-ग्रन्थों में 'अध्यात्म रामायण' और 'भारतम्' ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। एक मलयालम विद्वान् के अनुसार एऴुत्तच्छन के दोनों काव्य 'रामायण' और 'भारतम्' केरली साहित्य-नभोमण्डल के सूर्य और चन्द्र हैं।[1] 'भारतम्' कृष्ण भक्ति-काव्य का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। एऴुत्तच्छन की 'रामायण' से पता चलता है कि वे किसी विशिष्टाद्वैताचार्य के शिष्य रह चुके थे।[2] एऴुत्तच्छन तमिळ तेलुगु आदि भाषाएँ भी जानते थे। तमिळ के वैष्णव भक्ति-साहित्य ने अवश्य ही उन्हें प्रभावित किया होगा। कृष्ण-कथा को लेकर काव्य रचने वाले एक अन्य प्रमुख कवि हैं पून्तानम् नंपूतिरि। इनकी कृष्ण भक्ति प्रधान अनेक रचनाएँ हैं जिनमें 'सन्तानगोपालम् पाना' 'श्री कृष्ण कर्णामृतम्' 'ज्ञानप्पाना' 'पार्थसारथी स्तवम्' और 'कृष्ण लीला'—प्रमुख हैं। कवि की रचनाओं से उसके उच्च कोटि के कृष्ण भक्त होने की बात स्पष्ट हो जाती है। गीत-पद्धति में रचित इन ग्रन्थों के पद भक्त-हृदय को आत्म-विभोर कर देने वाले हैं।

४ कन्नड़—कन्नड़ में विशुद्ध भक्ति-साहित्य का सर्जन १२वीं शती के पश्चात् ही हुआ। कन्नड़ का भक्ति-साहित्य दो प्रमुख संप्रदायों के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। एक ओर 'शैव संप्रदाय' है और दूसरा 'माध्व-सम्प्रदाय'। विद्वानों के अनुसार वीरशैवमत अनेक बातों में तमिळनाडु के शैव-सिद्धान्त से प्रभावित हुआ है।[3] यह एक नयी सामाजिक व्यवस्था को लेकर प्रवर्तित हुआ आन्दोलन है।

---

१ हिन्दी और मलयालम के कृष्ण-भक्ति काव्य का तुलनात्मक अध्ययन—डा० के भास्करन नायर पृ० १४।

२ एऴुत्तच्छन—पी० के० नारायण पिळ्ळा पृ० २४।

3 *A Hand-Book of Virasaivism*—Dr A. C Nandinath, p. 94

माध्वमत का आविर्भाव शंकराचार्य के मायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। श्री मध्वाचार्य के आविर्भाव के पहले ही श्री रामानुजाचार्य ने कर्नाटक में विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार किया था। अपने को विविध कष्ट पहुँचाने वाले शैव मतावलम्बी चोळ राजा के अत्याचार से बचने के लिए श्री रामानुज तमिळनाडु को छोड़कर कर्नाटक के होयसळ राजाओं की शरण में गये और उन्हें उन राजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ था। (सन् १०९८) श्री रामानुज ने मैसूर के समीप 'मेलकोटे' नामक स्थान में रहकर कर्नाटक की जनता के बीच अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने जैन राजा बिट्टिदेव को विष्णुवर्धन के नाम से अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। इस घटना के पश्चात् पूरे कर्नाटक प्रदेश में श्री वैष्णव मत का अधिक प्रचार हुआ। यों कह सकते हैं चूँकि रामानुज आळवारों की विचार-धारा से स्वयं प्रभावित थे अतः रामानुज के माध्यम से आळवारों के भक्तिमार्ग का ही कर्नाटक में प्रचार हुआ। विशिष्टाद्वैत में जो द्वैत और भक्ति-तत्व प्राप्त हुए उनका पूर्ण विकास मध्वाचार्य के द्वैत में हुआ। श्री मध्वाचार्य के इसी सम्प्रदाय के भक्तों की एक मंडली आगे चलकर संगठित हुई जिसका नाम कर्नाटक में 'दासकूट' पड़ा और वे भक्त हरिदास कहलाये।

मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रबन्धम् के जिन सामान्य तत्वों की चर्चा हमने पहले की है उन सभी तत्वों को हम हरिदासों के भक्ति-साहित्य में पाते हैं। भक्ति का सर्वोपरि महत्व नाम महिमा स्तुति शरणागति गुरु-महिमा सत्संग और वैराग्य, ये तत्व सामान्य रूप से हरिदासों के भक्ति-साहित्य के तत्व हैं। हरिदासों की एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने आळवार भक्तों की तरह अपनी भक्ति-साधना में संकीर्तन-पद्धति का कर्नाटक में प्रचार किया। मन्दिरों में जाकर ये हरिदास भक्त गीत गाया करते थे। 'हरिदासों की परम्परा में श्रीपादराय १५ वीं शती के पूर्वार्द्ध' में हुए। उन्होंने पहली बार माध्व मठों में संस्कृत के माध्यम से चलने वाली पुरानी परिपाटी को तोड़कर कन्नड़ में लिखे कीर्तन भजन गाने का प्रबन्ध किया। कन्नड़ में उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—भ्रमरगीत वेणुगीत और गोपी गीत। बैंगलोर से प्रकाशित 'हरिकीर्तन तरंगिणी' के छठे भाग में श्रीपादराय के लगभग ६० पद दिये मिलते हैं। भक्ति और संगीत की दृष्टि से इन पदों का बड़ा महत्व है। श्रीपादराय के समय के एक अन्य हरिदास भक्त हैं—श्री व्यासराय जिन्होंने कन्नड़ में बहुत अच्छे भक्ति-गीत रचे हैं। कन्नड़ के हरिदासों में दो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। वे हैं—पुरन्दरदास और कनकदास। पुरन्दरदास भक्त और गायक थे। इनका समय १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १६ वीं का पूर्वार्द्ध है। हरिदासों में यह प्रसिद्ध है कि पुरन्दरदास ने 'पुरन्दरदास विट्ठल' के नाम से ४ लाख ७५ हजार पद बनाए थे। परन्तु अब तक उनके १००० के लगभग पद प्राप्त हुए हैं। पुरन्दरदास ने स्वयं महान् संगीताचार्य होने के कारण हरिदासों में संकीर्तन पद्धति को प्रोत्साहन दिया। पुरन्दरदास के

भजनों की लोक-प्रियता के कारण आगे चलकर दाक्षिणात्य संगीत का नाम 'कर्नाटक संगीत' पड़ा।

कर्नाटक के हरिदासों में पुरन्दरदास के बाद लोकप्रियता की दृष्टि से कनकदास का स्थान है। कुछ विद्वानों का मत है कि कनकदास श्री वैष्णवमत (रामानुज सम्प्रदाय) को मानने वाले भक्त थे। इसके प्रमाण-रूप में वे कनकदास कृत 'मोहन तरंगिणी' से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। श्री कारमरकर का मत है कि सम्भवतः कनकदास अपने जीवन के आरम्भिक समय में रामानुजाचार्य के श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रति आदर का भाव रखते थे। लेकिन सन् १५२१ में व्यासराय से दीक्षा लेने के उपरान्त वे माध्वमत के पक्के अनुयायी हो गये।[1] कुछ भी हो कनकदास पर श्री-वैष्णव मत का आंशिक प्रभाव अवश्य पड़ा है। कनकदास उच्चकोटि के भक्त विचारक और कवि थे। उन्होंने हजारों भजनों के अतिरिक्त ५ काव्य-कृतियाँ भी रची हैं—'नरसिंह स्तोत्र' मोहन-तरंगिणी 'रामधान्य-मन्त्र' 'हरि भक्ति-सार' और 'नल चरित्र'। 'हरि भक्ति-सार' में भक्ति का सर्वोपरि महत्त्व नाम-महिमा आदि वर्णित है। कनकदास एक सुधारक भी थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व का परिचय उनकी कृतियों से मिलता है। कह सकते हैं कि पुरन्दरदास और कनकदास कन्नड-साहित्य में दो अमर नाम हैं।

परवर्ती भक्ति-सम्प्रदायों पर प्रभाव

भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास की सबसे विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण घटना भक्ति का जन-आन्दोलन है। भक्ति-आन्दोलन का उदय तो तमिळ-प्रदेश में हुआ था। परन्तु उसको देशव्यापी बनाने का श्रेय आळ्वारों के पश्चात् आने वाले आचार्यों को है। दक्षिण के इन आचार्यों ने शंकर के मायावाद का खण्डन करने के निमित्त अपने दार्शनिक मतों की स्थापना की और ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा सरलतर भक्ति-मार्ग की प्रतिष्ठा जनता में की। भक्ति-तत्वों के विवेचन की प्रेरणा इन लोगों को पूर्व अवस्था-चार्य आळ्वारों के 'प्रबन्धम्' से मिली। आळ्वार तथा आचार्य—दोनों ही विष्णु भक्ति के जीवंत प्रतिनिधि थे परन्तु दोनों में एक पार्थक्य है। आळ्वारों की भक्ति उस पावन सलिला सरिता की नैसर्गिक धारा के समान है जो स्वयं उच्छलित होकर प्रखर गति से बहती जाती है और जो कुछ सामने आता है उसे तुरन्त बहाकर अलग फेंक देती है। आचार्यों की भक्ति उस तरंगिणी के समान है जो अपनी सत्ता अबाध रखने के लिए रुकावट डालने वाले विरोधी पदार्थों से लड़ती-झगड़ती आगे बढ़ती है।[2]

आळ्वारों की विचार-धारा का पर्याप्त प्रभाव उनके परवर्ती काल में जन्म

---

1 *Mystic Teachings of the Haridasas of Karnataka*—Dr A. P Karmarkar p 69

२ भागवत-सम्प्रदाय—श्री बलदेव उपाध्याय पृ० १८६।

होने वाले दार्शनिक मतों पर पड़ा है। सबसे अधिक प्रभाव श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत पर देखा जा सकता है। विशिष्टाद्वैत-दर्शन का सूत्रपात तो श्री नाथमुनि के समय में ही हो गया था। प्रबन्धम् के पदों का प्रचार करने वाले श्री नाथमुनि ने आळ्वारों की विचार-धारा का कुछ शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया था। उस विचार-धारा को दार्शनिक रूप देकर सुदृढ़ दार्शनिक धरातल पर लाने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य को है। स्वयं श्री रामानुजाचार्य ने 'प्रबन्धम्' के महत्व को जानकर उसका प्रचार अपने शिष्यों के द्वारा कराया था। अपने सिद्धान्तों के विवेचन के लिए उन्होंने 'प्रबन्धम्' से बड़ी सहायता ली है। सम्प्रदाय में यह प्रसिद्ध है कि वेद के तात्पर्य को समझने में कहीं जो कठिनाई होती तो श्री रामानुज 'प्रबन्धम्' से उसके तात्पर्य को समझकर सन्तुष्ट हो जाते थे। आण्डाळ कृत 'तिरुप्पावै' के प्रति श्री रामानुज का इतना प्रेम था कि श्री रामानुज को तमिळ प्रदेश में तिरुप्पावै जीयर (तिरुप्पावै-प्रेमी) कहा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि श्री रामानुज ने भक्ति-तत्वों के विवेचन में 'प्रबन्धम्' से अवश्य आधार लिया है। श्री रामानुज पर पड़े 'प्रबन्धम्' के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए श्री अण्णंगराचार्य स्वामी जी ने 'द्राविडोपनिषद् प्रभाव सर्वस्वम्' नाम से एक ग्रन्थ तमिळ में लिखा है। इस ग्रन्थ में उन्होंने अनेक प्रमाणों द्वारा यह स्थापित किया है कि श्री रामानुज पर 'प्रबन्धम्' का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यहाँ विस्तार में न जाकर, संक्षेप में आळ्वारों की विचार धारा और विशिष्टाद्वैत-दर्शन में दीख पड़ने वाले साम्य की ओर संकेत करना पर्याप्त है।

आळ्वार भक्त मानते हैं कि ईश्वर समस्त जगत् का निमित्त कारण होते हुए भी उपादान कारण है। जगत् की सृष्टि भगवान् की लीला से उत्पन्न है। जीव और जगत् भी नित्य तथा स्वतः स्वतन्त्र पदार्थ हैं तथापि ईश्वर के इन दोनों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान होने के कारण ये उनके अधीन रहते हैं। अतः जीव और जगत्—ब्रह्म के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। ब्रह्म और जीव के बीच शेषी-शेष अंगी-अंग सम्बन्ध है। आळ्वारों ने माना है कि भगवान् भक्त पर अनुग्रह करने के लिए पाँच रूपों में प्रकट होता है—पर रूप, व्यूह रूप, विभव रूप, अन्तर्यामी रूप और अर्चावतार रूप। आळ्वारों के ये दार्शनिक विचार ही पूर्णरूपेण विशिष्टाद्वैत दर्शन में दीख पड़ते हैं।[1] शंकर के 'जगन्मिथ्या' के विरुद्ध आळ्वारों की धारणा पड़ती है जिसे श्री रामानुज ने स्वीकार कर शंकर के मायावाद का खण्डन किया।

श्री रामानुज ने अपने सम्प्रदाय की एक गद्दी मैसूर में स्थापित कर अपने विशिष्टाद्वैतवादी विचारों का प्रचार किया। इस प्रकार आळ्वारों की भक्ति-पद्धति से पुष्ट रामानुज-सम्प्रदाय के विचारों का कर्नाटक में प्रचार हुआ। किन्तु रामानुज की मृत्यु के सौ वर्षों के भीतर एक अन्य मत कर्नाटक में उत्पन्न हुआ जिसके प्रतिष्ठापक थे श्री मध्वाचार्य। माध्वमत व्यवहार-पक्ष में पूर्ण रूप से भक्तिवादी है। उसका

---

१ इस विषय पर प्रथम अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है।

अध्यात्म-पक्ष भेदवादी अथवा द्वैतवादी है। श्री रामानुज और श्री मध्व के भक्ति-सम्बन्धी विचारों में बहुत कुछ साम्य है। परन्तु जीव और ईश्वर के सम्बन्ध के विषय में मतैक्य नहीं है। माध्व मत जीव जगत्, ईश्वर आदि में पारस्परिक भेद मानता है। श्री मध्व ने भले ही एक भिन्न दार्शनिक मत खड़ा किया हो किन्तु उस नये मत की प्रेरणा भी उन्होंने श्री रामानुज की विचार धारा से ही प्राप्त की है। मध्व भी (आळवार और) रामानुज की तरह शंकर के विचार के विरुद्ध जगत् को सत्य मानते हैं। श्री मध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्तों के निरूपण के लिए ग्रन्थ प्रणयन करने के पूर्व सारे दक्षिण भारत की यात्रा की थी। तमिळ-प्रदेश में यात्रा करते समय उन्होंने आळवार-ग्रन्थों का परिचय उनके ऊपर लिखे भाष्य द्वारा प्राप्त किया होगा और आंशिक रूप में प्रबन्धम् की विचार-धारा को अपनाया होगा। यह मानना उचित ही है कि श्री मध्व पर आळवारों के विचारों का प्रभाव श्री रामानुज के विशिष्टाद्वैत के माध्यम से पड़ा।

दक्षिण के तीसरे प्रमुख आचार्य निम्बार्क हैं। आचार्य निम्बार्क ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध में भेदाभेद या द्वैताद्वैत के प्रतिपादक हैं। उनकी मान्य सम्मति में जीव अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है अभिन्न भी। यह निम्बार्क मत का विशिष्ट तत्त्व है। निम्बार्क मत के भक्ति-सम्बन्धी विचारों में तथा उनके पूर्व के आचार्यों के विचारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। निम्बार्क मत में भगवान् की प्राप्ति का साधन भक्ति है। यही आळवारों का भी विचार है। निम्बार्क मत में यह भक्ति पाँच भावों से पूर्ण मानी गयी है—शान्त दास्य, सख्य वात्सल्य और उज्ज्वल। उज्ज्वल रस के भक्त—गोपी और राधा हैं। आळवारों ने पहले से ही इन पाँच प्रकारों की भक्ति का निरूपण किया है। उज्ज्वल भाव की भक्ति—आळवारों के माधुर्य भाव की भक्ति ही है। आळवारों का प्रपत्ति-तत्त्व भी निम्बार्क मत में स्वीकृत है। चूँकि निम्बार्क दक्षिण के ही आचार्य थे तथा उनके समय तक दक्षिण भारत में आळवारों के विचारों का प्रचार हो चुका था अतः यह मानना संगत ही है कि श्री निम्बार्क ने भक्ति-विवेचन में आंशिक रूप में ही सही आळवारों की विचारधारा का आधार लिया था।

दक्षिण भारत में उत्पन्न एक अन्य सम्प्रदाय 'विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय' है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक श्री विष्णुस्वामी तमिळ प्रदेश के कांचीपुरम् नगर के वासी माने जाते हैं। इनका काल निश्चित रूप से आळवारों के पश्चात् ही पड़ता है। विष्णुस्वामी की विचार-धारा और आळवारों की विचार धारा में बहुत कुछ साम्य है। विष्णुस्वामी का आविर्भाव उस समय हुआ जबकि तमिळ-प्रदेश में 'प्रबन्धम्' का महत्त्व प्रकाश में आ रहा था। अतएव विष्णुस्वामी की विचार-धारा पर 'प्रबन्धम् के आंशिक प्रभाव के पड़ने की सम्भावना अवश्य है।

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों में जो भी तमिळ-प्रदेश में आये और तमिळ-प्रदेश के विभिन्न भक्ति-धामों की यात्रा कर गये वे

आलवारों के विषय में अवश्य विवरण प्राप्त कर सके। उन आचार्यों ने आळवारों की पूर्व प्रचलित भक्ति-पद्धति को न्यूनाधिक रूप में मान्यता दी है। यही कारण है कि उत्तर के वल्लभ-सम्प्रदाय और चैतन्य-सम्प्रदाय के भक्ति-सम्बन्धी विचारों और आळवारों के विचारों में बहुत कुछ साम्य दीख पड़ता है।

१६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य का मूल्यांकन

ईसा की १६ वीं शती हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशिष्ट महत्व रखती है। जितने विधान साहित्य का निर्माण इस एक शताब्दी में हिन्दी में हो सका उतना उसके पहले या बाद में किसी एक शताब्दी में सम्भव नहीं हो सका। परिमाण में ही क्यों विषय की गम्भीरता की दृष्टि से भी १६वीं शती का हिन्दी-साहित्य सर्वाधिक समृद्ध है। इस शताब्दी में ही हिन्दी के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि विद्यमान थे। राम भक्ति-काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास सूफी प्रेम-काव्य के मूर्धन्य कवि मलिक मुहम्मद जायसी और कृष्ण-भक्ति-काव्य के 'सूर' अक्षर-अमर सूरदास इसी शताब्दी को अलंकृत करने वाले कवि श्रेष्ठ हैं। हिन्दी के समस्त भक्ति-साहित्य का महत्व-केन्द्र १६ वीं शती का साहित्य ही है। आलोच्य हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य का मूल्यांकन कई दृष्टिकोणों से निम्नांकित स्तम्भों में प्रस्तुत किया जाता है:—

हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य-परम्परा में १६ वीं शती के कृष्ण भक्ति-काव्य का स्थान

कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दी में कृष्ण भक्ति-काव्य की रचना विशेष रूप से १६वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुई और उसके पूर्व की कृष्ण-भक्ति-प्रधान कोई विशिष्ट रचना हिन्दी में उपलब्ध नहीं है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है— 'सोलहवीं शताब्दी से पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था, लेकिन वह सब का सब या तो संस्कृत में है, जैसे जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में जैसे मैथिल कोकिल विद्यापति कृत 'पदावली'। ब्रजभाषा में लिखी हुई १६वीं शताब्दी से पहले की प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं।'[1] परन्तु आधुनिक शोध के आधार पर यह सिद्ध हुआ है कि ब्रज-भाषा में १६वीं शती के पूर्व भी कृष्ण-भक्ति प्रधान कुछ अच्छी रचनाएँ हुई थीं। डा० शिवप्रसाद सिंह ने अपने शोध-ग्रन्थ "सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य" में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हिन्दी में कृष्ण-काव्य की परम्परा काफी पुरानी है, कम से कम उसका आरम्भ १२ वीं शताब्दी तक तो मानना ही पड़ता है।[2] ब्रजभाषा की जननी 'शौरसेनी अपभ्रंश' में श्रीकृष्ण सम्बन्धी काव्य

---

1 नाम माहात्म्य—श्री ब्रजांक—अगस्त १९४० 'ब्रजभाषा' नामक लेख से उद्धृत।

2 सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० २९०

लिखे गये। इनमें सर्वाधिक महत्व की रचना पुष्पदन्त कवि का 'महापुराण' है जिसमें कृष्ण-जीवन का विशद चित्रण किया गया है। इसमें कृष्ण-भक्ति का स्पष्ट रूप तो दीख नहीं पड़ता बल्कि कृष्ण जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ वर्णित हुई हैं। १२ वीं शताब्दी में हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश के दोहों में या ऐसे हैं जिनमें कृष्ण-सम्बन्धी चर्चा है।

कृष्ण भक्ति-काव्य का वास्तविक रूप पिंगल ब्रजभाषा में १४ वीं शती के आस-पास निर्मित होने लगा। 'प्राकृत पैंगलम्' का रचना काल १४ वीं शती के पहले का माना जाता है। वह एक संकलन-ग्रन्थ है, जिसमें १४ वीं सदी तक के पिंगल ब्रजभाषा के काव्यों से छन्दों के उदाहरण दिये गये हैं। इसमें कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी कई पद संकलित हैं। कृष्ण के अतिरिक्त शंकर विष्णु आदि की स्तुति भी कई पदों में की गई है। इन पदों का विश्लेषण करने पर भक्ति के कई तत्वों का संधान मिलता है। प्रेम भक्ति का सुन्दर और मार्मिक चित्रण हुआ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त १६ वीं शती के पूर्व की ब्रजभाषा में रचित कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमें कृष्ण भक्ति का कोई न कोई रूप मिल जाता है।

प्रायः विद्वान् १६ वीं शती के पूर्व के दो विशिष्ट कृष्ण भक्ति-प्रधान ग्रन्थों की चर्चा करते हैं, जिन्होंने १६ वीं शती तथा बाद के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों को प्रभावित किया है, वे हैं—जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' और मैथिल कोकिल विद्यापति की 'पदावली'। जयदेव राजा लक्ष्मण सेन (१२ वीं शती) के दरबार के कवि थे। जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' में कोमल-कान्त-पदावली में राधा-कृष्ण-प्रेम का वर्णन प्रस्तुत किया है। जयदेव के पद शृङ्गारयुक्त होने पर भी उनके मधुर संगीत ने अनेक परवर्ती कवियों को प्रभावित किया है। जयदेव की विपुल अनुरक्ति-मूलक और शृङ्गारपरक भाव-धारा के उत्तराधिकारी मैथिल कोकिल विद्यापति हैं। विद्यापति सन् १४०० ई० के आस-पास जीवित थे। प्रधानतः इन्होंने अपनी रचनाएं संस्कृत में लिखीं। इनके लिखे पद संस्कृत के अतिरिक्त अवहट्ठ और मैथिली में भी मिलते हैं। विद्यापति ने अपनी कविता में राधाकृष्ण-प्रेम का जो वर्णन प्रस्तुत किया है, उसमें शृङ्गार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है। विद्यापति के भक्त-हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है— 'विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्य देव के प्रति भक्त का जो विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है।'[1] विद्यापति के कुछ ऐसे भी पद मिलते हैं जिनमें विशुद्ध भक्ति के दर्शन होते हैं। किन्तु ऐसे पद बहुत कम हैं।

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा रामकुमार वर्मा पृ० ५०८ (चतुर्थ संस्करण)

हिन्दी में भक्ति प्रधान कृष्ण-काव्य का प्रणयन विशेष रूप से १६वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ। दक्षिण से आने वाले भक्ति आन्दोलन के प्रवाह ने १४वीं १५वीं शताब्दियों में हिन्दी प्रदेश को आप्लावित कर दिया और १५वीं शती के उत्तरार्द्ध में समस्त हिन्दी-प्रदेश में भक्तिमय वातावरण उत्पन्न कर दिया। फलस्वरूप अनेक भक्ति-संप्रदायों का जन्म हुआ। वृन्दावन को केन्द्र बनाकर कई कृष्ण भक्ति प्रधान संप्रदाय पनपे। इन संप्रदायों से प्रभावित होकर भक्त-कविगण साहित्य सर्जन करने लगे। भक्ति-भावना से प्रेरित होकर काव्य के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले इन विभिन्न संप्रदायों के कवियों ने १६ वीं शती में उच्च कोटि के भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस शताब्दी में भक्ति का स्वर सबसे ऊँचा था। वल्लभ संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय निम्बार्क संप्रदाय राधावल्लभीय संप्रदाय हरिदासी संप्रदाय के सभी श्रेष्ठ कवि इसी शताब्दी में हुए। इन कवियों ने अपने-अपने संप्रदाय के अन्तर्गत रहकर ही कृष्ण भक्ति-काव्य का सर्जन किया। फिर भी उनका सारा काव्य भक्ति-भावना से ओतप्रोत है। भक्ति-भावना और काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से १६ वीं शती का ब्रजभाषा-कृष्ण-काव्य अधिक समृद्ध है—(इस काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष का विस्तृत विवेचन पिछले अध्यायों में किया जा चुका)।

१६ वीं शती के पश्चात् भी हिन्दी में अनेक कृष्ण भक्त कवि हुए हैं। १७ वीं शती के उत्तरार्द्ध में आकर कवियों का झुकाव शृङ्गार की ओर अधिक रहा। १६ वीं शती में भक्ति के क्षेत्र में जो भावावेश था वह १७ वीं शती के मध्य या बाद के काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—"विक्रम की १७ वीं शताब्दी के मध्यम धार्मिक काल की पवित्रता नष्ट होने लगी थी। उसमें शृङ्गार के अत्यधिक प्राधान्य ने वासना के बीज बो दिये थे। राधा और कृष्ण की विनय अब कवित्त और सवैयों में प्रकट होकर नायिका और नायक के भेदों की कुतूहल-वर्धक पहेलियाँ सुलझाने लगी थी।"[1] तात्पर्य यह है कि १६ वीं शती के बाद के कृष्ण-काव्य में भक्ति-भावना का प्राधान्य नष्ट हो गया। इस प्रकार हिन्दी में कृष्ण भक्ति-काव्य की परम्परा पर दृष्टि डालते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि १६ वीं शती का ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य ही हिन्दी का सर्वाधिक समृद्ध कृष्ण भक्ति-काव्य है।

भक्ति-आन्दोलन और १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्त-कवि

पीछे लिखा जा चुका है कि दक्षिण से आने वाले भक्ति-आन्दोलन ने ईसा की १४ वीं १५ वीं शताब्दी में हिन्दी-प्रदेश में आकर एक व्यापक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। समस्त हिन्दी-प्रदेश में १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों में भक्ति-

---

१　हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा पृ० ५१६ (चतुर्थ संस्करण)

आन्दोलन के व्यापक प्रभाव के दर्शन किये। भक्ति इस युग की सबसे ऊँची आवाज थी। भक्त-कवियों ने जनता की भाषा में उच्च कोटि के भक्ति-भावों को अभिव्यक्त कर एक भक्तिमय वातावरण उपस्थित कर दिया। इस युग के भक्ति-आन्दोलन के व्यापक रूप के विषय में आश्चर्य चकित होकर डा० ग्रियर्सन कहते हैं— कोई भी व्यक्ति जिसे कि १५ वीं शताब्दी तथा बाद की शताब्दियों के साहित्य का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ है उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो प्राचीन एवं नूतन धार्मिक भावनाओं में दृष्टिगोचर होता है। हम अपने को इस प्रकार के धार्मिक आन्दोलनों के सामने पाते हैं जो उन समस्त आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं, अपितु भावावेश का विषय हो गया। यहीं से हम साधना एवं प्रेमोल्लास के प्रदेश में प्रवेश करते हैं।" भक्ति-आन्दोलन को व्यापक और शक्तिशाली जन आन्दोलन के रूप में परिणत करने में १६वीं शती के हिन्दी भक्ति-साहित्य का बड़ा हाथ रहा है। कितने ही भक्त इन भक्त कवियों के पदों को गा-गाकर आत्म विभोर हो जाते थे। समस्त समाज ने इस युग के भक्ति-साहित्य-सागर की सरस तरंगों में मज्जन और अवगाहन कर चिर शांति प्राप्त की। भक्ति-आन्दोलन को आलोच्य हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य की देन बड़ी महत्ता की है।

१६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य का व्यापक प्रभाव

(अ) धार्मिक और सामाजिक जीवन

आलोच्यकालीन कृष्ण भक्ति-काव्य में तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक जीवन की सुन्दर झाँकी मिलती है। हिन्दी प्रदेश के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री हमें आलोच्य हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में मिल जाती है। आलोच्य कृष्ण काव्य में तत्कालीन समाज में प्रचलित संस्कार पूजा व्रत उत्सव मनोरंजन विश्वास आदि के न्यूनाधिक विवरण मिलते हैं। हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों ने अपने काव्य में अनेक उत्सव और पर्वों का विस्तृत वर्णन किया है। इन उत्सवों में दधिकांदा उत्सव, दीपावली अन्नकूटोत्सव गोवर्धन पूजा फाग (होली) आदि का विस्तृत परिचय मिलता है। इन उत्सवों के अवसर पर तत्कालीन लोक में विविध प्रकार के गीत गाये जाते थे। परवर्ती काल में इन अवसरों पर आलोच्य कवियों के तत्सम्बन्धी गाये जाने लगे।

उत्सवों के अतिरिक्त कृष्ण भक्त कवियों ने विविध संस्कारों का भी चित्रण किया है। कृष्ण-काव्य में वर्णित संस्कारों में जन्म-संस्कार, नामकरण संस्कार, यज्ञोपवीत संस्कार, विवाह संस्कार अंत्येष्टि संस्कार आदि का हमें विस्तृत विवरण मिलता है। आलोच्य कृष्ण काव्य में विशेषकर अष्टछाप-काव्य में ब्रज संस्कृति का सुन्दर चित्रण हुआ है। विविध शृंगार—रास-शृंगार, पुष्प शृंगार, बाल-शृंगार,

साधुओं का शृंगार केश-कलाप विविध आभूषण आदि तक का सूक्ष्म वर्णन मिलता है। ब्रजवासियों के विविध विश्वास और मान्यताओं का भी परिचय मिलता है। ब्रज-वासियों में पुनर्जन्म जादू-टोना शकुन अपशकुन आदि अनेक बातों में विश्वास था। वे अपने दैनिक जीवन में इन बातों का ध्यान रखते थे। तत्कालीन समाज में नारी का क्या स्थान था, इसका भी पता चल जाता है।

विवाह, जन्म रास पर्व त्यौहार उत्सव आदि पर अथवा अन्य मंगल के अवसरों पर प्रसन्नता प्रकट करने के लिए जिन वाद्य-यन्त्रों का प्रचलन था उनका भी परिचय मिलता है। ब्रज में मनोरंजन के लिए जल-क्रीड़ा रास खेल हिंडोले आखेट चौपड़ चौगान आदि का प्रयोग होता था। समारम्भ के विविध साधनों का विवरण मिलता है। ब्रज-समाज में ब्राह्मण ऋषि आदि का क्या स्थान था इसका भी पता चलता है। आतिथ्य सत्कार शिष्टाचार और अभिवादन के ढंग का भी परिचय मिलता है। तात्पर्य यह है कि आलोच्यकालीन कृष्ण-काव्य में सामाजिक और धार्मिक जीवन का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। कृष्ण भक्त कवियों ने अपने काव्य में तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का परिचय दिया है। ब्रज-संस्कृति के अध्ययन में आलोच्य कृष्ण भक्ति-काव्य बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होता है।

(आ) विविध कलाओं पर प्रभाव

विविध कलाओं की भी वृद्धि में आलोच्य कालीन कृष्ण-काव्य का योगदान श्लाघनीय है। शिल्प-कला चित्र-कला और संगीत-नृत्य-कला पर प्रत्यक्षरूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण भक्ति-काव्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। बहुत प्राचीन काल से ही इस देश में मन्दिरों का निर्माण होता आ रहा है। विदेशी शासकों के शासन-काल में धार्मिक स्वातन्त्र्य के न होने से कारण मन्दिर-निर्माण में बाधा पड़ी। १६वीं सदी में अकबर के शासन-काल में उसकी धार्मिक उदारता के कारण अनेक पुराने मन्दिरों की मरम्मत और नये मन्दिरों के निर्माण को अवसर मिला। उस समय के चार प्रमुख मन्दिर आज भी मथुरा में हैं। भक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों के प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक मन्दिर निर्मित हुए। मन्दिरों में समारोहपूर्वक पूजन भजन गायन, वन्दनादि की व्यवस्था हुई। इन अवसरों पर कृष्ण भक्त-कवियों के पद गाये जाते थे। मन्दिरों में स्थित भगवद्विग्रहों की सजावट शृंगार बाह्य रूप आदि के निर्णय में कृष्ण भक्ति-काव्य का बड़ा हाथ था। कृष्ण भक्त-कवियों ने अपने काव्यों में अपने आराध्य के जिन जिन रूपों का वर्णन किया है उनके अनुरूप मूर्तियाँ बनती थी और उनका शृंगार होता था।

आलोच्य कृष्ण भक्ति-काव्य ने चित्र-कला की अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कृष्ण भक्त-कवियों की चित्र-योजना हिन्दी-काव्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखती है। कृष्ण की रूप प्रीति तथा उनकी लीलाओं के चित्रण के लिए इन कवियों ने अपनी कविता का चित्र-अंकन चित्रकला के साथ किया और तत्कालीन

चित्रकला को अनन्त सौन्दर्य की निधि राधा-कृष्ण जैसा आलम्बन प्रदान किया। इन
कवियों की रचनाओं की आधार-भूमि पर पल्लवित और विकसित मध्य-कालीन
चित्रकला की राजपूत शैली में राधा और कृष्ण की लीलाएँ उतनी ही सजीव और
प्राणवन्त हैं जितनी कि कृष्ण भक्त-कवियों द्वारा वर्णित लीलाएँ। दोनों में एक
आश्चर्यजनक एकरूपता है, जिससे इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि ये कवि
चित्रकला में भी सिद्धहस्त थे। चित्रकला में अपनी इसी प्रवीणता के कारण उन्होंने
अनेक भावना-चित्रों का निर्माण किया है जिनमें रूप भेद रूप की प्रतीति चित्र के
विभिन्न तत्वों में संतुलन और सामंजस्य भाव-योजना लावण्य-योजना वर्णिका-भंग
इत्यादि का सफल निर्वाह किया गया है। उनको अनुभूति के सत्य इन चित्रों में अमर
हो गये हैं।[1]

जिस तरह कृष्ण भक्त-कवियों की चित्र-योजना ने चित्रकला को आधार-भूमि
प्रदान की उसी तरह संगीत के उस उत्थान-युग में उनका योग बहुत महत्वपूर्ण रहा।
इन कवियों ने शास्त्रीय संगीत को एक नई दिशा में मोड़ दिया। साथ ही साथ
इन्होंने लोक-संगीत के विभिन्न उपकरणों का परिष्कार किया। आलोच्य कवियों
रचनाओं में उस समय में प्रचलित प्रमुख संगीत-शैलियों का प्रयोग हुआ है। ध्रुप
हेली और धमार शैली—वालों के उपयुक्त पदों का निर्माण इन्होंने किया है। इन
शैलियों के अलावा भजन-कीर्तन और लोक-गीत शैलियों का भी समावेश आलं.
कवियों की रचनाओं में हुआ है। इसके द्वारा उनकी रचनाएँ सर्वसाधारण में अत्यन्त
लोकप्रिय हो गयीं। संगीत-शैलियों के प्रयोग के अतिरिक्त इन कवियों ने अपने पदों में
विविध राग-रागिनियों का प्रयोग किया है और शास्त्रीय संगीत की श्रीवृद्धि की है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य में विभिन्न ललित कलाओं का विन्यास इतने संश्लिष्ट रूप
में हुआ है कि पृथक-पृथक विश्लेषण करना कठिन है। चित्रकला संगीत-कला नृत्य
कला आदि कलाओं में किस कला को अधिक प्राधान्य दिया गया है, यह निर्धारित
करना कठिन है। आलोच्य कवियों की चित्र-कल्पना की समानता का बहुत कुछ श्रेय
उनके भारतीय नृत्य की परम्परागत और सामयिक शैलियों के पूर्ण ज्ञान को है। नृत्य
की मुद्राओं तथा भावों के कलापूर्ण प्रदर्शन के लिए ही उन्होंने वाचिक अभिनय (शब्द
का प्रयोग) किया है। उनके द्वारा नियोजित नृत्यों के भाव-विन्यास और कविता के
शब्द-विन्यास में पूर्ण सामंजस्य है। नृत्य की मुद्रा तथा कविता के भाव एक-दूसरे के
प्रेरक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इनके नृत्यों में लास्य जैसा प्रधान है। ताण्डव की उग्रता
के लिए प्रतिपाद्य में कोई स्थान नहीं था। रास-नृत्य की शृङ्गारिक मुद्राओं और भावों
की अभिव्यक्ति के लिए इन कवियों ने प्राचीन भारतीय नृत्य-शैलियों का ग्रहण किया।

1 ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प—डा० सावित्री सिन्हा पृ० ८०९

आलोच्य कवियों के लीला-गान के पदों ने चित्रकला और वास्तु की भाँति ही नृत्य कला को भी आधारभूमि प्रदान की है।[1]

(ङ) ब्रजभाषा पर प्रभाव

मध्यकालीन कृष्ण भक्ति-काव्य की भाषा एक मात्र ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा की समृद्धि और परिष्करण में १६ वीं शती के कृष्ण-भक्त-कवियों का एक निश्चित और बहुमूल्य योग है। सूरदास जी ने अपने काव्य की भाषा के लिए 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग न कर उसे केवल 'भाषा' ही कहा है।[2] ब्रजभाषा के सम्बन्ध में मिर्जा खाँ ने सन् १६७६ ई० में एक पुस्तक लिखी था जिसमें 'हिन्दी' और 'भाखा' दोनों शब्दों को पर्यायवाची माना है।[3] इस ग्रन्थ में ब्रज प्रदेश और उसके आसपास की बोली को ही 'भाखा' कहा गया है। साहित्य में इस भाषा का प्रथम प्रयोग चन्दबरदायी कृत पृथ्वीराज रासो में माना जाता है।[4] उसके पश्चात् बहुत समय तक साहित्य में ब्रज भाषा का प्रयोग नहीं मिलता। ब्रजभाषा गद्य के प्रथम लेखक गोरखनाथ की बानियों में ब्रजभाषा का प्रथम रूप मिलता है।

ब्रजभाषा में विशेष रूप से साहित्य का आरम्भ उस समय हुआ जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मन्दिर का निर्माण कर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कीर्तन भजन इत्यादि की व्यवस्था की थी। उनके आश्रय में सूरदास जी तथा अन्य भक्तों ने ब्रजमण्डल की स्थानीय बोली में गीत लिखे और गाये। इस प्रकार साधारण बोली को एक साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित होने का शुभवसर मिला।[5] सूरदास जी ने स्थानीय ब्रजभाषा का प्रयोग जिस सुगमता और कुशलता से किया है वह भाषा की दृष्टि से बेजोड़ है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय के संस्थापक श्री हितहरिवंश के काव्य की भाषा निश्चय ही विशुद्ध ब्रजभाषा है। हाँ उनकी शैली पर संस्कृत का प्रभाव अवश्य है। नन्ददास और नरोत्तमदास ने ब्रजभाषा को एक साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाया है। रसखान की भाषा में विशुद्धता और अद्भुत प्रवाह है। उनकी भाषा में शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। आलोच्य कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में प्रयुक्त भाषा का निरीक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने संस्कृत और हिन्दी की अन्य उपभाषाओं

---

१ ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य में अभिव्यंजना शिल्प—डा० सावित्री सिन्हा पृ० ४८१

२ सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाई।
—सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद २२५

३ सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंश लाल शर्मा पृ० १०५

४ ब्रजभाषा—डा० धीरेन्द्र वर्मा पृ० १८

५ वही पृ० २२

से रूप ग्रहण कर ब्रजभाषा के रूप को परिमार्जित और परिष्कृत किया है और कृष्ण की लीला का गान करने के लिए अपनी भाषा में समस्त मधुर उपकरणों का समावेश किया है। भाव-सौन्दर्य और चित्र-कल्पना के समर्थ संयोजन का सबसे बड़ा श्रेय उनकी भाषा को है। प्रतिपाद्य के उपयुक्त भाषा प्रयोग—उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में प्रारम्भ में ही सूरदास आदि ने ब्रजभाषा को इतना सुन्दर मधुर और आकर्षक बना दिया था कि लगभग ४०० वर्षों तक उत्तर-पश्चिमी भारत का कविता का सारा—विराग प्रेम प्रतीति भजन भाव उसके द्वारा अभिव्यक्त हुआ। आलोच्यकालीन कृष्ण भक्त कवियों की यह हिन्दी भाषा को सबसे बड़ी देन है।

पिछले पृष्ठों में आळ्वार भक्तों तथा १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्यों का जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आळ्वार-काव्य और १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण-काव्य अपने-अपने क्षेत्रों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण भक्ति-काव्य हैं और उनका बहुमुखी प्रभाव भाषा साहित्य समाज, कला आदि पर पड़ा है।

उपसंहार

प्रस्तुत अध्ययन के मूल में मुख्य रूप से दो उद्देश्य रहे हैं। प्रथम उद्देश्य यह रहा है कि भारतीय भक्ति-आन्दोलन में आळ्वार भक्तों के महत्वपूर्ण योगदान पर प्रकाश डालना तथा परवर्ती भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्वों का सामान्य विवेचन प्रस्तुत करना। चूँकि अभी तक किसी विद्वान् द्वारा आळ्वारों के साहित्य का गंभीर अध्ययन नहीं किया गया अतः उनका वास्तविक महत्वपूर्ण रूप प्रकाश में आ नहीं सका। प्रबन्धम् भक्ति-आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ ठहरता है, अतएव भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट सन्दर्भ में उसका मूल्यांकन उचित समझा गया है। दूसरा उद्देश्य यह रहा है कि आळ्वारों के भक्ति-काव्य की तुलना १६वीं शती के हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य से करके कई दृष्टिकोणों से दोनों के साम्य और वैषम्य को स्पष्ट किया जाय।

भक्ति-आन्दोलन बिजली की चमक के समान अचानक उत्पन्न नहीं हुआ। उसका काफी लम्बा इतिहास है। इस भक्ति की शोध धारा का उद्गम तमिळ-प्रदेश है। ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दियों में तमिळ-प्रदेश की धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों ने आळ्वार भक्तों को जन्म दिया। बौद्धों और जैनों के गिरे हुए आचारों और विचारों से तंग आने वाली जनता को ऐसा मार्ग दिखाने के लिए, जिसमें सब समान रूप से आत्म-शान्ति प्राप्त कर सकें और वैदिक धर्म को जो अब तक यज्ञादि कठिन नियमों को पकड़े आया है, सरल बनाकर मुक्ति के साधनों को सुलभ और सर्व साधारण के लिए प्राप्य बनाने के लिए हिन्दू-धर्म में सुधारकों की आवश्यकता हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति करते हुए आळ्वार भक्तों ने भक्ति का एक प्रबल धारा

तमिल को बाद की शताब्दियों में उत्तर की ओर प्रवाहित हुई। भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन के रूप में व्यापक और शक्तिशाली बनाने में 'प्रबन्धम्' का विशेष हाथ रहा। अनायास ही भक्त-हृदय की तंत्रियों को झंकृत कर देने वाले आळवारों के भाव भरे पदों ने जनता में भक्ति-भावना को जगाकर सर्वत्र एक भक्तिमय वातावरण उत्पन्न कर दिया। आळवारों के पश्चात् उनकी विचार-धारा से प्रभावित अनेक आचार्यों ने भक्ति-आन्दोलन को जारी रखा। फलस्वरूप यह भक्ति-आन्दोलन बाद की शताब्दियों में उत्तर भारत की ओर उन्मुख हुआ। श्रीमद्भागवत में आळवारों के द्वारा चलाये गये इस भक्ति-आन्दोलन को लक्ष्य करके ही कहा गया है— "उत्पन्ना द्राविडे साहं" इस भक्ति-आन्दोलन के प्रारम्भिक प्रवर्तकों के रूप में आळवारों का स्थान सर्वथा महत्वपूर्ण है। उनका 'प्रबन्धम्' भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ इसलिए ठहरता है कि 'प्रबन्धम्' के सामान्य भक्ति-तत्वों ने परवर्ती भक्ति-साहित्य को और विशिष्ट तत्वों ने परवर्ती कृष्ण भक्ति साहित्य को व्यापक रूप में प्रभावित किया है।

किसी भी साहित्य का आलोचन अथवा मूल्यांकन उस साहित्य की तुलना अन्य सम्बन्धी साहित्य से करने पर ही उचित ढंग से हो सकता है। दो साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही विषय विवेचन में सुगमता अथवा स्पष्टता आ सकती है। १६ वीं शती का हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य कई दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। आळवारों का भक्ति-काव्य से १६ वीं शती का हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य बहुत कुछ मिलता जुलता है। दोनों काव्यों की समान विशेषताओं पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। भक्ति के क्षेत्र में दार्शनिक विचारों के क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न बातों में दोनों क्षेत्रों के कवियों के विचार, भाव आदि समान हैं, उसकी एक तालिका प्रस्तुत की गयी है। काव्य-कला की कसौटी पर दोनों काव्यों का परीक्षण भी किया गया है। निष्कर्ष यह निकलता है कि 'प्रबन्धम्' अपने ढंग का सर्वाधिक महत्व पूर्ण ग्रन्थ ठहरता है और १६वीं शती का कृष्ण-काव्य हिन्दी का महान् भक्ति-काव्य प्रमाणित होता है। दोनों का प्रभाव बहुमुखी है। दोनों क्षेत्रों के कवियों के विचारों में समानता देखकर आश्चर्य होता है। दो भिन्न क्षेत्रों के दो भिन्न भाषाओं के दो भिन्न युगों के कवियों के विचारों में ठीक पढ़ने वाले साम्य को देखने पर आश्चर्य होता है। परन्तु बात है सच। इतना अधिक साम्य हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य का अन्य किसी भाषा के साहित्य से कदाचित् ही हो सकता है।

तमिल ने भक्ति-आन्दोलन का प्रारम्भ किया। हिन्दी ने उस आन्दोलन को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। तमिळ ने एक ही 'आण्डाळ' को दिया और हिन्दी ने एक ही 'मीरा' को। तमिळ ने 'नम्माळवार' और 'पेरियाळवार' को दिया तो हिन्दी ने 'सूरदास' और 'परमानन्ददास' को दिया। तमिळ में एक 'कुलशेखराळवार' हैं तो हिन्दी में एक रसखान हैं। इन दो परवर्ती धाराओं को एक सूत्र में बाँधने वाली भक्ति-शक्ति है। इन दोनों के काव्यों के मूल में भक्ति ही प्रधान है। भक्ति का इतिहास शृंखलाबद्ध है। आळवार भक्त, भक्ति-शृंखला की प्रारम्भिक कड़ियाँ हैं तो १६वीं शती

हैं हिन्दी कृष्ण भक्त कवि उस शृंखला की अन्तिम कड़ियाँ हैं। दोनों के बीच की कड़ियाँ विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यगण हैं। काल से, स्थान से दूरवर्ती दो छोरों के कवियों को एक सूत्र में बाँधने वाले भक्त आचार्यगण हैं। हम इन भक्त-आचार्यों को तमिळ और हिन्दी के भक्ति-सरोवरों को सम्बद्ध करने वाला एक नाला कह सकते हैं। दक्षिण और उत्तर की सांस्कृतिक एकता को बनाये रखने में इन आचार्यों का बड़ा हाथ रहा है।

तमिळ के आळ्वार भक्तों और हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के विचारों में और भावों में दीख पड़ने वाला अद्भुत साम्य यही घोषित करता है कि भारत की आत्मा एक है। उसकी मूल प्रेरणा एक है। तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप तमिळ के आळ्वार भक्तों और हिन्दी के कृष्ण भक्त-कवियों के विचारों में हमें जो साम्य दीख पड़ता है, वह भारतवर्ष की 'भावात्मक एकता' (Emotional Integrity) की ही घोषणा करता है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

आलवारों के चुने हुए कुछ गीत-रत्न[1]

पोयग आळवार

● ● "मैं अपने जीवन की असीम अनन्त आकांक्षाओं और अपराधों को पार कर दौड़ता हुआ आपके सम्मुख आया हूँ। अपनी गीत-माला में आपके नाम-सुमन भी गूँथ देता हूँ और आपके परम पावन पद-पंकज पर समर्पित करता हूँ, जिसे आप मेरी विमल भक्ति और विशुद्ध स्नेह के उपहार-रूप में स्वीकार करें।"

× × ×

● ● "स्नेह-मान्द्र हृदय-विपंची की तंत्रियों में जो मधुर निनाद मुखरित होता है, शिल्प-कला की सूक्ष्म सफलता का द्योतक जो भव्य रूप निकलता है आत्मा के स्वप्न-पटल पर जो सुकुमार स्वरूप अंकित होता है, वे सब मेरे ही आराध्य के नाम और स्वरूप हैं।"

भूतत्ताळवार

● ● "मैं यह नहीं जानता कि भगवान् का मेरे प्रति क्या विचार होगा और भगवान् के दरबार में मुझ अकिंचन का क्या स्थान होगा ? फिर भी मैं विचलित नहीं हूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरे टूटे हुए हृदय के टुकड़ों से बना चषक भगवत्कृपा रूपी रस से आकण्ठ भर जाय किस प्रकार मुझे करीदर वर्षा के जल से ही भर सकते हैं।"

पेयाळवार

● ● "मैं निरन्तर उसकी अथक खोज में रहता हूँ, तब भी वह मुझे नहीं मिल पाता। पर वह मेरे निवेदन के बिना भी मुझे अपना लेता है। फिर भी हाय ! मैं उसको देख नहीं पाता।"

---

१ इन पदों के स्वतन्त्रानुवाद में श्री रा० श्री वेंकटेश्वरन् द्वारा अंग्रेजी में प्रस्तुत "Grains of Gold" नामक ग्रन्थ का आधार लिया गया है।

●● "विशाल व्योम पुञ्ज उठा। बिजली चमकी। वज्र का भयानक गर्जन हुआ। यह था वर्षा-काल। मैं गगन की ओर देखता रहा। उसकी अनुपम आभा की रेखाएँ दीख पड़ीं और वह व्योम-वीथी में मेघ मणि रथ पर चढ़कर आया।

× × ×

●● "हरमोज्ज्वला सौदामिनी रूपी विजय पताका फहराती हुई और मिला दिये वज्र रूपी विजय दुंदुभी बजाती हुई गगन-मण्डल-बीच भ्रमण करने वाली नीरद राशि मेरे मानस पटल पर आपके ही स्मृति-चिह्न अंकित करती है।"

तिरुमळिशै आळ्वार

●● "मेरे जन्म लेने का एक मात्र उद्देश्य यही है कि मैं उस प्रभु की सेवा में अपने को निरन्तर लगाये रहूँ, जिसका वास मुझ में है। इस कर्तव्य-स्वीकृति से बढ़कर कौन-सा दिव्य कार्य हो सकता है? इसी से मैं अपना निर्वाण पाता हूँ।"

× × ×

●● "मेरे मनमोहन प्रभु का सुन्दर वास-स्थान मुझ से बहुत दूर है। किन्तु मैं अपने गीत-रूपी अदृश्य पंखों से उड़ता हुआ प्रभु के पास पहुँच जाता हूँ। केवल प्रभु की कीर्ति को गाने वाले मुझ अकिंचन कवि के लिए प्रभु के दरबार में क्या स्थान होगा?"

× × ×

●● "इस जहान में तुम्हारा स्थान कुछ भी हो, उस माली की देखरेख में तुम अपने को छोड़ दो जो हमारी आत्माओं का रक्षक है। तुम सर्वदा चिंतित क्यों होते हो? तुम अपने मन के एकान्त को क्यों भंग करते हो? जब प्रभु का अनुग्रह निकट ही है, तो तुम्हें चिन्ता किस बात की?

× × ×

●● "तुम इन्द्रिय-बाह्य गुणों के किवाड़ों को बन्द करके उसके भीतर ज्ञान का दीपक जलाओ। अनन्तकाल तक जाज्वल्यमान रहने वाला वह अमर दीपक तुम्हें प्रभु के मन्दिर का दुर्गम पथ दिखायेगा जो अब अन्धकाराच्छन्न है। पावन प्रेम के स्पर्श मात्र से उस मन्दिर के द्वार आप ही आप खुल जायेंगे।

+ + +

●● "शीतामृत बिन्दुओं के स्वर्ण-कुहरों में रस-वर्षा करने वाला यह क्या है? नितान्त जीवन-व्यथाओं के बीच में स्वर्गीय शान्ति प्रदान करने वाला यह क्या है? गीतों और कीर्तनों का चिरन्तन से विषय बनकर रहने वाला यह क्या है? समस्त वेदों में संगृहीत निधि क्या है? वह मेरे प्रभु का नाम है, मेरे प्रभु का नाम है।"

पेरियाळ्वार

●● "लुब्ध मनुष्य की कीर्ति गाने वाले गायको! तुम हमारे वश में नहीं हो। अपनी आत्मा को मुक्ति प्रदान करने की इच्छा जिनमें हो, वे ही हमारी कवि-मण्डली

में पदार्पण करने योग्य हैं। हम युग-युग से उस परमात्मा प्रभु की कीर्ति गाकर उसी की सेवा में लीन हैं।

+ + +

● ● 'चिन्ता मत करो ? मरण के चंगुल से बचने के लिये अब भी अवकाश शेष है। क्या तुम्हारे नेत्र ज्योतिहीन होकर धुंधले प्रकाश का ही अवलोकन कर रहे हैं ? क्या तुम्हें मृत्यु का भय त्रस्त-व्यस्त हो रहा है ? क्या तुम्हारे बन्धु तुम्हें घेरकर खड़े हैं ? क्या शब्द लड़खड़ा कर तुम्हारे कंठ में ही रह जाते हैं ? अपने मानस में प्रभु के वास के लिए एक मन्दिर बनाओ जिसमें प्रभु का स्मरण सतत होता रहे और वहाँ प्रभु के पाद-पीठ पर अपनी सेवा और प्रेम के सुमन चढ़ाते रहो।

+ + +

● ● "हे प्रभु ! आपके स्पर्श मात्र से हृदय की सारी कठोरता द्रवित होकर एक क्षण में (एक पल में) सरलता में परिणत हो गयी है। मैं देखता हूँ, आपका साम्राज्य काल और मरण की अवहेलना कर सतत विराजमान है। आपकी कीर्ति राशि में मेरा मन का निमज्जन हो जाता है।'

आण्डाळ

● ● 'सुषमा भरी उषा की नीरव बेला में पक्षियों की मधुर कूजती तान में प्रभु के शुभागमन का सन्देश पाती हूँ। मैं आशा युक्त नयनों से देखती रहती हूँ। पर नहीं जानती कि प्रियतम कब आयेंगे ?'

+ + +

● ● 'हे कोयल ! मेरे शरीर की समस्त इन्द्रियाँ द्रवित हो गयी हैं। निशि दिन मेरे प्यासे नयन जागृत ही रहते हैं (नींद को पास फटकने नहीं देते)। प्रभु के दर्शन-अनुग्रह से वंचित मैं व्यथा-सरिता में बह रही हूँ। प्रेम भरे हृदय की विरह-वेदना को तू भली भाँति जानती है। तू कृपया मेरे प्रभु के पास जाकर मेरी इस दीन दशा का समाचार तो दे आ।"

+ + +

● ● 'हे शंख ! प्रभु के मोती-सम अधरों की सुन्दरता का परिचय तुमसे पाने के लिए उत्सुक हूँ। क्या प्रभु के अधरों से कपूर की सुगन्ध आती है ? और मनोहर पंकज-दल के समान प्रभु के अधरों से क्या सुगन्धित सुमन का परिमल निकल रहा है ? बताओगे तो ?'

कुलशेखराळ्वार

● ● "मुझे चाह नहीं कि अशेष अनुपम सुख-सम्पत्ति अथवा अप्सराओं के विलासमय सान्निध्य से पूर्ण नाक स्वर्गीय आनन्द प्राप्त करूँ। मुझे चाह नहीं कि नितान्त विराट् व अनुपम धनकोष प्राप्त करूँ। मैं अपने को [illegible]

जैसे वेंकटाचल के मधु रसोज्ज्वल पुष्प मंजरियों से पूर्ण नन्दन उपवन की निर्मम निर्झरणी के एक मीन होने का परम सौभाग्य प्राप्त हो।"

× × ×

●● क्षीर सागर की धवल तरंगों से परिपूत एवं प्रोल्लसित भगवान् शेषशायी के पावन पद-कमलों के दर्शनार्थ गीत-रस-लहरी में निमज्जित भ्रमर समूह के झंकार गुंजित वेंकटगिरि की वाटिका में एक चंपक कुसुम बन जाऊँ।

× × ×

●● 'महापापियों को भी अपनी शरण में लेने वाले कृपा-सिन्धु भगवान्! हे अनादिनन्त श्रेष्ठ महान्, वेंकटवासी! मैं तुम्हारे मन्दिर का वह सोपान बन जाऊँ जिस पर चढ़कर अप्सराएँ, देव और भक्तगण तुम्हारे दर्शनार्थ मन्दिर में प्रवेश करते हैं।'

× × ×

●● 'इस भ्रमपूर्ण भव में कितनी मलिनता है? कितना द्वेष है? मैं मनुष्य जीवन की उन पीड़ित आकांक्षाओं को तिलांजलि देकर, अतृप्त और संतुष्ट हृदय लेकर सत्य के उस राजमार्ग पर जा रहा हूँ जो स्वर्ग की कांति से सर्वदा आलोकित रहता है। किन्तु इस जगत् के प्रेमी मुझे उन्मत्त (पागल) कहते हैं। मैं समझता हूँ कि इस संसार के क्षणिक सुखों के भ्रम में पड़े वे लोग ही पागल हैं। सच है, मुझ में एक विचित्र प्रकार का तीव्र उन्माद है। वह है भगवत्-प्रेम रूपी मधु को पीकर उन्मत्त जीव का नशा।

× × ×

●● 'अहंकार से शासित होने के कारण मैं यह नहीं जान पाया था कि आपकी शरण से ही मुझे आत्म-बल और स्वरक्षा के आयुध प्राप्त करने हैं। मैं उस जहाज के पक्षी की तरह आपकी शरण में आया हूँ, जो फिर-फिर उड़कर दूर दिगंत तक जल ही जल को देखकर भयभीत हो पुनः जहाज के खंभे पर ही आकर बैठता है।'

तोंडरडीपोडी आळ्वार

●● 'इन्द्रियों की दासता के चंगुल से आपके नाम-कीर्तन ने हमें मुक्त कर दिया है। आप पर हमारे भरोसे के फलस्वरूप उत्पन्न साहस और आत्मबल के शस्त्रों से सम्पन्न होकर हम दुःख पाप और मृत्यु तक को हम चुनौती दे सकते हैं।"

× × ×

●● "प्रभु के साम्राज्य में पद प्राप्त करने की कामना करने वाले! तुम अपनी जाति के गर्व को त्याग दो। अपने ज्ञान की थोथी बघारना बन्द कर दो। अपनी जाति के गर्व को त्याग दो। अपना ज्ञान की थोथी बधारना बन्द कर दो। संकीर्ण जाति-गर्व के कारण तुम क्यों उस जन-समूह से दूर जा बैठे हो? अगर वे अपने कर्मों पर पड़ी मनुष्य निर्मित जाति की शृंखलाओं को तोड़ कर आयें तो तुम्हें क्या आपत्ति है? क्या इतना पर्याप्त नहीं कि वे भी भगवान् के सेवक हैं? उनकी पूजा करो, उनकी सेवा करो। क्योंकि किसको क्या पता है कि उनके मध्य भगवान् वास नहीं करते हों?"

तिरुमंगै आळ्वार

● ● हे प्रभो ! मैं आपके दर्शन-सुख के लिए तड़प रहा हूँ ! पापपूर्ण कितना लम्बा जीवन मैंने बिता दिया है । अब मैं आपकी शरण में आया हूँ । जब उन लम्बे वर्षों के व्यर्थ हो जाने की बात याद आती है तो मेरा हृदय व्यथाओं से भर जाता है । अब मैं आपकी शरण में आया हूँ मेरी रक्षा करें प्रभु जी ! मेरी रक्षा करें ।"

× × ×

"आपने अपनी मुद्रा मुझ पर लगा दी है । आपने मुझे अपना आज्ञाकारी सेवक बना लिया है । मेरे दुर्बल जीवन के कितने ही क्षेत्रों को आपने भर दिया है । मैं अपने मन-मन्दिर में आपकी उपस्थिति का अनुभव कर पुलकित हो उठता हूँ । आपके स्पर्श मात्र से मेरी हृत्तंत्री झंकृत होकर मीठी तान उत्पन्न कर देती है ।"

× × ×

● ● 'हे प्रभो ! हमारे नेत्रों से क्या प्रयोजन है, यदि वे आपकी द्युति राशि में मज्जन न करें । हमारे कानों से क्या प्रयोजन है यदि आपकी कीर्ति का गायन न सुनें । हमारे करों से क्या लाभ है, यदि वे आपको श्रद्धाञ्जलि न दें । हमारे मृदङ्ग-वीणा जैसे वाद्य यन्त्रों से क्या प्रयोजन है अगर वे आपकी महत्ता का गायन कर हमें पुलकित न करें । हमारे हृदय से क्या प्रयोजन है, यदि वह आपकी ओर उन्मुख न हो तो ।'

+ + +

● ● 'मेरे मन रूपी उस प्रेम-वियोग विदग्ध विरहिणी की क्या दशा हो गयी है । वह पगली सी इधर-उधर फिरती है । अपने प्रियतम के आगमन का आनन्द पूर्ण सन्देश सुनकर वह हर्षोन्मत्त हो रही है । स्निग्ध ज्योत्स्ना चर्चित रजनी में वह अकेली ही अपने करों को (उस असीम आकाश) स्वर्ग की ओर बढ़ाकर चिल्लाती है—"मैं देख तो नहीं रही हूँ कि प्रभु अपने महल के द्वार पर खड़े मुझे बुला रहे हैं ।'

+ + +

● ● 'वह मधुर स्वप्न जिसने प्रियतम के दर्शन की आशा से मेरे मानस मन्दिर को आलोकित किया था अब टूट गया । समस्त संसार अन्धकार की गोद में अब भी लोरी सुनकर नींद में मग्न है । निशि के अनन्त तिमिर-प्रवाह के साथ मेरे साथी भी विलीन हो गये । अरुण शिखा की सुरीली तान उषा काल के द्वारा को खोल रही है और मन्दिर के अन्दर शयन मग्न प्रभु को जगा देगी ।

+ + +

● ● 'दुःख और संघर्षों से पूर्ण नीरस जीवन-यात्रा में चलते-चलते मैं व्यथित सूखता जा रहा हूँ । "मैंने सुन्दर रमणियों के जादू भरे सौन्दर्य से मोहित

भोगा ही आया है। सुन्दरियों के लावण्य युक्त कर-पाश में आबद्ध होकर सुरापान के मादक आनन्द में उन्मत्त अब मैं थक चुका हूँ। विशुद्ध ज्ञान का नाद जो मेरे उर के अन्तरतम भाव से मुखरित हो उठा था उसने मेरे भीतर ही किसी की खोज की। प्रेरणा दी है और मैंने सत्य के प्रकाश को ढूंढ पाया। हे प्रभो ! मैंने आप ही में अपने जीवन के समस्त आनन्द और पवित्र परिमल का आकर देखा।'

\+ \+ \+

● ● 'प्रभो ! उस विरहिणी को अपने दर्शन से वंचित रखते हैं क्यों ? (माता का वचन) मेरी प्रिय तनया जो आम के नवल किसलय के समान स्वर्ण-कांति युक्त थी अब विरह व्यथा में पीली पड़ गयी है। वह क्षीण होकर इतनी पतली हो गयी है कि उसके हाथ के कंकण स्वयं गिर रहे हैं। अब मुक्ता खचित चारु चन्द्रहार तथा सुगन्धित चन्दन भी उसके विरहानल में तप्त हृदय पर बड़े आघात कर देते हैं। राका रजनी में अमृत तुल्य शीतल किरणों को भेजने वाला चन्द्र भी मेरी पुत्री के लिए मानों धधकने वाली आग की ज्वाला बरसा रहा हो। दूर के समुद्र-गर्जन की तरह इसका हृदय भी विलाप में आन्दोलित है। प्रभो उस विरहिणी को अपने दर्शन से वंचित रखते हैं, क्यों ?

\+ \+ \+

● ● "परिश्रम से थके-से पाँव घसीटती हुई रात भी कितनी मन्द गति से कटती जा रही है। एक क्षण भी एक युग के समान दीख पड़ता है। समुद्र के विलाप गान तथा प्रेम-पीड़ा में रत क्रौंच पक्षी के अविराम गायन के अतिरिक्त और कोई ध्वनि नहीं सुन पड़ती। घोर तिमिर को दूर कर समस्त संसार को आलोकित करने वाला प्रभात कब होगा ? मन्द-मन्द बहने वाला शीतल समीरण भी आग की चिन्गारियों की तरह अधिक ताप देने वाला हो गया है।"

\+ \+ \+

● ● 'हे मनुष्यो ! क्यों कापाय वस्त्र पहनकर शरीर पर भस्म लगाकर फिरते हो ? कठिन व्रत रखकर विफल तपस्या में लीन रहकर काया को असह्य कष्ट क्यों देते रहते हो ? तुम अपने संसार का त्याग कर आ जाओ और प्रभु की अनन्त अहेतुकी करुणा युक्त शरण में उनकी असीम कृपा में सक्ति और शान्ति प्राप्त करो।"

× × ×

● ● 'मेरी पत्नी और संतान भी अविश्वासी हैं। उन्हें त्याग कर मैंने आपके मार्ग को अपनाया। आपकी कृपा रूपी चमचमाती तलवार से मूर्खता और इन्द्रियों द्वारा मुझे फँसाने के लिए बुलाये गए उलझे हुए जीवन-जाल को मैंने काट दिया। अब मैं क्लेशों में डालने वाली जीवन-बाधाओं से दूर एक सतत शान्त और सुरक्षित स्थान में पहुँच गया हूँ।

● 'मानस पथ-प्रदर्शन कराने वाले ज्ञान रूपी प्रकाश से वंचित मैं भव
ागर में तुमुल तरंग प्रचण्ड पवन और कोलाहल के मध्य बिना पतवार के अनेक
म और मरण से युक्त इस जीवन-नौका को चलाता गया। चट्टानों से टकराकर
न-भिन्न हो जाने से बचकर मेरी नौका ने आपकी कृपा रूपी सुरक्षित क्षेत्र में
कर शान्ति पायी।"

× × ×

● "(नायिका का कथन) मेरे इस सौन्दर्य और नखों से सम्पन्न यौवन से
या लाभ है? इन उभरे हुए उरोजों से क्या प्रयोजन, यदि मुझे मदनमोहन का
ालिंगन-सुख प्राप्त न हो तो। उस कानन-कुसुम की भाँति जो परिमल को बिखेर कर
सी से अपनाये न जाने के कारण किसी निर्जन वन की लता से गिरकर अपना
ौन्दर्य नष्ट कर देता है, मेरा यह सारा यौवन भी प्रियतम से दूर रहने के कारण
ष्ट होता जा रहा है।

नम्माळ्वार

● ● 'कान्तिपूर्ण घन-बिम्ब आपकी अनुपम सुषमा और अनुपम वर्तन
ोभा का ही स्मरण दिलाता है। यह समुन्नत शिखिर भी आप ही की असीम शक्ति
की ओर इंगित करता है। रिमझिम रिमझिम वर्षा को देखकर जिस प्रकार मोर नाच
उठते हैं उसी प्रकार मेरा मन भी आनन्द नृत्य कर रहा है—मानों नारायण ही वर्षा
के रूप में पधारे हों।'

× × ×

● ● सारा जीव सुषुप्ति में विलीन हुआ है। समस्त विश्व अन्धकार-सान्द्र
है। निशा इतनी बढ़ती जाती है—मानो निस्सीम चल-चल एक लम्बी रेखा-सा बनता
जा रहा हो। मैं ही केवल अकेली जाग रही हूँ। वह शेषशायी भगवान्, जिसने एक
बार समस्त विश्व को निगल लिया था मगर मेरे पास न आये तो हाय! इस
अभागिनी की कौन रक्षा कर सकेगा?"

× × ×

● ● 'हमारे प्यासे नयन कब आपके और आपका अनुग्रह प्राप्त श्रेष्ठ जीवों
के दर्शन-सुख से तृप्त होंगे? आपके अनन्त अनुपम सौन्दर्य-सागर में मज्जन करके
भी वे कब संतुष्ट होंगे? रवि उदित होता है और फिर छिप जाता है। मेघ आते
हैं और अपनी अतुल आभा दिखा कर चले जाते हैं। युग पर युग आता है और
बीतता जाता है, फिर भी हम आपकी ओर देखते ही रहते हैं। आपके दर्शन की
प्यास कभी बुझती नहीं है।

+ + +

● ● "प्रभु के महल तक पहुँचने के लिए तो मार्ग अनेक हैं। वे हमारे बीच
में विलक्षण और विविध रूप में अपने को प्रकट करते हैं। मेरी चाह है कि प्रभु

महल की ओर आने वाले उस अज्ञात पथ में क्षण-क्षण प्रभु की आहट सुन सकूँ। मेरी चाह है कि इस संघर्ष रत और अशान्त जगत् के निरन्तर कोलाहल के बीच प्रभु के आगमन की मधुर हल्की ध्वनि सुन सकूँ। उस अद्वितीय आनन्द-भण्डार के दर्शन के लिये मैं युग-युग से भूखा और प्यासा रहूँ।

+ + +

● ● मेरा प्रियतम हमारे मिलन-स्थान पर अभी तक आ नहीं पहुँचा। जिस तरह गोधूली की मनोहर बेला में तम की हल्की रेखा आती रहती है, उसी तरह आशा भरे मेरे हृदय में अब दुःख की रेखा छा जाती है। मेरे उर के मीन का भंग करने वाले विलाप के प्रारम्भ होते हुए शोभाहीन पश्चिमी व्योम-वीथी पर समस्त पृथ्वी को आनन्द सागर में निमज्जित करने वाले मधु चन्द्र का आगमन हुआ। उस उमंग भरे क्षण में मेरा मन कामना करता है कि प्रियतम के आगमन का आभास मिल जाय। हाय! दूर से प्रिय का जो सन्देश अम्बर-पथ पर तैरता आ रहा था, उसको भंग करने के लिए एक दुष्ट समीरण भी कहीं से चल पड़ा।'

× × ×

● ● "मेरा हृदय विश्राम नहीं लेता क्योंकि यह निर्दय निशा मुझ पर ताना मार रही है। जब मैं अपने प्रियतम के बाहु-पाश में आबद्ध रहती हूँ, इस निमम निशा का शासन ओस की बूँद की तरह या स्वप्न के समान शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। परन्तु अब प्रियतम की अनुपस्थिति में यामिनी का एक-एक क्षण उसके क्रूरतापूर्ण शासन का लम्बा युग सा प्रतीत होता है।"

× × ×

● ● 'वह दूर देश के वासी प्रभु की तुलसी-माला की सुरम्य सुगन्धित का सेवन करना चाहती है। हाय! उसकी अपूर्ण आशायें व्यथा पर व्यथा डालती जा रही है। वह प्रभु भी क्यों इस भोली विरहिणी की ओर ध्यान नहीं देता? सचमुच अनन्त काल के प्रांगण में नित्य आँख-मिचौनी खेलने वाला वह प्रभु भी निर्मम और निर्दयी दीख पड़ता है।"

× × ×

● ● ओ प्रभुओं के प्रभु! आप हमारी प्रार्थनाओं को सुनने की कृपा करें और हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जायें। अज्ञान के घोर तिमिर में पाप और दुःख के पुत्र हम आर्त पुकार कर आपकी करुणा की भीख माँगते हुए अपने करों को आपकी ओर बढ़ाते हैं। आप हैं अनन्त कृपासिन्धु! आपके सौलभ्य का क्या कहना? हमारे जीवन को नित्य आलोकित कर देने वाली कृपा रूपी कुंजी आपके पास ही है।"

× × ×

● ● "मेरा प्रभु इस अमन्द में पड़ा है कि अगणित नक्षत्रों और कृती की एक सुमन-माला बनाकर उसे अपने व्यक्तित्व के विशाल मन्दिर में छिपा रखा है।

परन्तु उसका समस्त व्यर्थ है, क्योंकि मैंने उस महान् प्रभु को भी अपने मन-मन्दिर में बसा लिया है।"

+ + +

● ● "तुम अपना सब कुछ समर्पित कर हमारी जीवन-नौकाओं के उस माँझी पर भरोसा रखकर उसकी दिव्य देहलोक में उसका पीछा करते चलो। उससे बिजली की चमक के समान अपने दुर्बल जीवन में आत्म बल का संचार कर सकोगे। अतएव हे लोगो! तुम उस परमात्मा पुरुषोत्तम की खोज में निरन्तर लगे रहो। 'अहम्' की भावना पर कुल्हाड़ी मार कर उस अनन्त महान् करुणाकर भगवान् की शरण में लो जिसने तुम्हारी सृष्टि की है। इसके अतिरिक्त जीवन की व्यथाओं से बचने के लिए और कोई उपाय नहीं है।"

× × ×

● ● "कविगण अपने गीत जाल में आपको फँसाना चाहते हैं। चित्रकार अपने पटल पर आपकी शोभा को अंकित करना चाहते हैं। मूर्तिकार श्रेष्ठ संगमरमर के शिला-खण्ड में आप को बनाना चाहते हैं। दार्शनिक विद्वान् आपको अपने शब्द जाल में फँसाना चाहते हैं। उनके प्रयास सब व्यर्थ हैं—क्योंकि आपके अनुपम शोभायुक्त स्वरूप के एक अंश तक को भी वे पहचान नहीं पाते।"

+ + +

● ● "मेरा हृदय पंखों से युक्त होकर सब जगह उड़ता जाता है। मेघों के साथ घूमता है, ऊँचे पर्वत के साथ गगन को चुम्बन करने जाता है। सागर की लहरों के साथ नाच उठता है। सुन्दर सुमनों के साथ हँस पड़ता है। तम के साथ स्वप्न में विलीन हो जाता है—क्योंकि मेरा मन दूर के प्रभु से संकेतित प्रेम-क्रीड़ाओं का आभास पाता है।"

× × ×

● ● "हे प्रभु! आपकी सभा में गाने वाले कितने ही महान् कवि हैं, जिनकी ध्वनि नक्षत्रों की मधुर गुप्त ध्वनि को भी मात कर देती है। किन्तु फिर भी आप उनके गीतों से सन्तुष्ट नहीं होते और सुन्दरतम मोहक गान की आशा में मुझ अकिंचन को अपने करों की (आश्चर्य है) मोहन मुरली बनाकर मेरे द्वारा अपने रहस्यों का मोहक गान में निनादित करते हैं।"

× × ×

● ● "मैं सागर और व्योम को भी प्रभु की कीर्ति को निनादित करता हुआ देखता हूँ। मृत्यु उस अमर लोक को हम तक पहुँचाने वाला सन्देशवाहक है। सागर की लहरें उस गान में मस्त होकर तालियाँ बजाती हैं। मेघ मृदंग बजाते हैं। मित्रो! मुझे विदा करो। मैं अधिक विलम्ब नहीं कर सकता। मेरा प्रियतम मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।"

●● 'हमारे महान् कवि श्रेष्ठ ने हमें गान की कला सिखायी। हम वीणा की तन्त्रियों को झंकृत कर एक अज्ञात स्वर-सरिता बहा रहे हैं। काम की विडम्बनाओं में हम नित संघर्ष रत हैं। परन्तु प्रभु मुसकाते बैठे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि हम उनकी कीर्ति-ध्वनि को गुंजायमान कर रहे हैं।

+ + +

●● "मैं उन अनगिनत नक्षत्रों के जो असंख्य सन्देश सुना रहे हैं रहस्य को जानने की चेष्टा में गगन की ओर देखता हूँ। पर वे असल में क्या हैं? यह मैंने समझ नहीं पाया। मुझ पर जादू करने वाले उन नक्षत्रों को देखकर मेरे हृदय में छाये सन्नाटे को चीरकर एक सुरीली तान गूँज उठी— वे नक्षत्र रात की विशाल समतल भूमि को प्रकाशित करने वाले दीपक नहीं जो दूर्वों से जलते हैं परन्तु स्वर्ग के दिव्य पुरुषों द्वारा चुन चुनकर उस अज्ञात प्रभु की वेदी पर चढ़ाये गये सुन्दर सुमन हैं।"

+ + +

●● मैंने स्वर्ग के द्वार को खटखटाया। देवतागण अचम्भे में आ गये। चिंतित हुए कि इसको कैसे आने दिया गया। मैंने उनको समझाया कि प्रभु के साम्राज्य में प्रवेश करने की कामना इस पृथ्वी तल से जन्मे मनुष्यों को मिला मूल अधिकार है।

+ + +

●● रजनी की नीरवता में मैंने व्योम की ओर दृष्टि दौड़ायी। मैंने देखा कि प्रभु का ही सन्देश नक्षत्र रूपी अक्षरों से अंकित है। मैं आनन्द में चिल्ला उठा और हर्षातिरेक से नाच उठा। चारों ओर फैली हुई प्रकृति को देखकर पृथ्वी के प्रत्येक पुष्प पंखुड़ियों और पत्ते की सृष्टि करने वाले उस महान् कलावान् सर्वेश्वर की कल्पना कर नतमस्तक हो गया।'

+ + +

●● "प्रत्येक वेदी पर भगवान् को पुष्प अर्पित किये जायें जिनसे उत्पन्न होने वाले परिमल से समस्त वायुमण्डल सुरभित हो जाय। प्रत्येक मन्दिर और पूजा घर भगवान् के भजनों की ध्वनि से गूंज उठे। तब हम इस पृथ्वी-तल पर ही भगवान् का साम्राज्य स्थापित कर सकेंगे।"

+ + +

●● 'हे सागर! तुम क्यों सर्वदा अविराम हो? तुम क्यों अहर्निश गर्जन करते रहते हो और फेन-राशि को उत्पन्न करते रहते हो? जिसकी खोज में मेरा मन मारा मारा फिरता है क्या तुम भी उसी की खोज में निरन्तर जाग्रत हो?'

+ + +

●● "यह गगन यह पृथ्वी यह पवन क्या है? उस अज्ञात असीम अगाध अगम्य महापुरुष के अङ्ग ही हैं।'

\+ \+ \+

• • "मैंने उसमें कभी काटनी चाही। यह सोचा कि वह मुझे देख नहीं पायेगा। कदाचित् मेरी आवश्यकता उसे थी। मेरे जीवन रूपी मधुर पान का सेवन करके भी उसकी प्यास नहीं बुझती।'

\+ \+ \+

• • "सारी रात पवन के झकोरों की सनसनाहट से गूँज उठी। परन्तु उषा के आते ही शोक-पीड़ित होकर हमने बाहर आकर देखा तो समवेत नरक के अभागियों पर स्वप्न भरा पड़ा है। विजय से गर्वित हमारा ललाट अति अद्भुत कान्तियुक्त हो रहा था। यम का कराल शासन अब समाप्त हुआ और स्वर्ग का साम्राज्य इस पृथ्वी तल पर स्थापित हो चुका है।"

\+ \+ \+

• • मेरी सारी पीड़ाएँ अब दूर हुईं और मेरे हृदय ने परम शान्ति प्राप्त की। इहलौकिक संसार की हँसी और व्यथा के बीच नरक की पीड़ा और स्वर्ग की उमंग के बीच मेरे कानों ने उस महापुरुष के नाम-मंत्र को सुन लिया है।

\+ \+ \+

• • मैं मर्त्य मनुष्यों के नाम से काव्य को कलंकित करने वाला तुच्छ कवि नहीं हूँ। मैं प्रभु के दरबार का गायक हूँ। मैं सृष्टि सौन्दर्य को गीत में परिणत कर अपनी गीत-माला को प्रभु के दिव्य चरणों पर अर्पित करता हूँ जिस पर प्रसन्न होकर प्रभु इहलोक और परलोक की समस्त सम्पत्ति से मुझे पुरस्कृत करते हैं।'

परिशिष्ट २

आलवारों की रामभक्ति

तमिळ के आळ्वार परम वैष्णव भक्त और श्रेष्ठ कवि थे। उन्होंने अपने भक्ति-काव्यों में अवतारी विष्णु की विभिन्न लीलाओं का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत किया है। आळ्वारों के अनुसार परब्रह्म विभिन्न युगों में मनुष्यों के उद्धार के लिए अवतार लेते हैं। जब पृथ्वी में अधर्म फैल जाता है और अज्ञान अन्धकार पृथ्वी को कलुषित करता है, तब कृपा-सिन्धु भगवान् अपनी करुणा को प्रकट करने के हेतु अवतार लेते हैं। नम्माळ्वार ने यहाँ तक कह दिया है कि अपने ही अंशभूत असंख्य जीवों को अपना दर्शन-सुख प्रदान करने के निमित्त भगवान् अवतार लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आळ्वारों ने विष्णु के विभिन्न अवतारों में कोई भेद नहीं देखा। फिर भी उनको विष्णु के दो अवतार—रामावतार और कृष्णावतारों ने विशेष रूप से आकर्षित किया है। इन दोनों अवतारों में भी कृष्णावतार में उनका मन जितना रमा उतना रामावतार में नहीं। श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का उन्होंने ऐसा सजीव वर्णन किया है, मानों उन्होंने स्वयं उन लीलाओं का अवलोकन किया हो। उनके कोमल भावुक और कवि-हृदय ने कृष्ण-लीलाओं में ही अपनी अभिव्यक्ति की भाव-भूमि विशेष रूप से पायी। अतएव उन्होंने लीलानायक कृष्ण की विविध लीलाओं का रसपूर्ण वर्णन किया और उनके भाव-पक्षेरु स्वच्छन्द रूप से काव्य-व्योम में उड़ सके जिससे कि उच्चकोटि के सरस कृष्ण-काव्य का निर्माण उनके द्वारा हो सका।

प्रमुख रूप से कृष्ण-काव्य रचना पर भी आळ्वारों के काव्यों में विष्णु के अन्य अवतारों का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है। डा० भण्डारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलिजियस सेक्ट्स' में लिखा है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामकाव्य का विकास साधारणतया ११वीं या १२वीं शताब्दी के

पश्चात् ही देखने को मिलता है। परन्तु उससे कई शताब्दियों के पूर्व ही (आळ्वारों का समय पाँचवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का माना जाता है।) आळ्वारों ने रामभक्ति-काव्य का सर्जन किया है। यह सच है कि आळ्वारों के काव्यों में कृष्णावतार की अपेक्षा रामावतार का विस्तार कम है। रामावतार के केवल कुछ विशिष्ट प्रसंगों को ही उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया। पूरी राम-कथा को लेकर आळ्वारों ने कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं रचा क्योंकि तमिळ-काव्य-क्षेत्र में उनका युग महाकाव्यों का नहीं था। अतः प्रबन्ध-काव्य रचने की आवश्यकता उन्हें नहीं सूझी। उनका युग भक्ति के भावावेश का युग था। अतः उन्होंने भक्ति-प्रधान मधुर गीत रचे जिन्हें गा-गाकर भक्त आत्मविभोर हो जाते थे। उनके भक्तिपरक पदों में रामावतार का भी पर्याप्त उल्लेख है।

तमिळ भाषा में जिस प्रकार कृष्णकाव्य के जन्मदाता आळ्वार हैं, उसी प्रकार वे राम-काव्य के भी हैं। इसलिये उन्हें दोनों क्षेत्रों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। तमिळ में आळ्वारों के पूर्व का कोई राम-काव्य हमें नहीं मिलता। न किसी ने रामावतार के विशिष्ट प्रसंगों का उतना वर्णन किया है, जितना आळ्वार-साहित्य में मिलता है। आळ्वारों के पूर्व के तमिळ संघ-साहित्य के कुछ काव्य-ग्रन्थों में इधर उधर रामकथा के कुछ प्रसंगों का उल्लेख मिल जाता है। परन्तु उनके रचयिताओं का उद्देश्य भक्ति-प्रधान राम-काव्य प्रस्तुत करना कदापि नहीं था। अतः तमिळ में राम-काव्य के जन्म-दाता के रूप में आळ्वारों को मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि परवर्ती सभी कवि आळ्वारों के भक्ति-परक पदों से बहुत ही प्रभावित हुए हैं। यहाँ तक कि तमिळ में राम-कथा को लेकर प्रथम बार महाकाव्य रचने वाले 'कवि चक्रवर्ती' कंबन आळ्वारों से बहुत प्रभावित हैं। राम-कथा के कुछ प्रसंगों का आळ्वारों ने जो भावपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है, उसका कंबन ने बहुत अनुकरण किया है—यह तो प्रसिद्ध है कि कंबन ने नम्माळ्वार की स्तुति में 'शठगोपरन्तादि' नामक स्तुति-ग्रन्थ तक रच डाला था। सारांश यह है कि राम काव्य के रचयिता के रूप में आळ्वारों को तमिळ में ही नहीं बल्कि सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं की राम-काव्य-धारा में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

द्वादश आळ्वारों में केवल कुलशेखराळ्वार, तिरुमंगै आळ्वार पैरियाळ्वार तथा नम्माळ्वार ने ही राम-कथा के विशिष्ट प्रसंगों को कुछ विस्तार से अपने काव्य में लिया है। ध्यान रखने की बात यह है कि इनमें किसी ने भी राम-कथा को क्रमिक रूप से प्रस्तुत नहीं किया। इन आळ्वारों में राम-भक्त के रूप में कुलशेखराळ्वार का स्थान सर्वोपरि है। कुलशेखराळ्वार की अपार राम भक्ति को सूचित करने वाली अनेक कथाएँ तमिळ प्रदेश में प्रचलित हैं। कथावाचक के द्वारा राम कथा को सुनते समय रावण द्वारा सीता-हरण प्रसंग तथा राम रावण युद्ध के प्रसंग में राम की सहायता करने के निमित्त सेना को कूच करने की आज्ञा देकर स्वयं कुलशेखर के चल पड़ने की कथाएँ तो सर्व प्रसिद्ध हैं। ये कथाएँ कुलशेखर की तीव्र राम भक्ति की ओर

दर्शन कराती है। उनके पदों के संग्रह 'पेरुमाळ तिरुमोळि' के अन्तिम तीन दशक रामकथा से सम्बन्धित हैं। एक दशक में बालक राम को पालने में लिटाकर माता कौसल्या के लोरी गाकर उन्हें सुलाने का वर्णन है। इसमें वात्सल्य रस का अद्भुत परिपाक हुआ है। दूसरे दशक में राम के वन-गमन पर दशरथ के विलाप का वर्णन है। ये दसों पद हृदय को द्रवित करने वाले हैं। करुण रस का इतना सजीव वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। काव्य-क्षेत्र में यह 'दशरथ विलाप" बेजोड़ है। तीसरे दशक में सम्पूर्ण राम-कथा को कुलशेखर ने संक्षेप में लिया है।

कुलशेखर का राम-कथा सम्बन्धी प्रथम दशक 'तालाट्टु' शैली में है। लोरी गाकर शिशु को सुलाने के बहाने अपने भावों को व्यक्त करने की एक तमिळ काव्य शैली है जिसे 'तालाट्टु' कहते हैं। इसमें 'तालेलो' शब्द का प्रत्येक पद में एक या अनेक बार प्रयुक्त करना आवश्यक है। तमिळ के इस 'तालेलो' शब्द में बच्चे को सुलाने का भाव भरा है। कुलशेखर ने इसी तालाट्टु शैली में एक मधुर गीत-पद्धति में (नीलाम्बरी राग—तिरिपुडै ताल) में स्वयं को कौसल्या के रूप में अनुभव कर राम के लिए लोरी गायी है। इन पदों में श्रुति सुखद संगीत निनादित होता है।

"मन्नु पुकळ कौसलै तन,
मणि वयिर वाइत्तवने

एन्नुडैय इन्नमुदे !
इरामवने ! तालेलो !"[1]
'एंगल कुलत्तु इन्नमुदे !
इरामवने ! तालेलो"[2]

[माता कौसल्या के गर्भ से निकले हे रत्न ! मेरे दिव्यामृत हे राघव ! तालेलो (सो जाओ) — "हमारे कुल के दिव्य सुत ! राघव तालेलो !']

इस 'तालाट्टु' गीत में राम की स्तुति के साथ-साथ राम-कथा के कुछ प्रसंगों की ओर भी संकेत है जिनमें राम का जन्म, ताड़का-वध, सीता विवाह, छोटी माता (कैकेयी) का वचन सुनकर वन-गमन, उस समय उनके साथ कुछ वस्तुओं का चलना, भरत पर भरोसा कर शासन भार को उनके ऊपर छोड़ना आदि घटनाएँ, राम का लंका प्रवेश, रावण-वध इत्यादि प्रसंगों की ओर भी संकेत है। इस दशक में कवि ने अपने को माता कौसल्या के स्थान पर कल्पित कर राम को एक बालक के रूप में देखा है और अपनी वात्सल्य-भक्ति का परिचय दिया है।

---

१ "पेरुमाळ तिरुमोळि" ८ १
२ वही ८-४

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कुलशेखर का दशरथ-विलाप नामक दशक भक्ति-काव्य क्षेत्र में बेजोड़ है। कवि ने प्रिय पुत्र राम के वन-गमन पर चक्रवर्ती दशरथ के मन में उठने वाली विभिन्न भाव-तरंगों को लहराया है और उनका सजीव चित्र दर्शाया है। उसे हम "नाटकीय स्वगत भाषण" कह सकते हैं—क्योंकि इसमें वर्णित सभी बातें हमारे सामने प्रत्यक्ष सी दीखती हैं। प्रत्येक पद में कवि का कोमल हृदय राम-वन-गमन के असह्य दुःख का स्मरण कर रो उठता है करुण-क्रन्दन करता है। वेदना की पराकाष्ठा ने मानों उसे काव्य-रूप दे डाला हो। इन पदों का भावार्थ नीचे दिया जाता है जो कवि की आत्मा से परिचित होने के लिए पर्याप्त है—

"सिंहासन पर तुम्हें शोभित होकर हर्षित होने के बदले कैकेयी-वचन सुनकर भयानक वन में भेजने वाला मैं बड़ा पापी हूँ। हे मेरे सुपुत्र! मैं अपने दुर्भाग्य को क्या कहूँ!"[1]

"अपने अनुज और पुष्प-सम कोमल देह वाली सीता को लेकर भयानक वन के लिए तुम कैसे चल दिये! मैं क्या करूँ? भयानक वन में असह्य ताप व अत्यधिक दुःख से तुम्हारे जाने का कारण मैं बना। मैं बड़ा पापी हूँ।"[2]

तुम पहले मृदु-शैया पर सोते थे। अब तुम्हें वन-वृक्ष की छाया में तीक्ष्ण पत्थरों की शैया पर सोना पड़ेगा! हाय![3]

"आज कानन-पथ में तुम्हें जाना पड़ा—तुम्हें वन को भी प्रिय मान कर। छद्म के हाथ वाले भाले के समान तीक्ष्ण पत्थर तुम्हारे पाँवों को चुभते हैं। रुधिर प्रवाह के होने पर भी तुम्हें चलना पड़ता है। हे मुझ जैसे पापी के पुत्र! पापी महिला कैकेयी का वचन सुनकर निराशा में पड़ा मैं अभागा अब क्या कर सकूँ?"[4]

(दशरथ को राम-सीता-विवाह का प्रसंग स्मरण हो आता है) "तुम्हारा विवाह कराकर तुम दम्पतियों को सुखी देखकर स्वयं हर्षित होने के बदले अब तुम्हें भयानक वन में भेजने का कारण मैं बना जबकि मुझे स्वयं वनवास करना था। तुम्हारे वन-गमन पर मेरा हृदय दो टूक हो रहा है!"[5]

'तुम्हारे माँ कहकर बुलाने का सौभाग्य तक मैंने कौशल्या को नहीं दिया। तुम्हारे सुन्दर वदन को देखकर पुलकित होने से उसको मैंने वंचित रखा। कितनी लज्जा की बात है कि तुम्हें वन में भेजकर मैं अब भी जीवित हूँ!'[6]

(कैकेयी के अन्यायपूर्ण आचरण का स्मरण कर दशरथ कहते हैं)—"हे कैकेयी! मेरे पुत्र को वन में भेजकर मुझे इस प्रकार तड़पाकर तुमने कौन-सा सुख पाया?"[7]

---

१ पेरुमाळ तिरुमोळि, ९.१   २ पेरुमाळ तिरुमोळि ९.२
३ वही ९.३   ४ वही ९.५
५ वही, ९.४   ६ वही ९.७
७ वही, ९.८

दशक की अन्तिम दो पंक्तियाँ हमारे हृदय को अद्भुत ही द्रवित कर देने वाली हैं—

"कानकमे मिक विरुम्बी नी तुरन्द
कळनगरै तुरन्दु नागुम
वानकमे मिक विरुम्बी पोगिन्रेन
मनुकुलत्तार तंगळ कोवे !"[1]

[जिस प्रकार तुम समृद्ध अयोध्या नगर को त्याग कर वन (कानकम्) चले गये हो उसी प्रकार मैं भी इस नगर को छोड़कर आकाश-लोक (वानकम) जा रहा हूँ।]

यहाँ पर कवि ने 'कानकम' और 'वानकम' शब्दों को अनायास ही करुण-रस से सिंचित किया है।

पेरुमाळ तिरुमोळी"[1] के अन्तिम दशक 'संक्षिप्त रामायण' में कवि ने बीच बीच में भगवद् स्तुति कर कृपा-सिन्धु भगवान् से अपने पापों को क्षमवाना कि अनुग्रह क्षम से धोकर, भगवान् के दास-भक्त में अपने को स्वीकार कर लेने की विनीत प्रार्थना की है। सामान्यतः कुलशेखराळ्वार की भक्ति दास्य भक्ति की कोटि में आती है।

तिरुमंगै आळ्वार के करीब २० पद राम-कथा प्रसंग की ओर संकेत करते हैं। इस आळ्वार ने भी पूरी राम-कथा को क्रमिक रूप से नहीं लिया है। इनकी रचना "पेरिय तिरुमोळी' के एक दशक[2] में राम रावण-युद्ध में पराजित राक्षसों के मुँह से राम की स्तुति का वर्णन है। तमिळ-काव्य शैली में पराजित व्यक्तियों के मुख से विजयी पुरुषों की प्रशस्ति सुनाने की एक परम्परा है। तात्पर्य यह है कि पराजित व्यक्ति द्वारा विजयी पुरुष की प्रशस्ति का वर्णन करने से ही विजयी पुरुष के विशिष्ट गुणों और शक्तियों का अच्छा परिचय मिल सकता है। कवि ने राम के विशिष्ट गुणों के गायन के लिए इस प्रकार का एक प्रसंग खोज निकाला है। उक्त दशक में पराजित राक्षस राम के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन कर उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं। वे अपनी दुर्बलताओं को प्रकट कर रावण को धिक्कारते हैं और राम की स्तुति करते हैं। उनके कथन के बीच राम-कथा के अनेकों प्रसंगों का उल्लेख हुआ है। तिरुमंगै के अन्य पदों में कहीं-कहीं विष्णु के अन्य अवतारों के साथ राम-कथा के कुछ प्रसंगों की ओर भी संकेत है। तिरुमंगै आळ्वार ने उन पदों में जहाँ वे आत्म निवेदन करते हैं, वहाँ *उनकी दास्य भक्ति दृष्टिगोचर होती है। तिरुमंगै आळ्वार के* अनेक पद ऐसे हैं जहाँ उन्होंने नायक-नायिका-भाव से भक्त-भगवद् सम्बन्ध को वर्णित किया है, वहाँ उनकी माधुर्य-भक्ति की सुन्दर झाँकी मिल जाती है। उनकी रचना 'तिरुनेडुंदांडकम्' के एक पद में उनकी राम भक्ति भी माधुर्य भाव के माध्यम से प्रकट होती है।

---

१ पेरुमाळ तिरुमोळी ९.१०
२ वही १ २—११०

यद्यपि पेरियाळ्वार ने लीलानायक कृष्ण की विभिन्न बाल-लीलाओं में अपने मन को डुबो दिया, तो भी रामावतार के प्रति उन्होंने उपेक्षा नहीं दिखाई। पेरिय आळ्वार की रचना 'पेरियाळ्वार तिरुमोळी' में दो दशकों में राम-कथा के प्रसंगों का वर्णन है। एक दशक[1] में दो सखियों के सम्भाषण के रूप में रामावतार और *कृष्णावतार की विशेषताओं का गायन कराया गया है।* रामावतार की विशेषताओं का गायन कराया गया है। रामावतार की विशेषताओं का वर्णन करने वाली सखी राम-कथा के प्रसंगों में परशुराम गर्व-भंग ताड़का-वध, कैकेयी के कथन पर राम का सीता सहित वन-गमन भरत की प्रार्थना पर पादुका देना शूर्पणखा-वध रामेश्वरम् में पुल बांधकर लंका प्रवेश आदि की ओर संकेत मात्र करती है। एक अन्य दशक[2] में अशोक-वाटिका प्रसंग चित्रित है। सीताजी की खोज में निकले हनुमान ने जब लंका की अशोक-वाटिका में व्यथा से युक्त सीताजी के दर्शन किये तो एक ओर उसे असह्य वेदना हुई और दूसरी ओर उसके आनन्द की सीमा नहीं रही क्योंकि उसका परिश्रम निष्प्रयोजन नहीं गया। पेरियाळ्वार के उक्त दशक में हनुमान द्वारा सीताजी का अपना परिचय अपने राम के दास और दूत रूप का निरूपण करने के कुछ संकेत तथा उसके द्वारा सीताजी को रामजी की दी हुई अंगूठी देने का वर्णन है। हनुमान के मुख से रामचन्द्रजी के परम कल्याणकारी गुणों की और सीताजी की स्तुति प्रस्तुत की गयी है। पेरियाळ्वार के पद अधिकांशतः वात्सल्य रस से ओत प्रोत हैं। कुछ पदों में जहाँ कवि आत्म-समर्पण की भावना व्यक्त करता है वहाँ दास्य भक्ति की सुन्दर झाँकी मिलती है।

नम्माळ्वार (शठकोप) ने उपर्युक्त तीन आळ्वारों की तरह राम-कथा-वर्णन में कोई दशक नहीं दिया है। फिर भी उनके पदों में यत्र-तत्र अन्य आळ्वारों के उल्लेख के साथ रामावतार के कुछ कथा-प्रसंगों की ओर भी संकेत है। द्वादश आळ्वारों में नम्माळ्वार का स्थान सर्वोपरि है। उन्हें 'वेदम् तमिळ् सेय्दमारन्' अर्थात् 'वेद को तमिळ में प्रस्तुत करने वाला' कहा जाता है। उनका समस्त पद-संग्रह तिरुवायमोळि' भक्ति का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। भक्त-हृदय की करुण पुकार इन पदों में गूँज उठती है। कवि ने स्वयं को विरहिणी नायिका के रूप में चित्रित कर नायक (भगवान्) से मिलने के लिए तड़पने वाले अपने उर का मार्मिक परिचय दिया है। लौकिक प्रेम-वर्णन के लिए तमिळ काव्य-परम्परा में उपलब्ध सभी रूढ़ियों का प्रयोग कर उन्होंने उसे अलौकिक प्रेम का स्वरूप दे दिया है। इनका ग्रन्थ तिरुविरुत्तम' मधुर भक्ति का लक्षण-ग्रन्थ माना जा सकता है। मधुर भक्ति के दोनों पक्ष (संयोग और वियोग) के सजीव चित्र इनके पदों में देखने को मिलते हैं।

---

१ पेरियाळ्वार तिरुमोळी, ३ ६।१—१०

२ वही ३।१० १—१०

उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह है कि यद्यपि आळ्वार भक्त प्रधानतः कृष्णोपासक थे उन्होंने रामोपासना भी की है। हिन्दी के प्रसिद्ध राम-भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भी विष्णु के अवतार रूपी अपने इष्टदेव राम का वर्णन करते हुए भी 'कृष्ण गीतावली' में अपनी कृष्ण-भक्ति का भी परिचय दिया है। इसी प्रकार परम कृष्ण-भक्त कविवर सूरदास ने भी रामावतार की महिमा गायी है। कृष्ण भक्ति के क्रमिक-विकास का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी जहाँ आळ्वार भक्तों में कृष्ण भक्ति-काव्य का मूल स्रोत देखता है, वहाँ वह आळ्वारों को राम-कथा के प्रथम गायकों के रूप में अवश्य पायेगा। यह सच है कि आळ्वारों ने अपने युग की माँग के अनुसार कृष्ण के लोक-रंजक रूप का ही अधिक वर्णन गीत-पद्धति में प्रस्तुत किया है। कारण यह है कि उनका युग भक्ति-आन्दोलन का युग था, भावावेश का युग था। उसमें 'रामायण' जैसे महाकाव्यों का प्रणयन असम्भव था। फिर भी उन्होंने राम-कथा के कतिपय प्रसंगों को अपने पदों में स्थान दिया जिससे परवर्ती राम-भक्त कवि भी बहुत प्रभावित हुए और उसके फलस्वरूप उन लोगों ने महाकाव्य रचे हैं।

अगर 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' में इधर-उधर दिये गये राम-कथा-प्रसंगों को एकत्रित कर क्रमिक रूप में रखा जाय तो हमें पूरी राम-कथा मिल जाती है। 'प्रबन्धम्' के टीकाकार श्री पेरियवाच्चान पिळ्ळै ने प्रबन्धम् में यत्र-तत्र उपलब्ध राम कथा-संकेतों और वर्णनों को एक व्यवस्थित रूप में रखकर उन्हें 'पाशुरप्पडी रामायण' के नाम प्रस्तुत किया है। आळ्वारों के पदों से कतिपय पंक्तियों को लेकर उन्होंने जो 'रामायण' प्रस्तुत किया है, उसके अवलोकन से यह स्पष्ट विदित होगा कि आळ्वारों में रामोपासना भी कितनी तीव्र थी। 'प्रबन्धम्' से श्री पेरियवाच्चान पिळ्ळै द्वारा संकलित पदों से निर्मित 'रामायण' को नीचे दिया जाता है। यदि इसको हम 'आळ्वार रामायण' की संज्ञा दें तो उचित ही होगा।

'आळ्वार-रामायण'

बालकाण्ड

आळ्वार का नाम	रचना का नाम	पद-सं०
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	१ १०-१
नम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	२-८ ४
वही	वही	१० ६ ११
वही	वही	४ ३ १
वही	वही	१ १ १
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	११-८-८
नम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	५ १ ६
वही	वही	१०-७-२
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	७-८ ६

आळवार का नाम	रचना का नाम	पद सं०
नम्माळवार	तिरुवायमोळी	१० १-५
तिरुमंगै आळवार	पेरिय तिरुमोळी	१-७-७
कुलशेखराळवार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१ १०
वही	वही	१०-१
वही	वही	६ १
वही	वही	१०-११
वही	वही	१० २
तिरुमंगै आळवार	पेरिय तिरुमोळी	१ १० १
कुलशेखराळवार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१० २
तिरुमंगै आळवार	पेरिय तिरुमोळी	४ १-८
नम्माळवार	तिरुवायमोळी	६ २ १०
कुलशेखराळवार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१० ३
वही	वही	६ ६
वही	वही	१०-८
वही	वही	६ १

अयोध्याकाण्ड

आळवार का नाम	रचना का नाम	पद सं०
पेरियाळवार	पेरियाळवार तिरुमोळी	२ १-८
वही	वही	१ १० ३
वही	वही	३ ६ ४
वही	वही	४-८ ४
वही	वही	१ १०-३
कुलशेखराळवार	पेरुमाळ तिरुमोळी	६ २
पेरियाळवार	पेरियाळवार तिरुमोळी	४-८ ४
कुलशेखराळवार	पेरुमाळ तिरुमोळी	६ २
वही	वही	६-७
तिरुमंगै आळवार	पेरिय तिरुमोळी	११ ५ १
कुलशेखराळवार	पेरुमाळ तिरुमोळी	६-२
नम्माळवार	तिरुवाय मोळी	८ ३ १
तिरुमंगै आळवार	पेरिय तिरुमोळी	१ ५ १
कुलशेखराळवार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१० ४
वही	पेरिय तिरुमोळी	१-२ २
वही	पेरुमाळ तिरुमोळी	६ ३
पेरियाळवार	पेरियाळवार तिरुमोळी	३ १०-६

आळ्वार का नाम	रचना का नाम	पद सं०
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	८ ११
वही	वही	८ १०
मम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	१० ६ ५
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	३ १० ६
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	६ ६ ३
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	६-७
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	३-१०-२
वही	वही	४ ६ १
वही	वही	२ १-८
वही	वही	४-६ १

अरण्य काण्ड

आळ्वार का नाम	रचना का नाम	पद सं०
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिया तिरुमोळी	१०-२ १
वही	वही	८ ५ ४
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१० २
तिरुमंगै आळवार	सिरिय तिरुमडल	२४
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	३ १० ३
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	३ ४ ६
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१०-५
तिरुमंग आळ्वार	पेरिय तिरुमडल	१४५
वही	सिरिय तिरुमडल	१६
वही	वही	४
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१ ५
तिरुमंगै आळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	३-६ ४
वही	वही	४-७-७
वही	वही	११ ४-७
तिरुमाळिशै आळ्वार	तिरुच्चन्त विरुत्तम्	५१
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमडल	११२
वही	वही	११
वही	पेरिय तिरुमोळी	५-७-७
वही	वही	६ ३ ५
वही	वही	१ २४
वही	वही	१० २ ३
वही	वही	१० २ ५

आळ्वार का नाम	रचना का नाम	पद सं०
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	३ १०-४
नम्माळ्वार	तिरुकुरुन्ताण्डकम्	१६
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	११ ४-७
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१०-६
नम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	७-२ १
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	३ ६ ४
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	२ १० ५
	किष्किन्धा काण्ड	
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	—
वही	वही	१०-६
नम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	१ ५ ६
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	४ ६ ३
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	३ १०-८
वही	तिरुप्पल्लाण्डु	६
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१० ११
नम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	१ ५ ८
वही	वही	६ ७-६
	सुन्दर काण्ड	
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	३ १०-११
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	१० २-६
वही	वही	१०-२ ५
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	३ १० १०
वही	वही	३ १० १
वही	वही	३-१० २
वही	वही	३ १० ३
वही	वही	३ १०-४
वही	वही	३-१० ५
वही	वही	३ १० ६
वही	वही	३ १०-७
वही	वही	३ १०-८
वही	वही	३ १० ८
वही	वही	३ १० १०
वही	वही	३ १० ६

आळ्वार का नाम	रचना का नाम	पद सं०
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१० ११
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	८ ५-७
वही	वही	१० २ ६
वही	तिरुनेडुन्ताण्डकम	२६
वही	तिरुकुरुन्ताण्डकम	१५
	मुक्त काव्य	
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	६ १० ६
वही	वही	८ ६ ४
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	४ १ १
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	६-८ ५
नम्माळ्वार	तिरुवाय मोळी	७-६-९
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१०-७
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	८ ६ ४
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	८
तिरुमंगै आळ्वार	सिरिय तिरुमडल	२६
वही	पेरिय तिरुमोळी	११ ४-७
वही	वही	१० २ ५
वही	वही	१० १-२
वही	वही	४-८ ५
वही	वही	१ ११
वही	वही	१ ६ ५
आण्डाळ	तिरुप्पावै	४
तिरुमळिशै आळ्वार	तिरुच्चन्द विरुत्तम	५६
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	२ १०-८
तिरुमळिशै आळ्वार	नान्मुकन तिरुवन्तादि	४२
पोयगै आळ्वार	मुदल तिरुवन्तादि	५२
तिरुमळिशै आळ्वार	तिरुच्चन्द विरुत्तम	८७
नम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	१०-६ १
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	१ ४-७
वही	वही	१-२ ४
नम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	६ ६ १
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	६-८ २
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	३ १०-८

आळ्वार का नाम	रचना का नाम	पद सं०
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	१ १० ४
कुलशेखराळ्वार	पेरुमाळ तिरुमोळी	१० १
वही	वही	६-९
नम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	८ ४-७
वही	तिरुविरुत्तम	१
वही	तिरुविरुत्तम	२१
तिरुमंगै आळ्वार	पेरिय तिरुमोळी	२ १-७
नम्माळ्वार	तिरुवाय मोळी	६ २-१
तिरुमळिसै आळ्वार	तिरुच्चन्द विरुत्तम	५३
पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार तिरुमोळी	१ १०-९
आण्डाळ	तिरुप्पावै	२१
नम्माळ्वार	तिरुवायमोळी	४ ५ १

परिशिष्ट १

'प्रबन्धम्' पर लिखित भाष्य और उनकी भाषा

निश्चित प्रमाणों के अभाव में ऐसा प्रतीत होता है कि आळ्वार भक्तों के पद बहुत समय तक मौखिक परम्परा से ही लोक-प्रचलित रहे। अन्तिम संत तिरुमंगै आळ्वार के उपरान्त आळ्वार भक्तों का पद-साहित्य नष्ट-प्राय होने लगा और श्री नाथमुनि (८२४ ई०—९२४ ई०) के समय तक यह पद-साहित्य प्रायः नष्ट हो चुका। कहा जाता है कि एक बार नाथमुनि ने श्रीरंगम् में तीर्थ-यात्रा में आए हुए कुछ यात्रियों से आळ्वारों का एक पद सुना जिसमें नम्माळ्वार के एक सहस्र पदों में उसके अन्तिम पद होने का उल्लेख था। श्री नाथमुनि ने उन यात्रियों से आळ्वारों के अन्य पदों को सुनाने की प्रार्थना की। परन्तु उन भक्तों को उस एक मात्र पद के अतिरिक्त कोई पद याद नहीं था। तब यह विचार कर कि नम्माळ्वार के जन्म स्थान पर पहुँचने पर सम्भवतः उनके अन्य पदों का भी पता चल जाय नाथमुनि ने उन भक्तों से नम्माळ्वार के जन्म-स्थानादि के सम्बन्ध विस्तृत विवरण प्राप्त किया और वे अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए चल दिये। किंवदन्ती है कि श्री पराङ्कुशमुनि ने जो मधुरकवि के शिष्य थे (मधुरकवि स्वयं नम्माळ्वार के शिष्य थे), नाथमुनि को बताया कि मधुरकवि द्वारा नम्माळ्वार की स्तुति में रचित 'कण्णिनुण् शिरुत्ताम्बु' का सहस्रों बार गायन करने से नम्माळ्वार के दर्शन मिल सकेंगे। कहा जाता है कि नाथमुनि के 'कण्णिनुण् शिरुत्ताम्बु' को एक सहस्र बार गायन करने पर स्वप्न में नम्माळ्वार ने दर्शन दिये और प्रबन्धम् के समस्त पद उन्हें गाकर सुनाए। कुछ भी हो इस किंवदन्ती से इतनी बात तो स्पष्ट हो जाती है कि नाथमुनि ने ही आळ्वारों के समस्त पदों का जो नष्ट प्राय अवस्था में थे—संकलन किया और 'प्रबन्धम्' के रूप में सम्पादन किया। इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि नाथमुनि के परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने प्रबन्धम् के प्रति अपरिमित श्रद्धा दिखायी थी और उसका महत्त्व पूर्णतः समझा था।

भाष्यों का आविर्भाव

श्री नाथमुनि के समय से लेकर श्री रामानुजाचार्य के समय तक लगभग तीन सौ वर्षों के इस दीर्घकाल में वैष्णव-आचार्य प्रायः सभी आळ्वार-पदों के अध्ययन में लीन थे। आळ्वार-पदों से प्रभावित होकर वैष्णव आचार्यों ने इन भक्तिपूर्ण भावमय पदों की अनेक टीकाएँ भी प्रस्तुत कीं। इसी काल में आचार्यों ने 'प्रबन्धम्' के पद सागर से अमूल्य रत्न खोज निकाले। आळ्वारों के प्रति उनका श्रद्धा भाव बढ़ता गया जिसके फलस्वरूप श्री रामानुजाचार्य के समय से आळ्वारों की रचनाओं पर अनेक भाष्य निकलने लगे। आळ्वार-पदों की सुन्दर व्याख्या करने वाले आचार्यों ने उन पदों के जितने भी अर्थ निकाले थे, वे ही लिपिबद्ध होकर भाष्यों के रूप में जनता के सामने आये। आळ्वार-पदों पर प्रथम भाष्य नम्माळ्वार की 'तिरुवायमोऴि' पर था। आळ्वारों के बीच में नम्माळ्वार को सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। इसको सूचित करने के लिए ही कदाचित् प्रथम भाष्य उनकी रचना 'तिरुवायमोऴि' पर लिखा होगा। इसको श्री रामानुजाचार्य के शिष्य तिरुकुरुकैपिरान् पिळ्ळै न श्री रामानुजाचार्य के आदेश पर लिपिबद्ध करके प्रस्तुत किया। इस भाष्य का नाम है, 'आराइरप्पडी'[1] (६००० परिच्छेदों वाला भाष्य)। तत्पश्चात् श्री भट्टर के शिष्य नञ्जीयर ने एक विस्तृत भाष्य लिखा जो 'ओम्पदायिरप्पडी' (९,००० परिच्छेदों वाला भाष्य) कहलाता है। नंजीयर के बाद एक बृहद् भाष्य प्रस्तुत करने का श्रेय नञ्जीयर के शिष्य नंपिळ्ळै को है। यह भाष्य मुप्पत्ति आराइरप्पडी' (३६,००० परिच्छेदों वाला भाष्य) के नाम से प्रसिद्ध है। इसको लिपिबद्ध करने वाले श्री वडक्कु तिरुवीधि पिळ्ळै थे। यह भाष्य 'ईडु' के नाम से बहुत ही प्रसिद्ध हुआ। 'ईडु' शब्द का अर्थ है—लिखित रूप में प्रस्तुत करना। 'प्रबन्धम्' के समस्त भाष्यों में 'ईडु' को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। इस भाष्य से ही आळ्वारों के पदों की व्याख्या में आलोचनात्मक और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण रखा गया। (यह मणिप्रवाल-शैली में है। इसका शुद्ध तमिळ-अनुवाद मद्रास-विश्वविद्यालय की ओर से श्री पुरुषोत्तम नायुडु द्वारा १० भागों में हाल ही में प्रस्तुत किया गया है।)

नंपिळ्ळै के शिष्य पेरियवाच्चान पिळ्ळै ने आळ्वारों के चार सहस्र पदों का एक विस्तारपूर्ण भाष्य तैयार किया। इसमें तिरुवायमोऴि से सम्बन्ध रखने वाला भाष्य 'इरुपत्तिनालायिरप्पडी' (२४००० परिच्छेदों वाला भाष्य) कहलाता है। पेरियवाच्चान पिळ्ळै के शिष्य के बाद केसरी अऴगिय मणवाळजीयर ने एक भाष्य केवल 'तिरुवायमोऴि' पर प्रस्तुत किया जिसे 'पन्निरंडायिरप्पडी' (१२,००० परिच्छेदों वाला भाष्य) कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तिरुवायमोऴि' को पाँच भाष्यों

---

१ 'पडी' का शाब्दिक अर्थ है—"एक माप"। यहाँ पडी के लिए परिच्छेद अर्थ लेना ही उचित होगा।

को प्राप्त करने का गौरव प्राप्त है। कहते हैं कि इनके अतिरिक्त 'पतिनेट्टामिरप्पडी' के नाम से भी वेदान्त देशिकाचार्य के परवर्ती आचार्यों द्वारा एक और भाष्य भी लिखा गया। यह भी कहा जाता है कि श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने (जो 'वडकलै सम्प्रदाय के संस्थापक थे) 'निगम परिमळम्' के नाम से ७६ ०० परिच्छेदों वाला एक बृहद् भाष्य प्रस्तुत किया था।

कुछ विद्वानों का मत है कि 'प्रबन्धम्' का सर्वाधिक प्रचार नाथमुनि के बहुत बाद में हुआ क्योंकि नाथमुनि तथा रामानुजाचार्य के बीच के आचार्यों ने अपनी रचनाओं म आळ्वारों का विशेष उल्लेख नहीं किया है। आळवन्दार (नाथमुनि के पौत्र) जो पाँच ग्रन्थों के रचयिता थे आळ्वारों का विशेष उल्लेख कहीं नहीं करते। इस प्रकार आळवन्दार के शिष्यों (जिनको पंचाचार्य कहते हैं। वे हैं—पेरिय तिरुमलै नंबी तिरुक्काच्चि नंबी पेरिय नंबी तिरुमलै आंडान तिरुक्कोट्टियूर नंबी) ने भी आळ्वारों की कोई विशेष चर्चा नहीं की है। यह भी कहा जाता है कि श्री रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थों में आळ्वारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। किन्तु यह तर्क निराधार है। एक कारण यह है कि नाथमुनि से रामानुजाचार्य तक के आचार्यों ने जितने भी ग्रन्थ लिखे हैं, वे आळ्वारों से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते। अतः उनके ग्रन्थों में आळ्वारों की विशेष चर्चा नहीं मिलना स्वाभाविक ही है। नाथमुनि ने तो नम्माळ्वार की स्तुति में एक श्लोक[1] लिखा था जो 'तिरुवायमोळी' के प्रारम्भ में नम्माळ्वार स्तुति में स्थान पाता है। नाथमुनि के पौत्र श्री आळवन्दार ने भी एक श्लोक में नम्माळ्वार की स्तुति की है। रामानुजाचार्य के शिष्य कुरत्ताळ्वान ने आळ्वारों की अपने ग्रन्थ 'वैकुण्ठस्तव' में बड़ी स्तुति की है। कुरत्ताळ्वान के पुत्र श्री भट्टर ने भी 'द्राविड वेद' कहकर 'प्रबन्धम्' की महिमा का गान किया है।

ध्यान देने की बात है कि जितने भी भाष्य आळ्वारों की रचनाओं पर लिखे उनमें अधिकांश नम्माळ्वार की रचना 'तिरुवायमोळी' के पदों से सम्बन्धित हैं। भाष्यकारों ने तिरुमोळी के एक सहस्र पदों को एक भाग में लिया है और 'प्रबन्धम्' के शेष तीन सहस्र पदों को दूसरे भाग में अलग रूप से लिया है। 'तिरुवायमोळी' के अतिरिक्त प्रबन्धम् में संगृहीत अन्य पुस्तकों पर भी अलग-अलग टीकाएँ लिखी हैं। पेरियवाच्चान पिळ्ळै ने तिरुवायमोळी भाष्य' के साथ 'प्रबन्धम्' के शेषांश पर भी भाष्य प्रस्तुत किया है। उनके भाष्य में कुछ पद अछूते रह गये थे विशेष रूप से 'पेरियाळ्वार तिरुमोली' के कुछ पद। श्री मणवाळ मामुनि ने उन पदों पर भाष्य प्रस्तुत कर पूरा किया। श्री मणवाळ मामुनि के गुरु तिरुवायमोळी-पिळ्ळै ने भी 'पेरियाळ्वार तिरुमोळी'

---

१ 'भक्तामृत विश्वजनानुमोदनं ।
सर्वार्थदं श्री शठकोपवाङ्मयम् ।
सहस्र शाखोपनिषत्समागमम् ।
नमाम्यहं द्राविडवेद सागरम् ॥"

पर दार्शनिक दृष्टिकोण से युक्त एक बृहत् भाष्य प्रस्तुत किया। आण्डाळ की रचना 'तिरुप्पावै' पर अनेक टीकाएँ मिलती हैं—ईरायिरप्पडी नालायिरप्पडी मूवायिरप्पडी आरायिरप्पडी तथा पुथा ससम् वात्ताचार्य कृत स्वापदेशाय। इनमें 'मूवायिरप्पडी' (३००० परिच्छेदों वाली टीका) के टीकाकार श्री पेरियवाच्चान पिळ्ळै हैं। 'आरायिरप्पडी' (६००० परिच्छेदों का भाष्य) के प्रणेता अळगिय मणवाळ पेरुमाळ्नायनार थे। 'ईरायिरप्पडी और 'नालायिरप्पडी' के रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं।

तोण्डरडिप्पोडी आळ्वार कृत तिरुप्पळ्ळि एळुच्चि पर श्री नंजीयर तथा श्री पेरियवाच्चान पिळ्ळै द्वारा प्रस्तुत दो टीकाएँ मिलती हैं। तिरुप्पाण आळ्वार विरचित 'अमलनादिपिरान' पर श्री पेरियवाच्चान पिळ्ळै तथा अळगिय मणवाळ पेरुमाळ नायनार की टीकाएँ मिलती हैं। इस पर वेदान्त देशिकाचार्य ने मुनिवाहन भोगम्' नाम से एक संस्कृत-टीका भी लिखी है। मधुर-कवि आळ्वार कृत 'कण्णिनुण् शिरुत्ताम्बु' पर पर सब श्री नंजीयर नंपिळ्ळै पेरियवाच्चान पिळ्ळै आदि ने टीकाएँ प्रस्तुत की हैं। तिरुमंग आळ्वार कृत 'पेरिय तिरुमोळि' पर मिलने वाली टीकाओं में एक श्री पेरिय वाच्चान पिळ्ळै की है और दूसरी नंजीयर की। तिरुमंगै आळ्वार की दूसरी रचना 'तिरुनेडुन्ताण्डकम' पर श्री पेरियवाच्चान पिळ्ळै की एक प्रसिद्ध टीका उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त उक्त ग्रन्थ पर श्रीरंगम् के तंपुरान लोगों (भक्तगण) द्वारा रचित एक टीका भी है। परन्तु यह अब अप्रकाशित है। नम्माळ्वार की कृति तिरुविरुत्तम' पर भी नंपिळ्ळै श्री पेरियवाच्चान पिळ्ळै श्री वादिकेसरि श्री अळगिय मणवाळ जीयर आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत टीकाएँ भी मिलती हैं। तिरुमंगै आळ्वार की कृति पेरिय तिरुमडल' पर भी पेरियवाच्चान पिळ्ळै तथा श्री अळगिय पेरुमाळ नायनार ने टीकाएँ लिखी हैं। श्री नायनार की टीका 'नायनार व्याख्यानम्' कहलाती है। यह भी कहा जाता है कि अप्पिळ्ळै नामक एक विद्वान् ने 'प्रबन्धम्' के सभी पदों पर एक सामान्य भाष्य प्रस्तुत किया था। वह अब उपलब्ध नहीं है।

भाष्यों की भाषा

श्री तिरुक्कुरुकै पिरान पिळ्ळान के समय से लेकर श्री मणवाळ मामुनि के समय तक; अर्थात् लगभग १२वीं सदी से १५वीं सदी तक के सभी भाष्यकार अपने भाष्यों में एक विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग करते थे यद्यपि वे दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों के निवासी थे। श्री नंजीयर मैसूरवासी थे। श्री पेरिय वाच्चान पिळ्ळै मद्रास प्रान्त के कुम्भकोण-क्षेत्र के थे और मणवाळ मामुनि रामानाड् जिले के थे। इस प्रकार अन्य भाष्यकार भी समस्त दक्षिण भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों के रहने वाले थे। परन्तु एक विशेष बात यह है कि इन सभी भाष्यकारों की भाषा शैली में एक समानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने जिस विशिष्ट भाषा का प्रयोग किया था,

वह 'मणिप्रवाळ'[1] कहलाती है। वे अपने भाष्यों में अपने समय के दैनिक जीवन में काम आने वाले समस्त शब्दों और प्रयोगों को अपनाते थे। वे तमिळ की गद्य-शैली में अपने भाष्या में तमिळ शब्दों के बीच-बीच वर्णन से पुष्ट संस्कृत के शब्दों और उद्धरणों को पिरो देते थे। ऊपर उल्लिखित टीकाकारों का काल तमिळ-साहित्य के इतिहास में 'भाष्य-काल' कहलाता है। इन टीकाकारों ने जिस मणिप्रवाळ' भाषा का प्रयोग किया था उससे तमिळ-भाषा का शब्द-भण्डार व्यापक हुआ और तमिळ-भाषा में एक नयी शक्ति आ गयी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन टीका-ग्रन्थों में प्रयुक्त संस्कृत शब्द बड़े महत्व के हैं। इन भाष्या में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों और प्रयोगों का एक विस्तृत अध्ययन ही अपेक्षित है। पुराने समय में गुरु या आचार्य की सहायता के बिना इन भाष्यों को समझना कठिन समझा जाता था। इन टीकाकारों ने अपने भाष्यों में जिन विशिष्ट प्रयोगों शब्दों वाक्यांशों का प्रयोग किया था उनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए व्याख्या सहित उनका संकलन भी मणवाळ मामुनि के समय के पश्चात् हुआ। इन संकलनों में एक का नाम है, अरुंपद विळक्कम (कठिन शब्दार्थ)। तिरुवायमोळी पर उपलब्ध 'ईडु' नाम के प्रसिद्ध भाष्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का अर्थ बताने वाला एक ग्रन्थ 'जीयर अरुंपदम' है। वस्तुतः इस प्रकार के शब्दार्थ बताने वाले ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' के भाष्यों के भी भाष्य ठहरते हैं।

स्मरण रहे कि जिस प्रकार आळ्वार विरचित प्रबन्धम्' पर 'मणिप्रवाळ' शैली में तमिळ में अनेकानेक भाष्य उपलब्ध हैं, उस प्रकार के भाष्यों के दर्शन हमें तमिळ के अन्य धार्मिक साहित्यों के क्षेत्र में नहीं होते। वैष्णव भक्त-कवि आळ्वारों के प्रबन्धम्' पर लिखे हुए अनगिनत श्रेष्ठ भाष्यों के समान शैव भक्त-कवि नायन्मारों के पद-संग्रह 'तेवारम्' पर भाष्य नहीं मिलते। यह बड़े महत्व की बात है कि 'तेवारम्' पर एक साधारण-सा भाष्य ही उपलब्ध है। नंपिळ्ळै तथा अन्य सभी भाष्यकार संस्कृत के भी बड़े विद्वान् थे। किन्तु उन्होंने अपने भाष्यों में संस्कृत

---

1 संस्कृत शब्दों से मिश्रित तमिळ भाषा की शैली ही 'मणिप्रवाळ' कहलाती है। 'मणिप्रवाळ' से आशय है कि यह शैली जिसमें दो भिन्न भाषाओं के शब्द रूपी मोती और रत्नों से पिरोयी गयी एक माला। इस शैली का एक लघु उदाहरण इस प्रकार है—"इन्त जगत्तिल् चित्त चिदीश्वरर्कळुडैय स्वरूप स्वभावङ्ङळैयुम् अरियादे पुरुषार्थोपाय ङ्ङळैयुम् मूळादे शब्दादि विषय ङ्ङळिल् मिक्कुम् मेवी पोरुळ्कळुम् कळञ्जुम् कोण्डातिरुक्किरदु संसार दुःख सागरत्तिल् अळुन्दामिन्द्र चेतनर्क्कु 'दुर्लभो मानुषो देहो' एन्गिर पडिये पुरुषार्थोपयोगी आन मनुष्य शरीरं दुर्लभम्। इप्पडि दुर्लभमान शरीरत्तै पेट्रालुम मोक्षत्तै परिक्के अरिदु। मोक्षेच्छै पिरन्दालुम निरतिशय सुख रूपमाय भगवद् गुणानुभव कालाभाव तत्कैङ्कर्यप्राप्ति रूप मोक्षत्तै मोक्षकामनुक्कु निरतिशयरसता।"—(नंजीयर टीका से)

प्रणालियों का पूर्णरूप से अनुकरण नहीं किया। उनकी भाषा मूलतः तो लिए हुए भी संस्कृत की रूढ़ियों का पालन नहीं करती। जिस तरह संस्कृत में लिखित भाष्यों को 'संजीवनी' 'सर्वांकुष' 'रसिक रंजनी' 'कल्पतरु' जैसे नाम प्राप्त हैं, उस तरह तमिळ में रचित भाष्यों के अलग-अलग नाम नहीं हैं। जहाँ संस्कृत भाष्यों के प्रारम्भ में एक 'मंगलाचरण-श्लोक' रखने की तथा प्रत्येक अध्याय में रचयिता और उसकी विद्वत्ता की स्तुति करने की परिपाटी है, वहाँ तमिळ भाष्य उनसे मुक्त हैं। एक प्रश्न यह उठ सकता है कि जब इन तमिळ भाष्यों में उनके रचयिताओं के नाम एवं परिचय नहीं मिलते हैं तो उनके रचयिताओं के सम्बन्ध में कैसे कुछ कहा जाय? संयोगवश प्रत्येक भाष्य के अन्त में एक पंक्ति में इस प्रकार का उल्लेख अवश्य लिखा मिलता है कि अमुक के चरण ही मेरी शरण हैं। इन पंक्तियों में जिनकी स्तुति मिलती है वह स्पष्टतः उनके रचयिताओं के आचार्यों (गुरुओं) की ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिष्यों ने भाष्यकार गुरुओं के भाष्यों को सुरक्षित रखा है और उनके प्रति श्रद्धा भाव प्रदर्शित किया है।

'प्रबन्धम्' पर लिखित पूरे भाष्यों के अतिरिक्त आळ्वारों के चुने हुए पदों को लेकर उनका सार बताने वाले कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये। इस प्रकार के ग्रन्थकारों में सर्व श्री नंजीयर, पिळ्ळै लोकाचार्य और वेदान्त देशिकाचार्य प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों को 'रहस्य ग्रन्थ' कहा जाता है। इस ढंग के 'आत्म विवाहम्' तथा 'मुमुक्षु दर्पणम्' नामक दो ग्रन्थ श्री नंजीयर ने लिखे हैं। श्री पेरियवाच्चान् पिळ्ळै के भी दो ग्रन्थ इस प्रकार के मिलते हैं। वे हैं—'माणिक्कमाले' और 'निगमनप्पडि'। श्री पिळ्ळै लोकाचार्य तथा श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने सब से अधिक 'रहस्य-ग्रन्थ' लिखे हैं। श्री पिळ्ळै लोकाचार्य के लिखे १८ 'रहस्य' ग्रन्थों का सामूहिक नाम है 'अष्टादश रहस्यम्'। श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने छोटे-मोटे १० रहस्य ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें 'रहस्य त्रयसारम्' नामक ग्रन्थ सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि वेद, उपनिषद् तथा ब्रह्म-सूत्रों पर लिखित संस्कृत भाष्यों का जो महत्त्व है, वही तमिळ-प्रदेश में तमिळ में लिखित प्रबन्धम् के भाष्यों का है। दोनों में समान रूप से दार्शनिक विवेचन का दृष्टिकोण रखा गया है। श्री सम्प्रदाय (रामानुज सम्प्रदाय) के सभी आचार्य और उनके शिष्यों ने इन भाष्यों का गम्भीर अध्ययन किया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त १७वीं सदी के पश्चात् भी 'प्रबन्धम्' पर टीका ग्रन्थ लिखते रहे। इन टीकाओं की भाषा और ऊपर वर्णित भाष्यों की भाषा में अन्तर है। प्रारम्भ के 'प्रबन्धम् भाष्यों' में 'मणिप्रवाळ' शैली (संस्कृत मिश्रित तमिळ) सर्वगामी रही थी। कुछ काल के पश्चात् मणिप्रवाळ शैली छोड़ दी गयी और संस्कृत शब्दों से मुक्त शुद्ध तमिळ-शैली में अनेक टीकाएँ लिखने लगीं। इस प्रकार 'प्रबन्धम्' के भाष्यों का एक पृथक् विस्तृत-साहित्य ही निर्मित हो चुका है।

इन भाष्यों के अध्ययन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

१ इन भाष्यों के द्वारा आळवारों के पदों का व्यापक प्रचार तमिळ-प्रदेश में हो सका और लोग आळवारों के उदात्त विचारों से परिचित हो सके। आळवारों के प्रति तमिळ-समाज में श्रद्धा-भाव जाग उठा।

२ 'प्रबन्धम्' के प्रारम्भिक भाष्यों की भाषा के संस्कृत शब्दों और विशिष्ट प्रयोगों से युक्त होने (मणिप्रवाळ-शैली में होने) के कारण तथा उन भाष्यकारों के समस्त दक्षिण भारत के भिन्न स्थानों के निवासी होने के कारण दक्षिण के विभिन्न भागों के लोगों में आळवार पदों का प्रचार हो सका। इस प्रकार की शैली में होने के कारण सब लोग समझ सके और इस प्रकार समस्त दक्षिण भारत मे आळवारों के विचारों को फैल जाने का अवसर मिला।" 'मणिप्रवाळ' के संस्कृत भाषा के निकट होने से यह भी सम्भव है कि उत्तर भारत के विद्वान् भी इन भाष्यों को समझ सके।

३ तमिळ भाषा में इन भाष्यकारों के भाष्यों के माध्यम से बहुत से संस्कृत शब्द प्रवेश कर गये। ये शब्द अविकृत सरल और मधुर संस्कृत शब्द थे, जिनसे तमिळ भाषा में एक नयी छवि आ गयी।

४ तमिळ में १२ वीं शती से १६, १७ वीं शती के बीच मे प्रधान रूप से भाष्य ही लिखे गये। यही कारण है कि तमिळ-साहित्य के इतिहास में यह काल 'भाष्य ग्रन्थ-काल' कहलाता है।

५ इन भाष्यों ने आळवारों की विचार-धारा का प्रचार करने में बड़ी सहायता की और आळवार-पदों को सुरक्षित रखने में महान् योग दिया है और उनके महत्त्व को समझने में बड़ी सहायता मिली।

परिशिष्ट ४

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

१ अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त

२ भागवत-सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय

३ भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा

४ मध्यकालीन धर्म-साधना —डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

५ मध्यकालीन प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी

६ उत्तरी भारत की संत-परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी

७ सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंश लाल शर्मा

८ भागवत दर्शन—डा० हरवंश लाल शर्मा

९ सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा

१० महाकवि सूरदास—आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

११ सूर की काव्य-कला—डा० मनमोहन गौतम

१२ राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक

१३ हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

१४ सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

१५ सूर-साहित्य—डा हजारी प्रसाद द्विवेदी

१६ वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी

१७ हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी

१८. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल

१९ मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—डा० सावित्री सिन्हा

२० हिन्दी काव्य में प्रेम और सौन्दर्य—डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल

२१ हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव—डा० शशि अग्रवाल
२२ ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प—डा० सावित्री सिन्हा
२३ भक्ति का विकास—डा० मुंशीराम शर्मा
२४ अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन—डा० मायारानी टण्डन
२५ अष्टछाप परिचय—प्रभुदयाल मीतल
२६ कृष्ण भक्ति-कालीन साहित्य में संगीत—डा० उषा गुप्ता
२७ हिन्दी काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ—डा० ब्रजमोहन गुप्त
२८ सूर सौरभ—डा० मुंशीराम शर्मा
२९ सूर की झाँकी—डा० सत्येन्द्र
३० राधा का क्रमिक विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्ता
३१ अष्टछाप—डा० धीरेन्द्र वर्मा
३२ ब्रजभाषा—डा० धीरेन्द्र वर्मा
३३ भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय
३४ भारतीय संस्कृति—प्रो० देवदत्त शास्त्री
३५ हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा० बेनी प्रसाद
३६ संस्कृति के चार अध्याय—रामधारीसिंह 'दिनकर'
३७ कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत—डा० श्याम सुन्दरलाल दीक्षित
३८ रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—डा० बद्रीनारायण श्रीवास्तव
३९ राम-भक्ति साहित्य में मधुर उपासना—भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'
४० हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण—डा० किरण कुमारी गुप्ता
४१ मीरा स्मृति ग्रन्थावली—बंगीय हिन्दी परिषद्
४२ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ
४३ गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन—डा० जगदीश गुप्त
४४ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय
४५ १६ वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि—डा० रत्नकुमारी
४६ हिन्दी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति काव्य—डा० भास्कर नायर
४७ कंबर और तुलसी—डा० शंकर राजु नायडु
४८ हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास
४९ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
५० हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
५१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
५२ तमिल और उसका साहित्य—पूर्ण सोमसुन्दरम्
५३ तमिल साहित्य और संस्कृति—प्रबन्ध नन्दन
५४ सूरसागर—प्र० नागरी प्रचारिणी सभा

५५ परमानन्द सागर—सं० डा० गोवर्धननाथ शुक्ल
५६ नन्ददास ग्रन्थावली—प्र० नागरी प्रचारिणी सभा
५७ मीराबाई की पदावली—सं० परशुराम चतुर्वेदी
५८. ब्रजमाधुरी सार—सं० वियोगी हरि
५९ निम्बार्क माधुरी—सं० बिहारीशरण वृन्दावन
६० रसखान का अमर काव्य—सं० दुर्गाशंकर मिश्र
६१ श्रीहित स्फुटवाणी
६२ सुदामा-चरित—नरोत्तमदास
६३ भक्तमाल—नाभादास
६४ दो-सौ बावन वैष्णवन की वार्ता
६५ चौरासी वैष्णवन की वार्ता

पत्र-पत्रिकाएँ (हिन्दी)

१ आलोचना
२ भारतीय साहित्य
३ अभिनव भारती
४ साहित्य-सन्देश
५ कल्याण (भक्ति-अंक)

संस्कृत

१ नारद भक्ति-सूत्र
२ श्रीमद्भागवत—गीता प्रेस गोरखपुर
३ मुकुन्दमाला—कुलशेखराळवार
४ हरिभक्तिरसामृत सिन्धु—श्री रूप गोस्वामी
५ दिव्य प्रबन्ध कथामृत—श्री अण्णंकराचार्य

तमिळ

१ नालायिर दिव्य प्रबन्धम्—सं० कृष्णमाचारियार
२ वही —सं० अण्णंकराचार्य
३ आळवारकळ चरित्तिरम—सी० आर० श्रीनिवास अय्यंगार
४ आळ्वारकळ वरलाऱु—के० आर० गोविन्दराज मुदलियार
५ आळ्वारकळ वक्षिप्पुरवार वरलाऱु—के० आर० गोविन्दराज मुदलियार
६ आळवारकळ कालनिलै—एम० राघवय्यंगार
७ श्री भगवत् विषयम—ए० रंगनाथ मुदलियार
८ भक्ति-पू का—बी० एविरा[illegible]

९ श्री वैष्णवम—सं० ए० रंगनाथ मुदलियार
१० इंग्लिश तमिळ्-अकराति (तिरुनाम मोळी) दस भाग—श्री पुरुषोत्तम नायडू
(प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय)
११ तिरुविड मुनिवरकळ—एम० रामाकृष्ण पिल्लै
१२ मूवर एट्रिय मोळि विळक्कु—पी० श्री आचार्य
१३ तॉण्डरुक्कने तोळ कुमम—पी० श्री० आचार्य
१४ भगवान वळर्त्त मरबर—पी० श्री० आचार्य
१५ कुलशेखर—टी० पी० मीनाक्षीसुन्दरनार
१६ तमिळ म वैष्णवम—एम० रामाकृष्ण पिल्लै
१७ पेरियाळ्वार पिळ्ळै तमिळ—टी० पद्मावती अम्माळ
१८ विसिसपुत्त्र विळक्कु—एस० कृष्णवेणी अम्मैयार
१९ तिरुवायमोळी विळक्कम—पूर्णराम पिल्लै
२० मार्गळिपवळिय तिरुप्पाव—पी० के० षण्मुखनाथन
२१ भक्ति नैरी—श्री० राजगोपालाचारी
२२ आळ्वारकळ अमुतमोळी—स्वामी चित्तपरनार
२३ दिव्य प्रबन्ध सारम्—पी० श्री० आचार्य
२४ पेरियाळ्वार पेरुळोरी—कृष्णवेणी अम्मैयार
२५ दिव्य प्रबन्ध उरै—श्री अण्णंकराचार्य
२६ कंबन कण्ड तमिळकम—स्वामी चित्तपरनार
२७ कंबन काविपम्—एस० वैयापुरी पिल्लै
२८ मोळी वरलार—डा० मु० वरदराजनार
२९ पल्लवर वरलार—डा० एम० राजमाणिक्कनार
३० तमिळ इलक्किय वरलार (२ भाग)—के० सुब्रह्मण्य पिल्लै
३१ तमिळ चरित्तिरम्—एन० एस० कन्दैया पिल्लै
३२ तमिळ इलक्किय वरलार—ई० एस० वरदराज अय्यंगार
३३ तमिळ वरलार—के० एस० श्रीनिवास पिल्लै
३४ तमिळर शास्तु—डा० चिदानन्दन
३५ इलक्किय उदयम—एस० वैयापुरी पिल्लै
३६ प्रबन्धोत्तुम अर्थविशेषत्तुम—टी० डी० रामस्वामी नायडू
३७ ज्ञान शिखरम्—पी० श्री० आचार्य
३८ तुमिल एळ्ळुम्पिय तोंडर—पी० श्री० आचार्य
३९ आळ्वारकळ म आचार्यर्कळ म—पी० श्री० आचार्य
४० तमिळर पण्पाडु—वैयापुरी पिल्लै
४१ तमिळ नाट्टु विळायाट्टु—एम० परमशिवानन्दम
४२ तमिळर वळर्त्त अळगु कलैकळ—मयिलै चीनी वेंकटस्वामी

४३ याप्पिलक्कणम—प्रकाशक शैव सिद्धान्त नूर्पतिप्पु कळगम

४४ अणियिलक्कणम—वही

४५ तालाट्टु इलक्कियम—मु० अरुणाचलम

पत्र-पत्रिकाएँ (तमिळ)

१ सेंतमिळ

२ तमिळ पोळिल

३ तिरुक्कोयिल

४ श्री रामकृष्ण विजयम

ENGLISH

1 Alvar Saints—Swami Shudbananda Bharati.

2. The Divine Wisdom of Dravida Saints—A. Govindacharya.

3 The Life & Teachings of Ramanujacharya—C R. Srinivasa Aiyengar

4 A Metaphysique of Mysticism—A Govindacharya Swamin

5 Grains of Gold—R. S. Desikan

6 The Holy Lives of Alvars or Dravida Saints —A Govindacharya.

7 Hymns of Alvars—J S M Hooper

8. Tiruppavai (English Translation)—D Ramaswamy Aiyengar

9 Sri Mukundamala (with notes)—K. Ramapisharotty (Annamalai University Publication)

10. The Glory of Tamil Prabhanda—(Annangaracharya) English Translation by M V V K Rangachari.

11 History of Srivaishnavas—T A Gopinatha Rao (Sri Subramonia Iyer Lectures)

12. Early History of Vaishnavism in South India —Dr S Krishnaswamy Aiyengar

13. History of Tirupathi (Two Volumes)—Dr S Krishnaswamy Aiyengar

14 Ancient India—Dr S. Krishnaswamy Aiyengar

15 Tamil Studies—M Srinivasa Aiyengar

16 Origin and Early History of Saivism in South India—C. V Narayana Iyer

९　श्री वैष्णवम—टी० ए० रंगनाथ मुदलियार
१०　ईट्टिन तमिळाक्कम (तिरुवाय मोळी) दस भाग—पी पुरुषोत्तम नायडू
　　(प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय
११　तिरुमंगै मुदलियरवर्गळ—एम रामकृष्ण पिल्लै
१२　कूवर एट्टिय मोळि विळक्कु—पी० बी० आचार्य
१३　तोंडरडिप्पोडि तोळुकुलम—पी० बी आचार्य
१४　नम्माळ्वार कण्ड नगर—पी० बी० आचार्य
१५　कुलशेखर—टी० पी० मीनाक्षीसुन्दरनार
१६　तमिळ्प वैष्णवम—एम० रामकृष्ण पिल्लै
१७　पेरियाळ्वार सिरन्द तमिळ—टी पद्मावती अम्माळ
१८　तिरुप्पुल्लूर विळक्कु—एस० कृष्णवेणी अम्मैयार
१९　तिरुवायमोळी विळक्कम—पूर्वरामम पिल्लै
२०　आण्डाळप्पिरट्टियार तिरुप्पावै – पी के० सम्मुखनायन
२१　भक्ति नैरी—पी० राजगोपालाचारी
२२　आळ्वारगळ अरुळमोळी—स्वामी चित्तपरनार
२३　दिव्य प्रबन्ध सारम्—पी० बी० आचार्य
२४　पेरियाळ्वार पेरुमोळी—कृष्णवेणी अम्मैयार
२५　दिव्य प्रबन्ध चर्चै—श्री अनन्तकृष्णाचार्य
२६　कंबन कण्ड तमिळकम—स्वामी चित्तपरनार
२७　कंबन कावियम्—एस० वैयापुरी पिल्लै
२८　मोळी वरलार—डा मु० वरदराजनार
२९　पल्लवर वरलारु—डा एम राजमाणिक्कनार
३०　तमिळ इलक्किय वरलारु (२ भाग)—के० सुब्रह्मण्य पिल्लै
३१　तमिळ चरित्तिरम्—एन० एस० कन्दया पिल्लै
३२　तमिळ इलक्किय वरलारु—ई० एस० वरदराज अय्यंगार
३३　तमिळ वरलारु—के० एस० श्रीनिवास पिल्लै
३४　तमिळर नागरिकम—डा विद्यानन्दन
३५　इलक्किय उदयम—एस० वैयापुरी पिल्लै
३६　पन्निरुपुक्कुम पदिनेण्कुम—टी० वी० रामस्वामी नायडू
३७　ज्ञान शिखरम्—पी० बी० आचार्य
३८　तुमिन एळुन्दिय तोंडर—पी० बी० आचार्य
३९　आळ्वारगळ्म आचार्यर्गळ्म—पी० बी० आचार्य
४०　तमिळर पण्पाडु—वैयापुरी पिल्लै
४१　तमिळ नाट्टु विळाक्कळ—एम० परमशिवानन्दम
४२　तमिळर वळर्त्त अळगु कलैकळ—मयिलै सीनी वेंकटस्वामी

४३ पाण्पित्तरुणम—प्रकाशक शैव सिद्धान्त नूर्पतिप्पु कळकम
४४ पणियमत्तळम—वही
४५ तामाट्टु इलक्कियम—मु० अरुणाचलम

पत्र-पत्रिकाएँ (तमिळ)

१ सेंतमिळ
२ तमिळ पोळिल
३ तिरुक्कोयिल
४ श्री रामकृष्ण विजयम

ENGLISH

1 Alvar Saints—Swami Shudbananda Bharati.
2. The Divine Wisdom of Dravida Saints—A. Govindacharya.
3 The Life & Teachings of Ramanujacharya—C R. Srinivasa Aiyengar
4 A Metaphysique of Mysticism—A Govindacharya Swamin
5 Grains of Gold—R. S. Desikan
6 The Holy Lives of Alvars or Dravida Saints—A Govindacharya.
7 Hymns of Alvars—J S M Hooper
8. Tiruppavai (English Translation)—D Ramaswamy Aiyengar
9 Sri Mukundamala (with notes)—K. Ramapisharotty (Annamalai University Publication)
10. The Glory of Tamil Prabhanda—(Annangaracharya) English Translation by M V V K. Rangachari.
11 History of Srivaishnavas—T.A Gopinatha Rao (Sri Subramonia Iyer Lectures).
12. Early History of Vaishnavism in South India—Dr S Krishana swamy Aiyengar
13 History of Tirupathi (Two Volumes)—Dr S. Krishnaswamy Aiyengar
14 Ancient India—Dr S. Krishnaswamy Aiyengar
15 Tamil Studies—M Srinivasa Aiyengar
16 Origin and Early History of Saivism in South India—C. V Narayana Iyer

17 Studies in Tamil Literature and History—V R. Ramachandra Dikshitar
18 Tamil India—M S Purnalingam Pillai
19 History of the Tamils—P T Srinivasa Iiyengar
20. Some Contributions of South India to Indian Culture—Dr S Krishnaswamy Aiyengar
21 Tamils Eighteen Hundred Years Ago—K. Kanakasabai
22. Dr S Krishnaswamy Aiyengar—Commemoration Volume.
23 Tamilnad through Ages—M Paramasivanandam.
24 Essays on the Origin of South Indian Temple—Dr Venkata Rammayya.
25 A History of South India—K. A. Nilakanta Sastri.
26 South Indian Inscriptions (Vol. I & II.)
27 Advanced Studies in Tamil Prosody—Dr A Chidambaranatha Chettiar
28. History of Tamil Language and Literature—S. Vaiyapuri Pillai.
29 Philosophy of Vishista-dvaita—P N Srinivasachari
30. Mystics and Mysticism—P N Srinivasachari.
31 Aspects of Bhakti—Dr K. C Varadachari.
32. Idea of God—Dr K. C Vardachari.
33. Vaisnavism, Saivism and other Minor Religious Sects—Dr R. G Bhandharkar
34 A History of Indian Philosophy (Vol III)—Dr. S. N Das Gupta.
35. Bhakti Cult in Ancient India—Dr Bhagat Kumar Goswami.
36 The Cultural Heritage of India Series (Volumes III & IV)—Sri Rama Krishna Mission-Calcutta.
37 Materials for the Study of the Early History of the Vaishanava Sect—Hemachandra Ray Choudhuri
38 Vaishnavite Myths (In Folk lore Setting)—Dr Banikant Kakati
39 Indian Philosopoy (2 parts)—Dr Radhakrishnan
40. Obscure Religious Cults—Dr Shashibushan Das Gupta
41 Monograph on the Religious Sects of India—D A. Pal
42. Vaishnavite Reformers of India—T Rajagopalachari

43 Path way to God in Hindi Literature—R. D Ranade.
44 Influence of Islam on Indian Culture—Dr Tarachand.
45 An Outline of the Religious Literature in India—J N Farquhar
46 Literatures in Modern Indian Languages (Govt. of India Publication)

Journals

1 Journal of the Annamalai University
2 Annals of Oriental Research Madras
3 Tamil Culture, Madras.
4 Indian Antiquary
5 Journal of the Sri Venkiteswara Oriental Research Institute, Tirupati
6 Vedanta Kesari, Madras
7 Journal of Royal Asiatic Society

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	२	भारण	भारत
१५	२७	कीर्तिकेय	कार्तिकेय
१६	४	किकारी	शिकारी
२०	११	भक्त-भाव	भक्ति-भाव
२१	१५	रचनाओं में	रचना करने वालों में
२४	११	'पुरनाव'	'पुरनानूरु'
२५	२५	बलिराम	बलराम
२६	५	इवरीय	ईश्वरीय
३६	५	मायोन	मायोन
४१	१४	कयस	कसब
४४	१४	सबन	सर्वांग
४७	२६	दुर्लम	दुर्लभो
४९	२८	भटकायें	भटिकायें
५२	६	मूवताळ्वार	मूवताळ्वार
५३	९	बर्षक	वणक
५५	२	भक्ति	व्यक्ति
६१	१	आळवाय नहीं	आळवाय नहीं
६३	२१	'आरचण'	'आचरण'
६४	९	महाकाव्य	महाकाव्य
६८	२	इरुळ्य पेरुमाळ	इरुळ्य पेरुमाळ
६९	२१ २४ २८	बक्कर्ळ	बक्कर्म
(और अन्यत्र) २४	१०	तैम्कर्ळ	तैम्कर्ल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	७	इतमत	इँतमत
७७	२०	आचर्यों	आचार्यों
६१	१६	मिरुवन्तादि	तिरुवन्तादि
६८	१५	इर्यपा	इयर्पा
१०५	७	बहुत से	बहुत समय से
११८ (और अन्यत्र)	२६	आळ्वार कळमिळ	आळ्वार कासनिमै
१२० (और अन्यत्र)	२८	मार्गळी नोम्बु	मार्गळी नोम्बु
१२२	११	(मत्प्रोंघ्रिरेणु)	भक्तांघ्रिरेणु
१२४	१७	असराभ	अपराध
१२४ (और अन्यत्र)	२५	तिरपळ्ळी एळच्चो	तिरुप्पळ्ळी एळुच्ची
१२५	१८	प्राण	पाएन
१२८	२५	सामक	नामक
१३१	२१	प्रवाग	प्रकार
१४१	१	भक्तमाम	भक्तमाल
१५५	६	चुके हैं—किम किन	चुके हैं कि किन-किन
१५६	१६	'प्रबन्धम्' अतिसय	'प्रबन्धम्' के अतिशय
१५७	१२	उसके	उस में
१६०	१२	मधाम्नाम	अमरनाम
१६२	१०	एम्प्रोळ्दुम	एम्पोळ्दुम
१७५	१६	प्रसंगम	प्रसंगवश
१८४	२१	बेणु-आपुरी	बेणु-माधुरी
१८६	१२	अर्जुन के	अर्जुन ने
१६०	७	क्रिया-कमाप	क्रिया-कलाप
१६१	११	लोट रहे	लौट रहे
१६२	४	अमळादिपिरान'	'अमलनादिपिरान'
२००	२८	वनुवपट्टु	वनुवण्पट्ट
२०६	२२	'नप्पिनं	'नप्पिन्नै'
२ १	५	चितन-धारा	चिंतन-धारा
२१६	४	प्रमुखया	प्रमुखतया
२१८	२१	प्रकार है	प्रकार किया है।
२२०	१७	साधम	सोचन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२७	१	साक्षात्	साक्षात्
२३७	५	भगवान्	भगवान्
२४६	१५	भेंटकर	भेंट कर
२४१	१८	तीविने	तीविने
२४१	८	प्रसंग में मिलते	प्रसंग में दिये
२५१	१	मुक्षमम्लता	मुक्षमम्लता
२५१	११	पेरियाळ्वार	पेरियाळ्वार हैं और पेरियाळ्वार
२११	२०	तिरुप्पल्लाण्डु	तिरुप्पल्लाण्डु
२५१	१	वन्दी	वन्दी
२५५	८	भाल्म	भाष्य
२५६	५	लवयिती	कलयिती
२६२	१०	विरुम्पुवकेटुकिन्दुं व	विरुम्पुवकेटुकिन्दुं न
२७५	१८	संकट-प्राप्ट	संकट-प्रस्त
२७५	१३	पहचार	पहचान
२८६	२०	frnot	fruit
२८६	२१	philosolchical	philosophical
२६२	२	आळ्वार कहते	आळ्वार कहते हैं
३०	११	मीर	मीरा
३१६	१६	स्पष्ट ही है	स्पष्ट की है
३४८	१५	तालेसो	तालेसी
३५६	७	तेरी	मेरी
३६६	१०	से समान	के समान
३७४	११	दर्शन-सुख	दर्शन-सुख
३८१	२८	भक्ति-वैचित्र्य	भक्त-वैचित्र्य
३६७	२५	चमने लगी	चमकने लगी
४ ५	१	और नीति उपदेश	नीति और उपदेश
४२५	१८	जाये जाते	गाये जाते

नोट :—तमिळ भाषा के उद्धरणों को देवनागरी लिपि में प्रस्तुत करने में छापे की अशुद्धियाँ यत्र-तत्र रह गयी हैं । उनके लिए लेखक क्षमा-प्रार्थी है ।